व्याकरणचन्द्रोदय

द्वितीय खण्ड

(कृत् व तद्धित)

96646

श्री चारुदेव शास्त्री
एम्० ए०, एम्० ओ० एल्०

श्रीगान्धिचरित, अनुवादकला, प्रस्तावतरङ्गिणी, उपसर्गार्थचन्द्रिका,
वाक्यमुक्तावली, शब्दापशब्दविवेक आदि ग्रन्थों के निर्माता,
वाक्यपदीय (प्र० का०) के परिष्कर्ता तथा व्याकरण
महाभाष्य(नवाह्निक)के अनुवादक व विवरणकार

मोतीलाल बनारसीदास
दिल्ली वाराणसी पटना

©मोतीलाल बनारसीदास
मुख्य कार्यालय बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली-७
शाखाएँ (१) चौक, वाराणसी (उ० प्र०)
(२) अशोक राजपथ, पटना (बिहार)

प्रथम संस्करण
१९७०
मूल्य रु० [illegible]
MLBD
Rs[illegible]

सुन्दरलाल जैन, मोतीलाल बनारसीदास, बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली ७
द्वारा प्रकाशित तथा श्री जैनेन्द्र प्रेस, बंगलो रोड, जवाहर नगर,
दिल्ली ७ द्वारा मुद्रित।

किञ्चिद् वक्तव्य

जैसा हमने प्रथम खण्ड की भूमिका में लिखा है—व्याकरण शिष्टभाषा का व्याख्यानमात्र है। शिष्टप्रयोगों की साधुता को कल्पित प्रकृति प्रत्ययादि द्वारा दर्शाना पाणिन्यादि मुनियों को इष्ट है। अमुक प्रयोग जो व्यवहार सिद्ध है, साधु है, उस का अवयवकल्पना द्वारा अवयवार्थ बताना तथा उत्सर्गापवाद-रूप लक्षणों द्वारा उसे सुग्रह बनाना व्याकरण का प्रयोजन है। व्याकरण अवयवों की कल्पना करता है, अवयवी की नहीं। भाष्य में अनेकत्र 'अनभिधानान्न भवति' यह महाघोष गूँज रहा है। इस का एकमात्र अभिप्राय यह है कि व्याकरण शास्त्र अन्वाख्यान शास्त्र है। इसका सिद्ध व्यवहार्य शब्दों का यथाशक्य चित् व्युत्पादन ही साध्य अर्थ है। नव नव अप्रयुक्त-पूर्व शब्दों का उत्पादन नहीं। अत जब कभी शिष्ट प्रयुक्त, लोक-विज्ञात किसी एक शब्द की व्युत्पत्ति सूत्रवार्तिकादि से सिद्ध होती नहीं दीखती तो वैयाकरणों को चिन्ता लग जाती है। वे उस के निराकरण का साहस नहीं कर पाते, अपितु योग-विभाग-कल्पना, गणपाठ-व्यवस्थापन आदि उपायों का आश्रय लेकर उस के समाधान की चेष्टा करते हैं। द्वारादीनाम् (७।३।४) सूत्र के गणपाठ में 'स्व' शब्द पढा है। स्वस्येद सौवम्। 'व्' से पूर्व ऐजागम करने से यह प्रयोगार्ह रूप सिद्ध होता है। स्वतन्त्रस्य भाव स्वातन्त्र्यम्। यहाँ भी आदि वृद्धि न होकर ऐजागम होने पर सौवतन्त्र्यम् ऐसा अनिष्ट रूप प्रसक्त होता है जो कहीं भी देखने को नहीं मिलता। स्वातन्त्र्यम्—यही सार्वत्रिक प्रयोग है। इस की अवहेलना नहीं की जासकती। ज्यों त्यों उपपादना ही करनी चाहिये ऐसा मानते हुए हरदत्त मिश्र आदि स्वागतादीनाम् (७।३।७) के गणपाठ में 'स्वतन्त्र' शब्द पढना चाहिये ऐसा बरबस समाधान करते हैं।

व्याकरण इतना व्यवहार परतन्त्र है कि जो सर्वथा अनुपपन्न व्यवहार है उस का भी प्रत्यादेश नहीं करता, प्रत्युत उस का अभ्युपगम करके उस का व्याख्यान करता है। उदीचा माङो व्यतीहारे (३।४।१९) सूत्र निर्दिष्ट उत्तर भारत के व्यवहार को जो अविचारितरमणीय एवम् नितान्त अक्षोदक्षम है, भी स्वीकार करता है—अपमित्य याचते। यह उदीच्य लोग 'माँग कर बदले में देता है' इस अर्थ में प्रयुक्त करते हैं, जब कि न्याय प्राप्त प्रयोग याचित्वाऽपम-यते होना चाहिये, जो अन्यत्र होता भी है।

व्याकरण के इस स्वरूप व प्रयोजन को बुद्धिस्थ करते हुए व्याकरणशास्त्र का परिशीलन होना चाहिये, अन्यथा गुण-प्रधानभाव के विपर्यास से अनिष्ट-प्रसक्ति होगी और कृतार्थता से प्रच्युति भी।

इस द्वितीय खण्ड में हम ने कृत् व तद्धित प्रत्ययों का निरूपण किया है।

प्रथमखण्डवत् इस खण्ड में भी व्याख्या प्रधान है, प्रक्रिया नहीं। स्वतः सिद्ध व्यवहार्य शब्दों की व्याख्या (प्रकृति प्रत्ययादिकल्पना द्वारा व्याख्या) में यत्न है। कृत् प्रकरण को देखिये। नाना लक्ष्यों में तत्तत्कार्य-विशेष को सूत्र-निर्देश पुरःसर दिखाया गया है। एक ही लक्ष्य की निष्पत्ति में जो-जो शास्त्र विहित कार्य होते हैं उन सब को एकसाथ आनुपूर्वी में नहीं दिखाया गया। जैसे निष्ठान्त रूपों में क्रम से निष्ठा नत्व, इडागम, इडभाव, सम्प्रसारण, कित्त्वाभाव, आदत्व आदि एक एक कार्य को भिन्न भिन्न लक्ष्यों में क्रमशः दिखाकर सिद्धरूपावलि का विन्यास किया है। ऐसे ही अजन्त हलन्त रूपों की व्याख्या में नाना लक्ष्यों में क्रम से गुणाभाव, गुण, वृद्धि, आत्वादेश, उपधा कार्य, आ लोप, ह्रस्व, नुम्, सम्प्रसारण दिखाते हुए सिद्ध रूप दिये हैं। अन्यत्र सर्वं णिजन्त के विषय में भी इसी विधि से कार्य निर्देश किया है। यही सूत्रकार की शैली है। इसी से अष्टाध्यायी को व्याकरणशास्त्र यह अन्वर्थ संज्ञा है।

वैयाकरणों की कुछेक पङ्क्तियाँ जो वैशद्येन व्याख्येय हैं पर जिन का व्याख्यान पुरातन विवरणग्रन्थों में अत्यन्त संक्षिप्त है, यहाँ इदम्प्रथमतया विशद विवृत व्याख्यान किया है। कृत्यल्युटो बहुलम् (पृ० १४) इस सूत्र को, कप्रकरणे मूलविभुजादिभ्य उपसंख्यानम् (पृ० ८२), इस वार्तिक को, धातुसम्बन्धे प्रत्ययाः (पृ० २२१), वासरूपोऽस्त्रियाम् (पृ० २२२–२२३), इन सूत्रों को, तथा कृदभिहितो भावो द्रव्यवत्प्रकाशते (पृ० २२८) इस परिभाषा की व्याख्या में सूत्रकार के आशय को हस्तामलकवत् विस्पष्ट किया है। कृत्तद्धितसमासेभ्यः सम्बन्धाभिधानं भावप्रत्ययेन, इस अगाढ़ उद्धृत वचन पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

शब्दसाधुत्व-ज्ञान के साथ प्रयोगज्ञान के लिये इस ग्रन्थ का निर्माण हुआ है। अतः यहाँ प्राचीन साहित्य से उद्धृत निदर्शन-भूत शिष्ट-वाक्यों की भरमार है। जहाँ काशिकादि वृत्तिग्रन्थों में कर्मण्यण् (३।२।१) के तीन उदाहरण मिलते हैं—कुम्भकार। नगरकार। रथकार। वहाँ इस ग्रन्थ में इन के अतिरिक्त तीस उदाहरण दिये हैं। करणाधिकरणयोश्च (३।३।११७) के

उदाहरणो को भी देखिये। आप इन मे अभिनवोन्निद्र पङ्कज के सौरभ तथा सौन्दर्य को पायेंगे। गुणवचनब्राह्मणादिभ्य कर्मणि च (५।१।१२४) की व्याख्या मे साहित्य से उद्धृत नव-नव चेतोहारी उदाहरण-कलाप द्रष्टव्य है। पैंतालीस से अधिक उदाहरण सगृहीत किये हैं जब कि काशिका मे तीन-चार ही हैं। अर्श आदिभ्योऽच् (५।२।१२७) सूत्र की वृत्ति मे अर्शस । उरस । ये दो उदाहरण दिये गये हैं, जिनमें से उरस (=उरस्वान्, महोरस्क) अत्यन्त अप्रसिद्ध है। गण-पठित जटा घटा आदि भी अब प्रायजन्त होकर शायद ही कहीं प्रयुक्त हुए हो। पर इस कृति मे साहित्य मन्थन करके जो दस-बारह उदाहरण सकलित किये हैं वे अतिप्रसिद्ध हैं और साथ ही अतिरुचिर। आढ्य-सुभग-स्थूल—(३।२।५६) की व्याख्या मे दिये हुए रूप गुणो वयस्याग सुभगकरणम् इत्यादि उदाहरण कितने सुभग व सार्थक हैं कि पढते ही चित्त रम जाता है। उदाहरणरूप से उद्धृत वाक्यो के अतिरिक्त यहां स्थान-स्थान पर अनेक प्रयोगमालायें भी दी गई हैं जिन मे प्रायायेन स्वनिर्मित वाक्यो का सनिवेश हुआ है।

'नियतविषया शब्दा' इस लिये धातूपसर्गयोग मे यथाकामी नहीं हो सकती है। कोई एक उपसर्ग किसी एक धातु से युक्त होता है, हरेक उपसर्ग हरेक धातु से नहीं। इस सहचार-व्यभिचार मे बहुत कुछ अवधेय है। अत प्रयोग-सौष्ठव के बोधार्थ निष्ठान्तादि रूपों मे उपसर्ग लगाकर रूप दिये गए हैं। जहां एक से अधिक उपसर्गों का आसङ्ग देखा जाता है, वहाँ इष्ट क्रम भी दिखा दिया गया है।

उदाहरणो की प्रत्यग्रता तथा रुचिरता के प्रसङ्ग मे विद्वानो का णमुल्-प्रकरण मे दिये हुए उदाहरणो की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। कर्मणि दृशिविदो साकल्ये (३।४।२६) की वृत्ति मे कन्यादर्श वरयति—यह उदाहरण दिया गया है और इसे सभी व्याख्याग्रन्थो मे निर्विशेष रूप से उद्धृत किया गया है। पर यह कितना भद्दा उदाहरण है ! या या कन्या पश्यति ता ता वरयति—ऐसा अर्थ है। ऐसा कौन सा कामी हो सकता है जिस के वरण की इयत्ता ही नहीं। इस कृति मे दिये हुए उदाहरण—धनिकदर्शमर्थयतेऽर्थमर्थी (न च गणयत्युदारोऽय कृपणो वेति) को पढिये और कहिये कैसा लगता है। इस प्रकरण मे दिये हुए अन्य उदाहरणो को देखें। इन सब में ऐसी ही अपूर्वता और रुचिरता पायेंगे।

सूत्रार्थ को समझाने के लिये यहाँ कैसा यत्न किया गया है यह जनपदिना

जनपदवत्सर्वं जनपदेन समानवचनानां बहुवचने (४।३।१००) इस तद्धित सूत्र की व्याख्या देखने से सुविदित हो जायगा। समां समां विजायते (५।२।१२) सूत्र में समाम्, समाम् में द्वितीया विभक्ति की उपपत्ति तथा विपूर्वक जन् के अर्थ पर हमारे कथन का भाषा मर्मज्ञ विमर्श करें। तदर्हम् (५।१।११७) में द्वितीया (तद्) के प्रयोग को हमने अशास्त्रीय बताते हुए इसे व्यवहारानुकूल माना है। इस पर भी दृक्पात करें।

उणादि प्रकरण के उपक्रम में हमने उणादि प्रत्ययों की उपयोगिता अनुपयोगिता, युक्तता अयुक्तता का विवेचन किया है, वह विशेष आलोच्य है।

कुछेक अन्य स्थल भी विशेष आलोच्य हैं। लपपनपद (३।२।१५८) सूत्र की व्याख्या में काशिकास्थ उदाहरण—'अपलापुक वृषलमङ्गतम्' पर हमारा टिप्पण द्रष्टव्य है। हम इसे अपपाठ समझते हैं। कर्मण उकञ् (५।१।१०३) सूत्र की व्याख्या में वृत्तिकार के 'अनुपोऽत्यत्र न भवति, अनभिधानात्,' इस कथन पर हमारा टिप्पण तथा रजःकृष्यासुतिपरिषदो वलच् (५।२।११२) सूत्र की वृत्ति में वृत्तिकार द्वारा इतिकरणो विषयनियमार्थः सर्वत्र सबध्यते, तेनेह न भवति—रजोऽस्मिन् ग्रामे विद्यत इति, जो अर्थाभिधान नियम किया गया है' उस पर हमारा टिप्पण आलोचनीय है।

पदभिन्याम् (५।३।६) के ऊपर दिये हुए 'सर्वोभयार्थाभ्यामेव' इस वार्तिक में जो अर्थ नियमन किया है, वह हमारी दृष्टि में चिन्त्य है। इस से कई एक शिष्टप्रयोगों के साथ विरोध पड़ता है।

नित्य स्वार्थिक प्रत्ययों का जो भाष्यानुसारी परिगणन किया गया है उसमें आतिशायनिक तरप् तमप् का भी अन्तर्भाव है। हम इनकी नित्यता युक्त नहीं मानते। इधर भी विशेषतः ध्यान दें।

कुछ प्रकरण की परिपूर्णता तथा परिशोधन के लिये प्रकरणान्त में दिये हुए परिशिष्ट को अवश्य पढ़ें। पुस्तक के अन्त में दिए हुए परिशोधन व परिवर्धन को भी।

आजकल तद्धितप्रत्ययों के अध्ययन के प्रति छात्रों की बड़ी भारी अनास्था है। उपाध्यायों की भी इस विषय की उपेक्षा लोकविदित है। शायद ही देश भर में किसी एक विद्यालय में तद्धितों का पठन पाठन होता हो। इससे महान् अनिष्ट हो रहा है। व्याकरण का अध्येता विपुल शब्दराशि के ज्ञान से वञ्चित रह जाता है। अष्टाध्यायीस्थ तद्धित सूत्र संख्या ११०८ है जबकि कृत्-सूत्र संख्या केवल ५३६ है। इसी से आचार्य की दृष्टि में

तद्धितो का कितना गौरव है इसका अनुमान हो सकता है। इस कृति मे तद्धितप्रत्ययो का विशद वितत निरूपण कर दिया है और अतिरुचिर प्रचुर उदाहरणो से इसे विस्पष्ट कर दिया है। आशा है विद्यार्थी इसे रोचक पायेंगे और नव उत्साह से इस के अध्ययन मे प्रवृत्त होगे।

यह द्वितीय खण्ड ५०८ पृष्ठो मे समाप्त हुआ है। इसके प्रणयन मे जो मैंने परिश्रम किया है इसके विषय मे मुझे कुछ नही कहना। केवल यही विनम्र प्रार्थना है कि विद्वान् अध्यापक इस ग्रन्थ को आमूल-चूल देख जायें इसी से मैं अपने आप को कृतार्थ समझूँगा॥

यदि तनुरपि तोषो मत्कृतौ नूतनार्थात्
लसति हृदि सुधानां वाचि निष्ठा गतानाम्।
यदि च भवति बोध समत शब्दशास्त्रे
सुमतिपुतबटूना स्यात्तदा धन्यता मे॥

३।५४, रूपनगर,
दिल्ली
२० मई, १९७०

निवेदक
विद्वद्विधेय चारुदेवशास्त्री

विषयानुक्रमणिका

ओं नम परमात्मने ।

नमो भगवते पाणिनये । नम शिष्टेभ्य

प्रकृत्यादिविभागेन शब्दानामनुशिष्यते ।
साधुत्व येन तच्छास्त्र वेद्य व्याकरणमिष्यम् ॥१॥

व्याक्रियन्ते पदानीह क्रियन्ते नूतनानि च ।
अन्वाख्यानस्मृतिस्तस्मादुक्ता व्याकरण बुधै ॥२॥

ऐतदात्म्यमिद शास्त्र प्रसृत्यैव निरर्गला ।
न समर्थं विवक्षन्त शब्दान्नूत्ना प्रकुर्वते ॥३॥

अर्थेऽर्थे प्रत्यय शिष्ट्वा शिष्टैर्व्युत्पादितानुत ।
अर्थान्तरेऽननुज्ञाते शब्दानामी प्रयुञ्जते ॥४॥

आसतां तावदन्ये येऽर्वाचीना साहसप्रिया ।
भट्टपादैः सूरिभिश्चापि सम्प्रदायो न रक्षित ॥५॥

तद्भक्त्या प्रभुणेह विनेयप्रणयेन च ।
व्याक्रिया लौकिकानां हि शब्दानां वक्तुमुद्यत ॥६॥

सूत्राणां वार्तिकानां च सम्प्रदायानुरोधिनी ।
सोपपत्तिरसन्देहा व्याक्रिया प्रकृते स्थिता ॥७॥

पदानां प्रक्रिया सम्यग् बुद्धिवैशद्यकारिणी ।
शिक्षाणामुपकाराय प्रभूताय भविष्यति ॥८॥

इहत्य वाक्यसन्दोह वर्ण वर्ण बुभुत्सव ।
प्रयोगनैपुणीं काञ्चिल्लप्स्यन्तेऽन्यत्र दुर्लभाम् ॥९॥

अज्ञानमग्रयायाज्ञान ज्ञान सौगयिक तथा ।
भेदयतीव कृति कृत्स्न तमश्चन्द्रोदयो यथा ॥१०॥

अथ

व्याकरणचन्द्रोदये कृत्-प्रकरणम्

तृतीयाध्यायोक्त अर्थात् धातो (३।१।९१) इस अधिकार मे तृतीयाध्याय की परिसमाप्ति तक जो तिङ्-भिन्न प्रत्यय धातु से विहित किए गए हैं उन्हे कृत् कहते हैं[1]। इस लक्षण के अनुसार धातु से विहित तिङ्-भिन्न प्रत्यय णिच्, सन्, क्यच्, काम्यच्, क्यङ्, क्यष्, यङ्, स्य, तास्, शप्, श्यन् आदि कृत् नही हैं, क्योकि ये ३।१।९१ से पूर्व विहित हैं। तिङ्-भिन्न कृत् आर्धधातुक प्रत्यय है[2]। कृत् प्रत्यय मुख्यरूप से कर्तृवाचक हैं[3]। 'कृत्' का अर्थ है करने वाला। करोतीति कृत्। निरुक्त मे यास्काचार्य इसे 'नामकरण' यह नाम देते हैं। यह भी अति सुन्दर अन्वर्थ सज्ञा है—नामानि करोतीति नामकरण। बाहुलकात् कर्तरि ल्युट्। कृत् प्रत्ययान्त की प्रातिपदिक सज्ञा है[4], अत कृदन्तो से परे स्वादि (सु आदि) प्रत्यय लाकर इन्हें सुबन्त पद बनाकर वाक्य मे प्रयुक्त किया जाता है। जो कृदन्त अव्यय हैं उनसे भी सुप् लाकर उसका लुक् कर दिया जाता है[5], जिससे वे भी पद बनकर वाक्य मे प्रयोगार्ह हो जाते हैं।

अब हम अष्टाध्यायी के क्रम से कृत् प्रत्ययो का अन्वाख्यान करते हैं।

कृत्य-प्रक्रिया

कृत्य प्रत्यय धातुमात्र से भाव मे (अकर्मक धातुओ से) तथा कर्म मे

---

१ कृदतिङ् (३।१।९३)।

२ तिङ्शित् सार्वधातुकम् (३।४।११३) आर्धधातुक शेष (३।४।११४)

३ कर्तरि कृत् (३।४।६७)।

४ कृत्तद्धितसमासाश्च (१।२।४६)।

५ अव्ययादाप्सुप (२।४।८२)।

(सकर्मक धातुओं से) आते हैं[1]। कृत् होने से इन्हें कर्तृवाचक ही होना चाहिए था। सो यह इसका (कर्तरि कृत् का) अपवाद है। कहीं-कहीं कृत्य प्रत्यय कर्तृवाचक भी होते हैं तथा करणादि कारकों के भी वाचक देखे जाते हैं। ऐसे प्रत्ययों को हम इसी प्रकरण में यथास्थान दिखाएँगे। कृत्य प्रत्यय भी अन्य कृत् प्रत्ययों की तरह आर्धधातुक हैं। वलादि आर्धधातुक होने पर इनसे पूर्व सेट् धातुओं से परे इट् आगम होता है। भाववाचक कृत्यप्रत्ययान्तों का उत्सर्ग से प्रथमा नपुंसक लिङ्ग एकवचन में प्रयोग होता है और कर्मवाचकों का उनके विशेष्य भूत कर्म की विभक्ति, लिङ्ग व वचन के अनुसार। इस अवस्था में कर्म के कृत्य प्रत्यय से उक्त होने से उससे प्रथमा विभक्ति होती है। यह सब आगे दिए हुए उदाहरणों से स्पष्ट हो जाएगा।

तव्यत्, तव्य, अनीयर्—ये कृत्य प्रत्यय धातुमात्र से विहित किए हैं।[2] तव्यत् और तव्य में जो अनुबन्ध भेद (त्) है वह स्वर के लिए है। रूप में कुछ भी भेद नहीं। अनीयर् में र् अनुबन्ध है। प्रयोग में 'अनीय' का ही श्रवण होगा। तव्य और तव्यत् वलादि आर्धधातुक हैं। इनसे पूर्व सेट् धातु से परे इट् होता है। अनीय आर्धधातुक तो है पर वलादि नहीं, अजादि है। इन तीनों से पूर्व अपवाद विषय को छोड़कर धातु को गुण होता है—कृ कर्तव्य, करणीय (गुण)। गम्—गन्तव्य, गमनीय। श्रु—श्रोतव्य, श्रवणीय (गुण)। चि—चेतव्य, चयनीय। भू—भवितव्य, भवनीय। भाष्—भाषितव्य, भाषणीय। एध्—एधितव्य, एधनीय। वृत्—वर्तितव्य, वर्तनीय। वृध्—वर्धितव्य, वर्धनीय। ग्रह्—ग्रहीतव्य, ग्रहणीय। यहाँ इट् को दीर्घ होता है। [redacted] (वच्) —वक्तव्य, वचनीय। अधिइङ्—अध्येतव्य, अध्ययनीय। यहाँ तव्य अनीय-प्रत्ययान्त रूप, प्रातिपदिक के रूप में दिए गए हैं, सुबन्त रूप में नहीं। ऐसे ही आगे इस प्रकरण में अन्य कृदन्त भी प्रातिपदिक रूप में रखे गए हैं।

वाक्यरूप उदाहरण—

त्वया कटः कर्तव्यः (करणीयः)। मया ग्रामो गन्तव्यः (गमनीयः)। तेन व्याकरणं श्रोतव्यम् (श्रवणीयम्)। देवदत्तेन छन्दांस्यध्येतव्यानि (अध्ययनीयानि)। त्वया मया तेन च धर्मः सञ्चेतव्यः (सञ्चयनीयः)। सर्वैरस्माभिः संस्कृत

---

१ तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः (३।४।७०)।
२ तव्यत्तव्यानीयरः (३।१।९६)।

पठितव्य (पठनीयम्)। श्रुति श्रद्धातव्या (श्रद्धानीया), वेद मे श्रद्धा रखनी चाहिए। कलिर्वर्जितव्या(वर्जनीया)। पितरौ वन्दितव्यौ (वन्दनीयौ)। अकर्मक धातु—श्रान्तेन त्वया सम्प्रत्य आसितव्यम् (आसनीयम्)। तू थका हुआ है, तुझे अब बैठना चाहिए। भूतिकामेन त्वया नित्यमुत्थात व्यम् (उत्थानीयम्)। समृद्धि चाहते हुए तुझे नित्य उद्यम करना चाहिए। रामादिवद् वर्तितव्यम् (वर्तनीयम्) न रावणादिवत्। पापाद् उद्विजितव्यम् (उद्वेजनीयम्)। पाप से डरना चाहिए।

इन उदाहरणों मे सकर्मक धातुओं के प्रयोग मे कृत्य प्रत्यय से कर्म के उक्त होने से उसमे प्रथमा हुई है। कर्ता के अनुक्त होने से उसमे तृतीया हुई है। कर्म के लिङ्ग वचन के अनुसार ही कृत्यप्रत्ययान्त के लिङ्ग वचन हुए हैं। अकर्मक धातुओं से कृत्य प्रत्यय के भाव वाचक होने से और इसी लिए कर्ता के अनुक्त होने से उसमे पूर्ववत् तृतीया हुई है। कृत्यप्रत्ययान्त से प्रथमा नपु० एक० का प्रयोग हुआ है। ऐसा ही वक्ष्यमाण सभी कृत्य प्रत्ययों के विषय मे जानो। का त्वं रोद्धव्यस्य विस्रष्टव्यस्य वा (शाकुन्तल)। यहाँ रोद्धव्य=रोध। विस्रष्टव्य=विसर्ग, विसर्जन। उभयत्र भाव मे 'तव्य' हुआ है। इत इच्छामो गन्तव्येऽनुमत त्वया (रा०)। यहाँ भी गन्तव्य=गमन। वाङ्मात्रेणापि प्राप्नोति वक्तव्ये क परिश्रम (हरिव० ३२।३३)। वक्तव्ये=वचने।

तव्यत्—वस् (रहना) से कर्ता अर्थ मे तव्यत् प्रत्यय आता है और उसे णित् समझा जाता है[1], जिससे वस् की उपधा को वृद्धि होती है—वसतीति वास्तव्य।

केलिमर्—केलिमर् (एलिम) प्रत्यय कर्म मे होता है[2], न कि कर्म कर्ता मे जैसे वृत्तिकार मानते हैं—पच्—पचेलिमा माषा। पक्तव्या ऐसा अर्थ है। भिद्—भिदेलिमा सरला। भेत्तव्या ऐसा अर्थ है। यहाँ प्रत्यय के कित् होने से धातु को गुण नहीं हुआ।

यत्—अजन्त धातु से यत् (य) होता है[3]। स्था—स्थेय। हा—हेय। गै (—गा)—गेय। पा—पेय। आकार को ई आदेश होता है। पीछे गुण। चि—चेय। जि—जेय। हि—हेय। प्र के साथ प्रहेय। यत् आर्धधातुक प्रत्यय

---

१ वसेस्तव्यत् कर्तरि णिच्च (वा०)।
२ केलिमर उपसख्यानम् (वा०)।
३ अचो यत् (३।१।९७)।

है। इसके परे रहते धातु के इक् को गुण होता है जैसा कि 'चि' आदि धातुओं में हुआ है और आकारान्त धातुओं के 'आ' को 'ई' होने[1] पर भी। श्रु—श्रव्य। यहाँ आर्धधातुक प्रत्यय यत् को निमित्त मानकर गुण होकर ओ (गुण) को अवादेश हुआ है। यह अवादेश (और औ को आवादेश भी) वहीं होता है जहाँ 'ओ' (और औ भी) प्रत्यय के कारण बना हो[2]। श्रु—यत्(य)। श्रो—य। श्रव्य। ण्यन्त 'श्रावि' धातु से यत् होने पर तो णिच् का लोप[3] होने पर श्राव्य रूप बनता है। यत् प्रत्यय से तव्यत्, तव्य, अनीयर् का अत्यन्त बाध नहीं होता—स्था—स्थातव्य, स्थानीय। गै (—गा), गातव्य, गानीय। पा—पातव्य, पानीय। चि—चेतव्य, चयनीय इत्यादि रूप भी निर्बाध होंगे। ऐसे ही अन्य कृत्य प्रत्ययों के साथ तव्यत् आदि का समावेश होगा[4]।

विवाद-पद-निर्णेता के अर्थ में जब स्थेय शब्द का प्रयोग होता है तब यहाँ यत् अधिकरण में जानना चाहिए। तिष्ठतेऽस्मिन्निति स्थेय। प्रकाशन-स्थेयाख्ययोश्च (१।३।२३) इस सूत्र में भगवान् पाणिनि इसका प्रयोग करते हैं।

हन्[5] (-वध्)—वध्य (यत्)। पक्ष में ण्यत् होकर घात्य।

अदुपध (ह्रस्व अकार उपधा वाली) पवर्गान्त धातु[6] से (यत्)—शप्—शप्य। लभ्—लभ्य। वक्ष्यमाण ऋहलोर्ण्यत् का अपवाद है।

शक्—शक्य। सह्—सह्य (यत्)। यह भी ऋहलोर्ण्यत् का अपवाद है।

---

१ ईद् यति (६।४।६५)।

२ धातोस्तन्निमित्तस्यैव (६।१।८०)।

३ णेरनिटि (६।४।५१)। अनिडादि (जिसके आदि में इट् न हो) आर्धधातुक परे रहते णिच् का लोप हो जाता है।

४ वाऽसरूपोऽस्त्रियाम् (३।१।९४)। असरूप=असमान रूप। अनुबन्ध रहित होने पर जो समान रूप न हो।

५ हनो वा यद्वधश्च वक्तव्य (वा०)।

६ पोरदुपधात् (३।१।९८)।

समान रूप होने से नित्य बाधक होता है।[1]

गद्—गद्य। मद्—मद्य। चर्—चर्य। यम्—यम्य[2]। सर्वत्र यत्। उपसर्ग होने पर तो यथाप्राप्त ण्यत् होगा—निगाद्य। प्रमाद्य। आचार्य। गुरु अर्थ को छोडकर अन्यत्र आङ् उपसर्ग होने पर भी आचर्य (यत्) रूप ही होगा[3]। आचर्यो देश,। यम्—यम्य। उपसर्ग होने पर आयाम्य। पर वार्तिककार के तेन न तत्र भवेद्विनियम्यम्—इस श्लोक वार्तिक मे 'विनियम्य' प्रयोग से निपूर्वक यम् से भी यत् प्रत्यय साधु है। रुधया नियम्या ननु दिव्य चक्षुषा (किरात)।

अवद्य, पण्य, वर्या (स्त्रीलिङ्ग)—ये यत् प्रत्ययान्त निपातन किए हैं क्रम से निन्द्य, विक्रेतव्य, स्वेच्छापूर्वक वरणे योग्य—इन अर्थों मे[4]—वद् (नञ् पूर्वक)—अवद्य पापम्। अन्यत्र अनुद्य गुरु नाम, गुरु का नाम न लेना चाहिए। पण्य कम्बल, बिकाऊ कम्बल। अन्यत्र पाण्योऽकाम श्रोत्रिय। यहाँ पाण्य =स्तुत्य। येनात्मा पण्यता नीत स एवान्विष्यते जनै। हस्ती हेममहस्रेण क्रीयते न मृगाधिप ॥ शतेन वर्या कन्या। यहाँ वृङ् से यत् निपातन किया है। ण्यत् प्राप्त था। यहाँ 'शत' शब्द नियतसख्यापरक नही है। जितने भी हो सभी से वह कन्या सभक्तव्य है अर्थात् सभी उसकी चाह कर सकते हैं इसमे कोई निरोध (प्रतिबन्ध, रोक) नही। स्त्रीलिङ्ग से अन्यत्र इसी अर्थ मे ण्यत् होकर वार्या ऋत्विज ऐसा प्रयोग होगा। स्त्रीलिङ्ग मे भी अर्थान्तर मे क्यप् होकर 'वृत्या' ऐसा रूप होगा। वहाँ धातु वृञ् वरणे ली जाती है—वृत्या वृत्या क्षेत्रभक्ति, खेत को बाड से ढाँपना चाहिए।

'वह्य[5]' यह यत्प्रत्ययान्त 'ढोने का साधन' इस अर्थ मे निपातन किया

---

१ शकिसहोश्च (३।१।९९)। यत् और ण्यत् सानुबन्ध रूप से असमान रूप हैं। पर अनुबन्ध के कारण जो प्रत्यय भिन्न हैं, वे यदि अनुबन्ध हट जाने के बाद भिन्न न रहें तो वे सरूप अर्थात् समान रूप समझे जाते हैं। यत् तथा ण्यत् अनुबन्ध चले जाने पर समान-रूप हैं, दोनो 'य' ही हैं। अत यहाँ अपवाद यत् के विषय मे उत्सर्ग ण्यत् की पाक्षिकी प्रवृत्ति नही होती। यत् ण्यत् का बाधक होता है।

२ गद-मद-चर-यमश्चानुपसर्गे (३।१।१००)।

३ चरेराङि चागुरौ (वा०)।

४ अवद्य-पण्य-वर्या गर्ह्यपणितव्यानिरोधेषु (३।१।१०१)।

५ वह्य करणम् (३।१।१०२)।

है। वह्य=शकटम्। अन्यत्र ण्यत् होकर 'वाह्य' ऐसा रूप होगा। अर्थ होगा—ढोने योग्य पदार्थ।

'अर्य'[1]—यह स्वामी तथा वैश्य अर्थ में यत् प्रत्ययान्त निपातन किया है। 'ऋ' से ण्यत् प्राप्त था जो अर्थान्तर में होगा—आर्य=श्रेष्ठ। अर्तुं गन्तुम् उपगन्तुं योग्य आर्य।

उपसर्या[2] (टाबन्त स्त्रीलिङ्ग)—यह यत्प्रत्ययान्त निपातन किया है जब 'गर्भधारण में प्राप्तकाल (गौ आदि)' अर्थ हो। उपसर्या गौः। सूत्र में 'काल्य' शब्द का अर्थ है प्राप्तकाल, जिसका समय आ गया है। प्रजन=गर्भधारण। अर्थान्तर में ण्यत् होकर उपसार्या ऐसा रूप होगा। उपसार्या=उपगन्तव्या। उपसार्या शरदि मथुरा, शरद् ऋतु में मथुरा जाना चाहिए। उपसार्या काशी विद्यार्थं, विद्यार्थियों को काशी पहुँचना चाहिए।

अजर्यं[3]—यह नञ्-पूर्वक जॄ धातु से यत्प्रत्ययान्त निपातन किया है जब सङ्गत=मैत्री को विशिष्ट करना हो—अजर्यं नोऽस्तु सङ्गतम्, हमारी मैत्री अक्षीण रहे। कालिदास 'अजर्य' को जीर्ण न होने वाली मैत्री के अर्थ में प्रयुक्त करता है—मृगैरजर्यं जरसोपदिष्टमदेहबन्धाय पुनर्बबन्ध (रघु० १८।७)।

वद क्यप्—सुबन्त उपपद होने पर वद् धातु से क्यप् होता है और यत् भी[4]—ब्रह्मोद्यम्। ब्रह्म वद, तस्य वदनम्। प्रत्यय क्यप् के कित् होने से सम्प्रसारण हुआ। यत्—ब्रह्मवद्य। सत्योद्य=सत्योक्ति। सत्यवद्य। मृषोद्य=मृषावाक्यं। क्यप्। यहाँ यत्, क्यप् भाव में विहित हुए हैं। उत्तर सूत्र से 'भावे' पद यहाँ लाया जाता है। मृषोद्य नाम कार्यम्, नाम ऐसा रखना चाहिए जो मुख से उच्चार्य हो। न वै जातु मृषात्थ किञ्चिद् ब्रह्मोद्य जेता (बृ० उ० ३।८।१२)। ऐसा ही हर्षचरित में ब्रह्मोद्यासु कथासु मुर्खन् इस वाक्य में प्रयोग है। इन दोनों स्थलों में क्यबन्त शब्द से अर्श आद्यच् प्रत्यय समझना चाहिए। ब्रह्मोद्य ब्रह्मवदनं यासामस्ति ता ब्रह्मोद्याः। ब्रह्म उद्यते यासु ता ब्रह्मोद्याः, ऐसा अधिकरण में क्यप् मानने पर वृत्तिग्रन्थ से विरोध पड़ता है।

---

१ अर्यः स्वामिवैश्ययोः (३।१।१०३)।
२ उपसर्या काल्या प्रजने (३।१।१०४)।
३ अजर्यं सङ्गतम् (३।१।१०५)।
४ वदः सुपि क्यप् च (३।१।१०६)।

क्यप्—भू से सुबन्त उपपद होने पर भाव में[1]—ब्रह्मभूय। देवभूय। ब्रह्मभूय गत =ब्रह्मभाव गत, ब्रह्मीभूत इत्यर्थ। देवभूय गत =देवत्व गत। दोनों का एक ही अर्थ है—स्वर्यात, मृत।

हन् में उपसर्ग-भिन्न सुबन्त उपपद होने पर भाव में, हन् के 'न्' को 'त' भी होता है[2]—ब्रह्महत्या। आत्महत्या। भ्रूणहत्या। केवल 'हत्या' कोई शब्द नहीं है। केवल हन् से अथवा सोपसर्गक हन् से घञ् होकर घात, प्रघात शब्द बनेंगे। ण्यत् प्रत्यय भाव में नहीं होता, अतः वह प्रत्युदाहरण में नहीं दिया।

इण्, स्तु, शास्, वृन्, दृ(ङ्), जुष्[3] से क्यप्—इण् से इत्य। स्तुत्य। शिष्य। वृत्य। आदृत्य। जुष्य। इण्(इ)से क्यप् होने पर प्रत्यय के कित् होने से ह्रस्व अङ्ग 'इ' को तुक् (त्) आगम हुआ है[4]। ऐसे ही 'स्तु' और वृ, दृ को भी। शास् की उपधा 'आ' को 'इ' और 'स' होने पर 'म्' को ष्[5]। इनसे तव्य, अनीय होने पर एतव्य (अयनीय)। स्तोतव्य, स्तवनीय। शासितव्य, शासनीय। वरितव्य, वरीतव्य[6], वरणीय। आदर्तव्य, आदरणीय। दृङ् का आङ् उपसर्ग-सहित ही प्रयोग होता है। अवश्यस्तुत्य—यहाँ क्यप् ही होता है, ण्यत् नहीं। इण्-भिन्न 'इ' धातु से यत् निर्बाध होगा—उपेय (उपपूर्वक)। इण् आदि से यथाप्राप्त भाव कर्म दोनों में प्रत्यय होता है। अनुपसर्ग का भी यहाँ नियम नहीं।

आङ् पूर्व अञ्ज् व्या० से संज्ञा विषय में क्यप्—आज्य (=घृत)। यहाँ बाहुलक से करण में क्यप् होता है—अञ्जत्यनेनेति आज्यम्।

ऋदुपध (उपधा में ह्रस्व ऋ वाली) धातुओं से क्यप्[7]—वृत्-वृत्य, प्रपूर्वक प्रवृत्य (=प्रवर्तनीय)। वृध्-वृध्य। दृश्—दृश्य (=द्रष्टव्य)। गृह् (चुरादि)—गृह्य। कृप्—कल्प्य—यहाँ यथाप्राप्त ण्यत् ही होता है। ऐसे ही चृत्—

१ भुवो भावे (३।१।१०७)।
२ हनस्त च (३।१।१०८)।
३ एतिस्तुशास्वृदृजुषः क्यप् (३।१।१०९)।
४ ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् (६।१।७१)।
५ शास इद् अङ्-हलोः (६।४।३४)। शासि-वसि-घसीनां च(८।३।६०)।
६ वृतो वा (७।२।३८) इट् को विकल्प से दीर्घ।
७ ऋदुपधाच्चाक्लृपिचृतेः (३।१।११०)।

चर्त्य, विपूर्वक विचर्त्य (=छेत्तव्य) यहाँ भी। कृप् से ऋ को गुण होकर 'र्' को 'ल्' हो जाता है।[1]

ण्यत्—पाणि शब्द उपपद होने पर सृज् से[2]—पाणिसर्ग्या रज्जुः। रस्सी जो हाथ से बटी जाए। ण्यत् परे होने पर धातु के च्, ज् को कुत्व (कवर्गादेश) होता है। ज् को प्रयत्न आन्तरतम्य से 'ग्' आदेश होता है। सम् अवपूर्वक सृज् से भी[3]—समवसर्ग्या रज्जुः।

क्यप्—खन् के 'न्' को 'ई' भी होता है[4]—खेय। यहाँ 'आद् गुणः' से खकारोत्तरवर्ती 'अ' और 'ई' के स्थान में 'ए' गुण एकादेश हुआ है।

भृञ् से असंज्ञा विषय में[5] क्यप्—भृत्या (=भर्तव्याः) कर्मकराः। नौकरों का भृति (वेतनादि) से भरण करना होता है। संज्ञा में यथाप्राप्त ण्यत् होगा—भार्या नाम क्षत्रियाः। सम्पूर्वक भृञ् से क्यप् विकल्प से होता है, पक्ष में ण्यत् भी होगा[6]—सम्भृत्याः—सम्भार्याः कर्मकराः। भार्या=वधू। यहाँ भी संज्ञा में ण्यत् होता है।

मृज् से विकल्प से क्यप्, पक्ष में ण्यत्[7]—परिमृज्य। ण्यत्—परिमार्ग्य। यहाँ 'मृजेर्वृद्धिः' (७।२।११४)[8] से मृज् को गुण न होकर वृद्धि होती है। ण्यत् के कारण धातु के ज् को कुत्व (ग्) भी।

राजसूय, सूर्य, मृषोद्य, रुच्य, कुप्य, कृष्टपच्य, अव्यथ्य—ये क्यबन्त निपा-

---

१ कृपो रो लः (८।२।१८)।
२ पाणौ सृजेर्ण्यद् वक्तव्यः (वा०)।
३ समवपूर्वाच्च।
४ ई च खनः (३।१।१११)।
५ भृञोऽसंज्ञायाम् (३।१।११२)।
६ सम्पूर्वाद् विभाषा (वा०)।
७ मृजेर्विभाषा (३।१।११३)।
८ जहाँ-जहाँ गुण का विषय है वहाँ वहाँ मृज् को वृद्धि होती है, गुण नहीं। जहाँ गुण का विषय नहीं जैसे मृष्टः, मृष्टः, वहाँ वृद्धि भी नहीं होती। यहाँ क्त् कित् आर्धधातुक है और थस् सार्वधातुक ङिद्वत् होता है, अतः गुण का प्रसङ्ग ही नहीं।

तन किए हैं।[1] **राजा सोतव्य, राजा वा इह सूयते** (=अभिषूयते) **इति राजसूय क्रतु**। यहाँ प्रथम व्युत्पत्ति में कर्म में क्यप्, द्वितीय व्युत्पत्ति में अधिकरण में क्यप् हुआ है। राजा=लतात्मक सोम। राजन् शब्द का इस अर्थ में रामायण में प्रयोग मिलता है—राजा चाभिषुतोऽनघ (१।१४।६)। ब्राह्मणों और कल्पसूत्रों में तो इस अर्थ में प्रचुर प्रयोग है। राजान क्रीणन्ति इत्यादि। **सरति (आकाशे) इति सूर्य**। कर्ता में क्यप्। मृषोद्यम्=मिथ्या वचनम्। पक्ष में यत् प्राप्त था। नित्य क्यप् निपातन किया है। रोचत इति रुच्य। कर्ता में क्यप्। कुप्य। गुप् धातु से, संज्ञा विषय में। स्वर्ण और रजत से अन्य धन को कुप्य कहते हैं। यदि यह अर्थ न हो तो ण्यत् होकर गोप्य रूप होगा। **कृष्टे स्वयमेव पच्यन्त इति कृष्टपच्या ओषधय**। कर्मकर्ता में निपातन है। **अकृष्टपच्या एवौषधय पेचिरे** (श० ब्रा० १।६।१।३)। **न व्यथते इति अव्यथ्य**, जो विचलित नहीं होता। कर्ता में क्यप्।

पुष्य, सिध्य—ये नक्षत्रवाची क्यबन्त निपातन किए हैं।[2] क्यप् अधिकरण में हुआ है। **पुष्यन्त्यर्था अस्मिन्निति पुष्य** (नक्षत्र का नाम)। **सिध्यन्त्यर्था अस्मिन्निति सिध्य** (पुष्य का ही दूसरा नाम)।

विपूय, विनीय, जित्य—यह अर्थ विशेष में क्यबन्त निपातन किए हैं[3]—**विपूयो मुञ्ज**, रस्सी आदि के लिए शोधनीय मुञ्ज। मुञ्ज से अन्यत्र पूञ् से यत् होकर विपव्य धान्यम् ऐसा प्रयोग होगा। **विनीय कल्क**। विनीय = अपनेतव्य। कल्क नाम पाप, विष्ठा, मल आदि का है। कल्क से अन्यत्र **विनेय क्रोध** ऐसा यत् प्रत्यय करके कहेंगे। **जित्यो हलि** = बलेन कृष्टव्य, जो बड़े बल से चलाया जाता है। महद् हल=हलि। खेत में हल चलाने के पश्चात् जिस बड़े काष्ठ से उसे बराबर किया जाता है उसे हलि कहते हैं ऐसा भट्टोजि दीक्षित मानते हैं, जिसे किसान 'सुहागा' कहते हैं। हलि विषय से अन्यत्र जि धातु से अच् करके जेय मन ऐसा प्रयोग करेंगे।

ग्रह् से पद के विषय में, अस्वैरी=अस्वतन्त्र, बाह्या (स्त्री०) बाहर होने

---

१ राजसूय-सूर्य-मृषोद्य-रुच्य-कुप्य-कृष्टपच्याऽव्यथ्या (३।१।११४)।
२ पुष्यसिध्यौ नक्षत्रे (३।१।११६)।
३ विपूय-विनीय-जित्या मुञ्ज-कल्क-हलिषु (३।१।११७)।

वाली, पक्ष्य—इन अर्थों में[1]—अवगृह्य पदम्, जिस पद का अवग्रह (=पृथक्-करण (ऽ चिह्न से) होना चाहिए। अन्यत्र तो यथाप्राप्त ण्यत् होगा—विग्राह्य। विगृह्योऽरि, शत्रु जिससे लड़ाई की जानी चाहिए। गृह्यका इमे शकुनयः, बन्धन में आए हुए, अस्वतन्त्र पञ्जरस्थ पक्षी। नगर-गृह्या सेना। नगर से बाहिर ठहरी हुई सेना। ग्राह्याणि ग्राम चाण्डाल निवेशनानि। यहाँ ण्यत् ही होना है, कारण कि सूत्र में 'बाह्या' स्त्रीलिङ्ग पढ़ा है। वासुदेवगृह्याः। अर्जुनगृह्याः, वासुदेव के पक्ष के लोग, अर्जुन के पक्ष के लोग। गुणगृह्या विपश्चितः, विद्वान् गुण-पक्षपाती होते हैं।

क्यप्, ण्यत्—कृ, वृष्—से विभाषा क्यप्[2]—कृ—कृत्य। पक्ष में ण्यत्—कार्य। ऋकारान्त होने से ण्यत् की प्राप्ति थी। वृष्—वृष्य। वर्ष्य। वृष् से ऋदुपध होने से नित्य क्यप् की प्राप्ति थी, यहाँ विकल्प कर दिया। क्यप् के अभाव में हलन्त-लक्षण ण्यत् हुआ है।

क्यप्—युग्य—यह वाहन अर्थ में क्यप् प्रत्ययान्त निपातन किया है[3]—युग्यो गौः, भार ढोने वाला बैल। युग्योऽश्वः, सवारी का घोड़ा। सूत्र में 'पत्र' शब्द वाहन अर्थ में प्रयुक्त हुआ है—पतत्यनेनेति पत्रम्। पत्=जाना।

ण्यत्—अमावस्यत्, अमावास्यत्। अमा(=सह) अव्यय के उपपद रहते वस् (रहना) से ण्यत् होता है तथा विकल्प से वृद्ध्यभाव निपातित किया है[4]—सह वसतोऽस्मिन् काले सूर्याचन्द्रमसाविति अमावास्या, अमावस्या। सूत्र में अनुबन्ध-रहित ण्यदन्त रूप दिखाया है।

ण्यत्—ऋकारान्त और हलन्त धातुओं से ण्यत्[5]—कृ—कार्य। हृ—हार्य। स्मृ—स्मार्य। धृ—धार्य। हलन्त—यज्—याज्य। त्यज्—त्याज्य[6]। यहाँ ण्यत् होने पर भी धातु के 'ज्' को कुत्व (ग्) नहीं होता। इसी प्रकार याच्, रुच्, प्रवच्, ऋच्—के चकार को कुत्व (क्) नहीं होता[7]—याच्य।

१　पदास्वैरि-बाह्या-पक्ष्येषु च (३।१।११९)।
२　विभाषा कृवृषोः (३।१।१२०)।
३　युग्यं च पत्रे (३।१।१२१)।
४　अमावस्यदन्यतरस्याम् (३।१।१२२)।
५　ऋहलोर्ण्यत् (३।१।१२४)।
६　ण्यति प्रतिषेधे त्यजेरुपसंख्यानम् (वा०)।
७　यज-याच-रुच-प्रवच-र्चश्च (७।३।६६)।

रोच्य। प्रवाच्य। अर्च्य। ऋदुपध होने से ऋच् से क्यप् की प्राप्ति थी, पर कुत्व का ण्यत् परे विधान करने से ण्यत् प्रत्यय शास्त्रकार को अभिमत है। दशरात्र के दशम दिन को 'अविवाक्य' कहते हैं, जिसमें किसी को किसी से बात नहीं करनी होती। इस अर्थ में वच् के 'च्' को कुत्व (क्) होता है। जब शब्द की संज्ञा न हो तो कुत्व नहीं होता[1]—वाच्यमाह=वक्तव्य ब्रवीति। अवाच्यमाह=अवक्तव्यम् (निन्द्य) ब्रवीति। न कहने योग्य, निन्दा का वचन कहता है। शब्द की संज्ञा होने पर तो ण्यत्प्रत्यय-निमित्तक कुत्व का निषेध नहीं—एकतिङ् वाक्यम्, साकाङ्क्ष पद समुदाय जिसमें एक तिङन्त पद हो उसकी वाक्य संज्ञा है। अवघुषित वाक्यमाह, शब्द द्वारा प्रकटित अभिप्राय वाले वाक्य को कहता है। पच्—पाक्य। पर आवश्यक =अवश्यम्भाव द्योत्य होने पर कुत्व नहीं होता—अवश्यपाच्य। अवश्य-रेच्य। रिच् खाली करना। अवश्यवाच्य।

प्रयुज्-ण्यत्-प्रयोज्य। नियुज्-ण्यत्-नियोज्य। शक्यार्थ में कुत्वाभाव निपातन किया है[2]। प्रयोक्तुं शक्य प्रयोज्यम्। नियोक्तुं शक्य नियोज्यम्। अन्यत्र=अर्ह, योग्य आदि अर्थ होने पर कुत्व होगा—प्रयोग्य। नियोग्य।

यदि कहीं अर्ह अर्थ में प्रयोज्य, नियोज्य का प्रयोग हो तो प्रयुज्+णिच्, नियुज्+णिच् से यत्प्रत्ययान्त रूप समझना।

'भोज्य'—यह भक्ष्य अर्थ में कुत्व-रहित साधु है[3]। अनुभवनीय अर्थ में कुत्व होकर 'भोग्य' रूप होगा। नाना हि भोग्यार्था इन्द्रियाणाम्।

ण्यत्—विद्—वेद्य। छिद्—छेद्य। भिद्—भेद्य। नुद्—नोद्य। प्रपूर्वक प्रणोद्य। यहाँ सब में धातु के इक् को गुण हो रहा है। मद्—माद्य। वृद्धि। आप्—आप्य। द्विष्—द्वेष्य। पुष्—पोष्य। लिप्—लेप्य। लुप्—लोप्य।

जिस धातु के आदि में कवर्ग हो उसके अन्त्य च्, ज् को कुत्व नहीं होता घित् तथा ण्यत् प्रत्यय परे होने पर[4]—ण्यत्—कूज्—कूज्यम् भवता। गर्ज्—गर्ज्यं भवता।

---

१ वचोऽशब्दसंज्ञायाम् (७।३।६७)।
२ प्रयोज्य-नियोज्यौ शक्यार्थे (७।३।६८)।
३ भोज्यं भक्ष्ये (७।३।६९)।
४ न क्वादेः (७।३।५९)।

अज्, व्रज् को भी कुत्व नहीं होता—ण्यत्-व्रज्-परिपूर्वक—परिव्राज्य ।[1] आर्धधातुक प्रत्यय परे रहते अज् को भी 'वी' आदेश हो जाने से ण्यत् परे उदाहरण नहीं ।

वञ्च् गत्यर्थक को कुत्व नहीं होता[2]—वञ्च्य (=गन्तव्य स्थान) वञ्चन्ति वणिजः । अन्यत्र वङ्क्यं काष्ठम् (=कुटिलीकरणीय)। यहाँ कुत्व होता है ।

अवश्यम्भाव द्योत्य होने पर उकारान्त से[3]—अवश्यपाव्य । पून् । अवश्यलाव्य । लू धातु को वृद्धि होकर यादि प्रत्यय निमित्तक औकार को आव् आदेश । यह यत् का अपवाद है । पर अवश्यस्तुत्य में क्यप् ही होगा, ण्यत् नहीं ।

आङ्-पूर्वक षुञ् (सोमरस निकालना, सुरा तैयार करना), यु (मिलाना, जुदा करना), वप् (बोना), रप् (बोलना), त्रप् (लज्जित होना), चम् (खाना)[4]—इनसे ण्यत् होता है । पहली दो धातुओं से 'अचो यत्' से यत् की प्राप्ति थी, शेष से 'पोरदुपधात्' से । आसु—आसाव्य । यु—याव्य । घृतेन समाव्य ओदन । तण्डुलेभ्यो विवाव्यास्तुषा, चावलों से तुष जुदा करना चाहिए । वप्—वाप्यानीमानि बीजानि । यह बीज बोने योग्य हैं । न त्वया बहु राप्यम् । अनेन दुष्कृतेन त्राप्य त्वया, इस दुष्कर्म से तुझे लज्जित होना चाहिए ।

भोजनात् प्राक् त्रिराचाम्या पूता आपः । भोजन से पूर्व तीन बार पवित्र जल से आचमन करना चाहिए । आङ् न होने पर वृद्धि नहीं होगी[5]—चम्य त्वया परिष्क्रियम्मधुरमुदकम् । वार्तिककार के मत से लप् और दभ् (सौत्र धातु) से भी ण्यत् होता है[6]—नेदमपलाप्य त्वया, तुझे इस बात से इन्कार

1 अजिव्रज्योश्च (७।३।६०) ।
2 वञ्चेर्गतौ (७।३।६३) ।
3 ण्य आवश्यके (७।३।६५) ।
4 आसुयुवपिरपित्रपिचमश्च (३।१।१२६) ।
5 नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्यानाचमेः (७।३।३४) । उदात्तोपदेश मान्त धातु को चिण्, ञित्, णित् कृत् प्रत्यय परे रहते वृद्धि नहीं होती, पर आङ्-पूर्वक चम् को होती है ।
6 लपिदभिभ्यां चेति वक्तव्यम् (वा०) ।

नही करना चाहिए। दम्—न माननीया दाम्या मानवेन। दाम्या = हिंस-नीया।

आनाय्य—यह दक्षिणाग्नि के अर्थ मे ण्यत् प्रत्ययान्त निपातन किया है[1]। यह नित्य प्रज्वलित नही रहता, अत अनित्य है। इसी अभिप्राय से सूत्र मे 'अनित्य' शब्द का प्रयोग किया गया है। अर्थान्तर मे आनेयो घटादि ऐसा कहेंगे।

प्रणाय्य—यह असमति (१ इच्छा-रहित, विरक्त २ अवाञ्छनीय) अर्थ मे निपातन किया है[2]—**प्रणाय्योऽन्तेवासी। प्रणाय्यश्चौर।** 'असमति' बहुव्रीहि है।

निकाय्य—यह निवास (रहने का स्थान) अर्थ मे ण्यत्-प्रत्ययान्त निपातन किया है[3]। **निचीयतेऽस्मिन्धान्यादिकम् इति निकाय्य।** निकाय्यनिलयालया —अमर।

विभज्य—विपूर्वक भज् से हलन्तलक्षण ण्यत् न होकर यत् होता है। विभज्य = विभक्तव्य। सूत्रकार का प्रयोग है—**द्विवचन-विभज्योपपदे तर-बीयसुनौ।** पेऽविभक्ता भ्रातरस्ते सम विभज्या ज्येष्ठायोद्धारेण, जिन भाइयो का विभाग नही हुआ उनका ज्येष्ठ का भाग निकाल कर समान रूप से विभाजन होना चाहिए।

चित्य, अग्निचित्या—ये यकार प्रत्ययान्त निपातन किए हैं। चित्योऽग्नि। अग्निचित्या = अग्निचयनम्।

कृत्य-प्रत्ययों का प्रयोग—

आचार्य का कृत्य, क्त, खलर्थ (खल् तथा खल्-समानार्थक) प्रत्ययों के प्रयोग के विषय मे सूत्र है—**तयोरेव कृत्य-क्त-खलर्था** (३।४।७०) अर्थात् भाव व कर्म मे ही कृत्य, क्त तथा खलर्थ प्रत्यय होते हैं। इस प्रकरण के आदि मे हम सामान्य रूप से कृत्य विषयक इस नियम का निर्देश कर चुके हैं। अब यहाँ कुछ विशेष वक्तव्य है। यह नियम कई स्थानो मे लागू नही होता। वहा इसकी प्रवृत्ति नही होती यह शिष्टो के प्रयोगो को देखने से जाना जाता

१ आनाय्योऽनित्ये (३।१।१२७)।

२ प्रणाय्योऽसमतौ (३।१।१२८)।

३ पाय्य-सान्नाय्य-निकाय्य—(३।१।१२९)।

है, अस्मदादियों के प्रयोगों से नहीं। अतः आचार्य इस विषय में दूसरा सूत्र निर्माण करते हैं—कृत्यल्युटो बहुलम् (३।३।११३) अर्थात् कृत्य प्रत्यय तथा ल्युट् जिन अर्थों में विहित किए गए हैं उनसे भिन्न अर्थों में भी देखे जाते हैं[1]। याप्य (=निन्द्य, गर्ह्य)—यहाँ अपादान में ण्यन्त याति से 'अचो यत्' से यत् हुआ है—याप्यन्तेऽपनीयन्ते गुणा अस्मात्। याप्ये पाशप् (५।३।४७) सूत्र पर न्यास। उद्वेजनीय—यहाँ अपादान में उद्पूर्वक विज् धातु से अनीयर् हुआ है—उद्विजन्तेऽस्मादिति उद्वेजनीय, जिससे लोग घबराकर परे हटते हैं। उद्वेजनीयो भूतानां नृशंसः पापकर्मकृत् (रा० ३।२९।३)। उद्वेजनीयो भूतानां क्रूरत्वात् सर्वदोऽपि सन् (का० नी० सा०)। तीक्ष्णदण्डो हि भूतानामुद्वेजनीय (कौ० अ० १।४।१)। तीक्ष्णदण्डः सर्वेषामुद्वेजनीयो भवति (चाणक्य सूत्र २।५१)। दानीयो विप्रः। यहाँ सम्प्रदान में अनीयर् हुआ है—दीयतेऽस्मा इति। स्नानीय वस्त्रम्। यहाँ करण में अनीयर् हुआ है—स्नात्यनेन इति स्नानीयम्। क्रीडत्यनेनेति क्रीडनीयम्, खिलौना। क्रीडत (तस्य) क्रीडनीयानि बहु पक्षिगणांश्च ह (भा० १३।४२०६)। पतनीय पापम्। यहाँ भी करण में अनीयर् हुआ है—पतत्यनेन इति पतनीय पापम्। न कथं चन कुर्वीत ब्राह्मण कर्म कार्यलम्। कथल कर्म वा ब्राह्म पतनीये हि ते तयो ॥ (कृत्यकल्पतरु में उद्धृत नारद वचन)। हृदयग्रहणीयानि वाक्यानि। हृदयक्षोभणीयानि वर्त्मानि। यहाँ भी करण अर्थ में अनीयर् हुआ है। गृह्यतेऽनेनेति ग्रहणीयम्। क्षुभ्यत्यनेनेति क्षोभणीयम्। शेष षष्ठी के साथ समास है। न क्रुध्यत्वमित्रस्योपि क्रोधनीयानि वर्जयन् (रा० २।४१।३)। राम बुरा भला कहे जाने पर क्रोधजनक वाक्यादि का परिहार करते हुए स्वयम् क्रुद्ध नहीं होते हैं। क्रुध्यत्यनेन इति क्रोधनीयम्। करणेऽनीयर्। पातक—अ पतति विनाऽनेन इत्य पातकम्। करण में यत् विधान हुआ है। स्थेय (=विवाद पद निर्णेता)। यहाँ अधिकरण में यत् हुआ है—तिष्ठत्यस्मिन्नति स्थेय। इत्यो विन्वेत्वरो

---

१ सूत्र में बहुल ग्रहण से वैयाकरण ऐसा मानते हैं—प्रायेण कृतो यथायथमभिधेयं व्यभिचरन्ति दूसरे कृत् प्रत्यय भी कहीं-कहीं अपना पद को छोड़कर अर्थान्तर को कहने लगते हैं—स्कन्दते स्नुवन्त्यनेनेति स्रुव्। यहाँ क्विप् जो कर्ता को कहता है करण को कह रहा है। यथाग्नि समिध्यते या समित्—यहाँ भी करण में क्विप् हुआ है। पादाभ्यां ह्रियते पादहारक। यहाँ कर्ता में विहित ण्वुल् कर्म में हुआ है।

देव स्नातव्या मणिकर्णिका—यहाँ स्नातव्या में अधिकरण में तव्य प्रत्यय हुआ है। आस्य (मुख)। यहाँ भी अधिकरण अर्थ में ण्यत् प्रत्यय हुआ है—अस्यतेऽस्मिन्नित्यास्यम्। शयनीय (शय्या)। यहाँ भी अधिकरण अर्थ में अनीयर् हुआ है—शेतेऽस्मिन्निति शयनीयम्। रमणीया वापी। रमतेऽस्याम् इति। अधिकरण में अनीयर्। कर्म प्रोक्तवन्त इति कर्मप्रवचनीया। यह कर्ता में अनीयर् हुआ है।

तव्यप्रत्ययान्त का कहीं-कहीं भाव में ल्युडन्त अथवा घञन्त के स्थान में प्रयोग देखा जाता है—समावनायामथरीकृतायां पत्युः पुरः साहसमासितव्यम् (किरात० १७।४२)। यहाँ आसितव्यम्=आसनम्, बैठना। का स्व विसृष्टव्यस्य रोद्धव्यस्य वा (शाकुन्तल १)। यहाँ विसृष्टव्य=विसर्जन। रोद्धव्य=रोध अथवा रोधन। यो दुर्जयो देवितव्येन (=देवनेन=द्यूतेन) सख्ये (भा० ५।=९४)।

भव्य, गेय, प्रवचनीय, उपस्थानीय, जन्य, आप्लाव्य, आपात्य—ये कृत्य-प्रत्ययान्त कर्ता में भी होते हैं और यथाप्राप्त भाव कर्म में भी[1]—भव्य—भवतीति। भवन्ति भव्येषु हि पक्षपाताः। भव्यभिरुद्धता पुरुषेणाधर्म-भीरुणा भव्यम् (मद), कल्याण चाहते हुए पुरुष को अधर्म=पाप से डरना चाहिए। *गेयो माणवकः साम्नाम्। गेय=गाता। गेयानि माणवकेन सामानि। कर्म में* प्रत्यय। प्रवचनीयो गुरुः स्वाध्यायस्य, गुरु वेद का प्रवक्ता है। प्रवचनीयो गुरुणा स्वाध्यायः। कर्म में प्रत्यय। उपस्थानीयोऽन्तेवासी गुरोः, शिष्य गुरु का उपस्थाता (सेवा में उपस्थित होने वाला) है। कर्ता में प्रत्यय। उपस्थानीयः शिष्येण गुरुः। कर्म में प्रत्यय। उपस्थानीयं शिष्येण। भाव में प्रत्यय। जायते तद् जन्यं सुखम्। पुण्येन कर्मणा तेन विभूतिमता कुले जन्यं नाम, सम्भावना है कि पुण्य कर्म के द्वारा वह ऐश्वर्य-सम्पन्न कुल में जन्म ले। आप्लवते ब्रह्मचारी अधान्ते इत्याप्लाव्य इत्युच्यते, व्रत की समाप्ति पर ब्रह्मचारी स्नान करता है, अतः उसे 'आप्लाव्य' कहते हैं। आपततव्यसाव् आपात्य।

कृत्य प्रत्यय भाव व कर्म के वाचक होते हैं, भाव व कर्म इनका वाच्यार्थ होता है यह सोदाहरण बताया जा चुका है। भाव-कर्म-वाचक होते हुए ही ये कुछेक अर्थों के द्योतक हैं—

१—प्रैष (अपने से निकृष्ट को कार्य में लगाना), अतिसर्ग (कामचारा-

---

१ भव्य-गेय-प्रवचनीयोपस्थानीय-जन्याप्लाव्यापात्या वा (३।४।६८)।

नुज्ञा, इच्छानुसार कार्य करने की अनुमति देना), प्राप्तकाल (=प्रस्तावसदृश, जिसका समय आ गया है, प्राप्तावसर)—इन अर्थों के द्योत्य, गम्यमान होने पर भी भाव-कर्म में 'कृत्य' प्रत्यय होते हैं (लोट् भी)[1]—त्वया कटः कर्तव्यः, कृत्यः, कार्यः, तुझे चटाई बनानी होगी (प्रैष), तुम चाहो तो चटाई बनाओ (नहीं तो कुछ और करो) (अतिसर्ग), तुम्हारे चटाई बनाने का अवसर है। (प्राप्तकालता)।

२—अर्ह (योग्य) कर्ता के वाच्य अथवा गम्य होने पर भी भाव-कर्म में कृत्य होते हैं (और तृच् प्रत्यय भी)[2]—गुण्यः स कस्य न स्तुत्यः (=स्तोतुमर्हः)। भवता वोढव्येयं कन्या, आप द्वारा यह कन्या विवाह के योग्य है अर्थात् अर्हति भवान् कन्यामिमां वोढुम्। कृत्य के कर्मवाचक होने से योग्य कर्ता गम्यमान है। (तृच् के कर्तृवाचक होने से योग्य कर्ता वाच्य होता है)।

आवश्यक (=अवश्यभाव) और आधमर्ण्य (अधमर्ण=ऋणी होना) अर्थों के द्योत्य होने पर धातु से णिनि प्रत्यय आता है और कृत्य भी[3]—आत्य-विरमिव कार्यमवश्यमद्य निष्पाद्यम्। तस्य महात्मनोऽभिगमनाय संनिहितेन भवता भाव्यम्, उस महात्मा के स्वागत के लिए आपको अवश्य उपस्थित होना चाहिए। देवदत्तेन मे शतं देयं (दातव्यं, दानीयम्), देवदत्त ने मेरे सौ रुपये देने हैं। आवश्यक और आधमर्ण्य दोनों कर्ता की उपाधि (विशेषण) हैं।

शक्यता विशिष्ट धात्वर्थ में लिङ् होता है और कृत्य भी[4]—ऋषभ-तरोऽयम्। अनेन महानयं भारो वोढव्यः (वहनीयः, वाह्यः-ण्यत्), भार ढोने में यह बैल मन्द शक्ति है। इससे इतना बड़ा बोझ नहीं उठाया जा सकेगा। नावा तार्या नदी नाव्या, जिस नदी को नौका से पार कर सकते हैं वह 'नाव्या' कहलाती है। क्षेतुं शक्यं क्षय्यम्। जेतुं शक्यं जय्यम्।[5] शक्यार्थ से अन्यत्र क्षेयं पापम्। जेयः कामः।

---

१ प्रैषातिसर्गप्राप्तकालेषु कृत्याश्च (३।३।१६३)।

२ अर्हे कृत्यतृचश्च (३।३।१६९)।

३ कृत्याश्च (३।३।१७१)। यहाँ पूर्व सूत्र आवश्यकाधमर्ण्ययोर्णिनिः से आवश्यकाधमर्ण्ययोः की अनुवृत्ति आती है।

४ शकि लिङ् च (३।३।१७२)। यहाँ पूर्व सूत्र 'कृत्याश्च' से 'कृत्याः' की अनुवृत्ति आती है।

५ क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे (६।१।८१)। यत् प्रत्यय तो अचो यत् से होता है। पर शक्यार्थ में धातु का गुण होने के पश्चात् 'ए' को 'अय्' निपातन किया है।

क्रय्य—यह क्री धातु से यत् प्रत्यय करके निपातन किया है—क्रये प्रसारित द्रव्य क्रय्यम्। क्रेय नो धान्य न च क्रय्यमस्ति, हमे धान खरीदना है पर खरीदने के लिए प्रसारित नही, अर्थात् बिकाऊ नही है।

कृत्य प्रत्यय काल सामान्य में विहित हैं—भवतीति भव्य। वर्तमान मे। कर्म प्रोक्तवन्त कर्मप्रवचनीया। भूतकाल में। देवदत्तेन मे शतमृण देयम्—यहाँ भविष्यत् अर्थ मे कृत्य (यत्) है—शत दास्यतीत्यर्थः।

कुल सात कृत्य प्रत्यय हैं। उन्हे पूर्व विद्वानो ने इस प्रकार श्लोकबद्ध किया है—

तव्य च तव्यत चानीयर केलिमर तथा।
यत ण्यत क्यप चैव सप्त कृत्यान् प्रचक्षते॥

प्रसिद्ध-प्रसिद्ध धातुओं के तव्य प्रत्ययान्त रूप—

घ्रा	घ्रातव्य	पा(चुरा० रक्षा करना)	पालयितव्य[1]
ज्ञा	ज्ञातव्य	म' (अदा० समाना, उपसर्ग सहित, मापना)	मातव्य
दा (जुहो०)	दातव्य		
दाण् (भ्वा०)	दातव्य	माङ् (जुहो० मापना)	मातव्य
दा(प्)(अदा० काटना)	दातव्य	म्ना (अभ्यास करना)	आम्नातव्य[2]
धा	धातव्य	या	यातव्य
ध्मा (फूंक मारकर बजाना, अग्नि मे फूंक लगाना, तपाना)	ध्मातव्य	ह्रा (त्यागना)	हातव्य
		हाङ् (जाना)	हातव्य
		स्था	स्थातव्य
पा (पीना)	पातव्य	इ (क्)	अध्येतव्य[3]
पा (रक्षा करना)	पातव्य	इ (ङ्)	अध्येतव्य[4]

१ पातेर्लुग् वक्तव्य, अर्थात् पा से णिच् परे रहते लुक् (ल्) आगम होता है।

२ म्ना अभ्यास करना, भ्वा०। (इसका प्रयोग प्राय आङ्पूर्वक होता है।

३ इङ् का प्रयोग बिना 'अधि' के होता ही नही।

४ इ (क्) स्मरण करना। इसका प्रयोग भी अधि के बिना नहीं होता।

इ (ग)	एतव्य	यु (जोडना, जुदा करना)	यवितव्य
चि	चेतव्य	रु (शब्द करना)	रवितव्य
जि	जेतव्य	षु (ञ्) (स्वा०)	(अभि) षोतव्य
मि (ञ्)	(नि) मातव्य	स्तु	स्तोतव्य
श्रि (ञ्)	श्रयितव्य	हु	होतव्य
श्वि (जाना, बढ़ना)	श्वयितव्य	ह्नु	(अप) ह्नोतव्य
हि (स्वा० जाना, बढ़ना)	प्रहेतव्य[1]	ब्रू (वच् आदेश)	वक्तव्य
		भू	भवितव्य
क्री	क्रेतव्य	धूञ्	धवितव्य, धोतव्य
डी	उड्डयितव्य[2]	धू (तुदा०)	धुवितव्य[4]
दी (ङ्) (दिवा० क्षीण होना)	उपदातव्य[3]	पू	पवितव्य
		सू	सवितव्य
नी	नेतव्य	सू (अदा० दिवा०)	सवितव्य, सोतव्य
पी (ङ्) (दिवा० पीना)	निपेतव्य		
डी (ङ्)	डयितव्य	कृ	कर्तव्य
ह्री (जुहो० लज्जित होना)	ह्रेतव्य	जागृ	जागरितव्य
		पृ (ङ्)	व्यापर्तव्य[5]
श्रु	श्रोतव्य		

---

१ 'हि' का प्रयोग लोक में बिना 'प्र' के नहीं मिलता। अर्थ भी अन्तर्भूत णिच् मानकर 'भेजना' होता है। वेद में केवल 'हि' का भी प्रयोग मिलता है—नैन हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु (१०।७१।५)।

२ डीङ् प्रायः उद् पूर्वक प्रयुक्त होता है।

३ दीङ् को ल्यप् निमित्त आर्धधातुक प्रत्यय की विवक्षा में ही आत्व हो जाता है। ऐसे ही मिञ् तथा मीञ् को भी। दीङ् का प्रयोग प्रायः उपपूर्वक मिलता है। दीन क्षीण में बिना उपसर्ग के भी।

४ धू विधूनने तुदादिगण की कुटादि धातुओं में पढ़ी है, सो गुण नहीं हुआ। ऊ का उवङ् हुआ है।

५ पृङ् (तुदा०) का वि आङ् के बिना प्रयोग नहीं होता।

मृ (ङ्)	मर्तव्य
वृ (ङ्)	वि वरितव्य, वि वरीतव्य[1]
वृ (ञ्)	(आ)वरितव्य आ वरीतव्य[2]
सृ	सर्तव्य
स्मृ	स्मर्तव्य
हृ	हर्तव्य
जॄ	जरितव्य, जरीतव्य
तॄ	तरितव्य,तरीतव्य
दे (ङ्) (भ्वा० रक्षा करना)	दातव्य
मे (ङ्)(बदले में देना)	निमातव्य, विनिमातव्य[3]
ह्वे (आत्व)	ह्वातव्य
गै (आत्व)	गातव्य
ग्लै ,,	ग्लातव्य
त्रै ,,	त्रातव्य
दै(प्)(भ्वा० शोधना)	अवदातव्य[4]
ध्यै (भ्वा० सोचना)	ध्यातव्य
म्लै (आत्व)	म्लातव्य
दो (दिवा० काटना)	अवदातव्य
शो (दिवा० तेज करना)	निशातव्य[5]
सो (दिवा० समाप्त करना)	अवसातव्य
ईक्ष्	ईक्षितव्य
चक्ष्	(आ) ख्यातव्य
भक्ष्	भक्षयितव्य
लिख	लेखितव्य
पच्	पक्तव्य
व्रश्च् (काटना)	व्रश्चितव्य,व्रष्टव्य
मुच्	मोक्तव्य
रिच्	रेक्तव्य
रुच्	रोचितव्य
सिच्	सेक्तव्य[6]
प्रच्छ	प्रष्टव्य[7]

१-२ धात्वर्थ के द्योतक के रूप में यथाक्रम वि और आङ् लगा दिए जाते हैं।

३ मेङ् का प्रयोग 'नि' अथवा विनि के बिना नहीं होता।

४ दैप् शोधने का प्रयोग अव-पूर्वक ही होता है।

५ शो तनूकरणे का 'नि' के बिना विरल प्रयोग है। धातुपाठ में भी तिज निशाने ऐसा पढ़ा है।

६ यहाँ चो कु (८।२।३०) से कुत्व हुआ है।

७ यहाँ व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां षः (८।२।३६) से च्छ् के स्थान में ष् हुआ है जो पदान्त में तथा झल् परे रहते होता है।

णिजिर् (निज्) (शुद्ध करना	निर्णेक्तव्य[1]	वृत्	वर्तितव्य
		वृध्	वर्धितव्य
विजिर् (विज्)	उद्विजितव्य[2]	मद्	मत्तव्य
पूज् (चुरा०)	पूजयितव्य	पद्	पत्तव्य
भुज् (रुधा०)	भोक्तव्य	उन्द् (गीला करना)	उन्दितव्य
भ्रस्ज् (तुदा०)	भ्रष्टव्य, भर्ष्टव्य[3]	छिद्	छेत्तव्य
		क्लिद् (ऊदित्)	क्लेदितव्य, क्लेत्तव्य
मस्ज	मङ्क्तव्य[4]		
मृज् (अदा० शुद्ध करना	मार्जितव्य[5], मार्ष्टव्य	भिद्	भेत्तव्य
		नुद्	नोत्तव्य
यज्	यष्टव्य	मुद्	मोदितव्य
युज्	योक्तव्य	रुद्	रोदितव्य
सञ्ज्	सङ्क्तव्य	वद्	वदितव्य
सृज	स्रष्टव्य[6]	वन्द् (भ्वा०)	वन्दितव्य
स्वञ्ज (भ्वा० आलिङ्गन करना)	स्वङ्क्तव्य		

---

१ निज् (जुहो०) का प्रयोग प्राय निर् पूर्वक होता है। धातु उपदेश में णकारादि है अतः उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य (८।४।१४) से णत्व होता है।

२ विज इट् (१।२।२) से विज् से परे इडादि प्रत्यय ङित् वत् होता है अतः गुण नहीं हुआ।

३ भ्रस्ज् की उपधा (स) और र् के स्थान में रम् (र्) आगम होता है विकल्प से, जिससे उपधा और र् दोनों की निवृत्ति हो जाती है।

४ मस्ज् के अन्त्य वर्ण ज से पूर्व नुम् (न्) आगम आता है। स का संयोगादि होने से लोप हो जाता है।

५ मृजेर्वृद्धिः (७।२।११४) से मृज् को वृद्धि होती है, यथाप्राप्त गुण नहीं। धातु ऊदित् है अतः इट् विकल्प से होता है।

६ सृजिदृशोर्झल्यमकिति। सृज् तथा दृश् के अन्त्य अच् (ऋ) से परे अम् (अ) आगम होता है कित् भिन्न झलादि प्रत्यय परे होने पर।

स्यन्द् (भ्वा०)	स्यन्दितव्य,[1]	रध्	रोद्धव्य
	स्यन्तव्य	खन्	खनितव्य
विद् (जानना)	वेदितव्य	तन्	तनितव्य
विद् (प्राप्त करना)	वेत्तव्य,	मन् (दिवा०)	मन्तव्य
	वेदितव्य[2]	मन् (तनादि)	मनितव्य
विद् (होना)	वेत्तव्य	हन्	हन्तव्य
विद् (रुधा० विचार करना)	वेत्तव्य	आप्	आप्तव्य
		कृप्	कल्पितव्य,
बन्ध्	बन्द्धव्य		कल्प्तव्य[4]
बुध् (भ्वा० जानना)	बोधितव्य	क्षिप्	क्षेप्तव्य
बुध् (दिवा० जागना, जानना)	बोद्धव्य	तृप्	तर्पितव्य, तर्प्तव्य, त्रप्तव्य[5]
युध्	योद्धव्य	दृप्	दर्पितव्य, दर्प्तव्य, द्रप्तव्य
रध् (दिवा० सिद्ध होना)	रधितव्य, रद्धव्य[3]		
		त्रप् (ऊदित्)	त्रपितव्य, त्रप्तव्य
राध् (दिवा०, स्वा०)	राद्धव्य		

---

१. स्यन्द् उपदेश मे स्यन्द् है। अत ऊदित् होने से इट् का विकल्प हुआ है।

२. विद्लृ लाभे (तुदा०) भाष्यकार के मत मे अनिट् है और व्याघ्रभूत्यादि के मत मे सेट् है।

३ रध्, नश्, तृप्, दृप आदि सात धातुएँ वेट् हैं। नेटयलिटि रधे (७।१।६२) रध् से अजादि-प्रत्यय को जो नुम् विधान किया है वह लिट् से अन्यत्र जो इडादि अजादि प्रत्यय है उसे नही होता। सो यहाँ इतव्य को नुम् नही हुआ।

४ कृपू सामर्थ्ये—यह भ्वा० ऊदित् धातु है। अत इट् विकल्प से होता है। गुण होकर कृपो रो लः (८।२।१८) से र् को ल् होता है।

५ तृप्-रधादि है, अत इट् विकल्प से होता है। इट् के अभाव मे विकल्प से अम् आगम होता है। अम् (अ) अन्त्य अच् ऋ से परे होता है। तब ऋ को यण् (र्) होता है।

शप्	शप्तव्य	भ्रम् (भ्वा० दिवा०)	भ्रमितव्य
स्वप्	स्वप्तव्य	यम्	यन्तव्य
रभ्	रब्धव्य	रम्	रन्तव्य
लभ्	लब्धव्य	शम्	शमितव्य
लुभ्	लोभितव्य, लोब्धव्य[1]	श्रम्	श्रमितव्य
		दय् (भ्वा० देना, रक्षा करना, दया करना)	दयितव्य
क्रम्	क्रमितव्य		
उपक्रम् (प्रारम्भ करना)	उपक्रमितव्य	गुर् (यत्न उठाना तुदा०)	गुरितव्य[3]
प्रक्रम् (प्रारम्भ करना)	प्रक्रमितव्य[2]	(अव-सहित)	अवगुरितव्य
क्लम्	क्लमितव्य	स्फुर् (तुदा०)	स्फुरितव्य[4]
गम्	गन्तव्य	दिव् (दिवा०)	देवितव्य
तम्	तमितव्य	दिव् (चुरा० विलाप करना)	परिदेवयितव्य[5]
दम्	दमितव्य		
नम्	नन्तव्य	ष्ठिव् (दिवा० थूकना)	निष्ठेवितव्य[6]

१ तीषसहलुभ—आदि आर्धधातुक को इट् विकल्प से होता है। लुभ् परस्मैपद है। अतः लुभ्यति कहेंगे, अतः लुभ्यते नहीं।

२ प्रक्रम्, उपक्रम् का अर्थ प्रारम्भ करना भी होता है, जब यह अर्थ हो तब प्रपूर्वक, उपपूर्वक क्रम् आत्मनेपद का निमित्त होता है। यहाँ क्रम् आत्मनेपद का योग्यतया निमित्त है, आत्मनेपद के अभाव में कुर्वद्रूप मुख्य निमित्त नहीं। अतः स्नुक्रमोरनात्मनेपदनिमित्ते (७।२।३६) से इट् का प्रतिषेध नहीं होता।

३ गुर् कुटादिगण में कुटादियों के मध्य में पढ़ा है अतः गुण नहीं हुआ। इसका प्रयोग प्राय अवपूर्वक होता है।

४ स्फुर् कुटादि है, अतः तव्य प्रत्यय के ङिद्वत् होने से गुण नहीं हुआ।

५ चुरादि दिव् परिपूर्वक प्रयुक्त होता है। यह बात णिजन्त, इतरत रूपों में समान है—अर्थ का परिदेवना।

६ ष्ठिव् प्राय निपूर्वक प्रयुक्त होता है। इसके आदिभूत 'ष्' को 'स' नहीं होता।

सिव् (दिवा०)	सेवितव्य	भाष्	भषितव्य
सेव् (भ्वा०)	सेवितव्य	मुष्	मोषितव्य
दश् (भ्वा०)	दष्टव्य	रुष्	रोषितव्य,
दृश्	द्रष्टव्य		रोष्टव्य
नश्	नष्टव्य,	शुष्	शोष्टव्य
	नशितव्य[1]	पूष (भ्वा०)	पूषितव्य
इष् (तुदा०)	एषितव्य,	कुच् (तुदा०)	सकुचितव्य[4]
	एष्टव्य[2]	कुट् (तुदा०)	कुटितव्य[5]
इष् (दिवा० जाना)	प्रेषितव्य[3]	कुष्	कोषितव्य
रिष्	रेषितव्य,रेष्टव्य	निष्कुष्	निष्कोष्टव्य,
पुष् (दिवा०)	पोष्टव्य		निष्कोषितव्य[6]
पुष् (क्र्या ०)	पोषितव्य	कृष्	कर्ष्टव्य,
पुष् (चुरा०)	पोषयितव्य		क्रष्टव्य[7]
भष् (भ्वा० भौंकना)	भषितव्य		

---

१ मस्जिनशोर्झलि (७।१।६०) से मस्ज्, नश् को झलादि आर्धधातुक परे होने पर नुम् आगम होता है। 'नश्' रधादि है। अत वेट् है। जब इट् होगा तो प्रत्यय के झलादि न रहने से नुम् नहीं होगा।

२ तीषसहलुभरुषरिष (७।२।४८) से इट् का विकल्प तादि प्रत्यय परे होने पर। यहाँ इष् तुदादि ली जाती है, दिवादि नहीं।

३ यह इष्(दिवा० जाना)का रूप है। नित्य इट्। इसके पहले प्र उपसर्ग प्राय लगाया जाता है, अर्थ भेजना, आदेश करना आदि होता है। कई बार 'सम्प्र' दो उपसर्गों का प्रयोग होता है। अर्थ मे कुछ भी भेद नहीं होता।

४ कुच् कुटादि है, अत गुण नहीं हुआ। इसका प्रयोग सम् आदि उपसर्गों के बिना अत्यन्त विरल है।

५ कुट् (टेढा होना) इसी से तुदादि गण का अवान्तर गण कुटादि प्रारम्भ होता है।

६ निर कुष (७। ४६) से निर् पूर्वक कुष् से विकल्प मे इट् आता है। वैसे कुष् सेट् है। अत अकेले कुष् न नित्य इट् होता है।

७ अनुदात्त ऋदुपध धातु को विकल्प मे अम् आगम होता है झलादि अकित् प्रत्यय परे होने पर। अम् के अभाव मे यथाप्राप्त गुण होगा। ऐसा ही मृश् मे हुआ है।

मृश्	विमर्ष्टव्य,	लिह्	लेढव्य
	विम्रष्टव्य	वह्	वोढव्य
अस् (होना)	भवितव्य	सह् (भ्वा)	सोढव्य,
अस् (दिवा० फेंकना)	असितव्य		सहितव्य
आस्	आसितव्य	सुह् (दिवा० तृप्त होना)	सोहितव्य
वस् (भ्वा० रहना)	वस्तव्य	शुश्रूष	शुश्रूषितव्य
वश् (अदा० चाहना)	वशितव्य	जिज्ञास	जिज्ञासितव्य
शास्	शासितव्य	पोपूय	पोपूयितव्य
आङ् शास् (अदा०)	आशासितव्य	लोलूय	लोलूयितव्य
ग्रह्	ग्रहीतव्य	पुत्रीय	पुत्रीयितव्य
रुह्	रोढव्य		

अनीयर्

अनीयर् प्रत्ययान्तों की रूप-रचना के विषय में थोड़ा ही वक्तव्य है। अनीयर् अजादि है वलादि नहीं अतः इट् का प्रसंग ही नहीं। धातुमात्र को इस से पूर्व गुण होता है। चुरादि धातुओं को छोड़कर। णिच् का लोप होता है। कृ—करणीय। हृ—हरणीय। स्तु—स्तवनीय। वृत्—वर्तनीय। दृप्—दर्पणीय। गृज्—गर्जनीय। चर् णिच्—चारणीय। मृज्—मार्जनीय (वृद्धि)। रभ्—आरम्भणीय। लभ्—लम्भनीय। अजादि प्रत्यय परे होने पर नुम् आगम होता है यदि अजादि प्रत्यय शप् नहीं होना चाहिए, लिट् सम्बन्धी भी नहीं होना चाहिए।[1]

प्रयोगमाला

१ इद हर्म्यमिद निकुञ्जभवन धेय प्रदेय धन
देय तीर्थपयो हरेर्भगवतो गेय पदाम्भोरुहम्।

---

१ रभेरशब्लिटोः (७।१।६३)। लभेश्च (७।१।६४)।

नेय जन्म चिराय दर्भशयने धर्मे निधेय मन
स्थेय तत्र सितासितस्य सविधे ध्येय पुराण मह ॥

महल को छोड देना चाहिये, कुञ्जगृह का आश्रयण करना चाहिए, धन देना चाहिए, तीर्थ जल पीना चाहिए, भगवान् विष्णु के चरण कमल को गाना चाहिए, कुश के बिछौने पर चिर तक समय बिताना चाहिए, धर्म में मन लगाना चाहिए, गंगा-यमुना के समीप ठहरना चाहिए और अमर ज्योति का ध्यान करना चाहिए।

२ वित्त साध्य पालनीय विचार्य कार्यमार्यवत् ।
आहार्यं व्यवहार्यं च सचार्य धार्यमादरात् ॥ (शो० वा० ३।८४।३७)

जो साधनीय है, जो पहले से सिद्ध होने से रक्षणीय है, जो विचार्य है, जो सत्पुरुषों की तरह कर्तव्य है, जो देशान्तर से आनेतव्य है, जो घर में सिद्ध होने से उपयोज्य है जो एक स्थान से दूसरे स्थान की ओर चलाया जाता है (रथादि), जो धारण करने योग्य (भूषणादि)—यह सब वित्त ही है।

३ सोऽय मनुष्यलोक पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा (उप०) ।
यह मनुष्य लोक पुत्र के द्वारा ही जीता जा सकता है और किसी कर्म से नहीं।

४ रज्जुमावर्तयिष्याम इति विनीयोऽस्मदर्थे कियानपि मुञ्ज ।
हम रस्सी को बाटेंगे, अत हमारे लिए कुछ मुञ्ज शोधिए।

५ अहो गेयस्यास्य रक्तकण्ठता । अहो रागपरिवाहिणी गीति ।
इस गायक का कण्ठ कितना सुरीला है। यह गाना कितनी माधुर्य बहा रहा है।

६ सभा वा न प्रवेष्टव्या वक्तव्य वा समञ्जसम् । (मनु० ८।१३)
या तो सभा मे जाय नहीं, जाय तो ठीक-ठीक कहे।

७ प्रेष्योऽयमस्मिन्कर्मणि सम्प्रेष्य साधु निर्वाहयिष्यतीति ।
इस नौकर को इस कर्म मे लगाना चाहिए ठीक निभाएगा।

८ अत्र प्रवृत्त्यम्, अतश्च निवृत्यमिति नित्य विविञ्चीत ।
इस कर्म मे प्रवृत्त होना चाहिए, इससे टलना चाहिए। इसका नित्य विवेक करे।

९ श्रव्यश्राव्ययोः को विशेष इति चेद् वेत्थ नूनं शाब्दिकोसि ।

यदि तुम श्रव्य तथा श्राव्य शब्दों की व्युत्पत्ति भेद तथा अर्थभेद को जानते हो, तो सचमुच वैयाकरण हो ।

१० पर्ययपर्यायशब्दौ प्रविविच्य प्रयोज्यौ ।

पर्यय और पर्याय शब्दों का भेद जानकर प्रयोग करना चाहिए ।

११ इदमभ्युपेयं कदाचिल्लघुप्रयत्नतरा अपि समृध्यन्ति व्यृध्यन्ति चेतरे ।

यह मानना पड़ता है कभी थोड़ा यत्न करने वाले भी समृद्ध हो जाते हैं और दूसरे (अर्थात् बड़ा यत्न करने वाले) व्यृद्ध=दरिद्र रहते हैं ।

१२ प्रकाशेऽवकाशे नोच्चरितव्यम् ।

खुली जगह पर मलत्याग नहीं करना चाहिए ।

१३ बन्धुजन इति स्नेहेन परिष्वङ्क्तव्यो भवति निर्गुणोपि ।

बन्धु चाहे निर्गुण भी हो बन्धु होने से स्नेहपूर्वक आलिंगन के योग्य है ।

१४ नैतावता कालेन महदिदं कर्मापवर्जनीयं भवति ।

इतने समय में यह बड़ा कार्य समाप्त नहीं किया जा सकता ।

१५ इष्टेष्वप्यर्थेषु नातीवासङ्क्तव्यमनपायिनीं निर्वृतिं मार्गता नरेण ।

इष्ट वस्तुओं में भी उसे अत्यन्त आसक्त नहीं होना चाहिए जो शाश्वत आनन्द को चाहता है ।

१६ 'शक्यमञ्जलिभिः पातुं वाताः केतकगन्धिनः' । (रा० ४।२८।८)

केवड़े के गन्ध वाले वायुओं को अञ्जलियों से पीया जा सकता है ।

१७ यदत्र ते वाच्यम् । तदवधार्य दण्डं त्वयि पातयिष्यामि ।

यहाँ जो तुमने कहना है इसका निश्चय करके तुझे दण्ड दूँगा ।

---

१ शक्य में कर्म में यत् प्रत्यय है, पर इसका नपुं० एक० में प्रयोग बहुत करके देखा जाता है, कर्मवाचक शब्द चाहे किसी अन्य लिंग व वचन में हो । प्रकृत वाक्य में कर्म 'वात' पुं० बहु० में है । शक्यं श्वमांसादिभिरपि क्षुत् प्रतिहन्तुम् इस भाष्य वचन में कर्म क्षुत् स्त्री० एक० है । नहि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः (गीता १८।११) यहाँ कर्म नपुं० बहु० है । शक्यम् अरविन्दसुरभिरविरलमालिङ्गितुं पवनः (शाकुन्तल ३।७)—यहाँ कर्म 'पवन' पुं० एक० है । न हि प्रणयवती सा शक्यमुपेक्षितुं कुपिता (मालविका ३।२१)

कर्तृ-वाचक-कृत्

ण्वुल्—धातुमात्र से ण्वुल् प्रत्यय आता है[1]। ण्, ल् इत्संज्ञक हैं। 'वु' के स्थान में 'अक' आदेश होता है। प्रत्यय के णित् होने से धातु के अन्त्य अच् तथा उपधा भूत 'अ' को वृद्धि होती है। आकारान्त धातु को युक् (य्) आगम होता है—कृ—कारक। करोतीति कारक, करने वाला। हृ—हारक। नी—नायक। वृद्धि, आय् आदेश। नयतीति नायक। पू—पावक। पुनातीति पावक =अग्नि। पच्—पाचक। खन्—खान के खोदने वाला। दा—दायक। युक् आगम। आख्या—आख्यायक। कहने वाला। स्त्रीलिङ्ग में आख्यायिका। गै—गायक। गायतीति गायक। धातु को आत्व होकर युक् का आगम। ब्रू—वाचक। ण्वुल् आर्धधातुक है, अत 'ब्रू' को वच् आदेश हुआ। ण्यन्त स्था (स्थापि)—स्थापक। सिध् (साधि) से साधक। वद् (वादि) से वादक। मुद् (मोदि) से मोदक। मोदयतीति मोदक, लड्डू। ण्यन्त गमि, जनि, भ्रमि, दमि, शमि से क्रम से गमक, जनक, भ्रमक, दमक, शमक—रूप सिद्ध होते हैं। इन सब में तथा इनसे पूर्व निर्दिष्ट ण्यन्त धातुओं के 'णि' का लोप हो जाता है।[2] इन में धातु के 'अ' को वृद्धि नहीं होगी[3]—यह विशेष

—यहाँ कर्म 'सा' स्त्री० एक० है। वाक्य मन्दारपुष्पाणि प्राप्तु शक्यमवधान (हरि व० ८६।५५)—यहाँ कर्म मन्दारपुष्प नपु० बहु० है। ऐसा क्यों हुआ। वामन का सूत्र है—शक्यमिति रूप कर्माभिधाया लिंगवचनस्यापि सामान्योपक्रमात् (काव्यालंकार० ५।२।२३)। अर्थ यह है कि 'शक्यम्' यह कर्मवाची है। कर्म-विशेष की अनपेक्षा में अर्थात् सामान्योपक्रम में औत्सर्गिक एकवचन ही होगा और लिंग सर्वनाम नपुंसकम् इस वचन के अनुसार पु० वा स्त्री० न होकर नपुंसक लिंग ही होगा। पश्चात् कर्म विशेष के साथ सम्बन्ध होने पर भी अन्तरङ्गतया आये हुए लिंग और वचन की निवृत्ति नहीं होती।

१ ण्वुल्तृचौ (३।१।१३३)।

२ णेरनिटि (६।४।५१)।

३ जनीजृष्क्नसुरञ्जोऽमन्ताश्च (गणसूत्र) से जन् और अमन्त गम्, दम्, भ्रम्, शम् आदि की मित् संज्ञा है और मित् संज्ञकों को णिच् परे रहते ह्रस्व हो जाता है। गमयतीति गमक। शमयतीति शमक। शुद्ध दम्, भ्रम्,

सम्, में ण्वुन् करने कार्य है। स्यति प्राणान् इति सायक:, बाण। यहाँ 'सो' से ण्वुल् हुआ है। अव उपसर्ग प्रायिक है, सो यह नहीं भी हुआ।

हन् णिच्—घातक। घातयतीति घातक:। हन्तीति घातक:। णित् प्रत्यय परे होने पर हन् के 'ह' को कुत्व = 'घ' तथा 'न्' को 'त्' आदेश होता है। मत्सकश्चेन्न विद्येत वधकोऽपि न विद्यते—यहाँ वधक में वध एक स्वतन्त्र प्रकृति मानी जाती है जिसकी उपधा वृद्धि को जनिवध्योश्च (७।३।३५) से रोका जाता है। अधिइङ्—अध्यायक (पढ़ने वाला)। युवा स्यात् साधु युवाऽध्यायक:। तै० उ० २।८॥ नाटयतीति नाटक: = नट, भरत। यह मूलार्थ है। वधूनाटकसङ्घैश्च संयुक्तां सर्वत: पुरीम् (रा० १।५।१८)। कालान्तर में अभिज्ञानशाकुन्तलं नाम नाटकम् इत्यादि में बहुलतया कर्म में ण्वुल् स्वीकार करके नाट्य अर्थ में प्रयोग होने लगा। क्लृप् णिच्—कल्पक - नापित (का० नी० १३।४७)। कल्पयति कृन्तति मलान् इति कल्पक: नापित:।

तृच्—तृच् (तृ) कर्त्रादि आर्धधातुक प्रत्यय है। यह भी धातुमात्र से आता है। उदात्त (= सेट्) धातुओं से परे तृच् को इट् आगम होता है।

कृ—कर्तृ। हृ—हर्तृ। पू—पवितृ। इट्। नी—नेतृ। पच्—पक्तृ। खन्—खनितृ। दा—दातृ। गम्—गन्तृ। जन्—जनितृ। शम्—शमितृ। दम—दमितृ। गै—गातृ। ब्रू—वक्तृ। वच् आदेश। वादि (= वद् णिच्,—वादयितृ। पाठि (= पठ् णिच्)—पाठयितृ। प्रक्रम (प्रारम्भ करना)—प्रक्रन्तृ (प्रक्रन्ता)। यहाँ इट् का निषेध काशिकाकार कहते हैं।[1] केवल क्रम् जो उभयपदी है (क्रामति, क्रमते) से इट् का निषेध नहीं होता—क्रमितृ (क्रमिता)। सम्पूर्वक गम् से सन् प्रत्यय परे रहने इट् होगा—सञ्जिगमिषितृ। सन्नन्त से सनन्त होने से तृच् को इडागम नित्य होगा—सञ्जिगमिषिता। प्रपूर्वक अज (जाना, हाँकना)—प्राजितृ, प्रवेतृ (सारथि)। कर्त्रादि आर्धधातुक

शम् से ण्वुल् करने पर भी नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्यानाचमे: (७।३।३४) से वृद्धि रुक जाएगी। जन् की भी वृद्धि जनिवध्योश्च (७।३।३५) से रुक जाएगी जिससे जायक इति जनक इस अर्थ में भी 'जनक' रूप सिद्ध होगा। शुद्ध अन्त गम् से ण्वुल् का प्रयोग नहीं मिलता।

१ क्रमेस्तु कर्तर्यात्मनेपदविषयात्कृत्यात्मनेपदे इति प्रतिषेधो वक्तव्य:।

प्रत्यय परे रहते अज् को विकल्प से 'वी' आदेश होता है।[1] 'अज्' यद्यपि उदात्त है, उसका आदेश 'वी' अनुदात्त माना जाता है। अत 'प्रवेतृ' में इट् नही हुआ।

ल्यु, णिनि, अच्—नन्द् आदि, ग्रह् आदि तथा पच् आदि धातुओ से क्रम से ल्यु (=अन), णिनि (इन्), अच् (अ) प्रत्यय आते हैं[2]—नन्द् आदि धातुओं से ल्यु—नन्दयतीति नन्दन। इन्द्र का उद्यान। वृध् णिच्—वर्धन। शुभ् णिच्—शोभन। शोभयतीति। रुच् णिच्—रोचन। मद् णिच्—मदन। मदयतीति मदन=काम। सह्—सहन। तप्—तपन=सूर्य। तपतीति तपन। दम्—दमन। शत्रून् दमयतीति। शत्रुदमन। कुल दमयतीति कुलदमन। जनान् समुद्रस्थदैत्यभेदान् अर्दयतीति जनार्दन। जनमर्दयतीति वा। अर्दयति=पीडयति। मधुसूदन—मधु तन्नामान दैत्य सूदयति=क्षारयति=नाशयतीति। विभीषयते इति विभीषण। रावण का भ्राता। सकर्षति प्रमुनाम् इति सकर्षण (बलराम)। सक्रन्दयति रिपुस्त्री सक्रन्दन=इन्द्र। रम्—रमण। रमते रमयतीति वा। दृप णिच्—दर्पयति इति दर्पण। दर्पणे स्व दृष्ट्वा दृप्यति स्वाकृतिर्जन, सुन्दर पुरुष दर्पण मे अपनी आकृति को देखकर दृप्त हो जाता है अहो रूपवानस्मि ऐसा कहता है, अत मुंह देखने के शीशे को दर्पण कहते हैं। लू—लवण। लुनातीति लवण। णत्व निपातन से है। एक असुर का नाम। उत्तररामचरित मे कहा भी है। लवणत्रासित स्तोमस्त्रातार त्वामुपस्थित। पू—पवन। पवते पुनातीति वा पवन। श्राम्यतीति श्रमण। स्त्रीभिक्षु।

> उन्मादनस्तापनश्च शोषणस्स्तम्भनस्तथा।
> सम्मोहनश्च कामस्य पञ्च बाणा प्रकीर्तिता ॥

यहाँ उन्मादन आदि पाँच कामदेव के नाम ल्यु प्रत्ययान्त हैं।

णिनि—ग्रह् आदि धातुओ से णिनि (इन्)[3]—ग्राहिन् (प्रथमान्त ग्राही)।

१　वलादावार्धधातुके विकल्प इष्यते।

२　नन्दि ग्रहि-पचादिभ्यो ल्युणिन्यच (३।१।१३४)।

३　ग्रह् आदि से णिनि विधान करने का प्रयोजन यह है कि इन मे ताच्छील्य न होने से ताच्छीलिक णिनि की अप्राप्ति थी, अत ग्राहिन्, मन्त्रिन्, समर्दिन्, उत्साहिन्, अयाचिन् आदि के साधुत्व का उपपादन करना आवश्यक था।

उत्सह्—उत्साहिन्। स्था—स्थायिन्। मन्त्र—मन्त्रिन् (मन्त्रयते गुप्त परिभाषते इति मन्त्री)। समृद्—समर्दिन्। समृद्नातीति समर्दी। मसल देने वाला। निवस्—निवासिन्। निवप्—निवापिन्। निवपति= निपृणाति पिण्डान् पितृभ्य इति निवापी। जो पितरों का पिण्ड भरता है वह निवापी होता है। निशो—निशायिन्। निश्यति तीक्ष्णीकरोतीति निशायी। तेज करने वाला। नञ्पूर्वक याच्, व्याहृ, सव्याहृ, व्रज्, वद्, वस्—न याचते इत्ययाची। न व्याहरति भाषत इत्यव्याहारी। न सव्याहरति समाभाषते इत्यसव्याहारी, जो दूसरों के साथ नहीं बोलता। व्रज्, वद्, वस्—अव्राजिन्, अवादिन्, अवासिन्। विनीङ्—विनायी। विमि (न्)—विषयी। यहाँ इन दोनों में वृद्धि का अभाव निपातन से है। विषयिन् में षत्व भी निपातन से है। परिनिविभ्यः सेवसितसय-(८।३।७०) से सित (सान्त), सय (अच्प्रत्ययान्त) रूपों में ही षत्व विधान किया है। विनयिन् तथा विषयिन् दोनों देश वाचक हैं। अभिपूर्वक भू से भूत अर्थ में णिनि होता है—अभिभूतवान् इत्यभिभावी। अपराध्—अपराधिन्। अपराध्यतीति अपराधी। जो अपराध करता है। उपरुध्—उपरोधिन्, रुकावट डालने वाला। परिभू—परिभाविन्, परिभविन्। यहाँ विकल्प से वृद्धि नहीं होती है।

अच्—पच् आदि धातुओं से अच् प्रत्यय आता है—

पच्—अच्=पच। पचतीति पच (पाचक, पकाने वाला)। स्त्रीलिङ्ग में पचा ब्राह्मणी। अपचा ब्राह्मणी, जो पकाने में अशक्त है। अपचो जाल्मः न पचतीत्याक्रुश्यते, जिसकी न पकाने से निन्दा है। वद्—वद। चल्—चल। पत्—पत। चरट्। देवट्। नदट्। यह अच्प्रत्ययान्त टित् पढ़े हैं जिससे स्त्रीलिङ्ग में चरी, अनुचरी, देवी, नदी, यह ङीबन्त रूप बन जाते हैं। मिष्—मेष। मिषतीति मेष। मिष स्पर्धायाम्। तुदादि। मृ—मर। न म्रियत इत्यमर। दन्श्—दंश। दशतीति दंश। (वनमक्खी)। ध्रु (तुदा॰ कुटा॰)—ध्रुव। ध्रुवतीति ध्रुव स्थिर। आस्रणोतीति आश्रव=वचन स्थित, आज्ञाकारी। जार भिभर्तीति जारभरा। श्वानं पचतीति श्वपच। चण्डाल। अजं द्राग् गिरतीति अजगर। इस अवस्था में कर्मण्यण् (३।२।१) से अण् की प्राप्ति थी। जिससे स्त्रीलिङ्ग विवक्षा में ङीप् होता। चर, चल्, पत, वद इनसे अच् प्रत्यय परे रहते विकल्प से द्वित्व होता है और अभ्यास को आक् (आ) आगम होता

है[1]—चरतीति चर, चराचर। चलाचल। पतापत। वदावद। जो चर् का अर्थ है वही चराचर का। द्वित्व से कुछ भी अर्थान्तर नहीं होता। **चराणामन्नमचरा** (मनु० ५।२९)। वदो वदावदो वक्ता—दोनों अमर कोष में समानार्थक पढ़े हैं। **चलाचले च संसारे धर्म एको हि निश्चल**। (वैराग्य०)। चलाचले=चले। हन् को अच् परे द्वित्व होता है तथा अभ्यास को 'आ' आगम तथा कुत्व (घ)[2] और अभ्यास से उत्तरखण्ड के हन् के 'ह' को अभ्यासाच्च (७।३।५५) से कुत्व। हन्तीति घनाघन। वर्षुकाब्दो घनाघन (अमर)। मेह बरसाने वाला बादल। दरिद्रा—दरिद्र। आर्धधातुक प्रत्यय की विवक्षा में ही दरिद्रा के 'आ' का लोप हो जाता है और वह लोप सिद्ध माना जाता है। सो आकारान्त से जो 'ण' प्राप्त था वह नहीं होता, अच् होता है। **रात्रौ चरतीति रात्रिचर, रात्रिंचर इति वा**। यहाँ भी अच् प्रत्यय है। अच्प्रत्ययान्त उत्तरपद परे होने पर रात्रि को विकल्प से मुम् (=म्) आगम होता है।[3]

लोलूय, पोपूय, मरीमृज्य, सनीस्रस्य, दनीध्वस्य, चञ्चुर्य—इन यङन्त धातुओं से अच् होने पर 'यङ्' का लुक् हो जाता है[4]—लोलुव। पोपुव। मरीमृज। सनीस्रस। दनीध्वस। चञ्चुर। धात्ववयव 'य' का लोप होने से धातु को गुण न होकर[5] पोपुव, लोलुव में 'उ' को उवङ् हुआ है। 'मरीमृज' में गुण नहीं हुआ। पचादि आकृतिगण है। इसमें शिवशमरिष्टस्य करे (४।४।१४३) ज्ञापक है। **करोतीति कर**। पचाद्यच्। उपसृज्—उपसर्ग। उपसृजति सम्बध्नाति इत्युपसर्गः। न्यङ्कु आदि होने से कुत्व (पदमञ्जरी)। मेहतीति मेघ। न्यग् रोहतीति न्यग्रोध=वट। यहाँ दोनों स्थलों में न्यङ्क्वादि होने से कुत्व हुआ। स्वयं वृणुते पतिम् इति स्वयंवरा। वृङ् से अच्। सुप्सुपा समास। **स्वयंवरा च सा कन्या बन्धुभिः स्थापिता सती**(हरिवंश २।६१।४३)। वस् आच्छादन करना अदा० से—वसा। वस्ते इति। शरीर के बीच में स्नेह-द्रव्य। सर्पतीति सर्प। युध्यते इति योध। वश् से प्रतिष्कश

---

१ चरि-चलि-पति-वदीनां वा द्वित्वमच्याक् चाभ्यासस्य (वा०)।
२ हन्तेर्घत्वं च (वा०)।
३ रात्रेः कृति विभाषा (६।३।७२)।
४ यङोऽचि च (७।४।३०)।
५ न धातुलोप आर्धधातुके (१।१।४)।

=वार्तापुरुष, सहाय, अग्रेसर। ग्राममद्य प्रवेक्ष्यामि भव मे त्वं प्रतिष्कश। मैं आज गाँव में प्रवेश करूँगा, आप मेरे अगुआ बनिए। यहाँ कश से पचाद्यच् करके सुट् का निपातन किया है। जातिस्मर। स्मरतीति स्मर। जाते स्मर =जातिस्मर। हलधर। हलस्य धर। अच्। पयोधर = पयसां धर। गङ्गाधर। गङ्गाया धर (शिव)। दाशते ददति अस्मै इति दाश। यहाँ अच् कर्ता में न होकर सम्प्रदान में होता है। दाशगोघ्नौ सम्प्रदाने (३।४।७३) से निपातन किया है।

क—इगुपध (इक् उपधा वाली धातु), ज्ञा, प्री, कृ से क (अ) प्रत्यय आता है[1]—विक्षिप्—विक्षिप। विक्षिपतीति विक्षिप, फैंकने बिखेरने वाला। विलिख्—विलिख। बुध्—बुध। बुध्यत इति बुध। कृश्—कृश। कृश्यतीति कृश। कृश् अकर्मक है। क्षुर्—क्षुर (उस्तरा)। क्षुरति विलिखति केशान् इति क्षुर। आङ् कुर—आकुर। आकोलति[2] एको भवति इत्याकुल। भुज्—भुज। नि पूर्वक पुण्—निपुण। पुण् शुभ कर्म करना, तुदा०। निपुणतीति निपुण। विपुल्—विपुल। विपोलति संहतं इति विपुल। मृड्—मृड। मृडति सुखयतीति मृड शिव। ईश्—ईश। ईष्टे इति ईश। जीवतीति जीव। अथ ये चास्येह जीवा ये च प्रेताः (छा० उ०)। जो इसके सम्बन्धी यहाँ जीव हैं और जो मर गए हैं। जीवपुत्रो ममायम्। जो जीता है वह 'जीव' है। न वै हम वृत्र विद्म न जीवम् (श० ब्रा०)। वृत्र मारा गया है अथवा जीता है, हम नहीं जानते हैं। इन सब में 'क' प्रत्यय के कित् होने से धातु की लघु उपधा को गुण नहीं हुआ। आङ्पूर्वक तुर् तुरी॰यादि इत्यादि—आतुरोति इति आतुर =रुग्ण।

ज्ञा – ज्ञ। जानातीति ज्ञ। यहाँ आर्धधातुक प्रत्यय 'क' पर होने पर 'आ' का लोप हो जाता है।

प्री—प्रिय। प्रीणातीति प्रिय। धातु के 'ई' को इयङ्।

कृ—किर। किरतीति किर। गुणाभाव में धातु के ऋ को इर्। किरश्चासौ मतस्य किराम। यतु न नश्यागन्।

---

१ इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः (३।१।१३५)।

२ कुर् स्वादि० प० है। कुर सख्याने कुपुर च। सख्याने गपाने। कुपुरास्ते कचुक्याकारो मन्यते।

क—आकारान्त सोपसर्गक धातुओं से[1]—सुग्लै—सुग्ल। सुष्ठु ग्लायति। क्षीणहर्षो हतोत्साहो भवतीति सुग्ल। सु-म्लै—सुष्ठु म्लायतीति सुम्ल। यहाँ उपदेश में ही एच् (ऐ) को आ हो जाता है। प्र-स्था—प्रतिष्ठत इति। प्रस्थ[2]। वि-स्था—विष्ठा (कुक्षि-मल)। वितिष्ठत उदरे इति। 'क' होकर स्त्री० में टाप्। वि-प्रा—विप्र। विशेषेण प्राति पूरयति कर्माणि इति विप्र। प्र-ज्ञा—प्रज्ञ। प्रजानातीति प्रज्ञ। इन सबमें क (अ) प्रत्यय के अजादि आर्धधातुक होने से धात्वाकार का लोप हुआ है[3]। निसरा श्यति तनूकरोति श्यापारान् इति निशा। शो। आत्व। स्त्रीत्व में टाप्। निशा का निशा-दृष्ट स्वप्न अर्थ भी है—यदि शक्यो मया जेतु जामदग्न्य प्रतापवान। दैवतानि प्रशमानि दर्शयन्तु निशा मम (भा० ५।७२५२)।

श—पा, घ्रा, ध्मा, धेट् (धे), दृश्—से श (अ) होता है[4]। 'श' सार्वधातुक प्रत्यय है। अत पा को पिब, घ्रा को जिघ्र, ध्मा को धम् आदेश होता है। उपर्यं पिबतीति उत्पिब। विशेषेण पिबतीति विपिब। सपिब। समुद्र इव सपिब (अथर्व० ६।१३५।२)। उद् घ्रा—उज्जिघ्र। वि घ्रा—विजिघ्र। विदृश—विपश्य। उद् दृश्—उत्पश्य। कोई लोग पूर्वसूत्र से 'उपसर्ग' की अनुवृत्ति नहीं करते उनके मत में केवल दृश् से 'पश्य' रूप साधु होगा। मुण्डकोपनिषद् में प्रयोग भी है—यदा पश्य पश्यते रुक्मवर्णम्। वार्तिककार सज्ञा में घ्रा धातु से 'श' प्रत्यय का प्रतिषेध चाहते हैं।[5] व्याघ्र—पूर्वसूत्र से 'क'। पर नागेश भट्ट वार्तिक 'घ्रा' को 'जिघ्र' आदेश का ही निषेध करता है प्रत्यय तो सज्ञा में भी 'श' ही होता है ऐसा मानते हैं। विध्मा—विधम। उद् ध्मा—उद्धम। धेट्—धया कन्या। धयति मातरम् इति। फलानि धूमस्य धयानधोमुखान् (श्रीहर्ष)।

---

१ आतश्चोपसर्गे (३।१।१३६)।

२ प्रतिष्ठत इति प्रस्थ। वने प्रस्थ इति वनप्रस्थ, स एव वानप्रस्थ। परिमाण विशेष तथा सानु अर्थ में तो घञर्थे अधिकरण में 'क' होता है—प्रतिष्ठन्तेऽत्रेति।

३ आतो लोप इटि च (६।४।६४)।

४ पा-घ्रा-ध्मा-धेट्-दृश श (३।१।१३७)।

५ जिघ्रते सज्ञाया प्रतिषेधो वक्तव्य (वा०)।

निपूर्वक लिप् से संज्ञा में[1]—निलिम्पा नाम देवाः । निलिम्पनिर्झरी=सुरनदी=भागीरथी ।

गो आदि शब्द (द्वितीयान्त) उपपद होने पर विद् (प्राप्त करना तुदा०) से संज्ञा में श[2]—गां विन्दतीति गोविन्दः । श प्रत्यय के सार्वधातुक होने से विद् को 'नुम्' आगम हुआ[3] । अरविन्दम्=कमलम् । अरान् चक्राङ्गानीव पत्त्राणि विन्दत इति ।

ण—ज्वल् आदि कस् पर्यन्त भ्वादि धातुओं से विकल्प से ण (अ) होता है ।[4] पक्ष में पचाद्यच् होगा—ज्वालः (ण) । उपधावृद्धि । ज्वलः (अच्) । चालः । चलः । यह अच् का अपवाद है । 'ण' उपसर्ग रहित धातु से ही होता है—प्रज्वलः । यहाँ नहीं हुआ । तन् (जो भ्वादि ज्वलादि नहीं) से भी 'ण' प्रत्यय होता है—अवतनोतीत्यवतानः ।[4] वमति स्नेहम् इति वामा=सुन्दरी स्त्री ।

ण—श्यैङ्, आकारान्त धातु, व्यध्, आ-स्रु, सं-स्रु, अति-इण्, अव सो, अव-हृ, लिह्, श्लिष्, श्वस्[5]—इनमें भी ण-अवश्यायः=ओस । अवश्यायते-ऽध पततीत्यवश्यायः । प्रतिश्यायते प्रतिनिम्नेण गतिमान् भवतीति प्रतिश्यायः, नजला, जुकाम । यहाँ उपदेशावस्था में ही आत्व (श्या) होकर प्रत्यय के णित् होने से युक् (य्) आगम होता है ।[6] आकारान्त—दायः । धायः । ददातीति दायः । दाय सम्पत्ति, भाग अर्थ में तथा सुदाय यौतक अर्थ में क्रम से प्रयुक्त हैं । दधातीति धायः । यहाँ भी युक् आगम हुआ है । व्यध्—व्याधः । विध्यतीति व्याधः । आङ्-स्रु—आस्रावः । सम्-स्रु—संस्रावः । अति इण्—

१ नौ लिम्पेः संज्ञायाम् (वा०)।
२ गवादिषु विन्देः संज्ञायाम् (वा०)।
३ शे मुचादीनाम् (७।१।५९)।
४ ज्वलितिकसन्तेभ्यो णः (३।१।१४०)। तनोतेर्णे उपसंख्यानम् (वा०)।
५ श्याद्व्यधास्रुसंस्र्वतीणवसावहृलिहश्लिषश्वसश्च (३।१।१४१)।
६ आतो युक् चिण्कृतोः (७।३।३३)।

अत्याय । अत्येति इत्यत्याय पुरुष, अतिक्रम करने वाला । पर अत्यय = अतिक्रम । अत्ययनम् अत्यय । भाव में इकारान्त से अच् । अव-सो—अवसाय । अवस्यतीत्यवसाय । समाप्त करने वाला, अथवा निश्चय करने वाला । पर अव-सो से भाव में घञ् होकर भी 'अवसाय' शब्द सिद्ध होता है । अर्थ होता है—अवसान, निश्चय । यहाँ भी कृत्प्रत्यय के ञित् होने से युक् आगम होता है । अव-हृ—अवहरति निगिलतीत्यवहारो ग्राह । लिह्—लेह । लेढीति लेह । श्लिष्—श्लिष्यतीति श्लेष = सरेश । श्वस्—श्वसितीति श्वास ।

ण—दु और नी से ण (अ) होता है जब इनसे पूर्व उपसर्ग न हो[1]—दुनोतीति दाव । वनवह्नि । नयतीति नाय = नायक । उपसर्ग होने पर तो अच् होगा—प्रदव । प्रणय । प्रणय = प्रणायक । सूत्र में टुदु उपतापे स्वा० का ग्रहण है, अत भ्वा० 'दु' से तो उपसर्गाभाव में भी अच् ही होगा—दव । वने च वनवह्नौ च दवो दाव इहेष्यते ।

ग्रह् से ण् विकल्प से होता है[2] । यह व्यवस्थित विभाषा है, अर्थात् इस विभाषा का विषय नियमित है । जलचर अर्थ में नित्य 'ण' होता है—ग्राह । सूर्य आदि ग्रह (ज्योति) के अर्थ में ण नहीं होता—सूर्यो ग्रह । प्रतिग्राह पतद्ग्रह (पीकदान)—भ्रमर । यहाँ हुआ और नहीं भी हुआ । भू धातु से भी विकल्प से—भाव । भव (भवतीति) ।

क—ग्रह् धातु से 'क' प्रत्यय होता है जब इसका कर्ता गेह = घर हो[3]—गृहम् । सम्प्रसारण । घर में होने से (नास्थ्यात्) धर्मपत्नी को भी 'गृहा' कहते हैं । गृह्णन्ति गृहा दारा । भवतीति भाव ।

ष्वुन्—ष्वुन् (अक) प्रत्यय नृत्, खन्, रञ्ज् से आता है जब प्रत्ययान्त शिल्पी को कहे[4]—नर्तक । खानक । रजक (धोबी, रंगरेज) । रञ्ज् के 'न्' का लोप भी होता है । प्रत्यय के षित् होने से स्त्रीत्व विवक्षा में नर्तकी, खानकी, रजकी रूप होंगे ।

---

१ दुन्योरनुपसर्गे (३।१।१४२) ।
२ विभाषा ग्रह (३।१।१४३) ।
३ गेहे क (३।१।१४४) ।
४ शिल्पिनि ष्वुन् (३।१।१४५) ।

थकन्—गै धातु से शिल्पी वाच्य होने पर थकन् (थ) प्रत्यय होता है[1]—गाथतीति गाथक । जिसका गाना हुनर है ।

ण्युट्—शिल्पी अर्थ में ण्युट् प्रत्यय (यु=अन) भी होता है[2]—गायन । जगुर्गायनि गायना (भारत १।७६०६) ।

हा त्यागना, हा जाना से ण्युट् होता है जब धात्वर्थ का कर्ता व्रीहि अथवा काल हो[3]—हायन व्रीहि=धान्य-विशेष को कहते हैं—हायना नाम व्रीहयः जहत्युदकमिति । शतपथ में प्रयोग भी है—हायनानां चरुं निर्वपति (५।२।७।६)। किन्हीं के मत में जाङ्गल-देश में उत्पन्न व्रीहि को हायन कहते हैं। हायन=संवत्सर । जहाति भावान् इति । जिहीते इति वा ।

वुन्—प्रु, सृ, लू—से समभिहार=साधुकारिता=अच्छी तरह से करना अर्थ की प्रतीति होने पर वुन् (वु=अक) प्रत्यय होता है[4]—प्रवक । सरक । लवक । प्रवते साधु गच्छतीति प्रवकः । प्रुङ् भ्वा० गत्यर्थक है । सरति साधु सर्पतीति सरकः । साधु लुनातीति लवकः । साधुकारिता अर्थ यदि अभिधाना इष्ट न हो तो ण्वुल् होकर प्रावक, सारक, लावक—रूप बनेंगे ।

आशीर्वाद की प्रतीति होने पर धातुमात्र से कर्ता में वुन् होगा—जीवतात् जीवकः । नन्दतात् नन्दकः । जिसे हम चाहते हैं कि वह जीये उसे 'जीवक' कहेंगे ।

घञ्—पद् जाना, रुज् तोड़ना, विश् प्रवेश करना, स्पृश् छूना—इनसे कर्ता अर्थ में घञ् (अ) प्रत्यय होता है[6]—पद्यते इति पादः । रुजति शरीरम् इति रोगः । प्रत्यय के घित् होने से कुत्व हुआ । विशतीति वेशः । स्पृशति कुर्वति इति स्पर्शो रोगः ।

सृ धातु से घञ् होता है जब प्रत्ययान्त धात्वर्थ का कर्ता हो—चोर स्थिर

१ गस्थकन् (३।१।१४६) ।
२ ण्युट् च (६।१।१४७) ।
३ हश्च व्रीहिकालयोः (३।१।१४८) ।
४ प्रुसृल्वः समभिहारे वुन् (३।१।१४९) ।
५ आशिषि च (३।१।१५०) ।
६ पदरुजविशस्पृशो घञ् (३।३।१६) ।

भ्र दा अर्थ हो[1]—चन्दनसार । खदिरसार । सरति कालान्तरम् इति सारः जो (अदा) कुछ समय तक ठीक रहता है, विकार को प्राप्त नहीं होता ।

व्याधि, मत्स्य और बल—इन अर्थों में भी 'सृ' से कर्ता में घञ् होता है[2]—अतीसारो व्याधि । शरीरान्तरवस्थित रुधिरादिद्रव्यमतिशयेन सारयतीति । णृ का यहाँ अन्तर्भावित ण्यर्थ होकर प्रयोग है । विसारो मत्स्य = विविध सरतीति । सारो बलम् । सारो बले मज्जनि च स्थिरांशे ।

सोपपद कृत्—

अण्—कर्ममात्र (निर्वर्त्य, विकार्य, प्राप्य) के उपपद होने पर धातु से अण् होता है ।[3] अण् (अ) णित् है अत इसके परे रहते धातु के अन्त्य अच् को वृद्धि होती है, उपधा 'अ' की वृद्धि तथा उपधा-इक् को गुण होता है । कुम्भ करोति इति कुम्भकार =कुम्हार । नगरकार । स्वर्णकार । काण्डलाव । काण्डानि लुनातीति काण्डलाव । शरलाव । शरान् लुनातीति शरलाव । अन्त्य अच् की वृद्धि । आवादेश । वेदम् अधीत इति वेदाध्याय =वेदपाठी । गोमधुपर्कार्हो वेदाध्याय (आप० ध० २।८।५) । पूर्वयोर्वर्णयोर्वेदाध्याय हत्वा (आप० ध० १।२४।५) । कुम्भकार आदि सब उपपद-समास हैं । अलौकिक विग्रह इस प्रकार होगा—कुम्भ अस् कृ अण् । कृयोग के कारण कुम्भ से षष्ठी 'अम्' हुआ, द्वितीया 'अम्' नहीं । सुप् प्रत्यय के आने से पहले ही उपपद का कृदन्त के साथ समास हो जाता है ।[4] चर्चापाठ । चर्चा पठतीति । उपधा 'अ' की वृद्धि । शालिप्रायम् अन्नम्—शालीन् बन्धून् प्रति गच्छतीति । प्रक्षाल्य हस्तावाचम्य शातिप्राय प्रकल्पयेत् (मनु० ३।२६४) । कर्मभिप्राय क्रियाफलम्—कर्तारमभिप्रैतीति, जो कर्ता को मिलता है । कर्णम्=अरित्र धारयतीति कर्णधार । नाविक । कर्ण नाम चप्पू का है । सूत्र धारयतीति सूत्रधार ।

---

१ सृ स्थिरे (३।३।१७) । व्याधिमत्स्यबलेष्विति वक्तव्यम्(वा०)। इन्हे आचार्य ने भावे (३।३।१८), अकर्तरि च कारके सज्ञायाम् (३।३।१९) इस अधिकार के सूत्रो से पूर्व पढा है । हमने निरुपपद कर्तृ कृत् प्रत्ययों के अन्त में रख दिया है, जिससे प्रकरण-विच्छेद नहीं होता ।

२ व्याधिमत्स्यबलेष्विति वक्तव्यम् । (वा०)

३ कर्मण्यण् (३।२।१) ।

४ गतिकारकोपपदाना कृद्भि. सह समासवचन प्राक्सुबुत्पत्ते ।

कं शिरः पालयतीति कपालम्=खोपड़ी। पात्र-खण्ड में इसका उपचार से प्रयोग होता है। आखून् हन्तीति आखुघात, चूहे मारने वाला। कं शिरः पाटयति दारयति प्रविशत इति कपाटम् = किवाड़। प्रवेश करते हुए के सिर को फोड़ देता है। इसलिए इसे 'कपाट' कहते हैं। पाणिग्राह = पाणि गृह्णातीति, परिणेता, वर। उदकं हरतीति उदहार, माशकी। यहाँ उदक को 'उद' आदेश विकल्प से होता है। पक्ष में उदकहार रूप भी रहेगा। पारम् आवृणोतीति पारावार = समुद्र (जिसका पार छिपा रहता है)। यहाँ आङ्-पूर्वक वृ (ञ्) ढाँपना में अण् हुआ है। स्थूललक्ष = बहुदेयदर्शी। (मिताक्षरा)। स्थूलं लक्षयतीति। यहाँ उपधा में अ् होने से वृद्धि का प्रसङ्ग ही नहीं। शस्त्राणि माष्टीति शस्त्रमाज, शस्त्रों को साफ करने वाला। यहाँ मृज् से अण् हुआ है। गुण के प्रसङ्ग में मृज को वृद्धि होती है। शस्त्रेण जीवति शस्त्राजीव, आयुधीय, सैनिक, सिपाही, फौजी। शृङ्गं प्राधान्यमियर्तीति शृङ्गार = आठ रसों में मुख्य रस। यहाँ शृङ्ग का अर्थ प्रधानता, मुख्यता है। 'ऋ' से अण् हुआ है। रङ्गम् अवतरतीति रङ्गावतार = नट। यहाँ रङ्ग = रङ्गस्थल, रंगमंच। अवपूर्वक तॄ से अण् हुआ है। ओदनं पचतीति ओदनपाच। अग्निम् इन्धे = अग्निमिन्ध, अग्नि जलाने वाला। भ्राष्ट्रम् इन्धे = भ्राष्ट्रमिन्ध = भाड़ झोंकने वाला। इन दोनों प्रयोगों में अग्नि तथा भ्राष्ट्र को मुम् (म्) आगम भी होता है।[1] अश्वान् वारयतीति अश्ववार = घुड़सवार। अश्वान् नयतीति अश्वनाय, घोड़ों को हाँकता है। इसी प्रकार गा नयतीति गोनाय (छा० उ० ६।८।३)। सार्थं वहतीति सार्थवाह, काफिले का अगुआ।[2] रूप तर्कयत इति रूपतर्क, जौहरी। कुवान् कुवलान् वयतीति कुवयन, बिडाल, बिल्ला। उपधा में न् होने से वृद्धि नहीं हुई। नॄन् नयतीति नृनय = क्रूर, घातुक। धातुओं के अनवधान होने से यहाँ गम् निषेध है। समास्तृणाति समास्तारा समासार। स्तृञ् आच्छादने। क्रियाओं क्रिया उपरत

---

१ भ्राष्ट्राग्न्योरिन्धे मुम् वक्तव्य।

२ ग्रामं गच्छति, आदित्यं पश्यति, हिमवन्तं शृणोति—इत्यादि में अण् नहीं होता, व्यवहार न होने से (अनभिधानात्)। गङ्गाधर, भूधर, जलधर, पयोधर आदि में कर्म की अविवक्षा में शेषषष्ठ्यन्त का समास 'धर' के साथ षष्ठी समास होने से कुछ भी अनुपपन्न नहीं।

होने पर धातुमात्र से भविष्यत् अर्थ में अण् होता है जब कर्म उपपद हो[1]—
काण्डलावो याति=काण्डानि लविष्यामीति याति। यहाँ क्रियार्था क्रिया 'याति'
=जाता है, है। धातु लू से अण् हुआ है। 'काण्ड' कर्म उपपद है। लवन
(=काटना) क्रिया होने वाली है अत भविष्यत्कालिका है। इसी प्रकार
यज्ञकारो गमिष्यामि, यहाँ कृ से अण् हुआ। यज्ञं करिष्यतीति यज्ञकार।
नास्तमिते समिद्धारो गच्छेत् (आप० ध० १।४।१५)। सूर्यास्त होने पर समिधा
लेने के लिये न जाय। यहाँ समिध् कर्म उपपद होने पर 'हृ' से अण् हुआ।
तत्रैना प्रेषयिष्यामि सुराहारीं तवान्तिकम् (भा० विराट० १५।५)। सुरां हार-
यिष्यतीति सुराहारी। अण् होने से स्त्रीत्व विवक्षा में ङीप् हुआ।

शील्, कम्, भक्ष्, आ-चर्—से कर्म उपपद होने पर ण प्रत्यय होता
है[2]—मांसशील। मांसशीला स्त्री। मांसं शीलयतीति, मांस भक्षण जिस
का शील है। पुत्रकाम। पुत्रकामा स्त्री। पुत्रं कामयत इति। अब्भक्ष।
अप एव भक्षयति, जो जल का ही सेवन करता है। वायुभक्ष, जो वायु का
ही भक्षण करता है। कल्याणाचार। कल्याणाचारा स्त्री। कल्याणमा-
चरतीति, जो शुभ आचरण करता है।

ईक्ष् तथा क्षम् से भी वार्तिकानुसार ण होता है[3]—सुखं प्रतीक्षते इति
सुखप्रतीक्ष। सुखप्रतीक्षा स्त्री। बहु क्षमत इति बहुक्षम पुरुष। बहुक्षमा
स्त्री। मुखप्रेक्ष=मुखं प्रेक्षत इति। मुख की ओर देखने वाला। यस्या मम
मुखप्रेक्षा यूयमिन्द्रसमा सदा (भा० विराट० २०।११)।

अण्—ह्वे, वेञ्, माङ्—इन ह्वे, वेञ् से जो उपदेशावस्था में ही
आकारान्त बन जाती हैं तथा आकारान्त माङ् से कर्म उपपद होने पर
अण् होता है पक्ष्यमाण 'क' नहीं।[4] सो यह 'क' का अपवाद है। स्वर्गम्
आह्वयति=स्वर्गाह्वाय, जो स्वर्ग को बुलाता है। युक् आगम हुआ। तन्तून्
वयतीति तन्तुवाय, जुलाहा। तुन्नं सच्छिद्रं वयतीति तुन्नवाय=सौचिक,
दर्जी। अक्षरार्थ है—जो सच्छिद्र वस्त्र को धागों से बुनता है। प्राचीन काल

१ अण् कर्मणि च (३।३।१२)।
२ शीलिकामिभक्ष्याचरिभ्यो णः (वा०)।
३ ईक्षिक्षमिभ्यां चेति वक्तव्यम् (वा०)।
४ ह्वावामश्च (३।२।२)।

में वस्त्र युगल (चादर तथा धोती) पहनने से दर्जी का इतना ही काम था। धान्य मिमीते इति धान्यमाय। जो धान को मापता है, तोला।

क—आकारान्त अनुपसर्गक धातुओं से कर्म उपपद होने पर क (=अ)[1]—गां ददातीति=गोद। कम्बलं ददातीति कम्बलद। पार्ष्णि त्रायत इति पार्ष्णित्रम्। पार्ष्णि एड़ी को कहते हैं और सेना के पृष्ठ भाग को भी। अङ्गुलिं त्रायत इत्यङ्गुलित्रम्, अङ्गुलियों की रक्षा के लिये व्याघ्र आदि जो चर्म हाथ पर पहनते हैं उसे अङ्गुलित्र कहते हैं। अङ्ग शरीराङ्गं बाहुं श्यति शोषयति सूक्ष्मयतीति श्यावन्, तद् अङ्गदम्=बाहुबन्द। यहाँ दैप् शोधने धातु है। एच्—अन्त धातु को उपदेशावस्था में ही 'आ' अन्तादेश हो जाता है। है। बहु लाति गृह्णाति इति बहुलम्। नार नरसमूह द्यति खण्डयति कलहेन इति नारद। यहाँ दो अवखण्डने से 'क' हुआ है। अथर्ववेद में नारं जलं ददाति इस अर्थ में 'नारद' मेघ का वाचक है। यहाँ 'दा' से 'क' हुआ है। स्तोकं कायतीति स्तोकक=चातक[2]। जो थोड़ा बोलता है। 'स्तोकक' चातक का नाम है। यहाँ 'कै' से क हुआ है। भियं लातीति भीलम्। तदभिन्नम् इल्लीलम्। कपिलकादि होने से लत्व। तस्मादश्लील सुवाससं दिदृक्षन्ते (ग० ब्रा० ३।१।२।१६)। अश्लील=असुन्दर, भद्दा। अतः भद्दे को सुवस्त्राच्छादित देखना चाहते हैं। उपसर्ग होने पर आकारान्त से 'क' नहीं होगा, अण् होगा—गां सन्ददातीति गोसन्दाय। युक् आगम। क्रियार्थी क्रिया उपपद होने पर भविष्यत् अर्थ में उपसर्ग न होने पर भी अण् ही होगा—गोदायो व्रजति, गा दास्यामीति व्रजति। यहाँ क प्रत्यय करके गोद शब्द का प्रयोग असाधु होगा।[3] जिन आकारान्त धातुओं को सम्प्रसारण होता है उनसे 'क' की प्राप्ति के विषय में 'ड' होता है।[4] ड (=अ) होने से सम्प्रसारण रुक जाता

---

१ आतोऽनुपसर्गे कः (३।२।३)।

२ अथ सारङ्गः स्तोकश्चातकः समौ (अमर)।

३ कमण्यण से सामान्य विहित अण् है ही, फिर जो दुबारा अण् विधान किया उसके सामर्थ्य से अण् कर्मणि च' ण्वुल् को भी बाधेगा और अण् के अपवाद भूत 'क' को भी।

४ कविधौ सर्वत्र प्रसारणिभ्यो डः (वा०)।

है किन्तु न होने से—ब्रह्म वेद जिनाति श्लपयति लोएं करोति इति ब्रह्मज्य[1]। प्रा-ह्वे—प्राह्वयते इत्याह्व । प्र-ह्वे—प्रह्वयत इति प्रह्व (नम्र)। यहाँ सोपसर्ग ह्वे (ह्वा) से 'क' की प्राप्ति थी, पर धातु सम्प्रसारणी है, अतः 'क' न होकर 'ड' हुआ, जिससे सम्प्रसारण न हुआ।

सुबन्त उपपद होने पर आकारान्त धातुओं से कर्ता में 'क'[2]—समे तिष्ठतीति समस्थ । विषमे तिष्ठतीति विषमस्थ, जो सकट में है। द्वाभ्यां मुखेन नासिकया च पिबतीति द्विप (हाथी)। पादैर्मूलैः पिबतीति पादप । आतपात् त्रायत इत्यातपत्रम्(छाता)। वर्षात् त्रायत इति वर्षत्रम्(छाता)। छाया ते दिनकरभाः प्रबाधमाना वर्षत्रं भरत करोतु मूर्ध्नि शीताम् (रा० २।१०७।१८)। हे भरत, सूर्यातप को रोकने वाला छाता तेरे सिर पर शीतल छाया करे। पुद् इति नरकस्याख्या, ततः पुतस्त्रायत इति पुत्र । कूटवत् तिष्ठतीति कूटस्थ । कूट=निश्चल। कूट राशि को भी कहते हैं। गृहे तिष्ठतीति गृहस्थ । नद्यां स्नातीति नदीष्ण, कुशल । मुख्यार्थ नद्यवगाहनदक्ष, नदीस्नानकुशल था। तस्य समाज्ञापयदाशु सर्वानानायिनस्तद्विचये नदीष्णान् (रघु० १६।७५)। औपचारिक अर्थ कुशलमात्र (किसी भी विषय में) हो गया—अशिनदीष्ण कलासु—(दश० कु०)। किं किं दधातीति किष्किन्धा, इस नाम की नगरी। पारस्कर आदि होने से सुट्। पृषोदरादि होने से किम् के म् का लोप।

स्था धातु से भाव में भी 'क' होता है। यह विधि 'सुपि स्थः' सूत्र का योगविभाग सुपि (आत), स्थश्च करके प्राप्त होती है। शलभानामुत्थानं शलभोत्थ—टिड्डी दल का उठना। आखूनामुत्थानम्=आखूत्थ। चूहों का निकलना।

तुन्द और शोक कर्म उपपद होने पर क्रम से परिपूर्वक मृज् तथा अपपूर्वक नुद् से 'क' होता है यदि प्रत्ययान्त का अर्थ अलस (सुस्त) और सुखद हो[3]—तुन्द परिमार्ष्टि=तुन्दपरिमृज । तुन्द नाम तोंद का है। तोंद को पोंछने वाला, अर्थात् सुस्त। शोकमपनुदतीति शोकापनुद, सुख देने वाला।

---

१ ज्या वयोहानौ यहाँ सकर्मक है, अर्थ 'जीर्ण करना' है। वेद में तो यह सर्वत्र सकर्मक है।

२ सुपि स्थः (३।२।४)।

३ तुन्दशोकयोः परिमृजापनुदोः (३।२।५)।

यदि ऐसा अर्थ न हो तो तुन्दपरिमार्ज (अण्) और शोकापनोद (अण्) रूप होंगे। शोकापनोद का अर्थ होगा 'जो शोक को दूर करता है', शोक को दूर करके सुख पहुँचाता है, ऐसा नहीं। संसार असार है इत्यादि उपदेश द्वारा केवल शोक को दूर करता है वह शोकापनोद है।

मूलविभुजादि

वार्तिककार का कहना है कि कुछ मूलविभुज आदि शिष्ट प्रयोग हैं वे भी 'क' प्रत्यय से सिद्ध होते हैं।[1] उनकी सिद्धि सूत्र द्वारा दुर्लभ है—मूलानि विभुजति रथः=मूलविभुज, जो रथ वृक्षों की जड़ों को तोड़ देता है वह 'मूलविभुज' कहलाता है। कौ पृथिव्यां मोदत इति कुमुदम्। कं जलम् अलति भूषयतीति कमलम्। नखान् मुञ्चन्ति नखमुचानि धनूंषि=मुष्टेर्विमुक्तानि। दायम् आदत्ते इति दायाद=रिक्थहर=अंशहर, जो पिता आदि के धन का भागी बनता है। कलाम् आदत्ते कलाद, स्वर्णकार,जो सोने में से कला=अंश चुरा लेता है। महीं धरतीति महीध्र=पर्वत। कुं पृथ्वीं धरतीति कुध्र=पर्वत। गोघ्न=गावो हन्यन्तेऽस्मै। कृतं हन्ति कृतघ्न[2]। शत्रु हन्ति शत्रुघ्न। अपो बिभर्ति अभ्रम्=बादल। शिरसि रोहतीति शिरोरुह, सिर का बाल। सरसि रोहतीति सरोरुहम्=कमल। लोकं पृणाति पूरयति=लोकम्पृण। यहाँ लोक को मुम् (म्) आगम होता है। काकगुहास्तिला। काकान् गूहन्ते इति काकगुहा, कौओं को छिपाने वाले। यू स्त्र्याख्यौ नदी (१।४।३)। स्त्रियमाचक्षाते इति स्त्र्याख्यौ। प्रियमाचष्टे इति प्रियाख्य। यस्मिन् शत-सहस्राणि पुत्रे जाते गवां ददौ। ब्राह्मणेभ्यः प्रियाख्येभ्यः सोऽयमुञ्छेन जीवति (भाष्य)॥ प्रियाख्य=शुभ वार्ता कहने वाला, अच्छी खबर देने वाला। सम्पतन्ति च मे नित्यं प्रवृत्याख्याः पुरोऽमित (रा० ६।१२४।१६)।

प्र पूर्वक दा तथा ज्ञा से 'क' प्रत्यय होता है कर्म उपपद होने पर[3]—सर्वं प्रददातीति सर्वप्रद। पन्थानं प्रजानातीति पथिप्रज्ञ, मार्ग जानने वाला। पर गोसम्प्रदाय (गां सम्प्रददातीति) यहाँ 'क' नहीं हुआ, अण् हुआ, कारण कि यहाँ केवल प्र उपसर्ग नहीं है, सम्-प्र-दो उपसर्ग हैं।

---

१ कप्रकरणे मूलविभुजादिभ्य उपसंख्यानम् (वा०)।

२ जो किये हुए (उपकार) को नहीं जानता उसे कृतघ्न कहते हैं।

३ प्रे दाज्ञः (३।२।६)।

समपूर्वक स्याज् (चक्षिङ् का आदेश) से 'क' प्रत्यय होता है कर्म उपपद होने पर[1]—गा: सचष्टे इति गोसख्य (गौओं को गिनता है)=गोप=ग्वाला।

टक्—गै (गा), तथा पा (पीना) से टक्[2]—साम गायतीति सामग। सुरा पिबतीति सुराप। स्त्री सुरापी। प्रत्यय के टित् होने से ङीप्। सीधु पिबतीति सीधुप। स्त्री सीधुपी। सीधु(पुं० नपु०)=सुरा। 'पा' से यह प्रत्यय सुरा और सीधु के कर्मरूप उपपद होने पर ही होता है। अन्यत्र नहीं।[3] क्षीरप। क्षीरपा ब्राह्मणी। 'क' प्रत्यय होने से टाप् हुआ। उपसर्ग होने पर सामसगाय, साम गाने वाला यहाँ अण् हुआ है।

अच्—हृ से अच् हो जब उद्यमन=उत्क्षेपण, उठाना, फेंकना अर्थ न हो[4]—अंश हरतीति अंशहर=दायाद। रिक्थ हरतीति रिक्थहर। जायदाद का भागी। उद्यमन अर्थ में तो भार हरतीति भारहार, अण् होगा। स्थाणुरय भारहार: किलाभूद् अधीत्य वेद न विजानाति योऽर्थम्।

उद्यमन अर्थ में भी शक्ति, लाङ्गल, अङ्कुश, यष्टि, तोमर, घट, घटी, धनुष् उपपद होने पर ग्रह् से अच्[5]—शक्तिग्रह। शक्ति गृह्णातीति शक्तिग्रह। शक्ति=भाला। लाङ्गलग्रह। अङ्कुशग्रह। यष्टिग्रह। तोमरग्रह। घटग्रह। घटीग्रह। धनुर्ग्रह। सूत्र उपपद होने पर धारि धातु के अर्थ में ग्रह् से अच्[5]—सूत्र गृह्णाति धारयति इति सूत्रग्रह। धारण अर्थ न हो तो अण् होकर सूत्रग्राह प्रयोग होगा।

वय की प्रतीति होने पर हृ से अच्[6]—कवचहर। कवच हरतीति कवचहर: क्षत्रियकुमार, कवच पहनने योग्य शरीरावस्था को प्राप्त हुआ क्षत्रियकुमार। काल-कृत जो शरीर की यौवन आदि अवस्था होती है उसे 'वय' कहते हैं। अस्थिहर: श्वा।

---

१ समि ख्य: (३।२।७)

२ गापोष्टक् (३।२।८)।

३ सुरासीध्वो पिबतेरिति वक्तव्यम् (वा०)।

४ हरतेरनुद्यमनेऽच् (३।२।९)।

५ अच्प्रकरणे शक्तिलाङ्गलाङ्कुशयष्टितोमरघटघटीधनुष्षु ग्रहेरुपसङ्ख्यानम् (वा०)। सूत्रे च धार्यर्थे (वा०)।

६ वयसि च (३।२।१०)।

आङ्पूर्वक हृ से अच्, जब धातुवाच्य क्रिया को कर्ता तच्छील होकर=स्वभाव से, करता है[1]—पुष्पाण्याहरतीत्येवंशील =पुष्पाहर, जिसकी पुष्प लाने (कुसुमावचय) में स्वाभाविकी प्रवृत्ति है। ताच्छील्य न हो तो अण् निर्बाध होगा—भारम् आहरतीति भाराहार। समिध आहरतीति समिदाहार। उदकमाहरतीति उदाहार। अर्ह् से अच्[2]—पूजामर्हतीति पूजार्हा ब्राह्मणी। मधुपर्कमर्हतीति मधुपर्कार्ह आचार्य। अण् का अपवाद है। अण् होने पर स्त्रीत्वविवक्षा में ङीप् हो जाता है।

स्तम्ब, कर्ण—उपपद होने पर क्रम से रम्, व जप् से अच्[3]—स्तम्बे गुल्मे रमत इति स्तम्बेरम =हाथी। स्तम्ब (पु०) झाड़ी। कर्णे जपतीति कर्णेजप =सूचक, पिशुन, चुगलखोर। इन प्रयोगों में सप्तमी का अलुक् रहता है। तत्पुरुष समास में कृदन्त उत्तरपद परे होने पर पूर्व सप्तमी का लुक् नहीं होता, कहीं यथाप्राप्त होता भी है।

अधिकरण उपपद होने पर शीङ् से अच्[4]—खे शेते इति खशय। खुली जगह=अनावृत आकाश में सोने वाला। गर्ते शेत इति गर्तशय। गर्त=गढ़ा।

पार्श्व आदि तृतीयान्त उपपद होने पर भी[5]—पार्श्वाभ्यां शेत इति पार्श्वशय, जो दक्षिण वा वाम पार्श्व से सोता है। उदरेण शेते उदरशय, पेट के बल सोता है। पृष्ठेन शेते पृष्ठशय। जो पीठ के बल सोता है।

कर्तृवाचक उत्तान आदि जब उपपद हों तो शीङ् से अच्[6]—उत्तान सन् शेते, ऊपर को मुँह किए हुए सोता है। उत्तानशय शिशु। अवमूर्धं सन् शेत इत्यवमूर्धशय, जो औंधे मुंह सोता है। उत्तानशया देवा अवमूर्धशया मनुष्या।

ड—सप्तम्यन्त गिरि उपपद होने पर शीङ् से ड[7]। यह 'ड' प्रत्यय वेद

---

१ आङि ताच्छील्ये (३।२।११)।
२ अर्ह (३।२।१२)।
३ स्तम्बकर्णयो रमिजपो (३।२।१३)।
४ अधिकरणे शेते (३।२।१५)।
५ पार्श्वादिषूपसङ्ख्यानम् (वा०)।
६ उत्तानादिषु कर्तृषु (वा०)।
७ गिरौ डश्छन्दसि (वा०)।

मे ही देखा जाता है—गिरौ शेत इति गिरिश । प्रत्यय को डित् करने का यही एक प्रयोजन हो सकता है कि भसंज्ञा न होने पर भी अङ्ग की 'टि' का लोप होता है—गिरिश मे 'री' के 'ई' का लोप हुआ है। वेद से अन्यत्र अच् प्रत्यय होकर गिरिशय ऐसा रूप होना चाहिए। लोक मे गिरिश शब्द काव्य-नाटको मे मिलता है—गिरिशमुपचचार प्रत्यह सा सुकेशी (कुमार० १।६०)। वहां गिरिर् अस्त्यस्य इति गिरिश इस प्रकार मत्वर्थीय 'श' प्रत्यय से व्युत्पत्ति करनी चाहिए।

ट—अधिकरण उपपद होने पर चर् से ट (अ) प्रत्यय होता है[1]—कुरुषु चरतीति कुरुचर । मद्रेषु चरतीति मद्रचर । टित् होने से स्त्रीलिङ्ग मे कुरुचरी, मद्रचरी ऐसे ङीबन्त रूप बनेंगे।

भिक्षा (कर्म), सेना (कर्म) तथा आदाय (ल्यबन्त) के उपपद होने पर चर् से[2]—भिक्षा चरतीति भिक्षाचर । चरत् भिक्षामर्जयतीत्यर्थ । सेना चरति=सेनाचर । आदायचर, लेकर चलता है।

पुरस्, अग्रत, अग्रे—उपपद होने पर सृ से[3]—पुर सरतीति पुर सर, जो आगे चलता है, अगुआ। अग्रत सर । अग्रेसर । स्त्रीलिङ्ग मे पुर सरी इत्यादि। सूत्र मे 'अग्रे' सप्तम्यन्त पढा है, अत 'अग्रसर' अनुपपन्न होगा।

'पूर्व' जब कर्तृवाचक उपपद हो तो सृ से[4]—पूर्व सन् सरतीति पूर्वसर पुर सर, अगुआ। पूर्व देश सरतीति पूर्वसार । यहाँ 'पूर्व' कर्मवाची उपपद है, अत अण् हुआ।

हेतु, ताच्छील्य (=तत्स्वभावता), आनुलोम्य (=अनुकूलता) के द्योत्य होने पर कृ से[5]—हेतु—शोक करोतीति शोककरी कन्या, कन्या जो शोक का हेतु है। यशस्करी विद्या। कुलकर धनम्, धन कुलीनता का हेतु है। ताच्छील्य—श्राद्धकर सुत । प्रेषंकरो वणिक् । आनुलोम्य—वचनकरो भृत्य । आज्ञा-पालन करने से अनुकूल नौकर।

---

१ चरेष्ट (३।२।१६)।
२ भिक्षासेनादायेषु च (३।२।१७)।
३ पुरोऽग्रतोऽग्रेषु सर्ते (३।२।१८)।
४ पूर्वे कर्तरि (३।२।१९)।
५ कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु (३।२।२०)।

दिवा (अव्यय), विभा, निशा, प्रभा, भास् आदि उपपद होने पर कृ से[1] —दिवा (=दिन) प्राणिनश्चेष्टायुक्तान् करोति इति दिवाकरः सूर्यः। विभां करोतीति विभाकरः। निशां करोतीति निशाकरः, चाँद। प्रभां करोतीति प्रभाकरः, सूर्य। रामायण (२।११४।१०) में 'प्रभाकर' शब्द टीकाकार के अनुसार पद्मराग अर्थ में और कतक के अनुसार स्फटिक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। भां करोतीति भास्करः, सूर्य। यहाँ सकार निपातन किया है अतः विसर्ग (ः) तथा जिह्वामूलीय (≍) नहीं होंगे। कार—कारकर। कार=कर। अन्त—अन्तकर। अनन्त—अनन्तकर। आदि—आदिकर। बहुकर, भाड़ देने वाला। नान्दी—नान्दीकर, नान्दीपाठ करने वाला। किम्—किङ्कर। लिपि—लिपिकर, लेखक कायस्थ। लिबि (=लिपि)—लिबिकर। बलि—बलिकर, भेंट देने वाला। भक्ति—भक्तिकर। कर्तृ—कर्तृकर, कर्ता को प्रेरित करने वाला। चित्र—चित्रकर, चित्र खेंचने वाला। क्षेत्र—क्षेत्रकर, क्षेत्रं करोति कृषति, खेत पर हल चलाने वाला। एक—एककर। द्विकर। त्रिकर। जङ्घा—जङ्घाकर। बाहु—बाहुकर, बाँह लगाने, जोड़ने वाला। अहन्—अहस्कर, सूर्य। यत्—यत्कर। तत्—तत्कर। धनुर्—धनुष्कर, धनुष बनाने वाला। अरुस् (घाव)—अरुष्कर, घाव कर देने वाला। अरुस् नपुं० है।

वार्तिककार का कहना है कि किम्, यत्, तत्, बहु—इनके उपपद होने पर कृ से अच् हो[2] ट न हो। जिससे स्त्रीलिंग में किंकरा, तत्करा, बहुकरा रूप हों। वार्तिकपक्ष में ङीप् भी नहीं होगा। हाँ पूर्वपक्ष में ङीप् निर्बाध होगा—किंकरस्य स्त्री=किंकरी। बहुकरस्य स्त्री बहुकरी।

कर्म उपपद होने पर जब प्रत्ययान्त से भृति=वेतन प्रतीत हो, तो कृ से ट[3]—कर्म करोति भृतः सन् इति कर्मकरः। जो स्वतन्त्र रूप से अपना कर्म

---

१ दिवाविभानिशाप्रभाभास्कारान्तानन्तादिबहुनान्दीकिं-लिपिलिबिबलिभक्तिकर्तृचित्रक्षेत्रसंख्याजङ्घाबाह्वहर्यत्तद्धनुररुष्षु (३।२।२१)।

२ किंयत्तद्बहुष्वज्विधानम् (वा०)।

३ कर्मणि भृतौ (३।२।२२)।

करता है, वह कर्मकार होगा। औत्सर्गिक अण् प्रत्यय होगा।

अण्—शब्द, श्लोक, कलह, गाथा, वैर, चाटु, सूत्र, मन्त्र पद—इनके उपपद होने पर हेत्वादि की प्रतीति होने पर जो 'ट' प्राप्त होता है वह नहीं होता।[1] उत्सर्ग से प्राप्त अण् होना है—शब्दं करोतीति शब्दकार, ध्वनि करने वाला। श्लोककारोऽयं न काव्यकारः। अयं कलहकारः कुतो वा कारणाऽऽलम्ब्य कलहं करोति। कलह करना इसका स्वभाव है, किसी न किसी तुच्छ सी बात को हेतु बनाकर लड़ता है। गाथां करोतीति गाथाकारः। वैरकार। चाटुकार, खुशामद करने वाला। चाटु नपुं०=मधुर स्तुति का वचन। सूत्रकार। अन्यो हि गणकारः, अन्यश्च सूत्रकारः। (न्यास)। मन्त्रकार। पदकार। संहिता-पाठ को पृथक् पृथक् पदों में विभक्त करने वाला ऋषि। जैसे ऋग्वेद का पदकार शाकल्य ऋषि है।

इन्—स्तम्ब, शकृत् कर्म उपपद होने पर कृ से इन् (इ)[2]—स्तम्बकरिर्व्रीहिः, धान जो झाड को उत्पन्न करता है। शकृत्करिर्वत्सः, बच्चा जो टट्टी करता है। न शाले स्तम्बकरिता वप्तुर्गुणमपेक्षते (मुद्रा० १।३), धान झाड के रूप में उत्पन्न हो, यह बीज बोने वाले के गुणों पर निर्भर नहीं।

दृति, नाथ, इनके कर्मवाची उपपद होने पर हृ से इन् होता है जब हृ का कर्ता पशु हो[3]—दृतिं हरतीति दृतिहरिः पशु, पशु जिसने खाल उठाई हुई है। दृति पुं० है। अन्यत्र उत्सर्ग-प्राप्त अण् होगा—दृतिहारो मनुष्यः, जो मशक उठा रहा है। नाथ=नुकेल। नाथ नासारज्जुं हरतीति नाथहरिः क्रमेलकः, ऊंट जिसके नुकेल है। नाथहार=जिस मनुष्य के नुकेल है। दास प्रथा की ओर संकेत है।

फलेग्रहि और आत्मम्भरि—ये इन्प्रत्ययान्त निपातन किये हैं।[4] फलानि गृह्णातीति फलेग्रहिः, फलवान् वृक्ष आदि। उपचार से 'फलेग्रहिर्यत्नः' ऐसा भी प्रयोग निर्दोष होगा। आत्मानं बिभर्तीति आत्मम्भरिः, केवल अपने आप

---

१ न शब्द-श्लोक-कलह-गाथा-वैर-चाटु-सूत्र-मन्त्र-पदेषु (३।२।२३)।
२ स्तम्बशकृतोरिन् (३।२।२४)।
३ हरतेर्दृतिनाथयोः पशौ (३।२।२५)।
४ फलेग्रहिरात्मम्भरिश्च (३।२।२६)।

को पुष्ट करने वाला। यहाँ सूत्र में जो 'च' पढ़ा है उससे उदरम्भरि, कुक्षिम्भरि प्रयोग भी सगृहीत हो जाते हैं। भजन्त्यात्मम्भरित्वं हि दुर्गमेपि न साधव (कथा स० सा० २६।२२८)। विरला एव स्वादृशा जगति जायन्ते येषां परार्थ एव स्वार्थं, आत्मम्भरयस्तु भूयस, तेरे जैसे जिनका दूसरों का प्रयोजन ही अपना प्रयोजन है जगत् में विरले ही उत्पन्न होते हैं, अपने आप को पुष्ट करने वाले तो बहुत हैं।

खश्—कर्म उपपद होने पर ण्यन्त एजि धातु से खश् (अ) होता है[1]—अङ्गम् एजयतीति अङ्गमेजय। जनमेजय। यहाँ उत्तरपद खिदन्त (खित्प्रत्ययान्त) है। अतः पूर्वपद अङ्ग, जन को मुम् (म्) आगम हुआ है।[2]

वार्तिककार के अनुसार वात, शुनी, तिल, शर्ध के उपपद होने पर अज् (फेंकना), धेट् (चूसना, पीना), तुद् (बेंधना), हा (त्यागना) से क्रम से खश् होता है[3]—वातम् अजतीति वातमजो मृग, अत्यन्त शीघ्रगामी मृग जो मानो वायु को फेंकता जाता है। शुनीं (कुत्ती को) धयतीति शुनिन्धय। यहाँ ह्रस्व भी होता है।[4] तिलान् तुदति पीडयति इति तिलन्तुद, तेली। शर्धम् (=अपानवायु) जहातीति शर्धंजह। शर्धंजहा माषा, माष खाए हुए अपानवायु को छुड़वाते हैं। यहाँ 'हा' ण्यन्त के अर्थ में प्रयुक्त हुई है। प्रत्यय के खित् होने से सर्वत्र पूर्वपद को मुम् आगम हुआ है।

नासिका, स्तन के कर्मवाची उपपद होने पर ध्मा तथा धेट् से खश्[5]—नासिकां धमति, धयति वा नासिकन्धम, नासिकन्धय। यहाँ भी पूर्ववत् ह्रस्व हुआ। प्रत्यय के शित् होने से ध्मा को धम् आदेश हुआ। स्तनं धयतीति स्तनन्धय (शिशु)। स्त्रीलिंग में स्तनन्धयी। धेट के टित् होने से ङीप्।

नाडी, मुष्टि से भी[6]—नाडिन्धम (नाडीं धमति) स्वर्णकार। जो धौंकनी धौंकता है। नाडिन्धय। मुष्टिन्धम। खश् प्रत्यय के शित् होने से

1 एजेः खश् (३।२।२८)।
2 अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम् (६।३।६७)।
3 वात शुनी तिल शर्धेषु अज धेट् तुद जहातीनामुपसंख्यानम् (वा०)।
4 खित्यनव्ययस्य (६।३।६६)।
5 नासिकास्तनयोर्ध्माधेटोः (३।२।२९)।
6 नाडीमुष्ट्योश्च (३।२।३०)।

सार्वधातुक हो जाने से ध्मा को धम् आदेश होता है। मुष्टिन्धय, जो मुट्ठी को चूसता है जैसे बच्चा।

कूल कर्म उपपद होने पर उद् पूर्वक रुज्, वह, से खश्[1]—कूलमुद्रुजो रथ, रथ जो किनारे को तोड देता है। कूलम् उद्वहतीति कूलमुद्वह।

वह (=स्कन्ध, कन्धा), अभ्र उपपद होने पर लिह् से[2]—वह लेढीति वहंलिहो गौ, बैल जो अपने कन्धे को चाटता है। अभ्र लेढीति अभ्रंलिह प्रासाद, महल जो बादलो को छू रहा है। खश् शित् अपित है, अत ङित्वत् होने से लघूपध गुण नहीं हुआ। लिह् अदादि है, अत शप् का लुक् हुआ। बैल के कन्धे को 'वह' कहते हैं—स्कन्धदेशस्त्वस्य वह—अमर।

परिमाण-विशेषवाची प्रस्थ आदि के उपपद होने पर पच् से[3]—प्रस्थंपचा स्थाली, बटलोई जिसमे एक प्रस्थमात्र चावल पकता है। द्रोणम्पच कडाह। द्रोणपरिमाणम् ओदन पचति।

मित, नख कर्मवाची उपपद होने पर[4]—मितम्पचा ब्राह्मणी, ब्राह्मणी जो नाप तोल कर पकाती है। 'मितम्पच' शब्द कृपण का पर्याय हो गया है। अत अमर का पाठ है—कदर्ये कृपणक्षुद्रकिम्पचानमितम्पचा। नखम्पचा यवागू। नखान् पचति, अत्युष्णत्वात्। जो बहुत गरम होने से नाखुनो को पका देती है।

विधु (चन्द्रमा), अरुस् (घाव) कर्मवाची उपपद होने पर तुद से[5]—विधु तुदतीति विधुन्तुद, राहु। अरूंषि व्रणान् तुदतीति अरुन्तुद। यहाँ संयोगान्त 'स्' का लोप हो जाता है। मुम् (म्) अरुस् के 'उ' के अनन्तर होता है।

असूर्य, ललाट के उपपद होने पर दृश् तथा तप् से[6]—सूर्यं न पश्यन्ति राजदारा =असूर्यम्पश्या। रानियाँ जो इतना गुप्त रहती हैं कि सूर्य को भी नहीं देखतीं। प्रत्यय के शित् सार्वधातुक होने से दृश को पश्य्

---

१ उदि कूले रुजिवहो (३।२।३१)।
२ वहाभ्रे लिह (३।२।३२)।
३ परिमाणे पच (३।२।३३)।
४ मितनखे च (३।२।३४)।
५ विध्वरुषोस्तुद (३।२।३५)।
६ असूर्य-ललाटयोर्दृशितपो (३।२।३६)।

आदेश। 'असूर्य' यह असमर्थ समास है, नञ् का क्रिया में अन्वय है। ललाटं तपतीति ललाटंतपः सूर्यः, मध्याह्न का सूर्य जो सीधा मस्तक पर चमकता है।

उग्रम्पश्य, इरम्मद, पाणिन्धम[1]—ये खश् प्रत्ययान्त निपातन किए हैं। उग्रं पश्यतीति उग्रम्पश्यः=घोरचक्षुः। इरया जलेन माद्यतीति इरम्मदो मेघज्योतिः। पाणयो ध्मायन्त एषु इति पाणिन्धमाः पन्थानः, ऐसे अन्धकारावृत मार्ग जिनमें सर्प आदि को परे हटाने के लिये तालियाँ बजाई जाती हैं। यहाँ अधिकरण में खश् निपातित हुआ है, कर्ता में प्राप्त था। कुछ लोग पाणिन्धमा बालकाः ऐसा उदाहरण देते हैं और कर्ता में खश् समझते हैं। वृत्तिकार से उनका विरोध है।

खच्—प्रिय, वश उपपद होने पर वद् से खच्[2]—प्रियं वदतीति प्रियंवदः, मीठा बोलने वाला। वशम् (=आयत्तम्) वदतीति वशंवदः। जो अपने को पराधीन, आज्ञाकारी कहता है। गम् से भी सुप् उपपद होने पर—मितङ्गमो हस्ती। मितङ्गम हाथी को कहते हैं।[3]

विहायसा गच्छतीति विहङ्गमः, पक्षी। यहाँ वार्तिक के अनुसार विहायस् को 'विह' आदेश भी होता है। खच् प्रत्यय यहाँ विकल्प से डित् माना जाता है[4]—विहगः। विहङ्गमः। डित् होने से 'टि' का लोप हुआ। 'ड' प्रत्यय भी होता है और साथ ही विहायस् को 'विह' आदेश भी[5]—विहगः।

द्विषत् (शत्रु) और पर शब्दवाची उपपद होने पर तापि (तप् णिच्) से खच्[6]। खच् परे रहते धातु का ह्रस्व होता है[7]—द्विषन्तं तापयतीति द्विषन्तपः। संयोगान्त 'त्' का लोप हो जाता है। परान् शत्रून् तापयतीति परन्तपः। द्विषत् को 'मुम्' विशेष विहित है।

वाच् उपपद होने पर यम् धातु से, जब प्रत्ययान्त से व्रतपालन विहित

---

१ उग्रम्पश्येरम्मद-पाणिन्धमाश्च (३।२।३७)।
२ प्रियवशे वदः खच् (३।२।३८)।
३ खच्प्रकरणे गमेः सुप्युपसंख्यानम् (वा०)।
४ विहायसो विह च (वा०)। खच्च डिद्वा वक्तव्यः (वा०)।
५ डे च विहायसो विहादेशो वक्तव्यः (वा०)।
६ द्विषत्परयोस्तापेः (३।२।३९)।
७ खचि ह्रस्वः (६।४।९४)।

नियम की प्रतीति हो[1]—वाचं यच्छतीति वाचंयमो मुनिः, मुनि जो मौन व्रत रखता है। अत अमर '**वाचंयमो मुनि**' इन्हें पर्याय-रूप से पढता है। उपचार से अन्यत्र भी चुपमात्र अर्थ में भी 'वाचंयम' शब्द का प्रयोग होता है। **उपस्थिता देवी, तद्वाचंयमो भव** (विक्रम० ३)। **विद्वांसो वसुधातले परवच श्लाघासु वाचंयमा** (भा० वि० ४१४२)। पृथिवी पर विद्वान् दूसरों की उक्तियों की सराहना में मौनी रहते हैं। हाँ **वाग्यम** (अण् प्रत्यय करके) उसे कहेंगे जो किसी कारण वश वाणी को रोकता है, चुप रहता है। वाच यम में वाच् के हलन्त होने से मुम् की प्राप्ति न थी, सो **वाचंयम-पुरन्दरौ** (६।३।६९) इस सूत्र से मुम् निपातन कर दिया है।

पुर् (स्त्री०), सर्व—उपपद होने पर क्रम से दारि (दृ का ण्यन्त) तथा सह् से[2]—पुरो दारयतीति **पुरन्दर**, इन्द्र। मुम् का निपातन बताया जा चुका है। **सर्वान् सहते**=प्रसहतेऽभिभवतीति **सर्वसहो राजा**, जो राजा सब को अभिभूत कर लेता है। 'भग' उपपद होने पर भी[3]—भगन्दरो नाम रोग।

सर्व, कूल, अभ्र, करीष[4]—इनके उपपद होने पर कष् से—**सर्वंकष**, जो सबको नष्ट कर दे। **सर्वंकषा भागवती भवितव्यतैव**, दैव (होनहार) सब कुछ मलियामेट कर देने वाला है। **कूलंकषा नदी**, नदी जो किनारे को तोड फोड देती है। **अभ्रंकष प्रासाद**, महल जो बादलों से रगड खाता है। **करीषंकषा वात्या**, आँधी जो ओपलों को तोड फोड देती है। करीष=सूखा हुआ गोमय।

मेघ, ऋति, भय उपपद होने पर कृ से[5]—**मेघङ्करो वात**। ऋतिं पीडां करोतीति **ऋतिंकर**। **ऋतिंकरो व्यतिकर**, दु खदायक घटना। भयं करोति

---

१ वाचि यमो व्रते (३।२।४०)।
२ पू सर्वयोर्दारि-सहो (३।२।४१)।
३ भगे च दारेरिति वक्तव्यम् (वा०)।
४ सर्व-कूलाऽभ्र-करीषेषु कष (३।२।४२)।
५ मेघर्ति-भयेषु कृञ (३।२।४३)।

जनयतीति भयङ्करोऽपचारः । अभय शब्द के उपपद होने पर भी[1]—अभयङ्करो राजा ।

क्षेम, प्रिय, मद्र[2]—इनके उपपद होने पर कृ से खच् हो, तथा अण् भी—क्षेमङ्कर । क्षेमकार । प्रियङ्कर । प्रियकार । मद्रङ्कर । मद्रकार । मद्र =भद्र । खच्-प्रत्ययान्त से स्त्रीत्व में टाप्—क्षेमङ्करा श्रुतिः । अणन्त से ङीप् —क्षेमकारी ।

आशित (=तृप्त) उपपद होने पर भू धातु से, भाव वा करण में[3]—आशितम्भवम्, तृप्त होना । 'आशित' में कर्ता में 'क्त' है, और तृप्त अर्थ है तथा ऋक् (१०।११७।१) में प्रयोग भी है—उताशितमुपगच्छन्ति मृत्यवः । न सायम्प्रातराशितः (मनु० ४।६२) यहाँ भी । करण में—आशितम्भव ओदनः, भात, जिससे तृप्त होता है ।

संज्ञा उपपद होने पर भृ, तॄ, वृ, जि, धारि, सह्, तप्, दम्[4]—से, जब प्रत्ययान्त संज्ञा हो—विश्वं बिभर्तीति विश्वम्भरा पृथिवी । रथन्तरं साम । पतिंवरा कन्या । पतिं वृणुते इति । शत्रुञ्जयो हस्ती । हस्ति विशेष का नाम है । रामायण में प्रयोग भी है—नागः शत्रुञ्जयो नाम मातुलो यं ददौ मम (२।३२।१०) । धनञ्जयः, अर्जुन । अरिन्दमो राजा । अरीन् दाम्यतीति । युगं धारयतीति युगन्धरः=पर्वतविशेष । युगन्धर उदयनमन्त्री यौगन्धरायण का गोत्र कारक था । शत्रुंसहः । शत्रुन्तपः । यदि संज्ञा नहीं होगी तो अण् होगा—विश्वं बिभर्तीति विश्वभारः ।

सुत उपपद होने पर गम् से संज्ञा की प्रतीति होने पर[5] सुतङ्गमो नाम कश्चित् । गम् से खच् संज्ञा में विहित है पर असंज्ञा में भी देखा जाता है—आसीनस्त्रिराचामेद् हृदयङ्गमाभिरद्भिः (आप० ध० १।१६।२), बैठकर हृदय तक पहुँचने वाले जल से तीन बार आचमन करे । भाष्य में भी पाठ है—त्रिर्हृदयङ्गमाभिरद्भिरास्यमभिपरिपृणेत् ।

---

१ उपपदविधौ भयादिग्रहणं तदन्तविधिं प्रयोजयति ।
२ क्षेमप्रियमद्रेऽण् च (३।२।४४) ।
३ आशिते भुवः करणभावयोः (३।२।४५) ।
४ संज्ञायां भृ-तॄ-वृ-जि-धारि-सहि-तपि-दमः (३।२।४६) ।
५ गमश्च (३।२।४७) ।

ड—अन्त, अत्यन्त, अध्वन्, दूर, पार, सर्व, अनन्त[1]—इनके उपपद होने पर गम् से ड (अ) हो—अन्तं गच्छतीति अन्तगः। डित् होने से 'टि' का लोप। अत्यन्तगः। अध्वगः, यात्री, पथिक। दूरगः। पारगः। वेदपारगः, यहाँ षष्ठी समास होगा। सर्वगः। अनन्तगः।

'सर्वत्र' तथा 'पन्न'—इनके उपपद होने पर भी[2]—सर्वत्रगः। पन्नगः, साँप। पन्नं पतितं यथा स्यात् तथा गच्छति।

उरस् उपपद होने पर, स् का लोप भी[3]—उरसा गच्छतीति उरगः, साँप, जो छाती के बल चलता है।

सु तथा दुर् उपपद होने पर, अधिकरण कारक के अर्थ में (कृत् होने से कर्ता में प्राप्त था)[4]—सुखं गम्यतेऽत्रेति सुगः समो देशः। दुःखं गम्यतेऽत्रेति दुर्गो विषमो देशः। कर्म कारक के अर्थ में तो सुगमः पन्थाः, दुर्गमः पन्थाः (खल् प्रत्ययान्त) ऐसा प्रयोग होगा।

अन्यत्र (जहाँ विहित नहीं) भी गम् से 'ड' देखा जाता है[5]—ग्रामगः। गुरुतल्पगः। कर्तृगं फलम् (कर्तारं गच्छतीति)।

कर्म उपपद होने पर हन् से, आशिस् की प्रतीति होने पर[6]—शत्रुं वध्यात् इति शत्रुहः। डित् होने से टि-लोप।

क्लेश, तमस् के उपपद होने पर अपपूर्वक हन् से[7]—क्लेशमपहन्ति क्लेशापहः पुत्रः। तमोऽपहन्ति तमोपहः सूर्यः। यहाँ आशिस् अर्थ द्योत्य नहीं, अतः पृथक् विधान कर दिया। अन्नीष्टकर्तमसोपहा—अमरः। त्वमिव मयि जीवितापहा(रघु० ८।४६)। यहाँ 'ड' की प्राप्ति न होने से क्विप् च(३।२।७६) से सार्वकालिक क्विप् हुआ है। ऋन्नेभ्यः (४।१।५) सूत्र से यहाँ ङीप् नहीं हुआ, कारण कि बह्वादिभ्यश्च (४।१।४५) सूत्र के गणपाठ में 'हन्' पढ़ा

१ अन्तात्यन्ताध्व-दूर-पार-सर्वानन्तेषु डः (३।२।४८)।
२ डप्रकरणे सर्वत्र-पन्नयोरुपसंख्यानम् (वा०)।
३ उरसो लोपश्च (वा०)।
४ सुदुरोरधिकरणे (वा०)।
५ ड-प्रकरणेऽन्येष्वपि दृश्यत इति (वा०)।
६ आशिषि हनः (३।२।४९)।
७ अपे क्लेश-तमसोः (३।२।५०)।

है। बहु आदि से वैकल्पिक ङीष् विधान किया है, वह ङीप् को बाधता है। अत ङीष् के अभाव में ङीप् नहीं होगा। टाप् होगा।

टक्—जाया, पति कर्मवाची उपपद होने पर हन् से, जब प्रत्ययान्त लक्षण-युक्त कर्ता को कहे[1]—जायां हन्तीति जायाघ्न पुरुष, ऐसा पुरुष जिसका अपनी स्त्री का हन्तृत्व सामुद्रिक रेखाओं से लक्षित है। पतिघ्नी वृषली। यहां टित् प्रत्यय टक् परे होने पर हन् की उपधा का लोप तथा अव्यवहित पर 'न्' होने से ह् को 'घ्' भी होता है।

जब हन् का कर्ता मनुष्य भिन्न हो तब भी[2]—जायाघ्नस्तिलकालक, पत्नी को मार देने वाला लक्षण काला तिल। पतिघ्नी पाणिरेखा। चौर-घातो हस्ती—यहां अमनुष्यकर्तृक हन् होने पर टक् नहीं होता, औत्सर्गिक अण् होता है।

शत्रुघ्न, शत्रुघ्न, कृतघ्न, नैर्ऋतघ्न इत्यादि तो मूलविभुजादि होने से साधु हैं।

टक्—हस्तिन्, कपाट उपपद होने पर हन् से जब शक्ति द्योत्य हो[3]—हस्तिन हन्तु शक्त =हस्तिघ्नो मनुष्य। कपाट हन्तु शक्त कपाटघ्नश्चौर, चोर जो किवाड़ को तोड़ देता है।

क—'राजघ' में क प्रत्ययान्त निपातन किया है[4]। राजानं हन्तीति राजघ। टि लोप तथा घत्व निपातन किया है।

ख्युन्—अच्व्यन्त पर च्व्यर्थ में प्रयुक्त आढ्य, सुभग, स्थूल, पलित, नग्न, अन्ध, प्रिय—इन कर्मवाची उपपदों के होते हुए कृ धातु से करण कारक के अर्थ में ख्युन् (अन) प्रत्यय होता है।[5] खित् होने से मुम् का आगम होगा। यहां ख्युन् में 'यु' का अन आदेश होता है जैसे ल्युट् में 'यु' को होता है। 'न्' स्वरार्थ अनुबन्ध है। अनाढ्यम् आढ्यं कुर्वन्तीत्याढ्यङ्करणो

१ लक्षणे जायापत्योष्टक् (३।२।५२)।
२ अमनुष्यकर्तृके च। (३।२५३)।
३ शक्तौ हस्तिकपाटयो (३।२।५४)।
४ राजघ उपसंख्यानम् (वा०)।
५ आढ्य-सुभग-स्थूल-पलित-नग्नान्ध प्रियेषु च्व्यर्थेष्वच्वौ कृञ करणे ख्युन् (३।२।५६)।

मन्त्र, जिस मन्त्र के द्वारा जो पहले अनाढ्य (=धनहीन) था उसे आढ्य (=धनी) बनाया जाता है उसे 'आढ्य करण' कहते हैं। रूप गुणौ वयस्त्याग इति सुभगकरणम् (कामसूत्र)। सुभगकरणं दानम्, दान से कुरूप भी सुरूप बन जाता है। स्थूलकरणं घृतम्। पलितकरणी जरा, बुढ़ापा बालों को सफेद कर देता है। यहाँ वार्तिक के अनुसार स्त्रीत्व विवक्षा में ङीप् होता है। नग्नकरणं द्यूतम्। अन्धकरणो मूत्रनिरोध, मूत्र को रोकना अन्धा कर देता है। प्रियकरणं शब्दप्रयोग, साधु शब्द का प्रयोग प्रयोक्ता को प्यारा बना देता है। च्वि प्रत्यय के प्रयोग में ख्युन् नहीं होगा—आढ्यी कुर्वन्त्यनेन, वाक्य ही रहेगा। 'अच्वौ' इस प्रतिषेध के सामर्थ्य से ख्युन् के अभाव में ल्युट् भी नहीं होगा, अतः स्थूलीकरणमौषधम् ऐसा प्रयोग असाधु ही है। यह वृत्तिकार का मत है। भाष्य का आश्रय लेते हुए कैयट का कहना है कि ल्युट् इष्ट है।

खिष्णुच्-खुकञ्—आढ्य आदि उपपद होने पर भू से खिष्णुच् (इष्णु) तथा खुकञ् (उक) प्रत्यय होते हैं कर्तृकारक के अर्थ में[1]—अनाढ्य आढ्यो भवति आढ्यम्भविष्णु। आढ्यम्भावुक। ञित् होने से धातु को वृद्धि। ऐसे ही दूसरे उपपदों के विषय में उदाहरण होते हैं।

क्विन्—उदक-भिन्न सुबन्त उपपद होने पर स्पृश् से क्विन् होता है।[2] क्विप् की तरह क्विन् का सर्वापहारी लोप हो जाता है। क्विन् प्रत्यय जिस धातु से हो उसको कुत्व अन्तादेश होता है[3]—घृतं स्पृशति घृतस्पृक्। मन्त्रेण स्पृशति मन्त्रस्पृक्। जलेन स्पृशति जलस्पृक्। पर उदकं स्पृशति उदकस्पर्शः। अण्।

ऋत्विग्, दधृष्, स्रज्, दिश्, उष्णिह्, सोपपद अञ्च्, युज्, क्रुञ्च्—ये क्विन्प्रत्ययान्त निपातन किये हैं[4]—ऋतौ यजति ऋतुं वा यजति ऋत्विक्। क्विन् होने से कुत्व। धृष्णोतीति दधृक्=धृष्ट। सृजन्त्येताम् इति स्रक्। दिशन्त्येताम् इति दिक्। इन दोनों लक्ष्यों में कर्मकारक में क्विन् हुआ है।

---

१ कर्तरि भुवः खिष्णुच्खुकञौ (३।२।५७)।

२ स्पृशोऽनुदके क्विन् (३।२।५८)।

३ क्विन्प्रत्ययस्य कुः (८।२।६२)।

४ ऋत्विग्-दधृक्-स्रग्-दिग्-उष्णिग्-अञ्चु-युजि-क्रुञ्चां च (३।२।५९)।

उष्णिक् छन्दोविशेष का नाम है। उद् पूर्व ष्णिह से क्विन्। अञ्च् गति व पूजा अर्थ में पढ़ा है। प्राङ्। क्विन् के कित् होने से अनुनासिक लोप, सर्वनाम स्थान परे होने पर नुम्, संयोगान्त लोप और क्विन् प्रत्यय-निमित्तक कुत्व। पूजा अर्थ में भी प्राङ्। प्राञ्चतीति। पूजा अर्थ में अनुनासिक न् (जो 'च्' के संयोग से ञ् हुआ है) का लोप नहीं होता। संयोगान्त 'च्' का लोप होता है। अनुनासिक लोपाभाव में सर्वनाम स्थान परे होने पर नुम् नहीं होता। इसी प्रकार प्रत्यङ् आदि रूप होंगे। युज् व क्रुञ्च् केवल से क्विन् होता है—युङ्। क्रुङ्। सोपपद होने पर तो क्विप् होकर 'अश्वयुक्' ऐसा रूप होगा।

कञ्, क्विन्—त्यद् आदि सर्वनामों के उपपद होने पर दृश् कञ् (अ) होता है और क्विन् भी जब दर्शन (देखना) अर्थ न हो[1]—त्यादृक्। त्यादृश (कञ्)। तादृक्। तादृश। यादृक्। यादृश। आलोचन (दर्शन) अर्थ होने पर तो स पश्यति तद्दर्शः (अण्) ऐसा रूप होगा। वस्तुतः त्यादृक् आदि रूढ़ शब्द हैं, इनमें दर्शन क्रिया कुछ भी नहीं। दृश्, दृश उत्तरपद होने पर सर्वनाम को 'आ' अन्तादेश हो जाता है।[2]

समान व अन्य उपपद होने पर भी कञ् तथा क्विन् होते हैं[3]—सदृश। सदृक्। 'समान' को सभाव।

त्यद् आदि उपपद होने पर 'क्स' प्रत्यय भी होता है।[4] 'क्' इत्संज्ञक है। त्यादृक्ष। तादृक्ष।

क्विप्—सद्, सू, द्विष्, द्रुह्, दुह्, युज्, विद्, भिद्, छिद्, जि, नी, राज्—इनसे उपसर्ग रूप अथवा अनुपसर्ग रूप सुबन्त उपपद होने पर क्विप् होता है[5]—द्युसत्=दिवि सीदतीति। द्युसद्=देव। शुचिसत्। अन्तरिक्षसत्। क्विप् का सर्वापहारी लोप हो जाता है। अण्डं सूत इति अण्डसू। प्रसू=

---

१ त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ्च (३।२।६०)।
२ आ सर्वनाम्नः (६।३।९१)।
३ समानान्ययोश्चेति वक्तव्यम् (वा०)।
४ दृशेः क्सश्च वक्तव्यः (वा०)।
५ सत्सू-द्विष-द्रुह-दुह-युज-विद-भिद-च्छिद-जि-नी-राजामुपसर्गेऽपि क्विप् (३।२।६१)।

जननी। आदादिक 'सू' का ग्रहण है। मित्रद्विट्। मित्र द्वेष्टीति। विशेषेण-द्वेष्टि विद्विट्। मित्राय द्रुह्यतीति मित्रध्रुक्। प्रध्रुक्। गा दोग्धीति गोधुक्। प्रधुक्। अश्व युनक्तीति अश्वयुक् = सारथि, अश्वारोह। प्रयुक्। वेदवित्। वेद वेत्तीति। वेद विन्ते विचारयतीति वा। प्रवित्। प्रकर्षेण वेत्तीत्यादि। दुर्गभिद्-त्। प्रभित्। सशर्मच्छिद्। सशय छिनत्ति। प्रच्छिद्। शत्रुजित्। विजित्। सेनानी। सेना नयतीति। ग्रामणी। अग्रणी। प्रणी। प्रणयतीति। विराट्। विशेषेण राजत इति। सम्राट् यहाँ 'सम्' के म् को 'म्' ही होता है अनुस्वार नहीं।[1]

'क्विप् च (३।२।७६) से सामान्य रूप से क्विप् विहित किया जायगा और अन्येभ्योऽपि दृश्यते (३।२।१७८) से अन्य धातुओं से भी विधान किया जायगा, सो यह प्रकृत विधान उसका प्रपञ्चमात्र है।

ण्वि—भज् धातु से सुपन्त उपपद होने पर 'ण्वि'।[2] 'ण्वि' का सर्वापहारी लोप हो जाता है। ण् वृद्धि के लिए है—अश भजत इत्यशभाक्। दीप्यभाक्। प्रभाक्। इनमे पदान्त चवर्ग को कवर्ग होता है[3] इस विधि से कुत्व हुआ है।

विट्—'अन्न' से भिन्न उपपद होने पर अद् से[4]—आमम् (कच्चा) अत्तीति आमात्। सस्यम् अत्तीति सस्यात्। विट् का क्विप् की तरह सर्वापहारी लोप हो जाता है। अन्न उपपद होने पर तो अण् होकर 'अन्नाद' ऐसा रूप होगा।

कणम् (कणान् वा) अत्तीति कणाद। यहाँ इस सूत्र से तो विट् होना चाहिए था, क्योंकि 'कण' अन्नवाची शब्द नही है। पर इस प्रकरण मे असरूप (=असमानरूप) अपवाद प्रत्यय स्त्र्यधिकार को छोडकर उत्सर्ग का विकल्प से बाधक होता है[5] इस विशेष विधान से अण् (उत्सर्ग) भी हो जायगा।

विट्—'क्रव्य' उपपद होने पर भी विट्[6]—क्रव्यम्=आममांसम् अत्तीति

१ मो राजि सम क्वौ (८।३।२५)।
२ भजो ण्वि (३।२।६२)।
३ चो कु (८।२।३०)।
४ अदोऽनन्ने (३।२।६८)।
५ वाऽसरूपोऽस्त्रियाम् (३।१।९४)।
६ क्रव्ये च (३।२।६९)।

क्रव्याद्-न्त्। क्रव्याद (अणन्त) जो प्रयोग मिलता है उसका समाधान यह है कि कृत्त (काटा हुआ), विकृत्त अच्छी तरह काटा हुआ पक्व मांस खाने वाले को क्रव्याद कहते हैं। 'कृत्तविकृत्त' शब्द को पृषोदरादि होने से 'क्रव्य' आदेश होता है और अद् से अण्।

कप्—सुबन्त उपपद होने पर दुह् से कप् प्रत्यय और दुह् के 'ह्' को घ्[1]—कामान् दोग्धि=कामदुघा गौः। काम कामदुघे धुक्ष्व (वा० सं० १२।७२)। अस्य क्रिया कामदुघा वसूनाम् (किरात० ३।६)। प्रत्यय के कित् होने से धातु को गुण नहीं हुआ।

मनिन्, क्वनिप्, वनिप्, विच्—सुबन्त (चाहे उपसर्ग हो चाहे अनुपसर्ग) उपपद होने पर आकारान्त धातु से मनिन् (मन्), क्वनिप् (वन्), वनिप् (वन्) तथा विच् प्रत्यय होते हैं[2]—यह छान्दस सूत्र है, अतः इसके उदाहरण नहीं दिए जाते। हां लोक में अनाकारान्त धातुओं से उपपद होने पर अथवा उपपद न होते हुए भी ये मनिन् आदि प्रत्यय देखे जाते हैं—मनिन्—सुशर्मा। सुष्ठु शृणाति हिनस्ति। शॄ से मनिन्। अशर्मा—न शृणातीति, अहिंसक। अनग्निरनिकेतः स्यादशर्मा (बौधायन ध० सू० २।१०।७५)। क्वनिप्—प्रातरित्वन् प्रातः आने वाला। प्रातरित्वा रथः। इण् गतौ से क्वनिप्। प्रत्यय के पित् होने से तुक् आगम हुआ। वनिप्—विजावा[3], विजायत इति। जन् से वनिप्। विट् और वन् (क्वनिप् वनिप्) परे होने पर धातु के अनुनासिक को 'आ'। अग्रेगावा अग्रे गच्छतीति। गम् से वनिप्। अवावा—ओणतीति। ओणृ (ओणृ अपनयने) से वनिप्। अवावन्। अवावा=चोर। विच्—रेडसि पर्ण नये (वा० सं० ६।१८)। यहां केवल रिष् से विच् हुआ है। विच् का क्विप् की तरह सर्वापहारी लोप हो जाता है। धामन्—धे धातु से मनिन्। धयति सोमपतीति धामा=गौरी सुवर्णी। सु पूर्वक नॄ से मनिन्—सुनर्मा। वाग्वै सुनर्मा गौः (देवराज यज्वा के निघण्टु भाष्य में उद्धृत ब्राह्मणवचन)। सुष्ठु ददातीति सुदामा।

क्विप्—सब धातुओं से सोपपद हो अथवा निरुपपद, लोक में तथा वेद

१ दुहः कप् घश्च (३।२।७०)।

२ अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (३।२।७५)।

३ विड्वनोरनुनासिकस्यात् (६।४।४१)।

मे क्विप् प्रत्यय होता है—गर गिरतीति गरगी , विषमुक्, विष खाने वाला। गिरतीति गो , वाणी। पृणातीति पू । वाहाद् भ्रशत इति वाहभ्रट्, वाहन से गिरने वाला। आर्यान् शास्तीति आर्यशी । उपधा को इत्व[1]। शासु अनुशिष्टौ। आशी । आङ शासु इच्छायाम् यहाँ भी उपधा को इत्। तनु छादयतीति तनुच्छत्। छादि चुरादि ण्य त को ह्रस्व।[2] उदकेन श्वयति वर्धत इति उदश्वित् (नपु०) लस्सी। चर्म वस्ते परिधत्त इति चर्मव पुरुष । धातु का भस् होने मे दीर्घ नहीं हुआ। सुष्ठु शृणोतीति सुश्रुत्। सुश्रुत् कर्णाभ्या भूयासम् (पा० गृ० २१६।१९), कानो से अच्छा सुनने वाला होऊँ। प्रताम्यतीति प्रतान् =क्षीण। प्रशाम्यतीति प्रशान् =प्रशान्त। यहाँ क्विप् परे रहते धातु की उपधा को दीर्घ हुआ है। मो नो धातो (८।२।६४) से धातु के 'म्' को न् भी। प्रगान् गच्छति प्रगगत्। कलिंगान् गच्छतीति कलिंगगत् । यहाँ गम क्वौ (६।४।४०) से गम् के 'म्' का लोप होता है। क्विप् कित् कृत् प्रत्यय है अत ह्रस्व (गम् के मकार का लोप होने पर) ग को तुक् (त्) आगम होता है। उखाया स्र सत इत्युखास्रत्, उखा नाम के यज्ञपात्र से गिरने वाला। पर्णाद् ध्वसत इति पर्णध्वत्, पत्ते से गिरने वाला। यहाँ दोनो स्थलों मे क्विप् से कित् होने से उपधा अनुनासिक का लोप हुआ है।[3] और स्र स् तथा ध्वस् के 'स्' को 'द्' होता है[4]।

णिनि—अजातिवाची सुबन्त उपपद होने पर और ताच्छील्य (तत्स्वभावता) के गम्यमान होने पर धातुमात्र से णिनि प्रत्यय होता है[5]—उष्ण भोक्तु शीलमस्य—उष्णभोजी। शीत भुङ्क्ते इत्येवशील शीतभोजी। प्रतिपादिक रूप—उष्णभोजिन्, शीतभोजिन् है। बहु दातु शीलमस्येति बहुदायी। पूर्वोत्थायी जघन्यसंवेशी (गौ० ध० १।२।२६), गुरु से पहले उठने वाला तथा पीछे सोने वाला (ब्रह्मचारी)। मन्दम् अकितु शीलमस्या इति मन्दाकिनी, स्वर्गङ्गा। सम सर्वेषु वर्तत इत्येवशील समवर्ती=यम। युवमारिणस्तु भवन्ति—युवान एव म्रियन्त इत्येवशीला (आप० ध०

---

१ क्वौ च शास इत्त्व भवतीति वक्तव्यम् (वा०)।

२ (छादे) इस्मन्-त्रन्-क्विपु च (६।४।९७)।

३ अनिदिता हल उपधाया क्ङिति (६।४।२४)।

४ वसु-स्र सु-ध्वस्वनडुहा द (८।२।७२)।

५ सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये (३।२।७८)।

२।१६।११)। सुवासिनी कुमारीश्च रोगिणीगर्भिणी स्त्रियः (मनु० ३।११४)। सुवासिनी =शोभनं वसितुं शीलं यासां ताः =नवोढा (द्वितीया बहु०)। वस् पहनने अर्थ वाली अदादि धातु से णिनि। न व्याययत्यात्मानम् इत्यधावो क्विप् प्रत्यय। जब शील अर्थ न होगा तो णिनि न होगा—उष्णं भुङ्क्ते कदाचित्। यहाँ वाक्य ही रहेगा। यहाँ वृत्तिकार का कहना है कि सूत्र में सुप् से उपसर्ग भिन्न सुप् विवक्षित है, पर यह भाष्य के विरुद्ध है। केवल उपसर्ग उपपद होने पर भी णिनि निर्बाध होगा। ऐसा मानने में ही—न वञ्चनीयाः प्रभवोऽनुजीविभिः किरात), स बभूवोपजीविनाम् (रघु०), पतत्पयो धाम विसारि (माघ)—इत्यादि कवि प्रयोग साधु होंगे। भाष्य में प्रत्यासारिण्यः, उदासारिण्यः ऐसे णिनिप्रत्ययान्त पढ़े हैं। उत्प्रतिभ्याम् आङि सर्तेरुपसंख्यानम् यह वृत्तिकार-पठित वार्तिक नहीं पढ़ा। साधुकारी। साधुदायी—यहाँ ताच्छील्य न होने पर भी वार्तिककार के अनुसार णिनि हुआ है[1]। ऐसे ही ब्रह्म वदतीति ब्रह्मवादी यहाँ भी।[2]

कर्तृवाची उपमान उपपद होने पर धातुमात्र से णिनि[3]—द्विरद इव गच्छति द्विरदगामी, हाथी की तरह चलने वाला। उष्ट्र इव क्रोशति उष्ट्रक्रोशी, ऊँट की तरह चिल्लाने वाला। ध्वाङ्क्ष इव रौति ध्वाङ्क्षरावी, कौए की तरह शोर करने वाला। यहाँ प्रत्यय के णित् होने से धातु को वृद्धि हुई। इन उदाहरणों में यह स्पष्ट है कि उपपदार्थ रूप कर्ता प्रत्ययार्थरूप कर्ता [illegible] उपमान है। णिनि हुए होने से कर्ता को कहता है।

सुबन्त उपपद होने पर 'व्रत' (शास्त्र नियम) की प्रतीति होने पर धातुमात्र से णिनि[4]—स्थण्डिले शेते इति व्रतमस्य स्थण्डिलशायी, फर्श पर सोने वाला, ऐसा उसका व्रत है। खाट पर सोना उसके लिए निषिद्ध है। अश्राद्धं भुङ्क्ते, तदस्य व्रतम्, जिसे श्राद्ध से अतिरिक्त ही भोजन करना है। यदि व्रत की प्रतीति न होगी तो णिनि नहीं होगा—स्थण्डिले शेते देवदत्तः तद्गृहाऽस्य भाव्यतीति। यहाँ वाक्य ही रहेगा। प्रकृत उदाहरणों में व्रत की प्रतीति

१　साधुकारिणि च (वा०)।
२　ब्रह्मणि वदः (वा०)।
३　कर्तर्युपमाने (३।२।७९)।
४　व्रते (३।२।८०)।

धातु, उपपद, प्रत्यय—इन तीनों के समुदाय से होती है।

णिनि—सुबन्त उपपद होने पर धातुमात्र से बहुलतया णिनि प्रत्यय होता है क्रिया की अभीक्ष्णता (=आवृत्ति, बार-बार प्रवृत्ति) गम्यमान होने पर[1]—कषायम् अभीक्ष्णं पिबन्ति इति कषायपायिणो गान्धाराः, गान्धार के लोग प्रायः काढ़ा पीते हैं। क्षीरम् अभीक्ष्णं पिबन्ति इति क्षीरपायिण उशीनराः, उशीनर देश के लोग बहुत बार दूध पीते हैं। सौवीरम् अभीक्ष्णं पिबन्ति बाह्लीका इति सौवीरपायिणः। सौवीर=काँजी। सूत्र में बहुल ग्रहण से कहीं णिनि नहीं भी होता—कुल्माषानभीक्ष्णं खादतीति कुल्माषखादः (अण्)।

सुबन्त उपपद होने पर दिवादि मन् से[2]—दर्शनीयं मन्यते इति दर्शनीयमानी। दर्शनीयमानी देवदत्तस्य यज्ञदत्तः, यज्ञदत्त देवदत्त को सुन्दर मानता है। दर्शनीयमानी इयमस्याः, यह इस स्त्री को सुन्दर मानता है। यहाँ 'दर्शनीया' को पुंवद्भाव होता है। दर्शनीयमानिनीयमस्याः, यहाँ भी।[3]

णिनि, खश्—यदि मन् (दिवा०) का जो कर्ता वही पण्डितत्वादि विशिष्ट रूप से कर्म हो तो उस कर्म के उपपद होने पर मन् से 'खश्' भी हो और पूर्वप्राप्त णिनि भी[4]—पण्डितमात्मानं मन्यते इति पण्डितम्मन्यः (खश्)। मुम् आगम। पण्डितमानी (णिनि)। दर्शनीयमात्मानं मन्यते इति दर्शनीयमन्यः। दर्शनीयमानी। शूरमानी न शूरस्त्वं मिथ्यारोपितविक्रम (रा० ३।२१।१७)। कालीं दुर्गाम् आत्मानं मन्यत इति कालिम्मन्या। यहाँ पूर्वपद (जो अव्यय भिन्न है) को ह्रस्व हुआ है।[5] पुंवद्भाव प्राप्त था।[6] ह्रस्वविधि पर है अतः ह्रस्व हुआ। दिवामन्या रात्रिः, रात जो अधिक प्रकाश के कारण अपने को दिन समझती है। यहाँ दिवा के अव्यय होने से न तो मुम् हुआ, और न ही ह्रस्व।

---

१ बहुलमाभीक्ष्ण्ये (३।२।८१)।
२ मनः (३।२।८२)।
३ क्यङ्मानिनोश्च (६।३।३६)।
४ आत्ममाने खश्च (३।२।८३)।
५ खित्यनव्ययस्य (६।३।६६)।
६ स्त्रियाः पुंवत्० (६।३।३४)।

गाम् आत्मानं मन्यते इति गाम्मन्य, जो अपने को बैल समझता है। यहाँ 'गो' उपपद है। खिदन्त (खश् प्रत्ययान्त) उत्तरपद 'मन्य' परे होने पर अम् आगम हुआ है यथाप्राप्त मुम् नहीं। यहाँ उपपद इच् प्रत्याहारान्तर्गत ओकारान्त है। 'अम्' के लिए एकाच् इजन्त उपपद चाहिए वैसा ही 'गो' शब्द है। साथ ही इस 'अम्' को द्वितीया विभक्ति अम् माना जाता है।[1] तभी तो 'गो' के ओ को 'आ' हुआ है। इसी प्रकार स्त्रियमात्मानं मन्यतेऽयं कुमारः केशवः (केशों के सँवारने में लगा हुआ) इति स्त्रियम्मन्यः, स्त्रीमन्यः। इच् *विकल्प से हुआ। स्त्रियमात्मानं मन्यते स्त्रिमन्यं कुलम्।* यहाँ भाष्यकार वचन से 'स्त्री' को ह्रस्व हुआ है। न मुम् और न अम्।

णिनि—करणवाची सुबन्त उपपद होने पर यज् धातु से भूतकाल में णिनि होता है[2]—अग्निष्टोमेन इष्टवान् = अग्निष्टोमयाजी, जो अग्निष्टोम नाम का याग कर चुका है। अग्निष्टोम स्वर्ग रूप फल की उत्पत्ति में करण माना जाता है। अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकाम = अग्निष्टोमेन यागेन स्वर्गं भावयेत्।

कर्म उपपद होने पर कुत्सा (निन्दा) गम्यमान होने पर[3]—हन् धातु से भूतकाल में—पितृव्यं हतवान् इति पितृव्यघाती। मातुलं हतवान् इति मातुलघाती। प्रत्यय के णित् होने से ह् को घ्।

क्विप्—ब्रह्मन्, भ्रूण (गर्भ), वृत्र—इन कर्मवाची उपपदों के होते हुए हन् धातु से भूतकाल में क्विप् होता है।[4] यह सूत्र नियमार्थ है कारण कि सामान्यतः धातुमात्र से क्विप् का विधान किया जा चुका है। काशिका वृत्ति के अनुसार यहाँ चार प्रकार का नियम इष्ट है। १—ब्रह्मादि ही के उपपद होने पर हन् धातु से, कोई और उपपद होगा, तो नहीं। पुरुषं हतवान्—यहाँ क्विप् नहीं होगा। २—ब्रह्मादि उपपद होने पर हन् धातु से ही क्विप् हो किसी अन्य धातु से नहीं। ब्रह्माधीतवान्—यहाँ नहीं होगा। ३—ब्रह्मादि उपपद होने पर हन् धातु से भूतकाल में क्विप् ही हो, कोई दूसरा प्रत्यय न हो। ४—भूतकाल में ही क्विप् हो, वर्तमान, भविष्यत् में नहीं—ब्रह्माण

---

१ इच एकाचोऽम्प्रत्ययवच्च (६।३।६८)।
२ करणे यजः (३।२।८५)।
३ कर्मणि हनः (३।२।८६)। कुत्सितग्रहणं कर्तव्यम् (वा०)।
४ ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप् (३।२।८७)।

हन्ति हनिष्यति—यहाँ क्विप् नहीं होगा। सूत्र के उदाहरण हैं—**ब्रह्महा** (ब्रह्महाणौ, ब्रह्महाण), भ्रूणहा (गर्भपाती), षडङ्ग-वेद-वित् ब्राह्मण को भी 'भ्रूण' कहते हैं। वृत्रहा (इन्द्र)। ब्रह्माणं हतवान् इति ब्रह्महा इत्यादि विग्रह जानो।

सु, कर्मन्, पाप, मन्त्र, पुण्य[1]—इनके उपपद होने पर कृञ् से क्विप्। यह भी नियमार्थ है। यहाँ तीन प्रकार का नियम है। सुकृत्=शोभन कृतवान्। कर्मकृत। पापकृत्। मन्त्रकृत। मन्त्रं कृतवान् मन्त्रकृद् ऋषि। पुण्यकृत् =पुण्यं कृतवान्। सु आदि ही उपपद हो ऐसा नियम न होने से शास्त्रकृत्, भाष्यकृत् ऐसे प्रयोग भी साधु हैं। भूत में ही क्विप् हो ऐसा नियम होने से मन्त्रं करोति करिष्यति वा—यहाँ क्विप् नहीं होगा।

सोम कर्म उपपद होने पर सु (षुञ् अभिषवे) से क्विप्[2]—**सोमसुत्= सोमं सुतवान्**, जिसने सोम रस निकाला है। यह भी नियमार्थ है।

अग्नि कर्म उपपद होने पर चिञ् से[3]। यहाँ भी चार प्रकार का नियम है—**अग्निं चितवान् अग्निचित्।**

कर्म उपपद होने पर चि धातु से कर्मकारक के अर्थ में क्विप् होता है जब धातु, उपपद, प्रत्यय के समुदाय से अग्निविशेष का बोध हो[4]—**श्येन इव चीयते इति श्येनचित्।** कङ्कचित्। अग्नि के लिए इष्टकाओं का जो चयन विशेष उसको यहाँ श्येनचित् कहा है।

इनि—कर्म उपपद होने पर विपूर्वक क्री धातु से इनि (इन्) प्रत्यय होता है जब कर्म कर्ता की कुत्सा का निमित्त हो[5]—**सोमं विक्रीतवान् इति सोमविक्रयी**। सोम का विक्रय शास्त्र-निषिद्ध होने से कर्ता की निन्दा होती है। ऐसे रसं विक्रीतवान् रसविक्रयी। यहाँ भी। अन्यत्र धान्यं विक्रीतवान् धान्यं विक्रीणीते इति धान्यविक्रायः। अण्।

---

१ सु-कर्म-पाप-मन्त्र-पुण्येषु कृञः (३।२।८९)।
२ सोमे सुञः (३।२।९०)।
३ अग्नौ चेः (३।२।९१)।
४ कर्मण्यग्न्याख्यायाम् (३।२।९२)।
५ कर्मणीनि विक्रियः (३।२।९३)।

क्वनिप्—कर्म उपपद होने पर दृश् धातु से भूतकाल में[1]—शास्त्रं दृष्टवान् इति शास्त्रदृश्वा। प्रत्यय के कित् होने से धातु को गुण नहीं हुआ। पारदृश्वा। शास्त्रदृश्वा। शास्त्रदृश्वानौ। शास्त्रदृश्वानः। स्त्रीत्व विवक्षा में शास्त्रदृश्वरी। वनो र च (४।१।७) से 'न्' को र् तथा ङीप् प्रत्यय।

अन्य अनाकारान्त धातुओं से भी क्वनिप् आदि होते हैं ऐसा वचन पहले पढ़ा है तो क्वनिप् सिद्ध ही था। फिर भी क्वनिप् विधान इसलिए किया है कि दूसरा प्रत्यय न हो।

राजन् कर्म उपपद होने पर युध्, कृञ् से भूत में क्वनिप्[2]—राजानं योधितवान् राजयुध्वा। यहाँ युध् जो अकर्मक है ण्यर्थ को अन्तर्भावित किए प्रयुक्त हुआ है, अतः सकर्मक होने से कर्म उपपद उपपन्न ही है। राजानं कृतवान् राजकृत्वा।

क्वनिप्—सह शब्द उपपद होने पर भी[3]—सहयुध्वा।

ड—सप्तम्यन्त उपपद होने पर जन् धातु से ड (अ) प्रत्यय होता है[4]—सरसि जातं सरसिजं कमलम्। डित्व सामर्थ्य से जो अङ्ग भसंज्ञक न भी हो, उसके 'टि' भाग का लोप हो जाता है, अन्यथा डित् करना व्यर्थ हो जाएगा। मन्दुरायाम् = अश्वशालायां जातः = मन्दुरजः। संज्ञा होने से पूर्वपद को ह्रस्व हो गया।

जातिवर्जित पञ्चम्यन्त उपपद होने पर जन् से[5]—बुद्धेर्जातः इति बुद्धिजो भेदः। संस्काराद् जातः = संस्कारजोऽस्य शोभातिशयो न सहजः, इसकी प्रकृष्ट शोभा परिष्कार से बनी है, स्वाभाविक नहीं। विश्लेषजं दुःखम्, वियोग से उत्पन्न हुआ दुःख। दुःखजो निर्वेदः। दुःख से उत्पन्न हुई निराशा। हस्तिनो जातः। अश्वाज्जातः। यहाँ पञ्चम्यन्त के जातिवाचक होने से 'ड' नहीं होगा।

---

१ दृशेः क्वनिप् (३।२।९४)।
२ राजनि युधिकृञः (३।२।९५)।
३ सहे च (३।२।९६)।
४ सप्तम्यां जनेर्डः (३।२।९७)।
५ पञ्चम्यामजातौ (३।२।९८)।

उपसर्ग उपपद होने पर सञ्ज्ञाविषय में जन् से[1]—प्रजा। प्रजा प्रजानाथ पितेव पासि (रघु०)।

अनुपूर्व जन् से ड, कर्म उपपद होने पर[2]—पुमासमनुजात =पुमनुज, जो पुत्र के पीछे जन्मा है। स्त्र्यनुज, स्त्रियमनुजात =जो लड़की के जन्म के पीछे उत्पन्न हुआ है। यहाँ अनुपूर्वक जन् सकर्मक है। 'अनुरुध्य' आदि ल्यबन्त की कुछ भी अपेक्षा नहीं।

अन्य उपपदों के रहते, अन्य (कर्तृभिन्न) कारकों के अर्थ में और अन्य (जन् से भिन्न) धातुओं से भी ड प्रत्यय देखा जाता है।[3] न जायत इत्यज। यहाँ नञ् उपपद है। द्विर्जाता =द्विजा। पञ्चम्यन्त जातिवाचक हो तो भी ड प्रत्यय होता है—ब्राह्मणजो धर्म। क्षत्रियज युद्धम्। उपसर्ग उपपद होने पर असञ्ज्ञा में भी—अभिजा, परिजा केशा। अभिजाता। परिजाता। अनुपूर्वक जन से कर्म उपपद होने पर 'ड' का विधान किया गया है, पर कर्म के अभाव में भी 'ड' देखा जाता है—अनुजात =अनुज, छोटा भाई। जन् से भिन्न धातु से भी—परित खाता=परिखा। यहाँ परि उपपद होने पर कर्मोपपद के अभाव में भी खन् से ड हुआ।

ङ्वनिप्—सु (पुञ् अभिषवे) से तथा यज् से ङ्वनिप् (वन्) प्रत्यय होता है—सुत्वा, जो सोमरस-निष्पादन कर चुका है, अथवा सोमयाग कर चुका है।[4] प्रत्यय के ङित् होने से धातु को गुण नहीं हुआ। पित् होने से तुक् आगम हुआ है। यज्—यज्वा (यज्वानौ, यज्वान)। यज्वा=इष्टवान्, जो यज्ञ कर चुका है। यदि क्वनिप् होता तो यज् को सम्प्रसारण होता, अत ङ्वनिप् विधान किया।

अतृन्—जॄ धातु से अतृन् (अत्) प्रत्यय होता है भूतकाल में[5]—अतृन् आर्धधातुक है, अत श्यन् नहीं हुआ। जरत् प्रातिपदिक रूप। प्रथमा—जरन् जरन्तौ जरन्त। उगित् होने से नुम्। संयोगान्त 'त्' का लोप होने पर

१ उपसर्गे च सञ्ज्ञायाम् (३।२।९९)।
२ अनौ कर्मणि (३।२।१००)।
३ अन्येष्वपि दृश्यते (३।२।१०१)।
४ सुयजोर्ङ्वनिप् (३।२।१०३)।
५ जीर्यतेरतृन् (३।२।१०४)।

और उस लोप के असिद्ध होने से सर्वनामस्थान 'सु' परे उपधा-दीर्घ न हुआ।

क्वसु—वेद में लिट् अपरोक्ष भूत में भी होता है और परोक्षभूत में भी। उसे कानच् और क्वसु आदेश विकल्प से होते हैं।[1] ये दोनों आदेश कृत् प्रत्यय हैं। त्रिमुनि मत के अनुसार ये वैदिकगोचर हैं, यद्यपि कवि निरङ्कुश होने से लोक में 'क्वसु' का प्रयोग यत्र-तत्र करते देखे जाते हैं—स तस्थिवांस नगरोपकण्ठे (रघु० ५।६१)। श्रेयांसि सर्वाण्यधिजग्मुषस्ते (रघु० ५।३४)। हाँ आचार्य कुछेक धातुओं से भाषा (=लोक) में भी 'क्वसु' का अभ्यनुज्ञान करते हैं। लोक में भूतसामान्य में लिट् नहीं होता, अतः भूतसामान्य अर्थ में क्वसु आदेश नित्य होता है। सद्—उपसेदिवान् कौत्सः पाणिनिम्। कौत्स पाणिनि के पास (शिष्य रूप से) गया। प्रातिपदिक रूप उपसेदिवस् है। लिट् का आदेश होने से क्वसु परे होने पर सद् को लिट् की तरह अभ्यास आदि कार्य हुआ है। निपूर्वक सद् का निषेदिवस् रूप होगा और स्त्रीलिंग में 'निषेदुषी' होगा। निषेदुषीमासनबन्धधीरः (रघु० २।६)। अनु-वस्—अनूषिवान् कौत्सः पाणिनिम्, कौत्स पाणिनि के पास रहा। प्रत्यय के कित् होने से धातु को सम्प्रसारण हुआ। उप-श्रु—उपशुश्रुवान् कौत्सः पाणिनिम्, कौत्स ने पास बैठकर पाणिनि से शास्त्र सुना। चतुरो वेदाननुशुश्रुवांस इमे ब्राह्मणाः सर्वस्यार्हणामर्हन्ति, चारों वेदों को पढ़े हुए ये ब्राह्मण सब की पूजा के योग्य हैं।

उपेयिवस् (उप इण् क्वसु-इट्), अनाश्वस् (नञ्पूर्वक अश्-क्वसु इडभाव), अनूचान (अनुपूर्वक ब्रू अथवा वच् से कानच्, सम्प्रसारण)—ये भूतसामान्य में निपातित किये हैं।[2] दीक्षित के अनुसार उपेयिवस् में उप-उपपद अतन्त्र है। अन्य उपसर्ग के होने पर अथवा उपसर्गाभाव में भी क्वसु होगा—ईयिवस्। समीयिवस्। अनूचान=वेदानुवचन कृतवान्। 'ऊचान' कोई शब्द नहीं।

गम्, हन्, विद्, विश्—इनसे लिट् के स्थान में वेद में क्वसु विकल्प से होता है और क्वसु को इट् विकल्प से होता है[3]—गम्—जग्मिवान्।

१ लिटः कानज्वा (३।२।१०६)। क्वसुश्च (३।२।१०७)। भाषायां सदवसश्रुवः (३।२।१०८)।

२ उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च (३।२।१०९)।

३ विभाषा गमहनविदविशाम् (७।२।६८)।

जगन्वस् (म्वोश्च ८।२।६५ से म् को न्)। हन्—जघ्निवस्। जघन्वस्। विद्—विविदिवस्। विविद्वस्। विश्—विविशिवस्। विविश्वस्।

दृश् से भी क्वसु को इट् का विकल्प होता है—ददृशिवस्। ददृश्वस्।

क्वसु प्रत्यय को इट् के विषय में ऐसा नियम है कि जो धातु द्वित्व करने पर भी एकाच् रह जाए, जो आकारान्त है उससे ही तथा घस् से परे क्वसु को इट् होता है, अन्यत्र कहीं नहीं।[1] क्रादि नियम का अपवाद है। अद्—आदिवस्। अश्—आशिवस्। ऋ—आरिवस्। पच्—पेचिवस्। शक्—शेकिवस्। आकारान्त—या—ययिवस्। पा—पपिवस्। स्था—तस्थिवस्। दा—ददिवस्।। घस्—जक्षिवस्। अन्यत्र इट् नहीं होगा—भिद्—बिभिद्वस्। छिद्—चिच्छिद्वस्।

चूँकि कविलोग शास्त्र का अतिक्रम करके लोक में क्वसु-प्रत्ययान्त शब्दों का प्रयोग करते हैं अतः छात्रों के बोधार्थ कुछेक प्रयोग दिए जाते हैं—वच्—ऊचिवस् (सम्प्रसारण, इट्)। यज्—ईजिवस् (सम्प्रसारण, इट्)। स्तु—तुष्टुवस्। कृ—चकृवस्। जन्—जज्ञिवस्। खन्—चखन्वस्।

कानच्प्रत्ययान्त—पच्—पेचान। यज—ईजान (सम्प्रसारण)। कृ—चक्राण। स्तु—तुष्टुवान (उवङ्)। श्रु—शुश्रुवाण। क्वसुप्रत्ययान्त—कॄ—चिकीर्वस्। ॠत इद्धातोः (७।१।१००) से इकार (रपर) अन्तादेश। द्वित्व। दीर्घ। शॄ—शिशीर्वस्। तॄ—तितीर्वस्। स्तॄ—तिस्तीर्वस्। कानच्प्रत्ययान्त—चिकिराण (धातु के ऋ को इर् हो जाने पर द्वित्व। शिशिराण। तितिराण। तिस्तिराण।

निष्ठा-प्रत्यय—क्त, क्तवतु

इस शास्त्र में क्त (त), क्तवतु (तवत्) प्रत्ययों की निष्ठा संज्ञा है।[2] निष्ठा परिसमाप्ति का नाम है। परिसमाप्ति के वाचक प्रत्ययों को भी निष्ठा कह दिया है। निष्ठान्त शब्द सम्पूर्ण हुई हुई क्रिया को कहता है। क्त, क्तवतु आर्धधातुक प्रत्यय हैं। कित् होने से गुण वृद्धि का निषेध करते हैं। वलादि आर्धधातुक होने से इन्हें इट् आगम होना है, अपवाद-विषय को

१ वस्वेकाजाद्-घसाम् (७।२।६७)।
२ क्त-क्तवतू निष्ठा (१।१।२६)।

छोड़कर। प्रायः ये धात्वर्थ के भूतकालिक होने पर धातु से परे प्रयुक्त होते हैं।[1] 'क्त' प्रायः भाव-कर्म-वाचक है[2] और 'क्तवतु' नित्य ही कर्तृवाचक है। क्तान्त तथा क्तवत्वन्त शब्दों की रूप-रचना में कुछ भी भेद नहीं, केवल क्तवत्वन्त रूपों में 'वत्' मात्र अधिक है।

निष्ठाप्रत्यय-सम्बन्धी विशेष कार्य

निष्ठा-नत्व

भाव व कर्म से अन्यत्र निष्ठा प्रत्यय परे रहते 'क्षि' (भ्वा०-दिवा०) को दीर्घ होता है[3] और तब निष्ठा-त को न हो जाता है[4]—क्षीणो देवदत्तः, देवदत्त क्षय (दुर्बलता) को प्राप्त हो चुका है। यहाँ 'क्त' कर्ता को कहता है। भावकर्म में तो दीर्घ न होगा और दीर्घाभाव में निष्ठा-नत्व (निष्ठा-त को न) भी नहीं होगा—क्षितं कामेन। यहाँ निष्ठा प्रत्यय भाव में है। अतः अनुक्त कर्ता 'काम' में तृतीया हुई। क्षितः कामो मया। यहाँ निष्ठा-प्रत्यय कर्म में है। अतः कर्म (काम) के उक्त होने से उसमें प्रथमा हुई। क्षि निश्चित ही अकर्मक है अतः इस उदाहरण में ण्यर्थ को अन्तर्भावित करके प्रयोग किया गया है। अधिकरण अर्थ में भी निष्ठा-नत्व होगा—प्रक्षीणम् इदं देवदत्तस्य, देवदत्त के क्षय का यह स्थान है=अत्र देवदत्तेन क्षितम्।

आक्रोश (शाप) तथा दैन्य (अनुकम्पा) की प्रतीति होने पर क्षि को विकल्प से दीर्घ होता है[5] और जब दीर्घ होता है तब निष्ठा-नत्व भी होता है—क्षितायुरेधि। क्षीणायुरेधि, तेरी आयु क्षीण हो (शाप)। क्षीणस्तपस्वी। क्षितस्तपस्वी। बेचारा क्षीण हो गया है (दैन्य, शाप)।

रकारान्त दकारान्त धातु से परे निष्ठा-त को न, तथा पूर्ववर्ती धातु के द को भी न[6]—आस्तॄ—आस्तीर्णः। विस्तॄ—विस्तीर्णः। जॄ—जीर्णः। विकॄ—विकीर्णः। निगॄ—निगीर्णः (निगला हुआ)। विशॄ—विशीर्णः।

---

१ निष्ठा (३।२।१०२)।
२ तयोरेव कृत्य-क्त-खलर्थाः (३।४।७०)।
३ निष्ठायामण्यदर्थे (६।४।६०)।
४ क्षियो दीर्घात् (८।२।४६)।
५ वाऽऽक्रोश-दैन्ययोः (६।४।६१)।
६ रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः (८।२।४२)।

धातु को इर् अन्त्यादेश तथा उपधा-दीर्घ ।[1] अव-गुर्—अवगूर्ण (उपधा-दीर्घ) । त्वर्—तूर्ण (उपधा और व् को (ऊठ्)[2] । ज्वर्—जूर्ण=ज्वरित । दकारान्त — खिद्—खिन्न । क्षुद्—क्षुण्ण । चूर्ण किया हुआ । भिद्—भिन्न । पर शकल (टुकड़ा) अर्थ में भित्त (नपु०) । छिद्—छिन्न । स्कन्द्—स्कन्न । विस्कन्द्—विस्कन्न । यहां षत्व नहीं होता ।[3] परिस्कन्द्—परिस्कन्न । परिष्कण्ण । यहां षत्व विकल्प से होता है[4] । स्यन्द्—स्यन्न । अभिपूर्वक—अभिष्यण्ण ।[5] अभिष्यण्णाननगुदा । (चरक सूत्र १३।२४) । विद् (दिवा०) —विन्न । निर्पूर्वक—निर्विण्ण[6] । यहां वार्तिक के अनुसार निष्ठा न् को ण् होकर पूर्व न् को भी ष्टुत्व-विधि से णत्व हो जाता है । निर्विण्ण= असन्तुष्ट, विरक्त, निराश । लाभार्थक तुदा० विद्—विन्न । पर धन और प्रसिद्ध अर्थ में वित्त ।[7] विद् रुधादि—विन्न । वित्त । नुद्[8] —नुन्न । नुत्त । उन्द् गीला करना रुधा०—उन्न । उन्त । त्रै (त्रा)—त्राण । त्रात । घ्रा—घ्राण । घ्रात । ह्री—ह्रीण । ह्रीत । ह्री से निष्ठा-नत्व प्राप्त ही न था । विशेष रूप से विकल्प विधान किया है ।

संयोगादि आकारान्त यण् वाली धातु से निष्ठा-त को न होता है[9] — निद्रा—निद्राण, सुप्त । प्रद्रा—प्रद्राण, दरिद्र, क्षीण । श्रा—श्राण, पका हुआ । स्त्यै—स्त्यान । सपूर्वक—संस्त्यान । आङ्पूर्वक—आस्त्यान, इकट्ठा हुआ हुआ, जमा हुआ हुआ । आस्त्यान कर्दम, जमा हुआ (=सूखा हुआ) कीचड़ । प्रप्याय्—प्रप्यान । प्रप्यानश्चन्द्रमा, जो चाँद बढ़ रहा है । यहां 'प्र' शब्द

१　ऋत इद् धातोः (७।१।१००) । हलि च (८।२।७७) ।

२　ज्वर-त्वर-स्रिव्यवि-मवामुपधायाश्च (६।४।२०) ।

३　वे स्कन्देरनिष्ठायाम् (८।३।७३) ।

४　परेश्च (८।३।७४) ।

५　अनु-वि-पर्य्-अभि-निभ्य स्यन्दतेरप्राणिषु (८।३।७२) ।

६　निर्विण्णस्योपसंख्यानं कर्तव्यम् (वा०) ।

७　वित्तो भोग-प्रत्यययोः (८।२।५८) ।

८　नुद-विदोन्द-त्रा-घ्रा-ह्रीभ्योऽन्यतरस्याम् (८।२।५६) ।

९　संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः (८।२।४३) ।

आदि कर्म (=प्रारम्भ) को कहता है। न भा-भू-पू-कमि-गमि-प्यायि-वेपाम् (८।४।३४) से यहाँ णत्व का निषेध हुआ है। ग्लै—ग्लान। म्लै—म्लान। ज्या—जीन (वृद्ध)। सम्प्रसारण[1]। दीर्घ[2]।

ध्यै, ख्या, पॄ, मूर्छा, मद्—इनकी निष्ठा के 'त' को 'न' नहीं होता[3]—ध्यात। पूर्त। निपूर्वक—निपूर्त। निपूर्ताः पिण्डाः, पितरों को पिण्ड भरे गए। मूर्छा—मूर्त। यहाँ र् से परे छ् का लोप भी होता है।[4] रकारान्त की उपधा को दीर्घ। मूर्छा में 'आ' अनुबन्ध है। मद्—मत्त। यह पूर्व सूत्र से प्रतिप्रसक्त निष्ठा-नत्व का निषेध है।

क्षीर विषय में तथा हविस् विषय में 'श्रा' पकना (ण्यन्त तथा अण्यन्त) का क्तान्त 'शृत' होगा।[5] 'श्रा' को शृ होने से निष्ठा-नत्व की प्राप्ति ही नहीं रहती। शृतं क्षीरम्। शृतं हविः। पर श्राणा यवागूः। 'श्रा' अकर्मक है। शृतं क्षीरं स्वयमेव। शृतं क्षीरं देवदत्तेन। पर श्रपिता यवागूर्देवदत्तेन, देवदत्त से खिचड़ी पकाई गई।

पूञ् जब धातुओं के नानार्थक होने से विनाशार्थक होता है तो इस से परे निष्ठा त को न होता है[6]—पूना यवाः, विनष्टा विकृता इत्यर्थः। अन्यत्र पूतं धान्यम्, साफ किया धान।

सि (बाँधना) से निष्ठा-त को 'न' होता है जब 'ग्रास' कर्मकर्ता हो[7]—सिनो ग्रासः स्वयमेव, अपने-आप ग्रास बँध गया। शुद्ध कर्म में तो 'नत्व' नहीं होगा—सितो ग्रासो देवदत्तेन, देवदत्त ने ग्रास बाँधा। ग्रास विषय से अन्यत्र भी नत्व नहीं होगा—सिता पाशेन सूकरी, सूअरी पाश से बाँधी गई।

---

१ ग्रहि-ज्या० (६।१।१६)।
२ हलः (६।४।२)।
३ न ध्या-ख्या-पॄ-मूर्छि-मदाम् (८।२।५७)।
४ राल्लोपः (६।४।२१)। उपधायां च (८।२।७८) से उपधा भूत रेफ, वकार जो हल्-परक, उनकी उपधा इक् को दीर्घ।
५ शृतं पाके (६।१।२७) व्यवस्थित विभाषा। क्षीरहविषोर्नित्यं शृभाव, अन्यत्र न भवति।
६ पूञो विनाशे इति वक्तव्यम् (वा०)।
७ सिनोतेर्ग्रासकर्मकर्तृकस्येति वक्तव्यम् (वा०)।

दु, गु—को दीर्घ भी[1]—आदून (आङ्पूर्वक)। आदून = आगत। गु—गून। गु पुरीषोत्सर्गे।

क्र्यादि गण में पठित लू आदि २१ धातुओं के निष्ठा-त को 'न'[2]—लू—लून। धूञ्—धून। पृ—पूर्ण (ऋ को उर्)। री—रीण। ली—लीन। ऋ—ईर्ण। उद्पूर्वक—उदीर्ण। सम्पूर्वक—समीर्ण।

जो धातुएँ धातुपाठ में ओदित् पढी हैं उनके निष्ठान्त को 'न' होता है[3]—लस्ज् (ओ लस्जी)—लग्न। यहाँ निष्ठा-न के असिद्ध होने से परे त(मल्) ही पडा है अतः धातु के 'ज्' को कुत्व हो गया। कुत्व होने पर संयोग के आदि 'स्' का लोप हो गया। लस्ज् तुदा० आत्मनेपदी, लज्जित होना। लज् भी साथ में पढी है, वह भी ओदित् है। विज् (ओविजी)—उद्विग्न। प्रायः विज् उद्पूर्वक प्रयुक्त होता है, अकेला नहीं। वेग शब्द में बिना उद् के भी प्रयुक्त हुआ है। प्याय् (ओप्यायी)—पीन। आपीन। आपीन = ऊधस् (लेवटी) का नाम है। यहाँ प्याय् को 'पी' आदेश भी होता है।[4] भुज् तुदा०(भुजो)—भुग्न। रुज् तुदा० (रुजो)—रुग्ण। हा (ओहाक्)—हीन। प्रपूर्वक—प्रहीण। व्रश्च् तुदा० (ओ व्रश्च्)—वृक्ण (काटा हुआ)। यहाँ सम्प्रसारण भी हुआ ग्रहिज्या—सूत्र में पाठ होने से। परत्व-विधि के लिए निष्ठादेश (त को न) सिद्ध माना जाता है, अतः न के सिद्ध होने से व्रश्च् के 'च्' को ष् न हुआ, 'चो कुः' से कुत्व हुआ। कुत्व विधि के लिए 'न' असिद्ध है। 966

दिवादिगण में पूङ् प्राणिप्रसवे इत्यादि धातुओं को ओदित् माना जाता है यद्यपि उनमें 'ओ' अनुबन्ध नहीं है उनसे भी निष्ठा-त को 'न' होता है—पूङ् (सू)—सून० प्रसून। दूङ्—दून, दुःखी। दीङ्—दीन, क्षीण। डीङ्—डीन। सेट् होने पर भी इट् नहीं होता। धीङ्—धीन, धृत, धारण किया हुआ। मीङ्—मीन = मृत। रीङ्—रीण = स्रुत, बहा हुआ। लीङ्—लीन, लगा हुआ, श्लिष्ट।

---

१ दुग्वोर्दीर्घश्चेति वक्तव्यम् (वा०)।
२ ल्वादिभ्यश्च (८।२।४४)।
३ ओदितश्च (८।४५)।
४ प्याय पी (६।१।२८)।

श्यैङ् (श्या) के निष्ठा-त को 'न' होता है स्पर्श विषय को छोड़कर[1]—शीन घृतम् (जमा हुआ घी)। शीनं मेद:, जमी हुई चर्बी। स्पर्श में नत्व नहीं होगा—*शीतं वर्तते*। *शीतो वायुः* = शीतस्पर्शवान् वायु। आङ्पूर्वक श्यैङ्—आश्यान। सम्पूर्वक श्यैङ्—संश्यानो वृश्चिकः, बिच्छू जो सिकुड़ गया है। यहाँ भी स्पर्शाभाव में निष्ठानत्व प्राप्त ही है। प्रतिपूर्वक श्यैङ्—प्रतिशीन, जिसे जुकाम (प्रतिश्याय) हुआ है।

अञ्च् धातु के निष्ठा-त को 'न' होता है यदि अपादान कारक में अन्वय न हो[2]—समक्नौ शकुनेः पादौ, पक्षी के पैर जुड़े हुए होते हैं पशुओं की तरह फटे हुए नहीं। *तस्मात्पशवो न्यक्ना* (तै० सं०)। न्यक्न=झुका हुआ। नि अञ्च्—झुकना, नीचे जाना। अपादान होने पर तो उदक्तमुदकं कूपात्, कुएँ से जल निकाला गया, यहाँ निष्ठा-नत्व नहीं हुआ। उदित होने से क्त्वा में इट् विकल्प और निष्ठा में इण्निषेध। हाँ पूजा-अर्थ में इट् होगा[3] और अनुनासिक का लोप नहीं होगा[4]—अञ्चित=पूजित।

दिव् से परे निष्ठा-त को 'न' होता है जब दिव् का अर्थ द्यूत (जुआ खेलना) न हो[5]—*आ दिव्—आद्यून=औदरिक, पेटू। परि दिव्—परिद्यून=क्षीण* (प्रक्रिया सर्वस्व)। यहाँ 'न' होने पर व् को ऊठ् (ऊ) हुआ है।[6] जुआ-अर्थ में दिव्—त=द्यूत। ऊठ् यहाँ भी हुआ है झल् (त) परे होने से। सूत्र में विजिगीषा (जीतने की इच्छा) लेना पड़ा है। अभिप्राय देवन क्रिया से है। जीतने की इच्छा से ही तो पासे आदि फेंके जाते हैं।

निर् पूर्वक 'वा' के निष्ठा-त को 'न' हो जाता है यदि वा धातु के अर्थ का विषय (आश्रय) वात (वायु) न हो[7]—निर्वाणोऽग्निः, आग बुझ गई है।

---

१ श्योऽस्पर्शे (८।२।४७)।
२ अञ्चोऽनपादाने (८।२।४८)।
३ अञ्चेः पूजायाम् (७।२।५३)।
४ नाञ्चेः पूजायाम् (६।४।३०)।
५ दिवोऽविजिगीषायाम् (८।२।४९)।
६ च्छ्वोः शूडनुनासिके च (६।४।१९)।
७ निर्वाणोऽवाते (८।२।५०)।

निर्वाण प्रदीप, दिया बुझ गया है। निर्वाण प्रदीपो वातेन। यहाँ भी नत्व होता ही है कारण कि 'वात' यहाँ करण है। 'वा' धातु के अर्थ का अधिकरण नहीं। अधिकरण तो प्रदीप है। अपरिनिर्वाणो दिवस (शाकुन्तल), दिन पूरी तरह समाप्त नहीं हुआ है। निर्वाणो मुनि, मुनि शान्त हो गया है, मुक्त हो गया है। यहाँ भी 'वात' या-धात्वर्थ का अधिकरण नहीं। त्रिदशा पृथिवी चैव निर्वाणमधिगच्छतु (रा० १।३६।१३)। यहाँ निर्वाण का अर्थ शान्ति, सुख है। निर्वाणो मुनिवह्न्यादौ निर्वातस्तु गतेऽनिले—अमर।

इडागम

निष्ठाप्रत्यय क्त, क्तवतु को जहाँ सामान्य शास्त्र से इट्-आगम का निषेध प्राप्त होता है वहाँ किन्हीं लक्ष्यों में विशेष शास्त्र से विधान किया जाता है। ऐसे इडागम को दर्शाना हमें अभिप्रेत है।

निर कुष (७।२।४६) से निर्पूर्वक उदात्त (सेट्) धातु कुष् को इट् विकल्प से विधान किया है। जिस धातु को कहीं भी इट् का विकल्प हो उससे निष्ठाप्रत्यय को इट् नहीं हुआ करता[1]। पर शास्त्र ने निर् पूर्वक कुष् से निष्ठाप्रत्यय को इट् विशेष विहित किया है[2]—निष्कुषित। बिना निर् के तो इण्निषेध का प्रसंग ही नहीं।

क्लिश्, क्लिशू से विकल्प से इडागम[3]—क्लिशित। क्लिष्ट। क्लिश सेट् है। क्लिशू के ऊदित् होने से विकल्प से इट् का विधान होने से निष्ठा में अत्यन्त निषेध प्राप्त था।

पूङ्—से। विकल्प से[4]। पूत। पवित। सोमोऽतिपूत। सोमोऽतिपवित। एकाच् उगन्त होने से कित् प्रत्यय परे नित्यनिषेध प्राप्त था[5]।

वस् और क्षुध्[6]—से उषित। क्षुधित। ये दोनों धातुएँ अनुदात्त (अनिट्) हैं। इनसे यहाँ इट् का विशेष विधान कर दिया है।

---

१ यस्य विभाषा (७।२।१५)।
२ इण्निष्ठायाम् (७।२।४७)।
३ क्लिशः क्त्वानिष्ठयोः (७।२।५०)।
४ पूङश्च (७।२।५१)।
५ श्र्युकः किति (७।२।११)।
६ वसति-क्षुधोरिट् (७।२।५२)

वस निवासे भ्वा॰ का ग्रहण है। वस आच्छादने अदा॰ से तो उदात्त होने से इट् नित्यसिद्ध ही है।

पूजार्थक अञ्चु से परे निष्ठा को नित्य इट् होता है।[1] उदित् होने से क्त्वा परे रहते विकल्प होने से निष्ठा में निषेध प्राप्त था। अञ्चित = पूजित। अञ्चिता अस्य गुरवः। गुरु इसने पूजित हैं। पूजन अर्थ से अन्यत्र इट् न होगा[2]—उदक्तमुदकं कूपात्।

विमोहन (आकुलीकरण) अर्थ में लुभ् से इट्[3]—विलुभिता केशाः = पर्याकुला मूर्धजाः, बिखरे हुए बाल। विलुभितानि पदानि, अस्थिर पद (क्रम), चरणन्यास। क्त्वा में इट् विकल्प होने से निष्ठा में निषेध प्राप्त था। विमोहन अर्थ को छोड़कर अन्यत्र निषेध होगा—लुब्धो वृषलः शीतेन। लुब्ध = पीडित। गार्ध्य (लालच) अर्थ में भी इट्-निषेध होकर 'लुब्ध' रूप ही होगा।

इडभाव (इट् का अभाव)

श्वि (जाना, बढ़ना) तथा ईदित् धातुओं को निष्ठा में इट् नहीं होता।[4] श्वि उदात्त है। ईदित् भी प्रायः उदात्त हैं। श्वि—शून, शूनवत्। उच्छून, उच्छूनवत्, सूजा हुआ (सम्प्रसारण[5])। ईदित्—दीपी—दीप्त। ओलजी—लग्न। ओलस्जी—लग्न। ओविजी—विग्न। उत्पूर्वक—उद्विग्न। वृती—वृत्त। नृती—नृत्त। यती (यत्न करना)—यत्त। उपासांचक्रतुर्वीरौ यत्तौ परमधन्विनौ (रा॰ १।३०।६)। प्रपूर्वक—प्रयत्त। सम्पूर्वक—संयत्त = युध्यमान, संघर्ष को प्राप्त। जुषी—जुष्ट। प्रपूर्वक—प्रजुष्ट। विषयेषु प्रजुष्टानि (इन्द्रियाणि) यथा ज्ञानेन नित्यशः (मनु॰ २।९६)। प्रजुष्टानि = प्रीतिमिश्रित। गुरी—गूर्ण। अवपूर्वक—अवगूर्ण। घूरी—घूर्ण। ञिदृपी—दृप्त। मनुनागिष-सोर। ईशुचिर्—शुक्त, रसान्तर को प्राप्त, जो काल-परिपाक में खट्टा हो

---

1 अञ्चेः पूजायाम् (७।२।५३)।
2 उदितो वा (७।२।५६)। यस्य विभाषा (७।२।१५)।
3 लुभो विमोहने (७।२।५४)।
4 श्वीदितो निष्ठायाम् (७।२।१४)।
5 वचि-स्वपि-यजादीनां किति (६।१।१५)।

गया है। चूरी (जलाना)—चूर्ण (भस्मीभूत)। ह्लादी–(प्रसन्न होना)ह्लन्न। प्रपूर्वक—प्रह्लन्न। दृभी (ग्रन्थन करना)—दृब्ध। उन्छी (समाप्ति)—व्युष्ट (विपूर्वक)=समाप्त। ऊयी—ऊत। आङ्पूर्वक—ओत। प्रपूर्वक—प्रोत। प्रोतास्वाप कर्मण्या, निरन्तर बहता हुआ जल यज्ञिय कर्म में साधु होता है। उन्दी—उन्न। (गीला)। क्नूयी—क्नूत (गीला)। 'य' का लोप[1]। डीङ् (दिवा०) यद्यपि ईदित् नहीं तो भी निष्ठा-नत्व के लिए ओदित् धातुओं के मध्य में पढ़े जाने से इट् होने से अनन्तर निष्ठा 'त' न मिलने से इट् का निषेध हो जाता है—डीन। उद्पूर्वक—उड्डीन।

जिस किसी धातु को कहीं विकल्प से इट् विधान किया है, उसे निष्ठा में इट् नहीं होता[2]। उदित् धातुओं को क्त्वा प्रत्यय परे विकल्प से इट् कहा है[3], सो इनसे निष्ठा में इट् नहीं होता—शमु, दमु, तमु, क्लमु, क्षमु, वृतु, वृधु, श्रृधु, मन्थु—इनसे क्रम से शान्त, दान्त, तान्त, क्लान्त, क्षान्त, तनु—तत। वनु—वत। अनुनासिक लोप। उदित् होने पर भी धावु से इट् विकल्प से होता है—धौत (धोया हुआ)। धावित (दौड़ा)। पत् को सन्-प्रत्यय परे रहते इट् विकल्प कहा है, तो भी द्वितीया श्रितातीतपतित—(२।१।२४) इस समास सूत्र में 'पतित' पढ़ा होने से निष्ठा में इट् होना ही है। वृत् आदि के वृत्त, वृद्ध, शृद्ध, मथ्न निष्ठान्त रूप होंगे। अनुनासिकान्त शम् आदियों की उपधा को दीर्घ भी होता[4] है। ऊदित् धातुओं को वलादि आर्धधातुक प्रत्यय परे इट् का विकल्प कहा है[5] सो उनसे भी निष्ठा में इट् का निषेध होगा—गुहू—गूढ। व्रश्चू (छेदन करना)—वृक्ण। धूञ् को भी ऐसे ही विकल्प कहा है सो धूञ् से निष्ठा में इट् न होकर (वि) धूत रूप होगा। रधादि धातुओं को वलादि आर्धधातुक परे इट् विकल्प कहा है[6] सो इनसे निष्ठा में इट् न होगा—नश्—नष्ट। तृप्—तृप्त। दृप्—दृप्त। स्नुह्—स्नुग्ध, स्नूढ। स्निह्—स्निग्ध, स्नीढ। मुह्—मुग्ध, मूढ। रध, द्रुह्, दृह्, नृप्—इनसे सिद्धिमन्त

---

१ लोपो व्योर्वलि (६।१।६६)।
२ यस्य विभाषा (७।२।१५)।
३ उदितो वा (७।२।५६)।
४ अनुनासिकस्य क्वि-झलोः (६।४।१५)।
५ स्वरति-सूति-सूयति-धूञ्-ऊदितो वा (७।२।४४)।
६ रधादिभ्यश्च (७।२।४५)।

सादि आर्धधातुक परे इट् का विकल्प कहा है[1] सो निष्ठा में इडभाव रहेगा—चृत्त, छृण्ण, तृण्ण (काटा हुआ), नृत्त।

आदित् धातु से निष्ठा में इट् नहीं होता[2]—ञिमिदा—मिन्न। ञिक्ष्विदा—क्ष्विण्ण। ञिष्विदा—स्विन्न। सूत्र में जो 'च' पढ़ा है वह अनुक्त-समुच्चय (न कहे हुए धातुओं के संग्रह) के लिये है—आङ् श्वस्—आश्वस्त। विश्वस्त। वम्—वान्त। ज्वर्—जूर्ण।

भाव तथा आदिकर्म में यदि निष्ठा प्रत्यय हो तो आदित् धातुओं से विकल्प से इट् नहीं होता[3]—मिन्नमनेन (भाव में)। मेदितमनेन (भाव में)। प्रमिन्न (=मेदितुमारब्ध)। प्रमेदित (= मेदितुमारब्ध)।

शौनाग (शुनाग के शिष्य) शक् से कर्म में निष्ठा होने पर विकल्प से इट् करते हैं[4]—शकितो घटः कर्तुम्। शक्तो घटः कर्तुम्। घड़ा बनाया जा सकता है। वे ही अस् (फेंकना) से भाव में विकल्प से इट् चाहते हैं[5]—असितमनेन। अस्तमनेन।

१ क्षुब्ध, २ स्वान्त, ३ ध्वान्त, ४ लग्न, ५ म्लिष्ट, ६ विरिब्ध, ७ फाण्ट, ८ बाढ—ये क्षुभ्, स्वन्, ध्वन्, लगे (लग्), म्लेच्छ, रेभृ (रेभ्), फण्, बाहृ (बाह्) धातुओं से क्रम से निष्ठा में निपातन किए हैं। यदि इनका क्रम से १ मन्थदण्ड, २ मन, ३ अन्धकार, ४ लगा हुआ, ५ अविस्पष्ट, ६ स्वर, ७ जो कषाय जल में डालकर ईषद् उष्ण करते ही विभक्त-रस होकर पेय हो जाता है, ८ भृश (बहुत) अर्थ हो।[6] अतः इन अर्थों से अन्यत्र क्षुब्धा गिरिनदी, क्षुब्धा सेना, क्षुब्ध समुद्र, क्षुब्ध मन—ये प्रयोग असाधु ही हैं।

ञि धृषा, शसु से निष्ठा में इट् नहीं होता यदि वियात, प्रगल्भ, निर्लज्ज, अविनीत, अशिष्ट अर्थ हो[7]—धृष्ट। विशस्त। आदित् होने से धृष् से तथा

---

१ सेऽसिचि कृत-चृत-च्छृद-तृद-नृतः (७।२।५७)।

२ आदितश्च (७।२।१६)।

३ विभाषा भावादिकर्मणोः (७।२।१७)।

४ शौनागाः कर्मणि निष्ठायां शकेरिटमिच्छन्ति विकल्पेन।

५ अस्यतेर्भावे।

६ क्षुब्ध-स्वान्त-ध्वान्त-लग्न-म्लिष्ट-विरिब्ध-फाण्ट-बाढानि मन्थ-मनस्तमः-सक्ताविस्पष्ट-स्वरानायास-भृशेषु (७।२।१८)।

७ धृषिशसी वैयात्ये (७।२।१९)।

उदित् होने से शस् से इण्निषेध सिद्ध ही था। यहाँ नियम कर दिया है। इसी अर्थ में इट् का निषेध हो, अन्यत्र न हो—शसित। विशसित = हिंसित। विपूर्वक शस् का 'अंगों को काटते हुए मारना' अर्थ है।

दृह् अथवा दृहि से 'दृढ' यह निष्ठान्त निपातन किया है जब स्थूल व बलवान् अर्थ हो।[1] दृह् और दृहि दोनों उदात्त हैं। इडभाव का प्रसंग ही न था। यहाँ धातु के 'ह्' का लोप भी निपातन किया है और दृहि (दृन्ह्) के न् का लोप भी।

परिपूर्वक वृह् अथवा वृहि से 'परिवृढ' यह निष्ठान्त निपातन किया है 'प्रभु' अर्थ में।[2] यहाँ भी 'ह्' का लोप निपातित हुआ है। अन्यत्र 'परि-वृंहित' तथा 'परिवृंहित' रूप होगा।

कष् (हिंसायाम्) से निष्ठा में इट् नहीं होता यदि निष्ठान्त का अर्थ 'कृच्छ्र' और 'गहन' हो[3] —कष्टं व्याकरणम्। ततोपि कष्टतराणि सामानि, व्याकरण दुःखद, दुरवगम है, साम उससे भी दुःखद हैं। कृच्छ्र दुःख का नाम है। यहाँ दुःख के कारण को 'कृच्छ्र' कहा है। कष्टानि वनानि, गहनानि दुष्प्रवेशानि। इन अर्थों से अन्यत्र इट् का निषेध नहीं होगा—कषितं सुवर्णम्, सोने को कसौटी पर रगडा गया।

घुषिर् (भ्वा०) शब्द करना तथा घुषिर् (चुरा०) विशब्दन (शब्द से अभिप्राय प्रकट करना) से विशब्दन अर्थ से अन्यत्र इट् नहीं होता[4]—घुष्टा रज्जुः। घुष्टौ पादौ। बालमनोरमाकार घुष्टा का अर्थ उत्पादिता (बनाई गई, बटी गई) अथवा आयामिता (खींची गई) ऐसा करते हैं। अन्य व्याख्याकार और कोषकार भी इस विषय में चुप हैं। विशब्दन अर्थ में 'अवघुषितं वाक्य-माह' यहाँ इट् हुआ है। भाषावृत्तिकार पुरुषोत्तमदेव 'अवघुषितम्' का अर्थ 'अशास्त्रीय' करता है।

सम्, नि, वि-पूर्वक अर्द् (पीडा देना) से इट् नहीं होता[5]—समर्ण। न्यर्ण। व्यर्ण। सबका अर्थ 'सम्यक् पीडित' है। इन उपसर्गों के न होने पर 'अर्दित' ऐसा सेट्क रूप होगा। अर्द् उदात्त है।

---

१ दृढः स्थूल-बलयोः (७।२।२०)।
२ प्रभौ परिवृढः (७।२।२१)।
३ कृच्छ्र-गहनयोः कषः (७।२।२२)।
४ घुषिरविशब्दने (७।२।२३)।
५ अर्देः संनिविभ्यः (७।२।२४)।

अभिपूर्वक अर्द् से इट् नहीं होता जब निष्ठान्त का अर्थ अविदूर (सन्निकृष्ट, समीपवर्ती) हो[1]—अभ्यर्णम् । अभ्यर्णा सेना । अन्यत्र अभ्यर्दितो वृषल शीतेन । अभ्यर्दित=पीडित ।

ण्यन्त धातु वृत् से निष्ठा में इडभाव तथा णिलुक् निपातन किया है अध्ययन विषय में[2]—वृत्त पारायणं देवदत्तेन । वृत्तम्=निर्वृत्तम् । यहाँ 'वर्तित' का प्रयोग नहीं करना होगा । अध्ययन-विषय से अन्यत्र कथंचित् वर्तिता जीविका विधमस्येनानेन—यहाँ 'वर्तित' कहना ही ठीक होगा ।

दान्त, शान्त, पूर्ण, दस्त, स्पष्ट, छन्न, ज्ञप्त—इनमें विकल्प से इट् का अभाव निपातन किया है ।[3] ये दम्, शम्, पूरी, दस्, स्पश्, छद्, ज्ञप्—इन ण्यन्त धातुओं के निष्ठान्त रूप हैं । इन सबसे णिलुक् भी निपातन किया है । पक्ष में इट् होने से सेट् निष्ठा परे णि का लोप हो जाने से दमित, शमित, पूरित, दासित, स्पाशित, छादित, ज्ञपित—रूप होंगे । चुरादि ज्ञप् मित्-संज्ञक होता है अतः ह्रस्व हुआ ।[4]

रुष्, अम (रुग्ण होना), त्वर्, संघुष्, आस्वन्—इनमें निष्ठा में विकल्प से इडागम नहीं होता[5]—रुष्ट । रुषित । तादि प्रत्यय परे इट् विकल्प विधान होने से निष्ठा में नित्य निषेध प्राप्त था । अम्—अभ्यान्त । अभ्यमित (रोगी) । त्वर्—तूर्ण । त्वरित । आदित् होने से निष्ठा में प्रतिषेध प्राप्त था । संघुष्—संघुष्टौ पादौ । संघुषितौ पादौ । अविशब्दन अर्थ में भी पूर्व कहा हुआ प्रतिषेध नहीं होगा, विकल्प होगा, विप्रतिषेधे पर कार्यम्—संघुष्टौ हस्तौ । संघुषितौ हस्तौ । विशब्दन अर्थ में भी विकल्प होगा—संघुष्ट वाक्यमाह । आङ् स्वन्—आस्वान्तो देवदत्तः । आस्वनितो देवदत्तः । देवदत्त ने शब्द किया है । 'मन' अर्थ में भी पूर्व कहे हुए प्रतिषेध को बाधकर विकल्प होगा—आस्वान्तम्=मन । आस्वनितम्=मन ।

लोभ विषयक पारवश्य होने पर लुभ गार्ध्ये, लुभ विमोहने, इनमें निष्ठा में

---

१ अभेश्चाविदूर्ये (७।२।२५) ।
२ णेरध्ययने वृत्तम् (७।२।२६) ।
३ वा दान्त-शान्त-पूर्ण-दस्त-स्पष्ट-छन्न-ज्ञप्ताः (७।२।२७) ।
४ ज्ञप मिच्च ।
५ रुष्य-अम-त्वर-संघुषास्वनाम् (७।२।२८) ।

विकल्प से इट् नहीं होता[1]—हृषितानि लोमानि। हृष्टानि लोमानि, रोंगटे खड़े हुए। हृषित लोमभिः। हृष्टा केशा हृषिता केशा। हृष्ट केशैं। हृषित केशैं। हृष्टो देवदत्त=मृषोक्तवान् देवदत्त (बालमनोरमा)। हृषितो देवदत्त, तुष्ट इत्यर्थ।

विस्मित तथा प्रतिहत अर्थ में इट् विकल्प से न होगा[2]—हृष्टो देवदत्त। हृषितो देवदत्त, विस्मित इत्यर्थ। हृष्टा हृषिता वा देवदत्तस्य दन्ता, देवदत्त के दाँत प्रतिहत=कुण्ठित हैं, शीत-पीडा आदि से काम नहीं करते।

अपपूर्वक चायृ (पूजा, दर्शन) का 'अपचित' यह वैकल्पिक निष्ठान्त रूप निपातन किया है।[3] इडभाव तथा धातु को चि-भाव निपातन किया है। धातु सेट् है। पक्ष में यथाप्राप्त 'अपचायित' भी होगा।

सम्प्रसारण

ज्या वयोहानौ (वृद्ध होना) को 'ग्रहि ज्यावयि— ६।१।१६) से कित् ङित् प्रत्यय परे रहते सम्प्रसारण विधान किया है। निष्ठा प्रत्यय कित् है, सो यहाँ 'य्' को सम्प्रसारण 'इ' और पूर्वरूप होकर 'जि' बना। इसे हल. (६।४।२) से दीर्घ होता है और संयोगादि आकारान्त धातु होने से निष्ठा 'त' को न। जीन=वृद्ध। ऐसे ही ग्रह् को सम्प्रसारण (ऋ) होकर 'गृहीत' रूप होगा। ग्रह् से परे इट् को दीर्घ होता है, लिट् में नहीं। वच्—उक्त। स्वप्—सुप्त। वह्—ऊढ। वप्—उप्त। यज्—इष्ट। वेञ्—उत। व्येञ्—वीत।

ज्वर्, त्वर् की उपधा तथा 'व्' के स्थान में ऊठ् (ऊ)—जूर्ण। तूर्ण।

द्रवमूर्ति (काठिन्य प्राप्ति, तरल पदार्थ का घनभाव) तथा स्पर्श अर्थ में श्यैङ् को सम्प्रसारण[4]—शीन घृतम्, जमा हुआ घी। शीना वसा। शीनं मेद, जमी हुई चरबी। शीतो वायु, शीतस्पर्शवाला वायु। शीत वर्तते, ठंडी लगती है।

प्रतिपूर्वक श्यैङ् को द्रवमूर्ति-स्पर्श अर्थों से अन्यत्र भी सम्प्रसारण होता

---

१ हृषेर्लोमसु (७।२।२९)।
२ विस्मित प्रतिघातयोश्चेति वक्तव्यम् (वा०)।
३ अपचितश्च (७।२।३०)।
४. द्रवमूर्ति-स्पर्शयो श्य (६।१।२४)।

है[1]—प्रतिशीन। प्रतिशीनो देवदत्तो नक्तं प्रकाशेऽवकाशे सुप्त इति, देवदत्त को प्रतिश्याय (जुकाम) हो गया है रात खुली जगह सोया था इसलिए।

अभि-अव पूर्वक श्यैङ् को सम्प्रसारण विकल्प से[2]—अभिशीन। अभिश्यान। अवशीन। अवश्यान।

'श्वि' को निष्ठा में नित्य ही सम्प्रसारण होता है[3]—शून। उद्पूर्वक—उच्छून। सततरुदितोच्छूननेत्र, निरन्तर रोने से जिसकी आँखें सूज गई हैं।

स्त्यै (ष्ट्यै शब्दसङ्घातयोः) को प्रपूर्वक होने पर सम्प्रसारण होता है[4]—प्रस्तीत। प्रस्तीम। प्रपूर्वक स्त्यै के निष्ठातकार को विकल्प से 'म' हो जाता है।[5]

कित्वाभाव

निष्ठा प्रत्यय क्त, क्तवतु दोनों कित् हैं पर कुछेक स्थलों में इन्हें अकित् माना गया है जिससे किङ्निमित्तक गुणवृद्धि प्रतिषेध नहीं होता।

शीङ्, स्विद्, मिद्, क्ष्विद्, धृष्—इनसे परे सेट् निष्ठा प्रत्यय कित् नहीं होता[6]—शीङ्—शयित। स्विद्—स्वेदित। मिद्—मेदित। क्ष्विद्—क्ष्वेदित। धृष्—धर्षित। शीङ् वर्जित इन धातुओं के आदित् होने से निष्ठा में नित्य इट् निषेध प्राप्त था, भाव तथा आदिकर्म (प्रारम्भ) में यह निषेध विकल्पित कर दिया है। इडभाव पक्ष में स्विन्न, मिन्न, क्ष्विण्ण, धृष्ट—रूप होंगे।

पूङ् से सेट् निष्ठा (तथा क्त्वा) कित् नहीं होता[7]—पवित सोम। इट के अभाव में पूत सोम।

मृष् से तितिक्षा अर्थ में निष्ठा प्रत्यय कित् नहीं होता[8]—मर्षित। मर्षितो मेऽपराधो गुरुणा। अन्यत्र अपमृषित वाक्यमाह, अविस्पष्टम्।

१　प्रतेश्च (६।१।२५)।
२　विभाषाऽभ्यवपूर्वस्य (६।१।२६)।
३　वचि-स्वपि-यजादीनां किति (६।१।१५)। 'श्वि' यजादि धातुओं में से एक है।
४　स्त्यः प्रपूर्वस्य (६।१।२३)।
५　प्रस्त्योऽन्यतरस्याम् (८।२।५४)।
६　निष्ठा शीङ्-स्विदि-मिदि-क्ष्विदि-धृषः (१।२।१९)।
७　पूङः क्त्वा च (१।२।२२)।
८　मृषस्तितिक्षायाम् (१।२।२०)।

उदुपध (ह्रस्व उ उपधा वाली) धातुओं से सेट् निष्ठा प्रत्यय भाव तथा कर्म के वाच्य होने पर विकल्प से कित् नहीं होता[1]—द्युतितमनेन । द्योतितमनेन । प्रद्युतिता विद्युत्, बिजली चमकने लगी । प्रद्योतिता विद्युत् । मुदित देवदत्तेन । मोदित देवदत्तेन, देवदत्त प्रसन्न हुआ । प्रमुदितो देवदत्त । प्रमोदितो देवदत्त, देवदत्त प्रसन्न हो रहा है ।

कुटादि कुट्, कुच्, स्फुट्, छुर्, स्फुर्, स्फुल् इन सेट् धातुओं से निष्ठा कित् न होगी पर ङित् होगी[2], अतः गुणाभाव रहेगा—कुटित । कुचित । सङ्कुचित । स्फुटित । छुरित । स्फुरित । स्फुलित ।

आदेश

कुछेक स्थलों में प्रकृति अथवा प्रत्यय (क्त) को आदेश हो जाता है । उन्हें यहाँ दर्शाते हैं—

प्यायी (प्याय्) को 'पी' आदेश विकल्प से होता है ।[3] यह व्यवस्थित विभाषा है । उपसर्गरहित प्याय् को नित्य 'पी' होता है और उपसर्गसहित को होता ही नहीं—पीन । पीनमुर । पीनौ बाहू । यहाँ कृत्यच (८।४।२९) से प्राप्त णत्व का 'न भाभूपू—' (८।४।३४) से निषेध हो जाता है । प्रप्यान । प्राप्यान । प्रप्यानश्चन्द्रमा, चाँद जो बढ़ना प्रारम्भ हुआ है । आङ्पूर्वक को 'पी' होता ही है जब कुम्भ तथा ऊधस् अर्थ हो[4]—आपीनम् अन्धु (कुआँ) । आपीनमूध ।

स्फायी (स्फाय्) को नित्य ही 'स्फी' आदेश होता है[5]—स्फीत । स्फीतो जनपद । क्तिन् में स्फी भाव नहीं होगा—'स्फाति' ऐसा रूप होगा, न कि स्फीति ।

१　उदुपधाद् भावाऽऽदिकर्मणोरन्यतरस्याम् (१।२।२१) ।

२　गाङ्-कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित् (१।२।१) । इङ् के आदेश गा से तथा तुदाद्यन्तर्गण कुटादि धातुओं से ञित्-णित्-भिन्न प्रत्यय ङिद्वत् होता है ।

३　प्यायः पी (६।१।२८) । व्यवस्थित विभाषा ।

४　आङ्पूर्वस्यान्धूधसोर्भवत्येव ।

५　स्फायः स्फी निष्ठायाम् (६।१।२२) ।

'धा' को 'हि' आदेश होता है[1]—हित। निहित। प्राहित। संहित। उपहित। उपाहित। परिहित।

दो, सो, मा, स्था—इन्हें इकार अन्तादेश होता है[2]—दित। सन्दित। मित। स्थित। मा, माङ्, मेङ्—तीनों का ग्रहण इष्ट है।

शो, छो—को विकल्प से इकार अन्तादेश होता है[3]—शित, शात। छित, छात। शित इषु। निशित इषु=तीक्ष्ण बाण। शातोदरी=कृशोदरी। छातश्छाग, पतला दुबला बकरा। व्रत विषय में नित्य ही इकार अन्तादेश होता है[4]—संशित व्रतम्=सम्यक् सम्पादितम्, अच्छी तरह पूरा किया गया व्रत। संशितो ब्राह्मणः=व्रत विषयक यत्नवान् (दीक्षित)।

घु-संज्ञक 'दा' को दथ् आदेश होता है[5]—दत्त।

ह्रादी (ह्राद्) को ह्रस्व होता है[6]—ह्रन्न। प्रह्रन्न।

अद् को जग्ध् आदेश होता है[7]—अद्-त=जग्ध् त=जग्ध् ध=जग्ध। पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः (कठोप०)।

घुसंज्ञक धेट् (धे) पीना, चूसना, गै, पा (पीना), हा (त्यागना)—को 'ई' अन्तादेश होता है[8]—धेट्—धीत। अस्या धयाया अम्बाया कुमारेणानेन स्तनौ धीतौ। गै—गीत। भगवद्गीतासूपनिषत्सु वर्णितोऽयमर्थो विस्तरेण, भगवान् कृष्ण से गाई गई उपनिषदों में यह बात विस्तार से कही गई है। पा—पीत। हा—हीन। बुद्ध्या हीन, त्यक्त इत्यर्थः।

जन्, सन्, खन्—को 'आ' अन्तादेश होता है[9]—जात। सात। खात। देवखातबिले गुहा—अमर।

---

१ दधाते हि (७।४।४२)।
२ द्यति-स्यति मा-स्थाम् इत्ति किति (७।४।४०)।
३ शाच्छोरन्यतरस्याम् (७।४।४१)।
४ श्यतेरित्त्व व्रते नित्यमिति वक्तव्यम् (वा०)।
५ दो दद् घोः (७।४।४६)।
६ ह्रादो निष्ठायाम् (६।४।९५)।
७ अदो जग्धिर्ल्यप्ति किति (२।४।३६)।
८ घु मा-स्था-गा-पा-जहाति-सां हलि (६।४।६६)।
९ जन-सन-खनां सञ्झलोः (६।४।४२)।

भाव, कर्म से अन्यत्र 'क्षि' को दीर्घ[1]—क्षीण। **क्षीणो राजा वाहनेन बलेन च**। यहाँ 'क्त' कर्ता अर्थ में है।

आक्रोश (शाप) तथा दैन्य (दुर्गति) अर्थ में 'क्षि' को विकल्प से दीर्घ होता है[2]—क्षितायुर्भव दुर्बुद्धे। क्षीणायुर्भव दुर्बुद्धे। हा क्षितोऽयं तपस्वी। **हा क्षीणोऽयं तपस्वी**।

क्षीर तथा हविस् के विषय में श्रा (पकना, उबलना) तथा श्रप् (श्रा का ण्यन्त) को 'शृ' आदेश होता है[3]—शृतं पयः। शृतं हविः। पर श्राणा यवागूः।

उपसर्ग-रहित ञिफला (फल्), क्षीब् (मत्त होना), कृश् (दुबला होना) उद्पूर्वक लाघ् के क्रम से फुल्ल, क्षीब, कृश, उल्लाघ (जो बीमारी से उठा है) निष्ठान्त रूप निपातन किए हैं।[4] फल् से परे क्त के त को ल। अन्यत्र 'क्त' का लोप हुआ है। **चिरं रुग्णोऽसौ सम्प्रत्युल्लाघः**। उद्पूर्वक तथा सम्पूर्वक फल् से भी **उत्फुल्ल, सम्फुल्ल** क्तान्त रूप बनते हैं। फुल्ल् विकसने से पचाद्यच् करके फुल्ल रूप सिद्ध हो जाता है। पर एवं-व्युत्पन्न फुल्ल शब्द का भूत-कालिक क्रिया को कहने में प्रयोग न हो सकेगा और भाव में भी प्रयोग न बन सकेगा। उपसर्ग-सहित ञिफला आदि के **प्रफुल्त, प्रक्षीबित, प्रकृशित** रूप होंगे।

शुष् से निष्ठा-त को क और पच् से व होता है[5]—**शुष्क। पक्व**। क्षुरव। क्षै से परे निष्ठा-त को म[6]—**क्षाम**। श्रात्व। क्षुत्क्षाम, भूख से क्षीण।

अजन्त उपसर्ग से परे दा और दो (आत्व होने पर दा) के 'आ' को 'त्' होता है और यदि उपसर्ग इगन्त हो तो उसके इक् को दीर्घ हो जाता है[7]—**प्रदा—प्रत्त। अवदा—अवत्त। प्रदो—प्रत्त। अवदो—अवत्त। अवत्तम्**= अवदान किया गया, टुकड़ा काटा गया। प्रतिदा—**प्रतीत्त**, लौटाया गया।

---

१ निष्ठायामण्यदर्थे (६।४।६०)।
२ वाऽऽक्रोश-दैन्ययोः (६।४।६१)।
३ क्षीर-हविषोर्नित्यं शृभावः, अन्यत्र न भवति।
४ अनुपसर्गात्फुल्ल-क्षीब-कृशोल्लाघाः (८।२।५५)।
५ शुषः कः (८।२।५१) पचो वः (८।२।५२)।
६ क्षायो मः (८।२।५३)।
७ अच उपसर्गात्तः (७।४।४७)। दस्ति (६।३।१२४)।

अप्रतीत्तमृणम् (अथर्व० ६।११७।१), जो ऋण लौटाया नहीं गया। इसी प्रकार निदा—नीत्त। परिदा—परीत्त।

पर अवदत्त, विदत्त, (आदि कर्म में) प्रदत्त, सुदत्त, अनुदत्त, निदत्त—ये भी इष्ट हैं। यहाँ अव आदि उपसर्ग नहीं हैं उपसर्ग प्रतिरूपक हैं, ऐसी कल्पना की जाती है।

क्यच्, क्यङ् का विकल्प से लोप आर्धधातुक प्रत्यय (जैसे क्त) परे होने पर[1]—वरिवस् क्यच्=वरिवस्य। वरिवस्य क्त=वरिवसित। वरिवस्यित=पूजित।

निष्ठा-प्रत्यय के प्रयोग का विषय

इस प्रकरण के प्रारम्भ में हम कह आए हैं कि निष्ठा प्रत्यय (क्त) प्राय भूतकाल की क्रिया को कहने वाली धातु से आता है, पर यह इच्छार्थक, बुद्ध्यर्थक तथा पूजार्थक धातुओं से वर्तमान अर्थ में आता है[2]—सतां मत, सज्जनों को इष्ट, प्यारा। सताम् इष्ट। सतां बुद्ध। सतामवगत। सतां पूजित। सताम् अर्चित। सताम् अभ्यर्हित। सताम् अञ्चित (पूजित)। यहाँ सर्वत्र कर्ता में षष्ठी हुई है। सज्जनों से चाहा हुआ, जाना हुआ, पूजा हुआ अर्थ है।

जिन धातुओं में ञि अनुबन्ध लगा हुआ है अर्थात् जो ञित् हैं, उनसे 'क्त' वर्तमान अर्थ में आता है[3]—ञिधृषा (धृष)—धृष्ट, जो अविनीत है।

यह भी कहा जा चुका है कि 'क्त' यथायोग्य भाव तथा कर्म का वाचक होता है अर्थात् अकर्मक धातुओं से भाव में आता है और सकर्मक धातुओं से कर्म में। पर आदिकर्म=प्रारम्भ में (धातुवाच्य क्रिया के प्रारम्भ के 'प्र' आदि द्वारा द्योतित होने पर) 'क्त' कर्ता में भी आता है, और यथाप्राप्त भाव, कर्म में भी[4]—व्याकरणचन्द्रोदय प्रकृता वयम्, हम ने व्याकरणचन्द्रोदय का प्रणयन प्रारम्भ किया है। पक्ष में व्याकरणचन्द्रोदय प्रकृतोऽस्माभि (कर्म में क्त)। आदिकर्म में निष्ठा प्रत्यय की अप्राप्ति थी, कारण कि यहाँ क्रिया का

---

१ क्यस्य विभाषा (६।४।५०)।

२ मति-बुद्धि-पूजार्थेभ्यश्च (३।२।१८८)।

३ ञीतः क्तः (३।२।१८७)।

४ आदिकर्मणि क्तः कर्तरि च (३।४।७१)।

आद्य गए भूत है, अतीत हैं, आगे आने वाले क्षणान्तर वर्तमान हैं और निष्ठा का विधान भूत में हुआ है। अत वार्तिककार यहाँ वार्तिक पढ़ते हैं—आदिकर्मणि निष्ठा वक्तव्या। मास मातुमारब्धश्चन्द्रमा = मासप्रमितश्चन्द्रमा।

गत्यर्थक, अकर्मक धातुओं से तथा श्लिष्, शीङ्, स्था, आस्, वस्, जन्, रुह्, जॄ धातुओं से निष्ठाप्रत्यय क्त कर्ता में भी आता है और यथाप्राप्त भाव व कर्म में भी।[1] श्लिष् आदि सोपसर्गक होकर सकर्मक हो जाती हैं। गतो देवदत्तो ग्रामम्। गतो देवदत्तेन ग्राम (कर्म में)। गत देवदत्तेन (भाव में)। सलिलमवगाढो मुनिजन (स्वप्न०)। अमृतह्रदमिवावगाढोऽस्मि। अकर्मक धातुओं से—श्रान्तोऽसि (कर्ता में)। श्रान्त त्वया (भाव में)। आसितो भवान्। आसित भवता। शिशु शयित। शयित शिशुना। श्लिष्—उपश्लिष्टो गुरु भवान्, आप गुरु जी के पास गए। उपश्लिष्टो गुरुर्भवता (कर्म में)। उपश्लिष्ट भवता (कर्म की अविवक्षा में भाव में क्त)। शीङ्—उपशयितो गुरु भवान् (आप गुरु जी के समीप सोये)। उपशयितो गुरुर्भवता। उपशयित भवता। स्था—उपस्थितो गुरु भवान् (कर्ता में क्त), आप गुरु जी की सेवा में ठहरे। उपस्थितो गुरुर्भवता। उपस्थित भवता। आस्—उपासितो गुरु भवान्, आप गुरु जी की सेवा में बैठे। उपासितो गुरुर्भवता। उपासित भवता। वस्—अनूषितो गुरु भवान्, आप ने गुरु जी के समीप वास किया। अनूषितो गुरुर्भवता। अनूषित भवता। जन्—अनुजातो माणवको माणविकाम्, लड़का लड़की के पश्चात् जन्मा। अनुजाता माणवकेन माणविका। अनुजात माणवकेन। आरुह्—आरूढो वृक्ष भवान्। आरूढो वृक्षो भवता। आरूढ भवता। जॄ—अनुजीर्णो वृषलीं देवदत्तः, देवदत्त शूद्री के पीछे जीर्ण हो गया। अनुजीर्णा वृषली देवदत्तेन। अनुजीर्णं देवदत्तेन, देवदत्त जरा को प्राप्त हो गया।

अनुपूर्वक स्था से भी 'क्त' कर्ता में पाया जाता है—वीराश्च नियतोत्साहा राजशास्त्रमनुष्ठिता (रा० १।७।१२)। यहाँ राजशास्त्रमनुष्ठिता = राजशास्त्रानुसारिण, राजशास्त्रार्थमाचरितवन्त। धर्मेप्सवस्तु धर्मज्ञा सता वृत्तमनुष्ठिता (मनु० १०।१२७)।

सूत्र में 'च' पढ़ने से अनुक्त धातुओं से भी कर्ता में 'क्त' देखा गया साधु

---

१ गत्यर्थाऽकर्मक-श्लिष-शीङ्-स्थाऽऽस-वस-जन-रुह-जीर्यतिभ्यश्च ३।४।७२)।

है। वान्त। विरिक्त। वान्तो विरिक्तः स्नात्वा तु घृतप्राशनमाचरेत् (मनु० ५।१४४)। प्राहृत। प्रतिपन्न। तस्मात्तत्राहृतो भवेत् (मनु० ७।१५०)। इति प्रतिपन्ना प्राच्याः प्रतीच्याश्च पण्डिताः। वामन का सूत्र भी है—व्यवसितादिषु क्तः कर्तरि चकारात्। योद्धुं व्यवसित=योद्धुं निश्चितवान्। स भक्तो मागधः राजा भीष्मकः परवीरहा (भा० सभा० १४।२२)। यहाँ भज् से 'क्त' कर्ता में हुआ है। अथ त्वा सूतमभ्येत्य भक्तो मां नित्यमेव हि (भा० महाप्रा० ३।७)। ममाऽस्य पुत्रो गुणवाननुरक्तश्च पाण्डवान् (भा० आदि० २०२। १०)। यहाँ रञ्ज् से कर्ता में 'क्त' हुआ है। सुषिरो वै पुरुषः, स तर्ह्येव सर्वो यर्ह्याशित (मैत्रायणी सं० ३।६)। निश्चय ही पुरुष खोखला है, वह तभी भरपूर हो जाता है जभी वह खा चुकता है। यहाँ आङ्पूर्वक अश् (खाना) सकर्मक से कर्ता में क्त हुआ है।

क्लीवत्व-विशिष्ट भाव को कहने के लिए कालसामान्य में 'क्त' आता है—विलसित।[1] विद्युतो विलसितम्=विलसनम्=विलास, बिजली का चमकना। शिशोः शयितम्=बच्चे का सोना। उभावलंचक्रतुरञ्चिताभ्यां तपोवनावृत्तिपथं गताभ्याम् (रघु० २।१८)। यहाँ गत=गमन। न मे दुर्व्याहृत (=दुर्व्याहार=दुर्भाषितम्)। किञ्चिन्नापि मे दुरनुष्ठितम् (दुरनुष्ठितम्=दुरनुष्ठानम्) (रा० ४।३२।३)। मुहूर्तं ज्वलितं श्रेयो न च धूमायितं चिरम् (भा० ५।)। ज्वलित=ज्वलन।

अकर्मक धातुओं से, गत्यर्थक तथा भोजनार्थक धातुओं से 'क्त' अधिकरण में भी आता है और यथा प्राप्त कर्ता, भाव तथा कर्म में भी[2]—आसितो देवदत्तः। आसितं तेन। इदमेषामासितम्, यह इनके बैठने का स्थान है। अधिकरण में क्त। यातो देवदत्तो ग्रामम्। यातो देवदत्तेन ग्रामः। यात देवदत्तेन (भाव में)। इदमेषां यातम्, यह इनके जाने का स्थान है। इदमेषां भुक्तम्, यह इनके भोजन का स्थान है, जहाँ इन्होंने खाया। आसितं शयितं भुक्तं सूत रामस्य कीर्तय (रा० २।५८।१२), हे सूत, राम कहाँ बैठे, कहाँ सोए, कहाँ खाना खाया, यह कहिए। रामस्य शयितं भुक्तं जल्पितं हसितं स्थितम्। प्रक्रान्तं च मुहुः पृष्टा हनूमन्तं व्यसस्मरत् (भट्टि ८।१२५)। यहाँ सर्वत्र अधिकरण में 'क्त' हुआ है।

---

१ नपुंसके भावे क्तः (३।३।११४)।
२ क्तोऽधिकरणे च ध्रौव्य-गति प्रत्यवसानार्थेभ्यः (३।४।७६)।

कृत्य तथा ल्युट् बहुलतया होते हैं यह तो कहा जा चुका है। दूसरे कृत् प्रत्यय भी जिस अर्थ मे विहित किए गए हैं उससे अन्यत्र देखे जाते हैं। *बहुलग्रहणादन्येऽपि कृतो यथाप्राप्तमभिधेयं व्यभिचरन्ति।* 'क्त' का करण में कहीं भी विधान नहीं किया गया, पर करण में भी होता है। शॄ वायुवर्ण निवृतेषु—इस वार्तिक मे 'निवृत' में 'क्त' करण से हुआ है—निव्रियतेऽनेनेति निवृत, निवारण प्रावरणम्। भावप्रधानमाख्यातम्—यहाँ 'आख्यात' मे 'क्त' करण मे है—आख्यायन्ते क्रिया गुण भावेन वर्तमानानि स्त्रीपुनपुंसकान्यनेनेत्याख्यातम्।

कान्त रूपावलि
सेट् अजन्त धातुएँ

धातु	रूप	धातु	रूप
श्रि (ञ्)	श्रित[1], सश्रित, आश्रित, उपाश्रित, अधिश्रित, उच्छ्रित[2]	ऊर्णु	ऊर्णुत[3], प्रोर्णुत, व्यूर्णुत
		क्षु	क्षुत[4]
श्वि	शून, उच्छून	क्ष्णु	क्ष्णुत, सक्ष्णुत
		नु	नुत, प्रणुत
डी (ङ्) दिवा०	डीन, सडीन, उड्डीन	यु	युत, वियुत[5], सयुत
" भ्वा०	डयित		
शीङ्	शयित, उपशयित, सशयित	रु	रुत, विरुत, आरुत

---

१ श्रिञ् सेट् है, पर इससे कित् प्रत्यय परे रहते इट् का निषेध है।

२ उच्छ्रित=ऊँचा उठाया हुआ जैसे ध्वज, अथवा ऊँचा (उन्नत)।

३ ऊर्णु सेट् है अनेकाच् होने से, पर इट् के निषेध के लिए इसे एकाच् 'नु' मान लिया जाता है। विपूर्वक ऊर्णु का अर्थ खोलना है। ऊर्णु, प्रऊर्णु का ढाँपना है।

४ क्षु, नु, यु, रु, स्नु आदि धातुएँ सेट् हैं पर एकाच् उगन्त होने से कित् प्रत्यय परे रहते इनसे इट् का निषेध है।

५ वियुत=जुदा।

स्नु	स्नुत, प्रस्नुत	सू (षू) तुदा०	सूत, प्रसूत, प्रतिप्रसूत[1]
प्रसू (व्)	प्रसूयित	जागृ	जागरित
धू (ञ्)	धूत, विधूत, अवधूत, व्याधूत	वृ (ङ्)	वृत
धू (तुदा० कुटा०)	धूत	वृञ्	वृत, विवृत, संवृत, आवृत
नू	नूत	कॄ	कीर्ण, विकीर्ण, प्रकीर्ण, संकीर्ण, आकीर्ण
पू (ङ्)	पवित, पूत	गॄ	गीर्ण, उद्गीर्ण, संगीर्ण[2]
पूञ्	पूत	जॄ	जीर्ण
भू	भूत, प्रभूत, सम्भूत, उद्भूत	तॄ	तीर्ण, उत्तीर्ण, अवतीर्ण
लू (ञ्)	लून, विलून, आलून	पॄ	पूर्त, निपूर्ण
सू (षूङ्) अदा०	सूत, प्रसूत	स्तॄ	स्तीर्ण, आस्तीर्ण, विस्तीर्ण
सू (षूङ्) दिवा०	सून, प्रसून		

अनिट् अजन्त धातुएँ

दा	दत्त, प्रदत्त, अवदत्त, प्रत्त, अवत्त, प्रतीत्त, परीत्त	[redacted]	निद्राण, प्रद्राण[3]

---

१ प्रतिप्रसूत = निषिद्ध होकर अनुमत ।
२ संगीर्ण = प्रतिज्ञात ।
३ प्रद्राण = दुर्विध = दरिद्र = दुर्गत ।

धा — हित, निहित, अभिहित, परिहित, आहित, सहित, अपिहित, पिहित

पा — पीत, प्रपीत, निपीत, आपीत

मा — मित, प्रमित, समित, परिमित

माङ् — मित, निर्मित, विनिर्मित, उपमित

म्ना — आम्नात, समाम्नात

या — यात, प्रयात, वियात[1], आयात

वा — वात, प्रवात, निवात

स्था — स्थित, आस्थित[2], उदास्थित[3], संस्थित[4], उपस्थित, विष्ठित, अवस्थित

स्ना — स्नात, प्रस्नात, निस्नात, निष्णात[5], प्रतिष्णात[6]

हा (क्) — हीन, प्रहीण, विहीन

हा (ङ्) — हान, उद्धान

इक् — अधीत

इङ् — अधीत, प्राधीत

इण् — प्रतीत, प्रेत, उपेत, समेत, अपीत

---

१ वियात = धृष्ट ।

२. आस्थित = आश्रित, प्रतिज्ञात ।

३ उदास्थित = उदासीन । उदास्थित = प्रतीहार, द्वारपाल (क्षीरस्वामी) ।

४ संस्थित = मृत, अवस्थित ।

५ निष्णात = प्रवीण ।

६ प्रतिष्णात = शुद्ध ।

धातु	रूप	धातु	रूप
चि	चित, प्रचित, उपचित, अपचित, आचित, संचित	सु (षुञ्)	सुत, अभिषुत, आसुत
जि	जित, विजित, पराजित	स्तु	स्तुत, प्रस्तुत, संस्तुत, अभिष्टुत, उपस्तुत[3]
हि	हित, प्रहित	ब्रू	उक्त, प्रोक्त, अभ्युक्त, अनूक्त
क्री	क्रीत, परिक्रीत[1], विक्रीत, अवक्रीत	ऋ	ऋत, ऋण
दीङ्	दीन, उपदीन	हृ	हृत, प्रहृत, उपहृत, अपहृत, उपाहृत, अनुहृत
नी	नीत, प्रणीत, उपनीत, अनीत[2], आनीत, परिणीत, अवनीत, विनीत, उन्नीत	पृङ्	पृत, व्यापृत
		मृ	मृत
		स्तृ	स्तृत, आस्तृत, विस्तृत
पीङ्	पीत, निपीत	स्मृ	स्मृत

१　परिक्रीत=किराया पर लिया हुआ। कुछ नियत समय के लिए वेतन पर नियुक्त।

२　अनीत=मिलाया हुआ।

३　उपस्तुत=स्तुतिद्वारा निमन्त्रित।

हृ	हृत, प्रहृत, आहृत, समाहृत, संहृत, उपहृत, परिहृत	कै	कात
		गै	गीत, प्रगीत, उपगीत, संगीत
		ग्लै	ग्लान, विग्लान
देङ्	दीत	दै (प्)	अवदात
धेट्	धीत, सुधीत	ध्यै	ध्यात, आध्यात[1], प्रध्यात, अनुध्यात[2]
मेङ्	मित, निमित, विनिमित	घ्रा	घ्राण
वेञ्	उत, प्रोत, ओत	छो	छित, छात
व्येञ्	वीत, संवीत, उपवीत, परिवीत, निवीत	दो	दित, संदित, अवत्त, प्रत्त
		शो	शित, शात, संशित
ह्वे	हूत, आहूत, उपहूत	सो	सित, अवसित, पर्यवसित

सेट् हलन्त धातुएँ

अञ्च्	अञ्चित[3], अक्त	अर्च्	अर्चित, अभ्यर्चित, प्रार्चित

---

१ आध्यात=उत्कण्ठापूर्वक स्मृत।

२ अनुध्यात=अनुकूलतया चिन्तित। जिसका शुभचिन्तन किया गया वह अनुध्यात होता है।

३ अञ्चित=पूजित।

उच्	उचित, समुचित	मृज्	मृष्ट, संमृष्ट[5], प्रमृष्ट
कुच्	कुचित, सङ्कुचित	लज	लज्जित, लग्न
याच्	याचित, प्रयाचित, उपयाचित[1]	लस्ज	होना, लग्न
		विज्	विग्न, उद्विग्न, संविग्न
रच्	रचित, विरचित, प्ररचित, अभिविरचित	कृत् (काटना)	कृत्त, उत्कृत्त, विकृत्त
उच्छी	व्युष्ट (विपूर्वक)	कृत् (लपेटना, घेरना)	कृत्त
		चिन्त्	चिन्तित
मुर्छा (मुर्छ्)	मूर्त	चृत्	चृत्त
वञ्च् (वञ्चु)	वक्त	चुत्	चुतित, प्रचुतित, प्रचोतित
वाञ्छ्	वाञ्छित		
अञ्च्	अञ्चित, प्राञ्चित, उदञ्चित[2], प्राचीन[3]	नृत्	नृत्त, प्रनृत्त[6]
अञ्ज्	अक्त, अभ्यक्त[4], व्यक्त	यत्	यत्त, प्रयत्त, संयत्त[7]

१ उपयाचित=प्रार्थित । नपुं०—इष्टार्थ प्राप्ति के निमित्त देवता को प्रतिज्ञात उपहार ।

२ उदञ्चित=खींचकर बाहर निकाला हुआ, जैसे गोधन ।

३ प्राचीन । अञ्च् को विकल्प से 'ची' ।

४ अभ्यक्त=अभ्यङ्ग (मालिश) किया हुआ ।

५ संमृष्ट=संमार्जनी (झाड़ू) से साफ किया हुआ ।

६ प्रनृत्त=प्रारब्धनर्तन । नर्तितुमारब्धः प्रनृत्तः ।

७ संयत्त=संघर्ष को प्राप्त ।

वृत्	वृत्त, संवृत्त, आवृत्त, परिवृत्त, प्रवृत्त, निवृत्त, संनिवृत्त	निन्द्	निन्दित, प्रनिन्दित, प्रणिन्दित[2]
		मद्	मत्त, प्रमत्त, उन्मत्त
कत्थ्	कत्थित, विकत्थित	मिद्	मिन्न, प्रमेदित, मेदित
अर्द्	अर्दित, समर्ण, न्यर्ण, व्यर्ण, अभ्यर्ण[1], अभ्यर्दित	मुद्	मुदित, मोदित, प्रमुदित, प्रमोदित
		क्षुद्	क्षुण्ण
कुर्द्	कूर्दित, उत्कूर्दित	तृद्	तृण्ण, सन्तृण्ण
क्रन्द्	क्रन्दित, आक्रन्दित	रद्	रदित, प्ररदित
क्ष्विद्	क्ष्विण्ण, क्ष्वेदित, प्रक्ष्वेदित	वद्	उदित, समुदित, व्युदित
		वन्द्	वन्दित, अभिवन्दित
खूर्द्	खूर्दित	विद् (जानना)	विदित
गद्	गदित, निगदित, प्रणिगदित	स्पन्द्	स्पन्दित, विस्पन्दित

---

१ अभ्यर्ण=समीप।

२ प्रनिन्दित, प्रणिन्दिन—यहां 'वा निसनिक्षनिन्दाम्' (८।४।३३) से विकल्प से णत्व होता है।

स्यन्द्	स्यन्न अभिस्यन्न अभिष्यण्ण निस्यन्न निष्यण्ण	कुप्	कुपित कोपित प्रकुपित प्रकोपित
एज्	एजित प्रेजित	क्लृप्	क्लृप्त संक्लृप्त विक्लृप्त
एध्	एधित प्रेधित समेधित	गुप्	गुप्त गोपायित[2]
बुध् भ्वा०	बुधित बोधित प्रबुधित प्रबोधित	जप्	जपित
		जल्प्	जल्पित विजल्पित
रध्	रद्ध	दीप्	दीप्त प्रदीप्त संदीप्त उद्दीप्त
वृध्	वृद्ध प्रवृद्ध संवृद्ध विवृद्ध	क्षुभ्	क्षुभित क्षोभित प्रक्षुभित प्रक्षोभित
सिध् (भ्वा०)	सिधित प्रसिधित	शुभ्	शुभित शोभित प्रशुभित प्रशोभित
स्पर्ध्	स्पर्धित		
अन्	अनित प्राणित[1]	अम्	अभ्यान्त[3] अभ्यमित
पन्	पनित पनायित	दम्	दान्त दमित[4]

1 अनितेः (८।४।१९) से प्राणित में णत्व हुआ।

2 गुप् से स्वार्थिक 'आय' होने पर।

3 अभ्यान्त, अभ्यमित = रुग्ण।

4 णिच् के भावाभाव से दो रूप। आय आदि आर्धधातुक विषय में विकल्प से होते हैं।

क्रम्	क्रान्त, आक्रान्त, प्रक्रान्त, उत्क्रान्त, अनुक्रान्त, विक्रान्त, पराक्रान्त, निष्क्रान्त
क्लम्	क्लान्त, विक्लान्त
क्षम्	क्षान्त
तम्	तान्त, प्रतान्त, नितान्त, उत्तान्त
दम्	दान्त
दम् णिच्	दान्त, दमित
भ्रम्	भ्रान्त, विभ्रान्त, उद्भ्रान्त[1], सम्भ्रान्त[2]
वम्	वान्त
शम्	शान्त, प्रशान्त, उपशान्त, निशान्त[3]
शम् णिच्	शान्त, शमित
श्रम्	श्रान्त, विश्रान्त, परिश्रान्त
अय्	अयित
परा अय्	पलायित[4]
प्र अय्	प्लायित
क्नूयी	क्नूत[5]
क्ष्मायी	क्ष्मात
चाय्	अपचित[6], अपचायित
प्यायी	पीन, आपीन, प्रप्यान
ईर् (उद्)	उदीर्ण
ईर् णिच्	उदीरित, समीरित, प्रेरित

---

१ उद्भ्रान्त=उन्मत्त।

२ सम्भ्रान्त=त्वरावान्।

३ निशान्तम्=गृहम्। निशाम्यन्त्यस्मिन्निति। अधिकरण में क्त।

४ पलायित, प्लायित। यहाँ उपसर्गस्यायतौ (८।२।१६) से उपसर्ग के रेफ को ल होता है। परा, प्र उपसर्ग-पूर्वक अय् का प्रयोग है।

५ लोपो व्योर्वलि (६।१।६६) से 'य्' का लोप। ऐसे ही क्ष्मात (=विधूत) में जानें। क्नूत=भीगा हुआ।

६ चाय् का पूजा-अर्थ में अप-पूर्वक ही प्रयोग होता है।

गुर्	गूर्ण अवगूर्ण[1] उद्गूर्ण	धुर्वी (धुर्व्)	धूर्ण
		ष्ठिव्	ष्ठ्यूत निष्ठ्यूत
गूर्	गूर्ण अवगूर्ण उद्गूर्ण	सिव्	स्यूत प्रस्यूत
छुर्	छुरित	अण् (प्राणने)	अनित प्राणित आनित
ज्वर्	जूर्ण सञ्जूर्ण अनुजूर्ण	अशू ङ्	अष्ट समष्ट अभ्यष्ट
त्वर्	त्वरित तूर्ण	भृश् (दिवा० प०)	भृष्ट[3] विभृष्ट
स्फुर्	स्फुरित विस्फुरित[2] विष्फुरित	भ्रश्	भ्रष्ट विभ्रष्ट
स्वर् (चुरा०)	स्वरित	अक्षू	अष्ट
स्खल्	स्खलित प्रस्खलित	इष् (तुदा०)	इष्ट अभीष्ट प्रतीष्ट[4]
स्फुल्	स्फुलित विस्फुलित विष्फुलित	इष् (दिवा० क्र्यादि०)	इषित प्रेषित
दिव्	द्यूत आद्यून परिद्यून	उष्	उषित उपोषित
		एष् (एषृ)	एषित प्रेषित
धाव्	धौत धावित प्रधावित	कुष्	कुषित निष्कुषित

१ अवपूर्वक गुर् का अर्थ मारने के लिए शस्त्र उठाना है। अब यहाँ उद् के अर्थ में आ रहा है। यह वैचित्र्य है।

२ यहाँ स्फुरतिस्फुलत्योर्निर्निविभ्यः (८।३।७६) से विकल्प से षत्व होता है।

३ भृश्, भ्रश्—दोनों उदित हैं। अतः क्त्वा में इट् विकल्प होने से निष्ठा में इडागम निषेध हो गया।

४ प्रतीष्ट=गृहीत।

गवेष (चुरा०)	गवेषित
घृष्	घृष्ट, घर्षित
पुष् क्र्या०	पुषित
पूष भ्वा०	पूषित
प्रुष् (प्रुषु) भ्वा०	प्रुष्ट
प्लुष् भ्वा०	प्लुष्ट
प्लुष् दिवा०	प्लुषित, विप्लुषित
मुष्	मुषित, प्रमुषित
मूष्	मूषित
मृष्	मर्षित, अपमृषित
रिष्	रिष्ट
रुष्	रुष्ट, रुषित
लष्	लषित, अभिलषित, अपलषित[1]
हृष्	हृष्ट, हृषित
असु (दिवा०)	अस्त, प्रास्त, अभ्यस्त
अस् (होना०)	भूत
आस्	आसित, उपासित, अन्वासित, पर्युपासित
ध्वंस्	ध्वस्त, विध्वस्त, प्रध्वस्त, अपध्वस्त[2]
भास्	भासित, विभासित, उद्भासित, आभासित
वस् (ढाँपना, पहनना)	वसित
शस्	विशस्त[3], विशसित[4]
शंस्	शस्त, प्रशस्त, अभिशस्त[5]
शास् (शासु)	शिष्ट, अनुशिष्ट
श्वस्	विश्वस्त, आश्वस्त
ईह्	ईहित, समीहित
ऊह्	ऊहित, समूहित, प्रत्यूहित[6]

१ अपलषित=न चाहा हुआ।

२ अपध्वस्त=धिक्कृत।

३ विशस्त=विनीत=धृष्ट।

४ विशसित=अंग-अंग काटकर मारा हुआ।

५ अभिशस्त=दूषित।

६ प्रत्यूहित=विघ्नित।

गर्ह्	गर्हित, विगर्हित	मुह्	मुग्ध, मूढ
गुह्	गूढ, निगूढ	रह् भ्वा०, रह् चुरा०	रहित, रहित, विरहित
ग्रह्	गृहीत, प्रगृहीत[1], संगृहीत, परिगृहीत, अनुगृहीत, विगृहीत	वृह् (उखाड़ना, तुदा०)	वृढ
		सह्	सोढ, विसोढ[2]
मह्	महित	स्निह्	स्निग्ध, स्नीढ

अनिट् हलन्त धातुएँ

शक्	शक्त	वच् (ब्रू)	उक्त, अभ्युक्त, प्रोक्त[5]
	शक्त, शकित[3]		
पच्	पक्व, विपक्व		
मुच्	मुक्त, विमुक्त, आमुक्त[4], प्रमुक्त, प्रतिमुक्त	विच्	विक्त, विविक्त, प्रविविक्त
रिच्	रिक्त, अतिरिक्त, व्यतिरिक्त, विरिक्त	सिच्	सिक्त, प्रसिक्त, उत्सिक्त[6], अभिषिक्त, निषिक्त

---

१ प्रगृहीत=बद्ध।

२ सोढ (८।३।११५) से षत्व का निषेध।

३ कौनागों के मत से कर्म-वाच्य 'क्त' को शक् से परे इट् आगम होता है।

४ आमुक्त, प्रतिमुक्त का अर्थ 'बद्ध' है। प्रकोष्ठबीन प्रतिमुञ्च गुम्फम्।

५ प्रोक्त=व्याख्यात।

६ उत्सिक्त=उबल कर बाहर आ गया, गर्वित।

प्रच्छ् — पृष्ट, विपृष्ट, आपृष्ट[1], संपृष्ट, परिपृष्ट

त्यज् — त्यक्त, परित्यक्त

निज् — निक्त, निर्णिक्त

भज् — भक्त, विभक्त, आभक्त, प्रविभक्त

भुज् (खाना, रक्षा करना) — भुक्त, परिभुक्त[2]

भुज् (टेढ़ा चलना) — भुग्न, आभुग्न

भ्रस्ज् — भृष्ट

मस्ज् — मग्न, निमग्न, उन्मग्न[3]

यज् — इष्ट

युज् — युक्त, वियुक्त, विप्रयुक्त, संयुक्त, अनुयुक्त[4], पर्यनुयुक्त, आयुक्त

रञ्ज् — रक्त, विरक्त, अनुरक्त, संरक्त

रुज् — रुग्ण

सञ्ज् — सक्त, प्रसक्त, संसक्त, अनुषक्त, अभिषक्त

सृज् — सृष्ट, विसृष्ट, उत्सृष्ट, संसृष्ट, अतिसृष्ट[5]

स्वञ्ज् — स्वक्त, परिष्वक्त[6], अभिष्वक्त

---

१. आपृष्ट=आमन्त्रित, जिससे जाने आदि की अनुज्ञा माँगी गई है।

२. जो ज्येष्ठ आदि के भोजन करने से पहले खाया गया।

३. उन्मग्न=जल आदि से बाहर निकला हुआ।

४. अनुयुक्त, पर्यनुयुक्त=पूछा गया।

५. अतिसृष्ट=दिया हुआ। कामचार की अनुज्ञा दिया हुआ।

६. परिष्वक्त, अभिष्वक्त=आलिङ्गित। परिनिविभ्यः सेव-सित-सय-सिवु-सह-सुट्-स्तु-स्वञ्जाम् (८।३।७०) से षत्व हुआ।

अद्	जग्ध	विद् (तुदा०)	वित्त, विन्न
क्षुद्	क्षुण्ण	विद् (दिवा० रुधा०)	विन्न
खिद्	खिन्न	शद्	शन्न
छिद्	छिन्न, आच्छिन्न[1], उच्छिन्न[2], विच्छिन्न	सद्	सन्न, प्रसन्न, निषण्ण, आसन्न, उत्सन्न[6], विषण्ण
तुद्	तुन्न, प्रतुन्न		
नुद्	नुन्न, नुत्त, प्रणुन्न	स्यन्द्	स्यन्न, विस्यन्न, परिस्यन्न, परिष्यण्ण
पद्	पन्न, आपन्न[3], विपन्न, व्यापन्न, सम्पन्न, उत्पन्न, उपपन्न	हद्	हन्न
		क्रुध्	क्रुद्ध, अभिक्रुद्ध, प्रतिक्रुद्ध
		क्षुध्	क्षुधित
भिद्	भिन्न, प्रभिन्न[4], संभिन्न[5], उद्भिन्न, निर्भिन्न	बन्ध्	बद्ध, अनुबद्ध[7], निबद्ध[8]
		बुध् (दिवा०)	बुद्ध, प्रबुद्ध

---

१ आच्छिन्न=छीना हुआ।
२ उच्छिन्न=उत्सन्न, नष्ट। वि उद् पूर्वक—व्युच्छिन्न।
३ आपन्न=प्राप्त। आपद्ग्रस्त।
४ प्रभिन्न (द्विरद), हाथी जिसके कपोलों से मद बह रहा है।
५ संभिन्न=भिन्न, संयुक्त, संगत।
६ उत्सन्न=उच्छिन्न, नष्ट।
७ अनुबद्ध=साथ लगा हुआ, संलग्न, लगातार, जारी।
८ निबद्ध=ग्रथित, शायद आश्रित।

युध्	युद्ध, नियुद्ध, आयुद्ध	क्षिप्	क्षिप्त, प्रक्षिप्त, आक्षिप्त, उत्क्षिप्त, संक्षिप्त, विक्षिप्त
राध्	राद्ध, संराद्ध, विराद्ध, अपराद्ध	तृप्	तृप्त, वितृप्त, सन्तृप्त
रुध्	रुद्ध, अनुरुद्ध[1], विरुद्ध, उपरुद्ध, अवरुद्ध	दृप्	दृप्त
साध्	साद्ध	लिप्	लिप्त, विलिप्त[5], अनुलिप्त
सिध् (दिवा०)	सिद्ध, प्रसिद्ध, संसिद्ध, आसिद्ध[2]	लुप्	लुप्त, विलुप्त
हन्	हत, आहत, प्रहत, विहत, संहत, उद्धत[3], व्याहत[4]	वप्	उप्त
		शप्	शप्त
		सृप्	सृप्त, विसृप्त, उत्सृप्त, संसृप्त
आप्	आप्त, प्राप्त, व्याप्त, पर्याप्त	स्वप्	सुप्त, प्रसुप्त, सुषुप्त

---

१ अनुरुद्ध=अनुसृत ।

२ आसिद्ध=काल-विशेष के लिए अथवा देश-विशेष में रोका हुआ (अपराधी) ।

३ उद्धत=ऊपर उठा हुआ, उच्छृंखल ।

४ व्याहत=परस्पर-विरोधी (वचन) ।

५ विलिप्त=ईषद् लिप्त । जैसे यहाँ—अभ्रविलिप्ता द्यौः ।

रभ्: रब्ध, आरब्ध, समारब्ध, प्रारब्ध, संरब्ध[1]

लभ्: लब्ध, उपलब्ध, विप्रलब्ध[2]

गम्: गत, आगत, विगत, अवगत[3], अधिगत, उपगत[4], परिगत[5]

नम्: नत, आनत, प्रणत, परिणत[6], विपरिणत, उपनत[7]

यम्: यत, नियत, प्रयत[8], संयत, आयत, व्यायत

रम्: रत, आरत, विरत, उपरत, उपारत

क्रुश्: क्रुष्ट, आक्रुष्ट[9], उपक्रुष्ट, उत्क्रुष्ट

दंश्: दष्ट, उपदष्ट

दिश्: दिष्ट, आदिष्ट, उपदिष्ट, सन्दिष्ट, प्रदिष्ट[10], अपदिष्ट[11]

---

१ संरब्ध=कुपित ।
२ विप्रलब्ध=ठगा गया ।
३ अवगत=विदित ।
४ उपगत=प्राप्त । अनु०, रसीद ।
५ परिगत=परिवेष्टित, घिरा हुआ, व्याप्त ।
६ परिणत=परिपक्व, परिवृत्त, बदला हुआ ।
७ उपनत=प्राप्त ।
८ प्रयत=पवित्र, पूत ।
९ आक्रुष्ट, उत्क्रुष्ट=शप्त, निंदित, गर्हित ।
१० प्रदिष्ट=दिया गया ।
११ अपदिष्ट=हेतुरूप में कहा गया ।

दृश्	दृष्ट, सन्दृष्ट, उपदृष्ट	कृष्	कृष्ट, आकृष्ट, अपकृष्ट[7], उत्कृष्ट, निकृष्ट, सन्निकृष्ट[8], विप्रकृष्ट[9]
मृश्	मृष्ट, विमृष्ट, समृष्ट, आमृष्ट[1]	ख्या	आख्यात, विख्यात, प्रख्यात
रिष्	रिष्ट	तुष्	तुष्ट, सन्तुष्ट, परितुष्ट
हृष्	हृष्ट	त्विष्	त्विष्ट
श्लिष्	श्लिष्ट, विश्लिष्ट	दुष्	दुष्ट, प्रदुष्ट, विप्रदुष्ट, निर्दुष्ट
विश्	विष्ट, आविष्ट[2], प्रविष्ट, संविष्ट[3], उपविष्ट, निविष्ट[4], अभिनिविष्ट[5], प्रत्यभिनिविष्ट, निर्विष्ट[6]	द्विष्	द्विष्ट, प्रद्विष्ट, विद्विष्ट
स्पृश्	स्पृष्ट, संस्पृष्ट	पिष्	पिष्ट, संपिष्ट

---

१ आमृष्ट=छीना गया।

२ आविष्ट=व्याप्त।

३ संविष्ट=सोया हुआ।

४ निविष्ट=लगा हुआ, बसा हुआ, विवाह कर गृही बना हुआ।

५ अभिनिविष्ट, प्रत्यभिनिविष्ट=हठी, आग्रही।

६ निर्विष्ट=भुक्त, अनुभूत।

७ अपकृष्ट=जघन्य, घटिया।

८ सन्निकृष्ट=समीपवर्ती।

९ विप्रकृष्ट=दूरवर्ती।

पुष् (दिवा०)	पुष्ट, विपुष्ट, सम्पुष्ट	मिह्	मीढ, प्रमीढ
विष् (विष्लृ)	विष्ट, आविष्ट	रुह्	रूढ, आरूढ, विरूढ, अवरूढ[5], संरूढ
शुष्	शुष्क		
श्लिष्	श्लिष्ट, आश्लिष्ट, उपश्लिष्ट[1], विश्लिष्ट, संश्लिष्ट, परिश्लिष्ट	वह्	ऊढ, उदूढ[6], प्रौढ[7], पर्यूढ, व्यूढ[8], निर्व्यूढ[9]
वस्	उषित, उपोषित[2], अध्युषित, अनूषित, पर्युषित[3], प्रोषित[4], विप्रोषित		

प्रयोगमाला

१ सत्कारो नाम सत्कारेण प्रतीष्टः प्रीतिं जनयति । (स्वप्न०)

आदर आदरपूर्वक ग्रहण किया हुआ प्रेम को उत्पन्न करता है ।

---

१ उपश्लिष्ट=पास गया हुआ ।
२ उपोषित=जिसने उपवास किया है ।
३ पर्युषित=बासा ।
४ प्रोषित, विप्रोषित=विदेश गया हुआ ।
५ अवरूढ=अवतीर्ण ।
६ उदूढ=विवाहा हुआ ।
७ प्रौढ=बड़ा हुआ, चतुर ।
८ व्यूढ=विशेष क्रम से रचित ।
९ निर्व्यूढ=निभाया गया ।

२ इदं ब्राह्मणे प्राहतं सूत्रकारैरनूद्यते ।
यह ब्राह्मण (ग्रन्थ) में पढा है, सूत्रकारों ने इसका अनुवाद किया है ।

३ नृपाणां मूर्धन्यस्य ककुत्स्थस्य तनूजः काकुत्स्थ इत्याहृतलक्षणोऽभूत् ।
राजाओं में मूर्धन्य ककुत्स्थ का पुत्र काकुत्स्थ इस नाम से प्रसिद्ध हुआ ।

४ मटचीहतेषु कुरुष्वाटिक्या जाययोषस्तिर्ह चाक्रायण इभ्यग्रामे प्रद्राणक उवास । (छा० उ०१।१०।१)
ओले पड़ने से नष्ट हुए कुरुदेश में अल्पवयस्का पत्नी के साथ चक्र का गोत्रापत्य उषस्ति दुर्गत अवस्था में रहता था ।

५ अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः । (गीता ५।१५)
अज्ञान से ज्ञान ढपा हुआ है, इससे जीव बुद्धि-व्यामोह को प्राप्त होते हैं ।

६ वरिवसिता गुरवः प्रसीदन्ति प्रसादयन्ति च शेमुषीं शिष्यस्य ।
पूजा किए हुए गुरुजन प्रसन्न होते हैं और शिष्य की बुद्धि को विमल करते हैं ।

७ मदोद्धतस्य नृपतेः सङ्कीर्णस्येव दन्तिनः ।
गच्छन्त्युन्मार्गयातस्य नेतारः खलु वाच्यताम् ॥ (हितोप० ४।१७) ।
मद-जल बहाने वाले हाथी की तरह मस्ती से उद्धत हुए (अत एव) विपरीत मार्ग से चलने वाले राजा के नेता निन्दा का पात्र बनते हैं ।

८ उपहूतो बृहस्पतिरुपास्मान् बृहस्पतिर्ह्वयताम् । (अथर्व० १।१।४)
हमने बृहस्पति को अपने पास बुलाया है, बृहस्पति हमें अपने पास बुलायें ।

९ प्रस्नुतस्तनीव तिष्ठत्यर्जुनी सुकरा ।
इस सुशीला गौ के थनों से दूध टपक रहा है ।

१० अत्रार्थेऽधीतिनोऽपि मुह्यन्ति किमङ्ग प्राधीताः ।
इस विषय में (शास्त्र) पढे हुए भी मोह को प्राप्त हो जाते हैं, जिन्होंने अभी पढना प्रारम्भ किया है, वे तो बहुत अधिक ।

११ विशस्त-विशसितयोः को विशेष इति चेद्वेत्थ, नूनं शाब्दिकोऽसि ।
यदि तू विशस्त, विशसित (दोनों शस् के क्तान्त-रूप) में भेद जानता है, निश्चय ही तू वैयाकरण है ।

१२ पिहितापिहिते समानार्थके भवतः । तत्कस्मात्
पिहित, अपिहित दोनों समानार्थक शब्द हैं, यह कैसे ।

१३ विस्तृतविस्तीर्णयोः समानाभिधेययोरपि भिद्यते व्युत्पत्तिः । तां ब्रूहि यदि शक्नोषि ।
विस्तृत और विस्तीर्ण की, जो समानार्थक हैं, भिन्न भिन्न व्युत्पत्ति है । उसे कहो, यदि समर्थ हो ।

१४ फलार्थं निमिते वृक्षे यदि फलं न स्यादफलोऽपि हि स्यात् प्रयासः ।
फल की इच्छा से लगाये गये पौधे में यदि फल न आये तो प्रयत्न विफल हो जाए ।

१५ अहो बत विधातेनानेन गुरुचरणा अप्यवज्ञाताः ।
आश्चर्य है, खेद है, इस ढीठ ने गुरुजी की भी अवज्ञा की है ।

१६ स्वपितीति स्वमपीतो भवतीत्युच्यते ।
जो सोता है ऐसा कहा जाता है, वह अपने आपको प्राप्त (अपने आप में लीन) होता है, ऐसा कहा जाता है ।

१७ मन्त्रैरुपस्तुता देवता उपतिष्ठन्ते वेद्यां धिष्ण्येष्वित्याहुः ।
मन्त्रों द्वारा स्तुति से बुलाये हुए देवता वेदी पर अपने अपने स्थान पर आ जाते हैं, ऐसा कहते हैं ।

१८ यन्नवनीतमित्युच्यते तत्पयसो दध्नो वा सद्य उन्नीतं भवति ।
जो नवनीत (मक्खन) कहलाता है वह दूध या दही से ताजा निकाला हुआ होता है ।

१९ अनेन सोमोऽभिषुतः, अनेन च सुराऽऽसुता ।
इसने सोमरस निकाला, इसने सुरा निकाली ।

२० स ओतश्च प्रोतश्च विभुः प्रजासु । (वा० स० ३२।८)
यह विभु परमात्मा जीवमात्र में ताने-बाने की तरह ओत प्रोत है ।

२१ अनेन वाणिजेन विनिमितास्तण्डुला माषैः । लाभश्च महाँल्लब्धः ।
इस बनिये ने चावलों के बदले में माष दे दिए और महान् अर्थ-लाभ प्राप्त किया ।

२२ प्रत्तं प्रदत्तम् इत्युभे अपि निष्ठायां साधुनी रूपे । तत्कस्मात् ?
प्रत्त तथा प्रदत्त—ये दोनों निष्ठा में शुद्ध रूप हैं । यह कैसे ?

२३ अप्रहत एष पन्था यमाश्रिता वयम् ।
इस मार्ग पर कोई चला नहीं जिसे हमने आश्रित किया है ।

२४ अहं मौनीति व्याहतं वचः ।
मैं मौनी हूँ, यह परस्पर-विरुद्ध वचन है ।

२५ निमित्तादपराद्धेषोर्धानुष्कस्येव वल्गितम् । (माघ० २।२७)
लक्ष्य से च्युत सायक वाले धनुर्धारी की डींग के समान ।

२६ व्युष्टा रजनीति प्रस्थेयं नः । विदूरो ह्यध्वा गन्तव्यः ।
प्रभात हो गया है, हमें चलना चाहिए । हमें लम्बा सफर करना है ।

२७ केनेदं द्वारमुद्घाटितम् इदम् । पिधेहीमा ससम्भ्रमम् ।
यह दर्वाजा किसने खोला है ? इसे झटपट बन्द कर दो ।

२८. यो हि पयसा सनीतं पयो विक्रीणीत स व्यापदं व्यश्नुवीत ।
जो जल-मिश्रित दूध को बेचेगा वह आपत्ति को प्राप्त होगा ।

२९ अवधूतसङ्गो यतिरवधूत इत्युच्यत उत्तरपदलोपात् ।
सब सङ्ग (आसक्ति) त्याग देने से यति को अवधूत कहते हैं । इस शब्द में उत्तरपद 'सङ्ग' का लोप समझना चाहिए ।

३० संस्थिते महात्मनि को ध्रियते ध्रियमाणे च तस्मिन् कः संतिष्ठते ।
महात्मा के मरने पर कौन जीयेगा, उसके जीते-जी कौन मरेगा ?

३१ सम्भिन्नबुद्धिर्नास्तिको भवति । व्यामिश्रा ह्यस्य बुद्धिः पुण्यपापयोः ।
सम्भिन्नबुद्धि नास्तिक को कहते हैं, कारण कि उसकी पाप-पुण्य में मिली-जुली (व्यवस्थारहित) बुद्धि होती है ।

३२ पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि ।
मैं भगवान् पतञ्जलि को साञ्जलि-बन्ध नमस्कार करता हूँ ।

३३ यद्यपि नद्यां निस्नातोऽस्मि, तथापि विमलतोयेऽस्मिंस्तडागे सिस्नासामि ।
यद्यपि मैं नदी में खूब स्नान कर चुका हूँ, तो भी इस निर्मल तालाब में स्नान करना चाहता हूँ ।

३४ व्याकरणे निष्णातस्यास्य क्रमते बुद्धिर्ऋक्षु ।
व्याकरण में प्रवीण हुए इसकी बुद्धि ऋचाओं में अव्याहत चलती है ।

३५ निगडसन्दितचरणा इमा बन्द्यः क्व नीयन्ते ?
पैरों में बेड़ियाँ डाले हुए ये कैदी कहाँ ले जाये जा रहे हैं ?

३६. हा शीतेन लुब्ध ज्वरतोऽनावृतकलेवरो वृषलः ।
शोक है, सरदी से पीड़ित नंगा शूद्र मर गया ।

३७ अवरुद्धोऽचरत्पार्थो वर्षाणि त्रिदशानि च । (भारत)
भेस बदलकर अर्जुन तेरह वर्ष घूमता रहा ।

३८ सन्ति केचन यागा येषामुत्सन्ना विधयः, तथापि सूत्रकारैर्व्याख्यायन्ते ।
ऐसे यज्ञ हैं जिनका अनुष्ठान लुप्त हो गया है, पर सूत्रकार उनकी भी व्याख्या करते हैं ।

३९ चिरं शयितोऽसि शिशो ! सम्प्रति सजिहीष्व ।
हे बच्चे ! बहुत सोये हो, अब शय्या छोड़िये ।

४० असकृत् प्रयुक्तो ममानुजो मद्वचनं नान्वरुध्यतेत्युदास्थितं मया ।
बहुत बार प्रेरित करने पर भी मेरे छोटे भाई ने मेरा कहना नहीं माना, अतः मैं उदासीन होगया ।

४१ अशक्यमात्मानमपह्नोतुमिति सहसान्वसृप्तमपसर्पैः ।
अब अपने स्वरूप को छिपाना कठिन है, अतः गुप्तचर एकदम चले गये ।

४२ यो हि भुक्तवन्तं ब्रूयान्मा भुक्था इति, किं तेन [redacted] स्यात् । (भाष्य)
जो भोजन किए हुए पुरुष को कहे—मत खा, उसने क्या किया ?

४३ अधिविन्नेयं वराकी स्वमेव निन्दति न पतिं देवताम् ।
यह बेचारी जिसके होते हुए उसके पति ने एक और विवाह कर लिया है, अपने आपको ही कोसती है, पतिदेवता को नहीं ।

४४ स्निग्धजनसंविभक्तं हि दुःखं सह्यवेदनं भवति । (शाकुन्तल)
मित्रों में बाँटे हुए दुःख की वेदना सहने योग्य हो जाती है ।

४५ अगन्तो ब्राह्मणेन, भार्यो विवरणेन ।
शेष ब्राह्मण सन्दर्भ स्पष्ट है, व्याख्या की अपेक्षा नहीं ।

शतृ-शानच्

शतृ (अत्) और शानच् (आन) लट् के स्थान [redacted] आदेश विधान किए हैं । लट् के स्थान में होने [redacted] धातु-वाच्य क्रिया की वर्तमानकालिकता का कहना है । [redacted] परस्मैपद (१।४।९९) से संज्ञा होने से शतृ परस्मैपद प्रत्यय

है और तङानावात्मनेपदम् (१।४।१००) से शानच् आत्मनेपद प्रत्यय है। अत परस्मैपदी धातुओं से शतृ तथा आत्मनेपदी धातुओं से शानच् प्रत्यय का प्रयोग होता है। धातोः (३।१।६१) इस अधिकार मे विहित तिङ्भिन्न प्रत्यय लट् के आदेश रूप मे होने से शतृ, शानच् 'कृत्' प्रत्यय हैं और कर्तृवाचक हैं। ये दोनों शित् होने से सार्वधातुक हैं, अत इनके परे रहते धातु से शप् आदि विकरण आते हैं। अपित् सार्वधातुक होने से ङिन्वत् होकर ये गुण के बाधक है। हाँ, शब्विकरणक (जिनका शप् विकरण है) धातुओं को शप्-निमित्तक गुण होता है। इस शास्त्र मे इनकी 'सत्' संज्ञा भी की है।[1] इनका वाक्य मे प्रयोग (प्राय) अप्रथमान्त (द्वितीयादि-विभक्त्यन्त) पद के साथ समानाधिकरणता मे ही आता है, ऐसा सूत्रकार का मत है।[2] 'अप्रथमा' यह पर्युदास है, प्रसज्यप्रतिषेध नही। कहीं-कहीं शिष्ट प्रयोगो मे इस नियम का व्यभिचार देखा जाता है। इसके लिए कुछ वृत्तिकार नन्वोर्वि-भाषा (३।२।१२१) से विभाषा की अनुवृत्ति यहाँ लाते हैं और उसे व्यवस्थित विभाषा मानते हैं। पूर्वसूत्र वर्तमाने लट् (३।२।१२३) से लट् की अनुवृत्ति आने पर भी जो इस सूत्र 'लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे' (३।२।१२४) मे पुन लट् ग्रहण किया है वह अधिक विधान के लिये है, जिससे कहीं-कहीं प्रथमान्त के साथ समानाधिकरणता मे भी ये प्रयुक्त होते हैं ऐसा काशिकाकार और भट्टोजिदीक्षित मानते हैं—पचन्त देवदत्त पश्य। पचमान देवदत्त पश्य। सन् ब्राह्मण। अस्ति ब्राह्मण। विद्यते ब्राह्मण। यो वै युवाप्यधीयान-स्त देवा स्थविर विदु (मनु० २।१५६)। प्राचीं दिश निषेवन्त सदा देवा सदानवा (वामन पु० ४२।२२)। निषेवन्त =निषेवमाणा =निषेवन्ते।

माङ् उपपद होने पर आक्रोश (निन्दा, धिक्कार) के गम्यमान होने पर लट् के स्थान मे शतृ, शानच् प्रयुक्त होते हैं[3]—मा जीवन्य परावज्ञादु सदग्धोऽपि जीवति (माघ० २।४५)। मा जीवन्=कुत्सित आक्रुष्ट सन् जीवति, मा जीवतु इत्यर्थ। वाक्यार्थ=धिक् जीवन है उसका जो परतिरस्कार के

---

१ तौ सत् (३।२।१२७)।

२ लटः शतृ-शानचाव्-अप्रथमा-समानाधिकरणे (३।२।१२४) इस सूत्र मे आचार्य का मत शब्दोक्त है।

३ माङ्याक्रोशे इति वाच्यम् (वा०)।

दुःख से दग्ध हुआ भी जीता है। वर्तमान अर्थ में भी विहित प्रत्यय आक्रोश के कारण यहाँ तात्पर्य में विध्यर्थक हो जाता है।

क्रिया के लक्षण (चिह्न=परिचायक) तथा हेतु (=कारण, फल) अर्थ में वर्तमान धातु से लट् के स्थान में शतृ, शानच् प्रत्यय प्रयुक्त होते हैं[1]—लक्षण—शयाना भुञ्जते यवनाः, यवन लोग लेटे-लेटे खाते हैं, अर्थात् लेटना उनकी भोजन क्रिया का चिह्न, परिचायक है। हेतु—अर्थात् अर्जयन् वसति देहल्याम्, धन कमाने के लिए देहली में रहता है। अधीयानो वसति काश्याम्, पढ़ने के हेतु काशी में रहता है। शयानो वर्धते शिशुः, सोने से (सोने के कारण) बच्चा बढ़ता है। पठन् द्विजो वागृषभत्वमीयात् (रा० १।१।१००) रामायण पढ़ने से वाक्पति बन जाता है। ईशाना वार्याणां क्षयन्तीश्चर्षणी-नाम् (अथर्व० १।५।४)। ईशाना=ईशन इति हेतौ।

क्रिया के लक्षण को कहने वाली धातु से शतृ, शानच् कहे हैं, न कि द्रव्य और गुण के भी, अतः यः कम्पते सोऽश्वत्थः, जो हिल रहा है वह पीपल है, यहाँ कम्पन द्रव्य अश्वत्थ का लक्षण है, अतः शानच् नहीं हुआ। यदुत्प्लवते तल्लघु। यन्निषीदति तद् गुरु। जो ऊपर तैरता है वह लघु (हल्का) है, जो नीचे बैठता है वह गुरु (भारी) है। यहाँ ऊपर तैरना तथा नीचे बैठना गुण का लक्षण है अतः 'प्लु' से शानच् तथा 'निषद्' से शतृ नहीं हुआ।

हन्तीति पलायते। वर्षतीति धावति। पठतीत्यभते। यहाँ हेतु के 'इति', 'अत' शब्द से उक्त हो जाने से शतृ-शानच् की प्राप्ति नहीं।

पूङ् तथा यज् से वर्तमानकालता में शानन् (आन) प्रत्यय आता है[2]—सोम पवमान। यजमान।

ताच्छील्य (तत्स्वभावता), वय तथा शक्ति द्योत्य होने पर धातुमात्र से चानश् (आन) प्रत्यय है[3]—कतीह मुण्डयमानाः। कतीह कवचं बिभ्राणाः। कतीह कपाटं निघ्नानाः, यहाँ कितने आक्रमणशील हैं, यहाँ कितने कवच धारण कर रहे हैं, अर्थात् कितने कवच धारण करने योग्य वय वाले हैं। यहाँ

---

१ लक्षणहेत्वोः क्रियायाः (३।२।१२६)।

२ पूङ्यजोः शानन् (३।२।१२८)।

३ ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु चानश् (३।२।१२९)।

जिसने किवाड़ को तोड़ रहे हैं अर्थात् तोड़ने की शक्ति वाले हैं। शानन् आदि प्रत्यय लट् के आदेश नहीं हैं। ये स्वतन्त्र प्रत्यय हैं। 'सोम पवमान' आदि में जो कृद्योगलक्षणा षष्ठी का निषेध हुआ है, वह लादेश होने से नहीं, किन्तहि सूत्र में तृन् ग्रहण करने से है। तृन् प्रत्याहार है जो शतृ के 'तृ' से लेकर तृन् के 'न्' तक के प्रत्ययों का ग्राहक है। शानन् आदि के लादेश न होने से षष्ठी-निषेध प्राप्त ही न था।

इङ् तथा ण्यन्त धारि धातु से वर्तमानकाल में शतृ प्रत्यय होता है जब धातुवाच्य क्रिया को कर्ता आसानी से करता है[1]—अधीयन्पारायणम्, पारायण का आसानी से पाठ करता है। यह शतृ प्रत्यय लादेश नहीं है, अतः आत्मनेपदी इङ् से हो सका। धारयन् मस्करिव्रतम्, सन्यासी के व्रत को अनायास धारण कर रहा है। सान्दीपनेरधीयन्यो धारयन्नखिला कला। अबोधयत्कुचेलादीन स विद्यामावबोऽवतात ॥ सान्दीपनि आचार्य से जो सहज में ही पढ़ रहा है ।

द्विष् से शतृ प्रत्यय आता है जब प्रकृति-प्रत्यय-समुदाय का अर्थ 'शत्रु' हो[2]—द्विषत्। यियक्षमाणेनाहूत पार्थेनाथ द्विषन्मुरम्। अभिचैद्य प्रतिष्ठासुरासीद् कार्यद्वयाकुल ॥ (माघ० २।१) मुर द्विषन्=मुरशत्रु। यियक्षमाण=यष्टुमिच्छन्=यज्ञ करना चाहता हुआ।

यज्ञ-सम्बन्धी अभिषव को कहने वाली सुञ् धातु से यजमान के अर्थ में शतृ प्रत्यय होता है[3]—सर्वे सुन्वन्त, सब सोमरस निष्पादन करने वाले यजमान।

अर्ह् धातु से प्रशंसा गम्यमान होने पर शतृ आता है[4]—अर्हन्निह भवान् विद्याम्। आप विद्याप्राप्ति के योग्य हैं। त्वमर्हता प्राग्रहर स्मृतोसि न (शाकुन्तल ५।१५)। अर्हत=आदरार्ह, पूज्य, सभाजित।

विद् (जानना) से शतृ प्रत्यय को वसु (वस्) आदेश विकल्प से होता

१ इङ्-धार्योरकृच्छ्रिणि (३।२।१३०)।
२ द्विषोऽमित्रे (३।२।१३१)।
३ सुञो यज्ञसंयोगे (३।२।१३२)।
४ अर्हः प्रशंसायाम् (३।२।१३३)।

है[1]—विदत् । विद्वस् । प्र० एक० विद्वान् । बहु विदन्नपि नाहं वेद्मीति भावयेत् । परमार्थं विद्वांसो मुनयः सद्य एव मुच्यन्ते । परम तत्त्व को जानने वाले एकदम मुक्त हो जाते हैं ।

लृट् के स्थान में भी विकल्प से शतृ शानच् होते हैं[2]—करिष्यन्त करिष्यमाणं पश्य, जो करेगा उसे देख । मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्य उद्यास्यन्वा अरेऽहमस्मात्स्थानादस्मि (बृ० उ० २।४।१) । वक्ष्यमाणो ह वै भगवन्तोऽहमस्मि (छा० उ० ५।११।२) ।

रूप-रचना

धातु से शतृ(अत्)तथा शानच् (मान) प्रत्यय आने पर अंग को वही कार्य होता है जो लट् लकार में, कारण कि यहाँ भी प्रत्ययों के शतृ शानच् सार्वधातुक होने से शप् आदि विकरण होते हैं । यहाँ हम बोध के सौकर्य तथा पर्याप्ति के लिये लडन्त रूपों के साथ साधारण कार्यविशेषों को दर्शाते हैं ।

गुणाभाव

जागृ—जाग्रति (लट्) । जाग्रत् (शतृ) । यण् । हु—जुह्वति (लट्) । जुह्वत् (शतृ) । यण् । इ—यन्ति (लट्) । यत् (शतृ) । यण् । श्रु—शृण्वन्ति (लट्) । शृण्वत् (शतृ) । यण् । सु—सुन्वन्ति (लट्) । सुन्वत् (शतृ) । यण् । सु—शानच्=सुन्वान । ह्नु—ह्नुवते (लट्) । ह्नुवत् । शतृ । ह्नुवान (शानच्) । यण् । स्तु—स्तुवते (लट्) । स्तुवत् (शतृ) । स्तुवान (शानच्) । उवङ् । धू—धुवन्ति (लट्) । धुवत् (शतृ) । धुवान (शानच्) । उवङ् । आप्—आप्नुवन्ति (लट्) । आप्नुवत् (शतृ) । साध्—साध्नुवन्ति (लट्) । साध्नुवत् (शतृ) । उवङ् । अधि इङ्—अधीयते (लट्) । अधीयान (शानच्) । इयङ् ।

गुण

मिद्—मेदन्ति (लट्) । मेदत् (शतृ) । शीङ्—शेरते (लट्) । शयान (शानच्) ।

वृद्धि

मृज्—मृजन्ति, मार्जन्ति (लट्) । मृजत्, मार्जत् (शतृ) ।

---

१ विदेः शतुर्वसुः (७।१।३६) ।

२ लृटः सद्वा (३।३।१४) ।

धात्वादेश

पा—पिबति (लट्)। पिबत् (शतृ)। घ्रा—जिघ्रति (लट्)। जिघ्रत् (शतृ)। ध्मा—धमति (लट्)। धमत् (शतृ)। स्था—तिष्ठति (लट्)। तिष्ठत् (शतृ)। म्ना—मनति, आमनति (लट्)। मनत्, आमनत् (शतृ)। दाण्—यच्छति, प्रतियच्छति (लट्)। यच्छत्, प्रतियच्छत् (शतृ)। दृश्—पश्यति (लट्)। पश्यत् (शतृ)। ऋ—ऋच्छति (लट्)। ऋच्छत् (शतृ)। सृ—धावति (लट्)। धावत् (शतृ)। शद्—शीयते (लट्)। शीयमान (शानच्)[1]। इष्—इच्छति (लट्)। इच्छत् (शतृ)। गम्—गच्छति (लट्)। गच्छत् (शतृ)[2]। ज्ञा—जानाति (लट्)। जानत् (शतृ)। जानान (शानच्)। जन्—जायते (लट्)। जायमान (शानच्)।[3]

उपधा-कार्य

उपधा 'अ' का लोप[4]—घ्नन्ति। (हन् लट् प्र० पु० बहु०)। घ्नत् (शतृ)। 'अ' का लोप होने पर ह् और न् का आनन्तर्य हो जाने से ह् को कुत्व, घ्।[5]

उपधा-न् का लोप[6]—दंश्—दशति (लट्)। दशत् (शतृ)। सञ्ज्—सजति (लट्)। सजत् (शतृ)। व्यतिषजति। व्यतिषजत्। स्वञ्ज्—स्वजते (लट्)। स्वजमान (शानच्)। परिष्वजते। परिष्वजमान। बन्ध्—बध्नाति (लट्)। बध्नत् (शतृ)। उपधा—दीर्घ[7]—शम्—शाम्यति (लट्)। शाम्यत् (शतृ)। श्रम्—श्राम्यति (लट्)। श्राम्यत् (शतृ)। तम्—ताम्यति (लट्)। ताम्यत् (शतृ)। दम्—दाम्यति (लट्)। दाम्यत् (शतृ)। भ्रम्—भ्राम्यति (लट्)। भ्राम्यत् (शतृ)। क्षम्—क्षाम्यति (लट्)। क्षाम्यत् (शतृ)। क्लम्—क्लाम्यति (लट्)। क्लाम्यत् (शतृ)। मद्—माद्यति (लट्)। माद्यत्

---

१ पा-घ्रा-ध्मा-स्था-म्ना-दाण्-दृश्यर्ति-सर्ति-शद-सदां पिब-जिघ्र-धम-तिष्ठ-मन-यच्छ-पश्यर्च्छ-धौ-शीय-सीदाः (७।३।७८)।

२ इषुगमियमां छः (७।३।७७)।

३ ज्ञाजनोर्जा (७।३।७९)।

४ गम-हन-जन-खन-घसां लोपः क्ङित्यनङि (६।४।९८)।

५ होहन्तेर्ञ्णिन्नेषु (७।३।५४)।

६ अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति (६।४।२४)।

७ शमामष्टानां दीर्घः श्यनि (७।३।७४)।

(शतृ)। क्रम्—क्रामति। क्राम्यति। (लट्)। क्रामत्। क्राम्यत् (शतृ)[1]। ष्ठिव्—ष्ठीव्यति। ष्ठीवति (लट्)। ष्ठीव्यत। ष्ठीवत्। (शतृ)। क्लम्—क्लामति। क्लाम्यति। (लट्)। क्लामत्। क्लाम्यत् (शतृ)। आङ् चम्—आचामति (लट्)। आचामत् (शतृ)[2]। आङ् न होगा तो उपधा-दीर्घ नहीं होगा—चमति। विचमति। चमत। विचमत्।

आ-लोप

श्ना प्रत्यय तथा अभ्यस्त धातु (जिसे द्विर्वचन हुआ है) के 'आ' का लोप[3]—जानते (वे जानते हैं) (लट्)। जानत् (शतृ)। जानान (शानच्)। दा—ददति। ददते (लट्)। ददत् (शतृ)। ददान (शानच्)। हा—जहति (लट्)। जहत् (शतृ)। हाङ् (जाना)—जिहते (लट्)। जिहान (शानच्)।

ह्रस्व

पू—पुनाति—पुनीते (लट्)। पुनत् (शतृ)। पुनान (शानच्)। लू—लुनाति—लुनीते (लट्)। लुनत् (शतृ)। लुनान (शानच्)। धूञ्—धुनाति (लट्)। धुनत (शतृ)। धुनान (शानच्)। शॄ—शृणाति (लट्)। शृणत (शतृ)[4]।

नुम्

मुच्—मुञ्चति—मुञ्चते (लट्)। मुञ्चत् (शतृ)। मुञ्चमान (शानच्)। लिप्—लिम्पति—लिम्पते (लट्)। लिम्पत् (शतृ)। लिम्पमान (शानच्)। लुप्—लुम्पति—लुम्पते (लट्)। लुम्पत् (शतृ)। लुम्पमान (शानच्)। विद् (प्राप्त करना)—विन्दति—विन्दते (लट्)। विन्दत् (शतृ)। विन्दमान (शानच्)। सिच्—सिञ्चति—सिञ्चते (लट्)। सिञ्चत् (शतृ)। सिञ्चमान (शानच्)। कृत्—कृन्तति (लट्)। कृन्तत् (शतृ)। पिश्—पिंशति (लट्)। पिंशत् (शतृ)।[5]

---

१ क्रमः परस्मैपदेषु (७।३।७६)।

२ ष्ठिवु-क्लमु-चमां शिति। आङि चमेरिति वक्तव्यम्।

३ श्नाऽभ्यस्तयोरातः (६।४।११२)।

४ प्वादीनां ह्रस्वः (७।३।८०)। क्र्यादिगण के अन्तर्गत पू आदि धातुओं का गण है।

५ शे मुचादीनाम् (७।१।५९)। 'श' विकरण परे रहते मुच् आदि धातुओं को नुम् आगम होता है। मित् होने से यह आगम अन्त्य अच् से परे होता है, जैसा कि उदाहरणों से स्पष्ट है।

सम्प्रसारण

प्रच्छ—पृच्छति (लट्) । पृच्छन् (शतृ) । ग्रह्—गृह्णाति—गृह्णीते (लट्) । गृह्णन् (शतृ) । गृह्णान (शानच्) । व्यध्—विध्यति (लट्) । विध्यत् (शतृ) । व्यच्—विचति (लट्) । विचत (शतृ) । व्रश्च्—वृश्चति (लट्) । वृश्चत् (शतृ) । ज्या—जिनाति (लट्) । जिनत् (शतृ) ।[1]

अदन्त अंग को मुक् (म्) आगम होता है 'आन' परे होने पर जैसा कि ऊपर दिए उदाहरणों में हुआ है। अरम्पराप्राप्त कुछेक शानजन्त प्रयोगों में मुक् नहीं भी होता, उसमें आगमशास्त्र अनित्य होता है, यही समाधि है—तत प्रविशति कामयानावस्थो राजा (शाकुन्तल) । नृपक्षिश्वापदगणास्त्रासयाना मुहुर्मृताः (हरिव० २।१३।१३) । अवेक्षयाणो नष्टस्य देश काल च तत्त्वत (मनु० ८।३२) । एकाकी चिन्तयानो हि पर श्रेयोऽधिगच्छति (मनु० (४।२५८) । (नारद) कण्डूयमान सतत लोकानटति चञ्चल । घट्टयानो नरेन्द्राणां तन्त्रीर्वैराणि चैव ह (हरि० ३२१०) । कण्डूयमान = परितुष्यन् । साहित्य में प्राय णिङन्त तथा ण्यन्त धातुओं के विषय में ही मुक् आगम की अनित्यता देखी गई है । हाँ, किंपचान (= कृपण) में भ्वादि पच् से भी मुक् आगम नहीं हुआ ।

ताच्छीलिक कृत्-प्रत्यय

तृतीयाध्याय द्वितीय पाद के एकसौ पैंतीसवें सूत्र से क्विप्-विधि (३।२। १७५) को अभिव्याप्त करके ताच्छीलिक प्रत्ययों का अधिकार है ।[2] जिन्हें हम ताच्छीलिक नाम देते हैं वे न केवल धात्वर्थ के कर्ता के तच्छील (स्वभाव से, फल की अपेक्षा न करके क्रिया को करने वाला) होने पर धातु से आते हैं, तद्धर्मा (क्रिया को अपना शील न होने पर भी कुलाचार ऐसा मानकर करने वाला) और तत्साधुकारी (शील और आचार न होने पर भी प्रशस्त ढंग से करने वाला) होने पर भी आते हैं ।

---

१ ग्रहि-ज्या (६।१।१६) से सम्प्रसारण होता है । अपित् सार्वधातुक ङित्वत् होता है अत श्यन्, श, श्ना प्रत्ययों से पूर्व ग्रह् आदि धातुओं को सम्प्रसारण (यण् के स्थान में क्रम से इ, उ, ऋ, लृ आदेश) होता है ।

२ आ क्वेस् तच्छील-तद्धर्म-तत्साधुकारिषु (३।२।१३४) ।

तृन्—ताच्छील्य आदि में धातुमात्र से तृन्[1]। तृन् और तृच् में स्वर का ही भेद है। रूप दोनों से एक समान बनते हैं। कर्ता के तच्छील होने पर—वदिता जनापवादान्, जो स्वभाव से लोक-निन्दक है। अविता कृष्ण, कृष्ण रक्षक है, रक्षा करना उसका स्वभाव है। उद्भावयिता अणून् मद, न्यग्भावयिता च शत्रून्, अपनों को उन्नत करने वाला, शत्रुओं को नीचे करने वाला हो, अर्थात् स्वभाव से जिसकी ऐसी प्रवृत्ति है। कर्ता के तद्धर्मा (=सदाचार) होने पर—राघवा पञ्च चूडा कर्तारो भवन्ति, रघुकुल के राजकुमार पाँच चोटियाँ रखते हैं, यह उनका कुलाचार है। मुण्डयितार आविष्ठायना भवन्ति वधूमूढाम्, आविष्ठगोत्रज लोग नव विवाहिता का सिर मूँडते हैं यह उनके कुल की रीति है। अन्नमपहर्तार आह्वरका भवन्ति श्राद्धे सिद्धे, जब श्राद्धार्थ भोजन तैयार हो जाता है तब 'आह्वर' देश के लोग उसे उठा ले जाते हैं, यह उनका कुलाचार है। उन्नेतारस्तौल्वलायना भवन्ति पुत्रे जाते, तौल्वलि के युवापत्यों का यह कुलधर्म है कि वे उत्पन्न हुए पुत्र को माता से जुदा कर देते हैं। कर्ता के तत्साधुकारी होने पर—कर्ता कटान्, चटाइयों को अच्छी तरह से अर्थात् चातुर्य से बनाने वाला। गन्ता खेटम्, जो चतुराई से शिकार खेलता है। तृन्न त के साथ योग होने से कृद्योग लक्षणा षष्ठी का निषेध होकर 'जनापवाद' आदि में द्वितीया हुई।

ताच्छील्य आदि अर्थ न होने पर भी ऋत्विक्-विशेषों के नामों की निष्पत्ति तृन् प्रत्यय से होती है, जब धातु से पूर्व उपसर्ग न हो[2]—हु—तृन्—होतृ। पूङ्—पोतृ। यहाँ इट् नहीं होता। उपसर्ग होने पर तो तृच् ही होगा—उद्गातृ (सामग)। प्रतिहर्तृ (उद्गाता का सहायक)। नी—से तृन्—नेष्टृ। यहाँ धातु को षुक् (ष्) का आगम भी होता है।[3] नेष्टृ एक सोमयाग-सम्बन्धी ऋत्विक् को कहते हैं जो यजमान की धर्मपत्नी को आगे चलाता है और सुरा तैयार करता है। त्विष् धातु से तृन्, जब प्रत्ययान्त देवता की संज्ञा हो। तृन् परे रहते धातु की उपधा को 'अ' भी होता है[4]—त्वष्टृ।

---

१ तृन् (३।२।१३५)।

२ तृन्विधावृत्विक्षु चानुपसर्गस्य (वा०)।

३ नयते षुक् च (वा०)।

४ त्विषेर्देवतायामकारश्चोपधाया अनिट्त्वं च (वा०)।

क्षद् (जो सौत्र धातु है) से तृन्, जब सारथि अर्थ हो।[1] धातु से इट् नहीं आता है—क्षत्तृ। प्र० ए० क्षत्ता। नियन्ता प्राजिता यन्ता सूत क्षत्ता च सारथि (अमर)।

इष्णुच्—अलङ्‌पूर्वक कृ, निरापूर्वक कृ, प्रजन्, उत्पच्, उत्पत्, उन्मद्, रुच्, अप-त्रप्, वृत्, वृध्, सह्, चर्—इनसे तच्छीलादि कर्ता में इष्णुच् (इष्णु) प्रत्यय होता है।[2] यहाँ तीन धातुएँ उत्पूर्व पढ़ी हैं, यह इसलिए कि उपसर्गान्तरयोग में इनसे इष्णुच् नहीं होगा। 'समुत्पतिष्णु' इत्यादि प्रयोग नहीं बनेंगे। अलङ्करिष्णु, अलङ्करणशील। निराकरिष्णु, निराकरण=प्रत्याख्यान स्वभाव वाला। निराकृ के समानार्थक पराकृ से इष्णुच् न होगा। प्रजनिष्णु—प्रसवशील। उत्पचिष्णु। उत्पतिष्णु। पक्षिणो बाला अप्युत्पतिष्णवो भवन्ति। सल्लघु तदुत्पतिष्णु, जो हल्का होता है वह ऊपर को उठता है। अर्थवन्तोऽर्थोन्मदिष्णवो भवन्ति, धनी लोग धन की गर्मी से उन्मत्त हो जाते हैं। रात्रौ रोचिष्णवो ग्रहा: कियन्ति कमनीयानि भवन्ति, रात को चमकने वाले तारे कितने सुन्दर लगते हैं। अपत्रपिष्णु=लज्जाशील। यहाँ भी 'अप' के बिना केवल त्रप् से इष्णुच् नहीं होगा। अपत्रपिष्णवो भवन्ति कुलयोषित.। वृत्—वर्तिष्णु। वृध्—वर्धिष्णु=वर्धनशील। स्वाध्यायपराणि कुलानि वर्धिष्णूनि भवन्ति, वेदपाठ-परायण कुल बढा करते हैं। सह्—सहिष्णु सहनशील। असहिष्णुरियं ते तनू: सूर्यातपम्, यह तेरा शरीर धूप को सह नहीं सकता। चर्—चरिष्णु, गतिशील, जङ्गम। इह जगत्यां सर्वं चरिष्ण्विति तत्त्वम्।

क्स्नु—ग्लै, जि, स्था—इनसे तथा भू से तच्छीलादि कर्ता के वाच्य होने पर 'क्स्नु' प्रत्यय आता है।[3] यहाँ 'क्स्नु' वस्तुत गित् प्रत्यय है, ग को चर्त्व हुआ है। अत 'स्था' को ईकार अन्तादेश नहीं होता। 'क्ङिति च' सूत्र में गकार का भी चर्त्व होने से निर्देश माना जाता है। अत यहाँ जि को गुण नहीं होगा—ग्लास्नु=क्षयशील। ग्लान, ग्लास्नु—इन्हें रोग से क्षीण अर्थ में अमर पढता है। जि—जिष्णु। अर्जुनो जयनशील इति जिष्णुरित्युच्यते।

---

१ क्षदेश्च नियुक्ते (वा०)।

२ अलङ्कृञ्-निराकृञ्-प्रजनोत्पचोत्पतोन्मद-रुच्य्-अपत्रप-वृतु-वृधु-सह-चर इष्णुच् (३।२।१३६)।

३ ग्ला-जि-स्थश्च क्स्नु (३।२।१३९)।

स्था—स्थास्नु, स्थितिशील। स्थास्नु यश, स्थायी यश। भू—भूष्णु, होनहार। भूष्णु वै सत्यम् (शतपथ)। 'भू' से इष्णुच् वेद मे ही आता है (भुवश्च ३।२।१३८)। अत भविष्णु, प्रभविष्णु लोक मे साधु नही हैं।

क्नु—त्रस्, गृध, धृष, क्षिप्—से क्नु[1]। त्रस्नु, कातर, डरपोक। त्रस्नुरिति नाय क्षत्रिय, डरपोक है, इसलिए यह क्षत्रिय नही हो सकता। स्वार्थे निरपेक्ष परार्थे गृध्नु कथ स्यात्, जो अपनी वस्तु के प्रति निरपेक्ष है वह दूसरे के धन का लालची क्योकर हो सकता है। धृष्णुरय जनो मान्यानपि न मानयति। मूढो हि सग्राह्यस्याप्यर्थस्य क्षिप्नुर्भवति।[2]

घिनुण्—शम् आदि आठ दिवादिगणी धातुओं से घिनुण् (इन्) होता है।[3] घकार अगले सूत्रो मे कुत्व के लिए है। ण् वृद्धि के लिए है। शाम्यतीत्येवशील शमी। तम्—तमिन्। दम्—दमिन्। दमनशीलो दमी। श्रम्—श्रमिन्। सामश्रमी=सामवेद मे श्रम करने वाला। भ्रम्—भ्रमिन्। क्लम्—क्लमिन्। क्लाम्त क्लमी। इन सब म प्रत्यय के णित् होने पर भी वृद्धि नही हुई, कारण ये सब उदात्तोपदेश मान्त धातुएँ हैं।[4] प्रमद्—प्रमादिन्। स्वार्थाद् हीयते प्रमादी। अति प्रहर्षेणाप्युन्मादी भवति मनुष्य। यहाँ प्रत्यय के णित् होने से उपधा-वृद्धि हुई। उत्पूर्वक मद् (उन्मद्) से इत्वुच् का विधान विशेषविधि है। यहाँ शमादि गण मे होने से सोपसर्ग अथवा निरपसर्ग मद् से घिनुण् का विधान हुआ है। यह सामान्य विधि है। ताच्छीलिक प्रत्ययो मे असरूप अपवाद उत्सर्ग को विकल्प से बाधे, ऐसा नही होता। सो यहाँ 'उन्मादिन्' नही होना चाहिए। इसका उत्तर यही है कि ताच्छीलिक प्रत्ययो मे असरूप अपवाद प्रत्यय उत्सर्ग को नित्य बाधता है, यह वचन भी प्रायिक है, कही-कही नही भी बाधता।

सम्पूर्वक पृच् मिलाना, रुधा०, अनुपूर्वक रुध् घेरना, रोकना, रुधादि, आङ्पूर्वक यम्, आङ्पूर्वक यस्, यत्न करना, परि-सृ, सृज्, परिपूर्वक देवृ (देव्) भ्वा० आ०, सज्वर्, परिक्षिप्, परिरट्, परिवद् (निन्दा करना)

१ त्रसि गृधि धृषि-क्षिपे क्नु (३।२।१४०)।
२ क्षुम्नादिषु च (८।४।३९) से णत्व निषेध।
३ शमित्यष्टाभ्यो घिनुण् (३।२।१४१)।
४ नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्यानाचमे (७।३।३४)।

परिदह्, परिमुह्, दुष्, द्विष्, द्रुह्, दुह्, युज्, आङ्पूर्वक क्रीड्, विविच् (विपूर्वक विच्, रुधा०), त्यज्, रज् (=रञ्ज्), भज्, अतिपूर्वक चर्, अप-पूर्वक चर्, आङ्पूर्वक मुष् तथा अभिआङ्पूर्वक हन् से[1]—सम्पृणक्तीत्येवं-शील सम्पर्की। प्रत्यय के घित् होने से कुत्व हुआ।[2]अनुरुणद्धीत्येवंशील = अनुरोधी, अनुसरण-शील। आयन्तु शीलमस्येति आयामी। विशेषेणायन्तु शीलमस्येति व्यायामी। व्यायामी पथ्याशी स्त्रीषु जितात्मा नरो न रोगी स्यात् (आयुर्वेद)। आङ्यम्—आयासिन्। आयसितुं शीलमस्य इत्यायासी। परिसृ—परिसारिन्। परिसारिणः परीवादा भवन्ति। संसृज्—संसर्गिन्। कंवहयमिच्छन्त संसर्गिणो न भवन्ति यतयः। परिदेव्—प्रायेण गर्धना परिदेविनो भवन्ति, प्रायः लालची लोग जुआ खेला करते हैं। आये च व्यये च सम सञ्ज्वारिणोऽर्थाः, क्या आय और क्या व्यय में संसार के पदार्थ एकसमान सन्तापकारी होते हैं। परि-क्षिप्, घेरना—परिक्षेपिन्। प्रतानिन्य परिक्षेपिण्यो भवन्ति, बेलों का स्वभाव है कि ये घेरती हैं। परिरट्—किमपि कटु परिराटिनो भवन्ति करटाः। करट= कौआ। परिवद्—सा (वीणा) तु तन्त्रीभिः सप्तभिः परिवादिनी (अमर)। परि-वादिनी=सितार। शब्दशक्ति स्वाभाव्य से यहां परिपूर्वक वद् का निन्दा अर्थ कुछ भी नहीं। असूयन् परिवादिन् खरयोनिं प्रपद्यन्त इति स्मृतिः, (गुरु की) निन्दा करने वाले गधे की योनि को प्राप्त होते हैं ऐसा स्मृति कहती है। परिदह्—अतीव परिदाही भवति विशेषेण निदाघे। परिमुह्—आकस्मिकेन दुःखोपनि-पातेन परिमोही भवति। अचानक दुःख के आने से मनुष्य बेसुध हो जाता है। अनुरुध् आदि अचवर्गान्त जो धातुएँ पढ़ी हैं उनके पाठ से ज्ञापित होता है कि सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये (३।२।७८) सूत्र में सुप् उपसर्ग-भिन्न लिया जाता है, अन्यथा णिनि से ही रूप-सिद्धि हो जाने पर इनका यहां पाठ व्यर्थ हो जाता है, ऐसा काशिकाकार मानते हैं। दुष्—दोषिन्। द्विष्—द्वेषिन्। द्रुह्—द्रोहिन्। दुह्—दोहिन्। दोही=दोग्धा=गोप। आङ्क्रीड्—आक्रीडिनो भवन्ति बाला। वि-विच्—विवेकिन्। कुत्व। सर्वं दुःखं विवेकिनः (योग-भाष्य)। त्यज्—त्यागिन्। त्यागिनः न कदर्थयन्ति विषया अपयन्त। विषय

---

१ सम्पृचानुरुधाङ्यमाङ्यसपरिसृसंसृजपरिदेविसञ्ज्वरपरिक्षिप-परिरटपरिवदपरिदहपरिमुहदुषद्विषद्रुहदुहयुजाक्रीडविविच-त्यजरजभजातिचरापचरामुषाभ्याहनश्च (३।२।१४२)।

जाते हुए अर्थात् जुदा होते हुए त्यागशील पुरुष को पीडित नहीं करते। युज—योगिन्। प्रत्यय के घित् होने से कुत्व। इसमें उपपद न होने से णिनि से सिद्धि दुर्लभ थी, अतः घिनुण् विधान किया। रञ्ज्—रागिन्। यहाँ धातु के 'न्' का लोप करके सूत्र में पाठ किया है, अतः घिनुण् प्रत्यय परे रहते भी 'न्' का लोप रहता है। द्विविधा हि मनुष्या भवन्ति रागिणो विरागाश्च। विरागास्तु विरला। भज्—भागिन्। कुत्व। अतिचर—अतिचरणम् अतिक्रम्य चरणं तच्छीला अतिचारिणः। अप-चर्—अपचरणम् अपकृष्टं चरणं तच्छीला अपचारिणः। अपचारोऽपराधो दोषः। आङ् मुष्—आमोषिन्। अभिआङ् हन्—अभ्याघातिन्। चारों ओर से प्रहार करने के स्वभाव वाला। अभिघातिन् यह शत्रु-अर्थ में कोष में पढ़ा है। हमारा विचार है कि 'अभ्याघातिन्' का भी यही अर्थ है।

'वि' उपपद होने पर कष्, लष्, कत्थ्, स्रम्भ् से[1]—विकाषिन्। विकषति हिनस्ति इत्येवंशीलो विकाषी। विलष—विलासिन्। विलसनशीलो विलासी। हरिरिह मुग्धवधूनिकरे विलासिनि विलसति केलिपरे (गीत०)। वि- कत्थ—विकत्थिन्, आत्मश्लाघी। स्वगुणेषु वाच्यमा यथा लोकस्य प्रिया भवति न तथा विकत्थिनः। विस्रम्भ् (विश्राम करना) से विस्रम्भिन्। विस्रम्भत इत्येवंशीलः। मित्रे मित्रे विस्रम्भि भवति नाभिशङ्कि।

लष् से अप तथा वि उपपद होने परे[2]—अपलाषिन्, स्वभाव से तृष्णा-रहित। अपलापिनो भविष्यन्ति कदा न्वेतेऽपलाषिणः (भट्टि ७।१२), इस वाक्य में अपपूर्वक लष् का ऐसा ही अर्थ है। विपूर्वक लष् से घिनुण्—विलाषिन्। यह विरल प्रयोग है।

प्रपूर्वक लप्, सृ, द्रु, मथ्, वद्, वस् (रहना) से[3]—प्रलापी मूर्खो भवति, बकवास करने वाला मूर्ख होता है। प्रपूर्वक लप् का अनर्थक बातें कहना अर्थ है—प्रलापोऽनर्थकं वचः—अमर। प्र सृ—प्रसृतापि किरणैः प्रसारिणी भवति। प्र द्रु—प्रद्राविणः प्रद्रवणशीला पलायनस्वभावाः। प्र मथ्—प्रमाथिन्, मथन देने वाला। चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम् (गीता)। क्व वजा हृदयप्रमाथिनी क्व च ते विश्वसनीयमायुधम् (मालविका०

१ वौ कष-लस-कत्थ-स्रम्भः (३।२।१४३)।
२ अपे च लषः (३।२।१४४)।
३ प्रे लप-सृ-द्रु-मथ-वद-वसः। (३।२।१४५)।

३।२)। प्रवद्—प्रवादिन्, इधर-उधर की सुनी-सुनाई बातें कहने वाला। प्रवस्—प्रवासिन्, जो स्वभाव से देशान्तर में रहता है। प्र शब्द विप्रकर्ष का द्योतक है।

वुञ्—निन्द्, हिंस्, क्लिश्, खाद्, विनाश् (विपूर्वक ण्यन्त नश), परिक्षिप्, परिरट्, परिवादि (परिपूर्वक ण्यन्त वद्), व्याभाष (वि-आङ्-पूर्वक भाष्) तथा असूय (कण्ड्वादि) से ताच्छील्यादि कर्ता को कहने में वुञ् (अक) प्रत्यय आता है।[1] 'ञ्' वृद्धि के लिए है। निन्दक=निन्दाशील। नास्तिको वेदनिन्दकः। मन्दीमतान। यहाँ वाऽसरूप विधि से तृन् करके 'निन्दितृ' शब्द नहीं बना सकते। हिंसक=हिंसनशील, घातुक। क्लेशक—क्लेशदायक। खादक। विनाशक। विनाशयतीति विनाशकः। परिक्षेपक। परिराटक, रटनशील। परिवादक=अर्थी, कचहरी में निर्णय के लिये अपनी शिकायत को निवेदन करने वाला। अथवा वीणा को बजाने वाला। इस अर्थ में परिवद् से णिच् प्रत्यय की स्वार्थिकता स्पष्ट है। व्याभाषक, बोलने वाला, सम्बोधन करने वाला। असूयक, गुणों में भी दोषारोप करने वाला।

तुदादि दिव परिकूजने अथवा दिवादि दिव् के ण्यन्त रूप से तथा क्रुश् से वुञ् होता है जब उपसर्ग उपपद हो[2]—आदेवक। परिदेवक। आक्रोशक। उपसर्ग न होगा तो ताच्छील्यादि में तृन् निर्बाध होगा—देवयितृ। क्रोष्टृ।

युच्—चलना अर्थ वाली तथा शब्द करना अर्थ वाली अकर्मक धातुओं से ताच्छील्यादि में युच् (अन) प्रत्यय आता है[3]—चलन। चलनशीलः चलनः। चलना स्त्री, व्यभिचारिणी। बहुधन्वा चलनाया शीलः (तै० ब्रा० ३।४।२६)। शब्दन। रवण (रु धातु से)। यदि धातु अकर्मक न होगी तो तृन् निर्बाध होगा—पठिता विद्याम्।

अनुदात्तेत् हलादि धातुओं से[4]—वर्तन। वर्धन। राजानं कुरु वर्धनम् (भा० भारत० १५।३२) जुगुप्सन। मीमांसन। (तथा) निघमन्ती बोलना

१. निन्द-हिंस-क्लिश-खाद-विनाश-परिक्षिप-परिरट-परिवादि-व्याभाषाऽसूयो वुञ् (३।२।१४६)।
२. देविक्रुशोश्चोपसर्गे (३।२।१४७)।
३. चलनशब्दार्थादकर्मकाद् युच् (३।२।१४८)।
४. अनुदात्तेतश्च हलादेः (३।२।१४९)।

शश्वदागात् (ऋ० १।१२३।४)। अग्रप्रवेशासहना सहता नास्य सेवका (राज० ३।१४०)। अकर्मक से ही युच् का विधान है, अत वसिता वस्त्रम्—यहाँ अनुदात्तेत् हलादि वस् (पहरना) से तृन् हुआ। ताच्छीलिकों म परस्पर बाधरूप विधि होती भी है इससे 'विकत्थन' भी साधु होगा।

जु (सौत्र धातु), चङ्क्रम्य (क्रम—यङ्), दन्द्रम्य (द्रम्—यङ्), सृ, गृध्, ज्वल्, शुच्, लष्, पत्, पद से[1]। जवन (वेग से चलने वाला)। अपाणि-पादो जवनो ग्रहीता (श्वेता० ३।१९)। चङ्क्रमण। चङ्क्रमितुं शीलमस्य= चङ्क्रमण। यतयश्चङ्क्रमणा भवन्ति न नियतवसतय, यति (संन्यासी लोग) घूमते रहते हैं एक जगह नहीं ठहरते। द्रम गत्यर्थक धातु है। दन्द्रमण। यङन्त दन्द्रम्य से युच्। सृ—सरण। गृध्—गर्धन, गृध्नु। गृध्यतीत्येवंशीलो गर्धन। गृध् अकर्मक है। मा गृध कस्य स्विद् धनम् (यजु ४०।१)। यहाँ दो वाक्य हैं मा गृध (१)। धन कस्य स्वित् (२)। ज्वल—ज्वलन। 'ज्वलन' अग्नि का नाम है। शुच्—शोचन। लष—लषण। ये दोनों विरल प्रयोग हैं। पत्—पतन। पद्—पदन। ये भी तच्छीलादि कर्ता मे अत्यन्त अप्रसिद्ध हैं।

क्रोधार्थक तथा मण्डनार्थक धातुओं से युच्[2]—क्रोधन=सुलभकोप। रोषण। मण्डन। भूषण। कुप् से भी—कोपन। चण्डस्त्वयन्तकोपन —अमर।

युच् का निषेध—यकारान्त धातु से युच् नहीं होता।[3] क्नूयितृ (क्नूय् से तृन्)। क्ष्मायितृ (क्ष्माय् से तृन्)। अनुदात्तेत् हलादि होने से युच् की प्राप्ति थी।

सूद, दीप्, दीक्ष् (अनुदात्तेत् हलादि धातुओं) से युच् न हो।[4] सूदितृ। दीपितृ। दीक्षितृ। तृन् हुआ।

उकञ्—लष्, पत्, पद्, स्था, भू, वृष्, हन्, कम्, गम, शॄ[5]—इनमे तच्छीलादि कर्ता में उकञ् (उक) प्रत्यय होता है। 'ञ्' वृद्धि के लिए पढा है—अपलापुक वृषलसङ्गतम्, शूद्र की संगति अशोभन है। 'अपलापुक' का

१ जु-चङ्क्रम्य-दन्द्रम्य-सृ-गृधि-ज्वल-शुच-लष-पत-पद (३।२।१५०)।

२ क्रुध मण्डार्थेभ्यश्च (३।२।१५१)।

३ न य (३।२।१५२)।

४ सूद-दीप-दीक्षश्च (३।२।१५३)।

५ लष-पत-पद-स्था-भू-वृष-हन-कम-गम शॄभ्य उकञ् (३।२।१५४)।

ऐसा अर्थ पदमञ्जरीकार करते हैं। कर्ता में प्रत्यय होने हुए यह अर्थ कैसे सम्भव हुआ, यह समझ में नहीं आता। अप-लष् का 'न चाहना' अर्थ तो सिद्ध है। 'अपलाषुक' का अर्थ 'न चाहने वाला' होना चाहिए। हमारे विचार में यहाँ अपलाषुको वृषलसङ्गतम्, ऐसा पाठ होना चाहिए। उकञ् के योग में कर्म में षष्ठी का निषेध होकर 'वृषलसंगतम्' में द्वितीया हुई है। अभिपूर्व लष् से अभिलाषुक। लुब्धोऽभिलाषुकस्तृष्णक्—अमर। पत्—प्रपातुका गर्भा भवन्ति। प्रपातुका प्रपतनशीला। पद्—उपपादुक सत्त्वम्=स्वयं जन्मा प्राणी अर्थात् देव। दिव्योपपादुका देवा (अमर)[1]। दिव्याश्च ते उपपादुकाश्च ऐसा विग्रह है। उपपूर्वक पद्=समर्थ होना। स्था—उपस्थायुका हि शिष्या गुरून् भवन्ति, शिष्य गुरुओं की सेवा में आया करते है। भू—प्रभू—प्रभावुक-मन्न भवति। प्रभावुक=शक्तिशाली। वृष—वर्षुकोऽब्दो घनाघनः (अमर)। नहि सर्वे पर्जन्याः प्रवर्षुका भवन्ति। हन्—बलमाघातुको युक (अथर्व० १२। ८७)। आघातुकं कापालिकस्य शूलम्। हिंस्र आघातुक क्रूर (अमर)। कम्—कामुका एन स्त्रियो भवन्ति। गम्—आगामुक वाराणसी रक्ष आहु, कहते हैं कि राक्षस (जो शाप से राक्षसत्व को प्राप्त हुआ है) वाराणसी में आया करता है (शाप-निर्मोक्ष के लिए)। किशारुक तीक्ष्णमाहु, शस्यशूक तीक्ष्ण होता है।

षाकन्—जल्प्, भिक्ष्, कुट्ट्, लुण्ट्, वृङ्—से षाकन् (आक)[1]। पित्करण स्त्रीलिङ्ग में ङीष् के लिए है—जल्पाक, जल्पनशील। भिक्ष्—भिक्षाक, भिक्षु। कुट्ट्—कुट्टाक, कूटने वाला। लुण्ट्—लुण्टाक, लुटेरा। रुटि लुटि स्तेये भ्वादी। वृङ्—वराक, बेचारा। वृङ् का अर्थ यहाँ माँगना है। स्त्रीत्व-विवक्षा में जल्पाकी, भिक्षाकी इत्यादि जानें।

इनि—प्रपूर्वक जु (सौत्र धातु) से इनि (इन्) प्रत्यय आता है—प्रजविन्। प्रजवी जवन इत्यनर्थान्तरम्।

जि, दृ, क्षि, विश्रि, इण्, वम्, नञ्पूर्वक व्यथ्, अभिपूर्वक अम् (रुग्ण होना), परिभू, प्रसू[2]—जयिन्। दुर्बला अपि सहता सत्तो जयिनो भवन्ति। जयनशीलो जयी। दृङ् आदरे—दरिन्। विरलप्रयोग है। क्षि—क्षयिन्। क्षयरोग से ग्रस्त। वि-श्रि—विश्रयिन्। इण्—प्रत्ययिन्। वम्—वमिन्। वमनशीलो वमी। वमित्वमपि गर्भलक्षणेष्वन्यतमम्। नञ्-पूर्वक

---

१ जल्प-भिक्ष-कुट्ट-लुण्ट-वृङः षाकन् (३।२।१५५)।

२. जि-दृ-क्षि-विश्रीण्-वमाऽव्यथाऽभ्यम-परिभू-प्रसूभ्यश्च (३।२।१५७)।

व्यथ् से—अत्यथिन्। सति भयेऽप्यव्यथी तिष्ठति क्षत्रियकुलाङ्कुर एव। अभिपूर्व अम्—अभ्यमी चिर जीवति, जो रोगी रहता है वह चिरजीवी नहीं होता। परि भू—परिभविन्। अत्यन्तमप्रियो भवति परिभवी जन। प्र-सू—प्रसविन्। नानाफलानां प्रसवी भवति परिश्रम। परिश्रम नाना फलों को उत्पन्न करने वाला होता है। प्रसविनी जननीत्यनर्थान्तरम्। प्रसविनी=माता।

आलुच्—स्पृह, गृह, पत (तीनों चुरादि अदन्त) तथा दय, निद्रा, तद्-पूर्व द्रा (जहाँ तद् के द् को न् निपातन से होता है), श्रत्पूर्वक धा से तच्छीलादि कर्ता को कहने के लिए आलुच् (आलु) प्रत्यय आता है[1]—स्पृहयालु। गृहयालु (ग्रहणशील)। पतयालु (पतनशील)। यहाँ 'णि' को अय् आदेश होता है। लोप प्राप्त था। अपापोऽपि पापसङ्गेन पतयालुर्भवति लोक, स्वय निष्पाप होता हुआ भी मनुष्य पापी की संगति से पतनशील हो जाता है। दय्—दयालु। अपराद्धेऽपि शिष्ये दयालवो भवन्ति गुरव। निपूर्वक द्रा—निद्रालु (जो सो रहा है)। तन्द्रालु=तन्द्राशील, अलस। श्रत् धा—श्रद्धालु। 'श्रद्धालु' दोहदवती स्त्री को भी कहते हैं। श्रद्धालुर्दोहदवती—अमर। दोहद=गर्भिणी की इच्छा।

वार्तिककार के अनुसार शीङ् से भी आलुच प्रत्यय आता है—शयालु।[2] शयालु (सोने वाला, ऊँघने वाला)। हन्ति नोपशयस्थोऽपि शयालुर्मृगयुर्मृगान् (माघ० २।८०)। घात लगाये बैठा हुआ भी ऊँघने वाला शिकारी मृगों को नहीं मार सकता।

रु—दा, धेट्, सि, शद्, सद्—से 'रु'[3]। दारुर्दानशील। धेट्—धारु, चूसने वाला (पीने के स्वभाव वाला) भट्टि का प्रयोग है—दृग्भ्यां धारु चिर वत्स पितरौ तृप्तिमारताम्। बच्चे को आँखों से पीते हुए अर्थात् सतृष्ण अव-लोकन करते हुए माता पिता तृप्ति को प्राप्त हुए। वत्सो धारुरिव मातरम् (अथर्व० ४।१८।२)। धारुवत्सो मातरम्—काशिका। उ प्रत्यय के योग में षष्ठी का निषेध होने से 'वत्सम्' में तथा 'मातरम्' में द्वितीया हुई। सि (बांधना)—सेरु। शद्—शद्रु। सद्—सद्रु। विषद्रुहृदय=विषादिचेता।

---

१ स्पृहि-गृहि-पति-दयि निद्रा तन्द्रा श्रद्धाभ्य आलुच् (३।२।१५८)।

२ आलुचि शीङो ग्रहण कर्तव्यम् (वा०)।

३ दा धेट् सि शद-सदो रु (३।२।१५९)।

क्मरच्—सृ, घस्, अद्—से क्मरच् (मर) प्रत्यय आता है[1]—सृमर। विसृमर। विशेषेण सरणशील विसृमरम्। विसृमर भगवत पाणिनेर्यश। घस्मर। अद्मर। ये दोनो समानार्थक हैं। मसको घस्मरोऽद्मर —अमर। द्रुपदसुतचमू-घस्मरो द्रौणिरस्मि—वेणी० (३।३६)। प्रत्यय के कित् होने से 'सृमर' मे धातु को गुण नहीं हुआ।

घुरच्—भञ्ज भास्, मिद्—से घुरच् (उर) प्रत्यय आता है[2]—भङ्गुर। प्रत्यय के घित् होने से धातु के 'ज्' को कुत्व हुआ। भञ्ज् से स्वभाव से ही कर्म-कर्ता मे प्रत्यय होता है ऐसा वृत्तिकार मानते हैं। माघ कवि भी भञ्ज् से कर्मकर्ता मे प्रत्यय मानता है—लघूकरिष्यन्नतिभारभङ्गुराम् प्रभू किल त्व त्रिदिवादवातर' (माघ१।३६)। भोजसूत्र भी है—भञ्जे कर्मकर्तरि। समागमा सापगमा सर्वमुत्पादि भङ्गुरम् (हितोप० ४।६५), इस वाक्य मे भी कर्मकर्ता मे ही प्रत्यय हुआ है। रात्रिषु भङ्गुराणि गात्रयन्त्रपञ्जरदारुणि देहिनाम् (हर्ष० ८ उ०, पृ० २५५)। ऐसे ही यहाँ भी। अन्यत्र भी—प्रामरणान्ता प्रणया कोपास्तत्क्षणभङ्गुरा (हितोप० १।१८८)। पर भामह शुद्ध कर्ता मे प्रत्यय मानता है—मदो जनयति प्रीति साऽनङ्ग मानभङ्गुरम्। भास्—भासुर। विद्याभारभासुरो भुसुर । मिद्—मेदुर।

कुरच्—विद्, भिद्, छिद्—से कुरच् (उर)[3]। विद्—विदुर = वेदनशील विद्वान्। भिद् और छिद् से कर्मकर्ता मे प्रत्यय होना है ऐसा काशिकाकार मानते हैं। यद्यपि भाष्य मे ऐसा वचन नहीं मिलता। भिदुर काष्ठम् (काशिका), जो लकडी इतनी नि सार है कि स्वय टूट रही है। पर अमर का पाठ है—भिदुर पवि। यहाँ स्पष्ट ही शुद्ध कर्ता मे प्रत्यय है। भिनत्तीत्येवशील भिदुर वज्रम्। अमरकोष मे पाठान्तर 'भिदिर' भी मिलता है। छिद्—छिदुरा रज्जु (काशिका)। पर माघ (६।८) प्रियतमाय वपुर्गुरुमत्सरच्छिदुरयाऽदुरयाचितमङ्गना मे 'छिदुर' शुद्ध कर्ता मे प्रयुक्त हुआ है। हर्षचरित मे दो स्थलो मे काशिका के अनुसार 'छिदुर' का प्रयोग कर्मकर्ता मे हुआ है—सर्वथा लूतातन्तुच्छटाच्छिदुरास्तुच्छा प्रीतय प्राणिनाम् (६।पृ० १६५)। छिदुरा जीवनबन्धपाशात प्रीतन्तव (८। पृ० २५५)। रघु०

१ सृ-घस्-अद क्मरच् (३।२।१६०)।
२ भञ्ज-भास-मिदो घुरच् (३।२।१६१)।
३ विदि-भिदि-च्छिदे कुरच् (३।२।१६२)।

(१६।६२) मे भी सलक्ष्यते न च्छिद्रुरोऽपि हार यहाँ कर्मकर्ता मे प्रयोग है।

क्वरप्—इण्, नश्, जि, सृ—मे क्वरप् (वर)[1]। क्वरवन्त से स्त्रीत्व-विवक्षा मे ङीप् होगा—इत्वर, चले जाने वाला, गमनशील। गम् से भी क्वरप निपातन किया है, साथ ही अनुनासिक लोप भी निपातित किया है।[2] गत्वर। गमनशील। 'इत्वरी' कुलटा का नाम है। गत्वर्यं सम्पद् इत्वय इव कुला-क्कुलमटन्ति। नश्—नश्वर, विनाशशील। नेह किञ्चिदनश्वर समस्ति। वशादि कृत् परे रहते यहाँ इट् आगम नही हुआ।[2] जि—जित्वर, जयनशील। सृ—सृत्वर। शिवभारत (१४।१०४) मे उद्पूर्वक इण् से क्वरप् करके प्रयोग आया है—प्रविहतगतिर्वेगोद्रेकाद् उदित्वरविक्रम। उदित्वर =उदयशील।

ऊक—'जागृ' से ऊक प्रत्यय होता है[3]—जागरूक, जागरणशील, चौकन्ना।

यङन्त यज्, जप्, दश्—से भी 'ऊक' प्रत्यय होता है[4]—यायजूक। यायज्यते पुन पुनर्यजन इत्येवशीलो यायजूक। गर्हित जपति शीलमस्येति जञ्जपूक। गर्हित दष्ट शीलमस्येति दन्दशूक सप। यायजूक ध्रुव कालदन्दशूको न खादति। लोकोक्तिप्रञ्जपूक च वावदूक च खादति (भोज)॥ यङन्त वद् से भी ऊक प्रत्यय शास्त्रकार को अभिमत है। इसमे कुर्वादिगण (४।१।१५१) मे वावदूक शब्द का पाठ ज्ञापक है।

र—नम्, कम्प्, स्मि, नञ्पूर्वक जस, कम्, हिंस्—से 'र'[5] – नम्र। कम्प्र। स्मेर। अजस्र। कम्र। हिंस्र। कम्प्, जस्, कम्, हिंस—ये सेट् धातुएँ हैं पर 'र' वशादि कृत् प्रत्यय है, अत इट् नही हुआ। अजस्रम् सततम् (क्रियाविशेषण)।

उ—सनन्त धातु से तथा आङ्पूर्व शस् और भिक्ष् से[6]—जिगास—जिगासु। दिदृक्ष—दिदृक्षु। शुश्रूष—शुश्रूषु। आङ्पूर्वक शस्—आशसु। आङ् शसि इच्छायाम् भ्वादि आत्मनेपदी धातु है। आशसत इत्येवशील आशसु। भिक्षत इत्येवशीलो भिक्षु।

---

१ इण्-नश-जि सर्तिभ्य क्वरप् (३।२।१६३)।

२ गत्वरश्च (३।२।१६४)। नेड्वशि कृति (७।२।८)।

३ जागुरूक (३।२।१६५)।

४ यज जप दशा यङ (३।२।१६६)।

५ नमि-कम्पि-स्म्य जस-कम-हिंस दीपो र (३।२।१६७)।

६ सनाऽऽशस भिक्ष उ (३।२।१६८)।

विद ज्ञाने से उ प्रत्ययान्त 'विन्दु' (=ज्ञाता) निपातन किया है और इष् से इच्छु।[1] यहाँ इष् को इच्छ् भाव निपातन में हुआ है।

नजिङ्—स्वप् और तृष् से[2]—स्वप्नज्। प्रथमा एक०—स्वप्नक्, निद्रालु, निद्राशील। तृष्णज्। प्र० ए० तृष्णक्। लुब्धो भिलाषुकस्तृष्णक्—अमर। ऋग्वेद (१।८५।११) में प्रसिद्ध नुत्स गोतमाय तृष्णजे—यहाँ तृष्णज् 'तृषित' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। ताच्छील्य कुछ भी नहीं।

आरु—दृ, वन्द्—से आरु।[3] दारुः = घातुक। भृणातीत्येवशील। हर्षचरित में 'विशरारोरंटाकलापस्य' ऐसा प्रयोग आया है। यहाँ उपसर्ग-वशात् धातु अकर्मक हो गई है और अर्थ भी बदल गया है। विशृ का अर्थ सुनना, बिखरना है। वन्द्—वन्दारु=वन्दनशील। वन्दारुजनमन्दार वन्देऽहं यदुनन्दनम् (मल्लिनाथ)। इलादि अनुदात्तेत् होने से वन्द् से युच् प्राप्त था।

क्रु, क्लुकन् क्रुकन्—भी धातु से ताच्छीलादि कर्ता में[4]—भीरु। क्रु—यहाँ ककार की इत्संज्ञा है। भीलुक। भीरुक। यहाँ भी दोनों प्रत्ययों में आद्य ककार इत्संज्ञक है। अतः तीनों प्रयोगों में गुण नहीं हुआ। 'न्' अनुबन्ध स्वर के लिए है।

वरच्—स्था, ईश्, भास्, पिस्, कस् से वरच् (वर)[5]। स्थावर। ईश्वर। स्त्रीलिंग में ईश्वरा। जो कहीं 'ईश्वरी' प्रयोग मिलता है उसे औणादिक वरट् प्रत्यय से व्युत्पन्न 'ईश्वर' शब्द से ङीप् करके उपपन्न करते हैं। भास्वर। पेस्वर। गतिशील। विकस्वर=विकसनशील। स्मितविकस्वर-माननम्।

यङन्त या से[6]—यायावर। याति याहीति यानीत्येवशीलो यायावर।

क्विप्—भ्राज्, भास्, धुर्व्, द्युत्, ऊर्ज्, पृ, जु, ग्रावन् कर्म उपपद होने हुए स्तु से ताच्छीलादि कर्ता में[7]—विभ्राजत इति विभ्राट्, जो स्वभाव से चमकता है। व्रश्चभ्रस्जादि सूत्र से 'ज' को ष्। तब पदान्त ष् को जश्भाव

१ विन्दुरिच्छुः (३।२।१६९)।
२ स्वपि-तृषोर्नजिङ् (३।२।१७२)।
३ शॄ-वन्द्योरारुः (३।२।१७३)।
४ भिय क्रु-क्लुकनौ (३।२।१७४)। क्रुकन्नपि वक्तव्य (वा०)।
५ स्थेश-भास पिस-कसो वरच् (३।२।१७५)।
६ यश्च यङः (३।२।१७६)।
७ भ्राज-भास-धुर्वि-द्युतोर्जि पॄ-जु-ग्रावस्तुवः क्विप् (३।२।१७७)।

से ड। फिर अवसान मे वैकल्पिक चत्व से ड् को ट्। भा। धू। धुर्वी हिंसायाम्। 'व्' का लोप और रकारान्त की उपधा को दीर्घ। धुर्वति हिन स्तीत्येवशीला धूः। विद्योतत इत्येवशीला विद्युत्। ऊर्जति इत्यूर्क्। पृणातीति पूः=नगरी। यहाँ ऋ को उरत्व (रपर) होकर 'उ' को दीर्घ होता है। जु—यह सौत्र धातु है। जवत इति जूः। दीर्घ भी निपातित किया है। जू। जुवौ। जुवः। उवङ्। ग्रावस्तुत्। ग्रावाणं (सोमाभिषवसाधनमश्मानम्) स्तौतीत्येवशील। यहाँ धातु के साथ समास करके क्विप होता है ऐसा मानते हैं।

और (भ्राज आदि से भिन्न) धातुओं से भी क्विप् देखा जाता है[1]—युज्—युनक्तीत्येवशीलो युक्। भिद्—भित्। छिद्—छित्। सूत्र में दृश्यते = देखा जाता है, ऐसा जो कहा है वह विध्यन्तर के उपसङ्ग्रह के लिये है। कहीं दीर्घ (जो अप्राप्त था) हो जाता है, कहीं अप्राप्त द्विर्वचन (द्वित्व), कहीं अप्राप्त सम्प्रसारण, कहीं प्राप्त सम्प्रसारण का अभाव। अत वार्तिककार पढते हैं—क्विब्वचि प्रच्छ्यायतस्तुकटप्रुजुश्रीणां दीर्घोऽसम्प्रसारणं च। वच्—वाक् (दीर्घ, असम्प्रसारण)। प्रच्छ्—प्राट्। शब्दप्राट्। आयत स्तौति—आयतस्तू (दीर्घ)। कटं प्रवते इति कटप्रूः (दीर्घ)। प्रुङ् गतौ भ्वादि। कटप्रू =कीट। जु जवत इति जूः (दीर्घ)। श्रिञ्—श्रयति हरिमिति श्रीः। (दीर्घ)। द्युत, गम, हु—इन्हें द्वित्व भी होता है[2]—दिद्युत्। अभ्यास को सम्प्रसारण। गम्—जगत्। द्वित्व। गम क्वौ (६।४।४०) से 'म्' का लोप। हु—जुहू (द्वित्व, दीर्घ)।[3] यहाँ करण मे क्तृवृद्धि करके क्विप् हुआ है।

ध्यै धातु से भी ताच्छीलिक क्विप् होता है और सम्प्रसारण भी[4]—ध्यायतीति धीः। करणे कर्तृत्वोपचार।

यहाँ ताच्छीलिक प्रत्यय समाप्त हुए।

यहाँ तृतीयाध्याय द्वितीय पाद के अवशिष्ट सूत्र, जो तच्छीलादि कर्ता मे प्रत्यय विधान नहीं करते, उनकी सोदाहरण व्याख्या की जाती है।

---

१ अन्येभ्योऽपि दृश्यते (३।२।१७८)।
२ द्युति-गमि-जुहोतीनां द्वे च (वा०)।
३ जुहोतेर्दीर्घश्च (वा०)।
४ ध्यायते सम्प्रसारणं च (वा०)।

क्विप्—सञ्ज्ञा में तथा धनिक और अधमर्ण के बीच में जो विश्वास के लिए ठहरता है उसे कहने के लिये भू से क्विप् आता है[1]—विभूर्नाम कश्चित्। प्रतिभू =जमानत, जो धनिक को विश्वास दिलाता है कि आप इस पुरुष को निःशङ्क होकर ऋण दे सकते हैं, यह समय पर लौटा देगा, नहीं तो मैं आप को अपने पास से यह राशि दूंगा। मेरा इसमें पूर्ण उत्तरदायित्व है। यह 'प्रतिभू' का मुख्यार्थ है। गौणार्थ में किसी दूसरी क्रिया में भी जो अपने को जिम्मेवार ठहराता है, वह भी प्रतिभू होता है—मातृकान्यगतानां प्रमा-दानां लेखका न प्रतिभुवः। मूल हस्तलिखित ग्रन्थों में आये हुए प्रमादों के लिए प्रतिलिपि करने वाले जिम्मेवार नहीं हैं।

डु—वि, प्र, सम्—पूर्वक 'भू' से डु (उ) प्रत्यय होता है, जब प्रत्ययान्त से सञ्ज्ञा का बोध न हो[2]—विभु। प्रभु। सम्भु। विशेषेण भवति व्याप्नोतीति विभुः। विभुरात्मा भवति। प्रभवति शक्तो भवतीति प्रभुर् ईश्वरः। डित्व सामर्थ्य से भ-भ-सञ्ज्ञक विभू आदि के 'टि' ऊ का लोप।

डुप्रकरण में मितद्रु आदि की सिद्धि के लिए 'डु' प्रत्यय का उपसङ्ख्यान करना चाहिये[3]—मितं द्रवतीति मितद्रुः। शतधा द्रवतीति शतद्रुः (सतलुज नदी)।

ष्ट्रन्—कर्म कारक में धेट् (पीना, चूसना) से अथवा धा से ष्ट्रन् (त्र) प्रत्यय होता है[4]—धयन्त्येतामिति धात्री (धाय)। दधति वा एनाम् भैषज्या-र्थम् इति। प्रत्यय के षित् होने से स्त्रीत्व-विवक्षा में ङीष्।

दाप् (काटना), नी, शस्, यु, युज्, स्तु, तुद्, सि, सिच्, मिह्, पत्, दश्, नह्[5]—इनसे करण-कारक में ष्ट्रन् होता है—दात्यनेन दात्रम्। दात्रेण लुनाति सस्यम्। नयत्यनेन नेत्रम्। शसति हिनस्ति अनेन शस्त्रम्। यु—योत्रम्। युज्—योक्त्रम् (जोत)। स्तोत्रम्। तोत्त्रम्, प्रतोद, आर। सि—

१ भुवः सञ्ज्ञाऽन्तरयोः (३।२।१७९)।
२ वि-प्र-सम्भ्यो ड्वसञ्ज्ञायाम् (३।२।१८०)।
३ डु-प्रकरणे मित-द्र्वादिभ्य उपसङ्ख्यानम् (वा०)।
४ धः कर्मणि ष्ट्रन् (३।२।१८१)।
५ दाम्-नी-शस-यु-युज-स्तु-तुद-सि-सिच-मिह पत-दश-नहः करणे ३।२।१८२)।

सेत्र। सिच्—सेक्त्र। मिह्—मेढ्र, लिङ्ग। पतत्र। पतति (उत्पतति) अनेन पतत्रम्=वाहनम्। उड़ने अर्थ में पतत्र=पंख। दंश्—दंष्ट्रा=दाढ़। अजादि-गण में पाठ होने से टाप्। अथवा षित्त्व-लक्षण ङीष् अनित्य है, ऐसा समाधान है। नह्—नद्ध्री (वद्धी)। जो यहाँ यम् आदि सेट् हैं, उनमें तितुत्रतथ—सूत्रसे इट् का प्रतिषेध होता है।

पू धातु से करण कारक में ष्ट्रन् होता है जब प्रत्ययान्त हल अथवा सूकर का अंग (मुख) हो[1]—पोत्र। हलस्य पोत्रम्। सूकरस्य पोत्रम्।

इत्र—ऋ, लू, धू, सू, खन्, सह्, चर्—इनमें करण-कारक में इत्र[2]—अरित्र=चप्पू। अरित्र कैमिपातक—भ्रमर। लवित्र, दाती। धुवित्र=पंखा। धुवित्र व्यजन तद् अरचितं मृगचर्मणा—अमर। सूत्र में धू विधूनने तुदा० कुटा० का ग्रहण है, निरनुबन्धक होने से। अतः गुण नहीं होगा, उवङ् होगा। अमर कोष में उपलभ्यमान पाठ 'धवित्रम्' असाधु ही है। सू (षू प्रेरणे)—सवित्र। खन्—खनित्र=कुद्दाल। सह्—सहित्र। सहतेऽनेन सहित्र मर्षणवित। चर्—चरित्र। चरति गच्छति अनेन चरित्रं चरणः पाद। चरित्रास्ते द्रुपापि (वा० स० ६।१४)।

पूङ् अथवा पूञ् से करण कारक में 'इत्र' होता है जब प्रकृति-प्रत्यय-समुदाय संज्ञा हो[3]—दर्भः पवित्रम्। बर्हिष्पवित्रम्=बर्हिया कृतं पवित्रम्। पवित्र=कुशापीड=प्रदेशिनी। अंगुलि का वेष्टन। दर्भपवित्रपाणिराचार्यः शुचाववकाशे प्राङ्मुख उपविश्य महता यत्नेन सूत्राणि प्रणयति स्म। (भाष्य)

तुमुन् (तुम्)

धातुमात्र से भविष्यत्काल में तुमुन् प्रत्यय आता है, जब क्रियार्थ क्रिया (दूसरी तुमुन्वाच्य क्रिया के लिए की जाने वाली क्रिया का वाचक) उपपद हो।[4] क्त्वा प्रत्यय की तरह तुमुन् भी अव्यय है।[5] अव्यय कृत् प्रत्यय भाव

---

१ हल-सूकरयोः पुवः (३।२।१८३)।

२ अर्ति-लू-धू-सू-खन-सह-चर इत्रः (३।२।१८४)।

३ पुवः संज्ञायाम् (३।२।१८५)।

४ तुमुण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम् (३।३।१०)।

५ कृन्मेजन्तः (१।१।३९)। जो कृत् प्रत्यय मकारान्त तथा एजन्त हो तदन्त शब्द की अव्यय संज्ञा है। तुमुन् अनुबन्ध-रहित होने पर मकारान्त ही है।

के वाचक होते हैं। अतः पक्तुम् (पच्—तुम्) का अर्थ पचन वा पाक ही है। पक्तुं याति। यहाँ जाने की क्रिया भविष्य में होने वाली पचन क्रिया के लिए हो रही है, अथवा यों कहिये कि जाने का प्रयोजन पाक है। अतः 'याति' उपपद होने पर पच् धातु से तुमुन् हुआ। इस अर्थ को तुमुन् न करके लृट्-लकार से भी कह सकते हैं—पक्ष्यामीति याति (पकाऊँगा इसलिए जाता है)। ऐसे स्थलों में तुमुन् की प्रकृति तथा तिङ् की प्रकृति का एक ही कर्ता होना चाहिए तभी तुमुन् का प्रयोग होगा, ऐसा भट्टोजीदीक्षित मानते हैं और यही न्याय्य है। जैसे—यहाँ पच् धातु का तथा उपपद धातु का एक ही कर्ता है अर्थात् दोनों समानकर्तृक हैं। भोक्तुं याति—यहाँ भी भोजन-क्रिया और यानक्रिया दोनों समान-कर्तृक हैं। पर 'ब्राह्मणान् भोक्तुं निमन्त्रयते' नहीं कह सकते। यहाँ निमन्त्रण का कर्ता कोई देवदत्त आदि है, और भोजनक्रिया के कर्ता ब्राह्मण हैं। यहाँ तुमुन् का प्रयोग न करके ल्युडन्त भोजन शब्द का प्रयोग शास्त्र के अनुकूल होगा तथा भोजन शब्द से तृतीया का प्रयोग व्यवहारानुगत होगा—ब्राह्मणान्भोजनेन निमन्त्रयते।

तुमुन् भाव-वाचक है। अतः ओदनं भोक्तुं याति, यहाँ ओदन (कर्म) के अनुक्त होने से इस से द्वितीया हुई। ऐसा ही सर्वत्र जानो। तुमुन्नन्त का वाक्य में क्रिया के कर्ता के रूप में भी प्रयोग होता है। पुष्करं दुष्करं गन्तुम् (अस्ति)। अस्तिकर्तुं प्रकृतस्य भावकृत्स्येन युज्यते (रा० ४।१७।४७)।

इच्छार्थक धातु के उपपद होने पर धातुमात्र से (भाववाचक) तुमुन् होता है, जब दोनों धातु समान-कर्तृक हों।[1] इच्छति भोक्तुम्, कामयते भोक्तुम्, वाञ्छति भोक्तुम्। भिन्नकर्तृकता होने पर तुमुन् का प्रयोग नहीं हो सकता—देवदत्तं भुञ्जानमिच्छति यज्ञदत्तः। पुत्रस्य (कर्तुं) पठनमिच्छति यज्ञदत्तः। यहाँ भोजनक्रिया का कर्ता देवदत्त है और इच्छाक्रिया का यज्ञदत्त है। दूसरे वाक्य में तो कर्तृभेद अत्यन्त स्पष्ट है। ओदनं भोक्तुमिच्छति—यहाँ भोजन-क्रिया और एषणक्रिया का एक ही कर्ता है, सो तुमुन् निर्बाध है। ओदन तो भुजिक्रिया का कर्म है। तुमुन् का प्रयोग न करके लिङ् का प्रयोग भी कर सकते हैं—भुञ्जीयेतीच्छति=चाहता है कि मैं खाऊँ। इच्छामि भुञ्जीत

---

१ समानकर्तृकेषु तुमुन् (३।३।१५८)।

भवान्, मेरी इच्छा है कि आप खाएँ। इच्छन् करोति—यहाँ इच्छार्थक धातु के उपपद होने पर भी 'कृ' से तुमुन् नहीं होता, कारण कि तुमुन् से कहने का शिष्ट-व्यवहार नहीं है (अनभिधानात्)।

शक्, धृष्, ज्ञा, ग्लै, घट्, रभ्, लभ्, क्रम्, सह्, अर्ह् के तथा अस् (होना) और उसके पर्यायवाची भू, विद् के उपपद होने पर धातुमात्र से तुमुन् होता है[1]—शक्नोति भोक्तुम्। धृष्णोति विषमस्थोऽपि सत्य वदितुम्। जानाति सेवितुम्। ग्लायत्यध्येतुम्। घटतेऽनुपकरणोऽपि देवान् यष्टुम्। साधन-हीन होता हुआ भी यज्ञ करने की चेष्टा करता है। आरभते शास्त्राणि चिन्तयितुम्। अनारतमुद्युञ्जानोऽपि पर्याप्त भोक्तु न लभते, निरन्तर उद्योग करता हुआ भी पर्याप्त भोजन प्राप्त नहीं करता। उत्थाय इति मन्दमन्द प्रक्रमते भोक्तुम्, बीमारी से उठा है, अत धीरे धीरे खाने लगा है। पर्वतमपि भेत्तु सहते किम्पुनर्भित्तिम्, पर्वत को भी तोड सकता है, दीवार का तो क्या कहना। अर्हत्यय सुधीरितोऽपि भूयसीं समाननाम्। अस्ति भवति विद्यते भोक्तुम्।

'पूर्णतया समर्थ' इस अर्थ के वाचक 'अलम्' आदि शब्द उपपद होने पर धातुमात्र से तुमुन् होता है[2]—पर्याप्तोऽय ग्रन्थमिम मासेन परिसमापयितुम्। अलम् अय वीर शत्रून् काण्डानीव लवितुम्। कुशलो देवदत्त शास्त्रार्थं सुपग्रहीतुम्। पटुरय काल शास्त्राणि चिर धारयितुम्।

प्रतिषेधवाचक अलम् उपपद होने पर तुमुन् का प्रयोग शास्त्र विरुद्ध है, कवियो की निरकुशता मात्र का निदर्शन है—अल सुप्तजन प्रबोधयितुम् (मृच्छकटिक ३)। अलमात्मान खेदयितुम् (वेणी० २।३)

काल, समय, वेला तथा इनके पर्यायवचनो के उपपद होने पर प्राप्त-कालता द्योत्य होने पर धातुमात्र से तुमुन् आता है[3]—कालोऽय ते द्वितीयमाश्रममुपसक्रमितुम्, समय आ गया है कि तू द्वितीय आश्रम (गृहस्थाश्रम) मे

---

१ शक-धृष-ज्ञा ग्ला घट-रभ-लभ-क्रम-सहाऽर्हाऽस्त्यर्थेषु तुमुन् (३।४।६५)।
२ पर्याप्ति-वचनेष्वलमर्थेषु (३।४।६८)।
३ काल समय-वेलासु तुमुन् (३।३।१६७)।

प्रवेश करे। वेलेयं पाठशालां गन्तुम्। अनेहाऽयं भोक्तुम्, भुक्त्वा च विश्रमितुम्।

क्रियार्था क्रिया उपपद होने पर वासरूप विधि से तृच्, इगुपध-लक्षण 'क' आदि प्रत्यय नहीं होते। कर्ता व्रजति। विक्षिपो व्रजति ऐसा नहीं कह सकते। कर्तुं व्रजति। विक्षेप्तुं व्रजति ऐसा तुमुन् करके कहेंगे।

तुमुन्नन्त-रूप-रचना

तुमुन् (तुम्) वलादि आर्धधातुक कृत् प्रत्यय है। सेट् धातुओं से तुमुन् को इट्-आगम होता है। धातु को गुण होता है। क्त्वान्त तथा निष्ठान्त रूपों की अपेक्षा इसकी रूप-रचना सरल है।

तुमुन्नन्त रूपावलि

सेट् अजन्त धातुएँ

श्रिञ्	श्रयितुम्	धू (तुदा०)	धुवितुम्
श्वि	श्वयितुम्	नू	नवितुम्
डीङ् (दिवा०)	डयितुम्	पूङ् (भ्वा०)	पवितुम्
डीङ् (भ्वा०)	डयितुम्	पूञ् (क्र्या०)	पवितुम्
शीङ्	शयितुम्	भू	भवितुम्
ऊर्णु	ऊर्णवितुम्, ऊर्णुवितुम्[1]	लू	लवितुम्
		सू (अदा०)	सोतुम्, सवितुम्
क्षु	क्षवितुम्		
क्ष्णु	क्ष्णवितुम्	सू (दिवा०)	सोतुम्, सवितुम्
नु	नवितुम्		
यु	यवितुम्	सू (तुदा०)	सवितुम्
रु	रवितुम्	जागृ	जागरितुम्
स्नु	स्नवितुम्	वृङ्	वरितुम्, वरीतुम्
असू (कण्ड्वादि)	असूयितुम्		
धू (ञ्)	धवितुम्, धोतुम्	वृञ्	वरितुम्, वरीतुम्

---

१ विभाषोर्णोः (१।२।३) ऊर्णुञ् से परे इडादि प्रत्यय विकल्प से ङित्वत् होता है।

कॄ	करितुम्, करीतुम्	तॄ	तरितुम्, तरीतुम्
गॄ	गरितुम्, गरीतुम्	पॄ	परितुम्, परीतुम्
जॄ	जरितुम्, जरीतुम्	स्तॄ	स्तरितुम्, स्तरीतुम्

अनिट् अजन्त धातुएँ

दा (देना)	दातुम्	इण्	एतुम्
दा (प्) (काटना)	दातुम्	चि	चेतुम्
द्रा	द्रातुम्, निद्रातुम्	जि	जेतुम्
		क्षि	क्षेतुम्
धा	धातुम्	हि	प्रहेतुम्
पा (पीना)	पातुम्	क्री	क्रेतुम्
पा (रक्षा करना)	पातुम्	दीङ्	उपदातुम्
मा	मातुम्	नी	नेतुम्
माङ्	निर्मातुम्	पीङ् (दिवा०)	पेतुम्
म्ना	म्नातुम्, आम्नातुम्	सु (पुन्)	सोतुम्
		स्तु	स्तोतुम्
या	यातुम्	ब्रू	वक्तुम्
वा	वातुम्	कृ	कर्तुम्
स्था	स्थातुम्	पृ	व्यापर्तुम्
स्ना	स्नातुम्	मृ	मर्तुम्
हाक्	हातुम्	स्तृ	स्तर्तुम्
हाङ्	हातुम्	स्वृ	स्वर्तुम्, स्वरितुम्[1]
इक् (स्मरण करना)	अध्येतुम्		
इङ्	अध्येतुम्	हृ	हर्तुम्

१ स्वृ अनिट् है पर स्वरति-सूति—(७।२।४४) से इट् का विकल्प विधान किया है।

देङ् (भ्वा०)	दातुम्[1]	गै	गातुम्
धेट्	धातुम्, अनुधातुम्, सुधातुम्	ग्लै	ग्लातुम्
		देप्	अवदातुम्
		ध्यै	ध्यातुम्
मेङ्	निमातुम्, विनिमातुम्	श्रै	श्रातुम्
वेञ्	प्रवातुम्	छो	छातुम्
व्येञ्	सव्यातुम्	दो	अवदातुम्
ह्वेञ्	आह्वातुम्	शो	निशातुम्
कै	कातुम्	सो	अवसातुम्

सेट् हलन्त धातुएँ

अञ्च्	अञ्चितुम्	अञ्ज्	अङ्क्तुम्, अञ्जितुम्, व्यङ्क्तुम्
अर्च्	अर्चितुम्		
उच्	ओचितुम्	मृज् (मृजू)	[2]मार्जितुम्, मार्ष्टुम्
कुच् (कुटादि)	कुचितुम्, सकुचितुम्		
याच्	याचितुम्	लज्	लजितुम्
रुच्	रोचितुम्	लस्ज्	लज्जितुम्
उच्छ्	उच्छितुम्, व्युच्छितुम्	विज्	उद्विजितुम्[3]
		कृत् (काटना)	कर्तितुम्
वाञ्छ्	वाञ्छितुम्	कृत् (लपेटना, कातना)	कर्तितुम्
अज्	अजितुम्, प्रवेतुम्	चिन्त्	चिन्तयितुम्
		चृत्	चर्तितुम्

---

१ आदेच उपदेशेऽशिति (६।१।४५) से उपदेश मे एजन्त धातुओ के एच् को 'आ' हो जाता है।

२ ऊदित् होने से इड्-विकल्प। मृजेर्वृद्धि (७।२।११४) से गुणप्रसग मे वृद्धि।

३ विज इट् (१।२।२)। विज् से परे इडादि प्रत्यय ङित्वत् होता है। अत गुण न हुआ।

द्युत्	द्योतितुम्
नृत्	नर्तितुम्
यत्	यतितुम्
वृत्	वर्तितुम्
कत्थ्	विकत्थितुम्
मर्द्	मर्दितुम्
कुर्द्	कूर्दितुम्
क्रन्द्	क्रन्दितुम्
क्ष्विद्	क्ष्वेदितुम्
खुर्द्	खूर्दितुम्[1]
गद्	गदितुम्
निन्द्	निन्दितुम् प्रणिन्दितुम् प्रनिन्दितुम्
मद्	मदितुम्
मिद्	मेदितुम्
छृद्	छर्दितुम्
तृद्	तर्दितुम्
रुद्	रोदितुम्
वद्	वदितुम्
वन्द्	वन्दितुम्
विद् (जानना)	वेदितुम्
स्पन्द्	स्पन्दितुम् विस्पन्दितुम्
स्यन्द	स्यन्तुम्[2] स्यन्दितुम् निस्यन्तुम् निष्यन्दितुम्

एज्	एजितुम् प्रेजितुम्
एध्	एधितुम् प्रैधितुम्[3]
बुध् (भ्वा०)	बोधितुम्
रध्	रधितुम् रद्धुम्
वृध्	वर्धितुम्
सिध् (भ्वा०)	सेधितुम्
स्पर्ध्	स्पर्धितुम्
अन्	अनितुम् प्राणितुम्
पन्	पनितुम् पनायितुम्
कुप्	कोपितुम्
क्लृप्	कल्पितुम् कल्प्तुम्
गुप्	गोप्तुम् गोपितुम् गोपायितुम्
जप्	जपितुम्
जल्प्	जल्पितुम्
दीप्	दीपितुम्
क्षुभ्	क्षोभितुम्

१ हल्परक उपधा-भूत रेफ (अथवा वकार) की उपधा इक् को दीर्घ।
२ स्यन्द् ऊदित् होने से वेट् है।
३ एत्येधत्यूठ्सु (६।१।८९) से वृद्धि।

शुभ्	शोभितुम्
क्षम् (भ्वा०)	क्षमितुम्, अभ्यमितुम्
क्षम् (चुरा०)	क्षामयितुम्
कम्	कामयितुम्, कमितुम्
क्रम्	क्रमितुम्
क्लम्	क्लमितुम्
क्षम्	क्षमितुम्, क्षन्तुम्
तम्	तमितुम्
दम्	दमितुम्
दम् णिच्	दमयितुम्
भ्रम्	भ्रमितुम्
वम्	वमितुम्
शम्	शमितुम्
शम् णिच्	शमयितुम्
शम् (स्वार्थे णिच्)	निशामयितुम्
श्रम्	श्रमितुम्
अय्	अयितुम्
परा-	पलायितुम्
प्र-	प्लायितुम्
क्नूयी	क्नूयितुम्
क्ष्मायी	क्ष्मायितुम्
चाय्	अपचायितुम्
प्यायी	प्यायितुम्, आप्यायितुम्
ईर्	ईरितुम्, प्रेरितुम्
ईर् णिच्	ईरयितुम्, प्रेरयितुम्

गुर् (कुटा०)	अवगुरितुम्
गूर् (दिवा०)	अवगूरितुम्
क्षुर् (तुदा०)	क्षोरितुम्
छुर् (कुटा०)	छुरितुम्
ज्वर्	ज्वरितुम्
त्वर्	त्वरितुम्
स्फुर् (कुटा०)	स्फुरितुम्, नि स्फुरितुम्, नि ष्फुरितुम्
स्वर् (चुरा०)	स्वरयितुम्
मिल्	मेलितुम्
स्खल्	स्खलितुम्
स्फुल् (कुटा०)	स्फुलितुम्, नि स्फुलितुम्, नि ष्फुलितुम्
दिव्	देवितुम्
दिव् (चुरा०)	परिदेवयितुम्
धाव्	धावितुम्
धुर्वी (धुर्व्)	धूर्वितुम्
ष्ठिव्	निष्ठेवितुम्
सिव्	सेवितुम्, प्रसेवितुम्
अश् (स्वादि)	अशितुम्
मशूङ्	अशितुम्, मष्टुम्[1], अभ्यष्टुम्, समष्टुम्
भृश्	भर्शितुम्

१ मशूङ् ऊदित् होने से वेट् है।

अश्	अशितुम्	मूष् (भ्वा०)	मूषितुम्
भक्ष्	भक्षितुम् अष्टुम्[1]	मृष्	मर्षितुम्
इष् (तुदा०)	एषितुम् एष्टुम्[2]	रिष्	रेष्टुम्[4] रेषितुम्
इष् (दिवा० क्र्या०)	एषितुम् प्रेषितुम्	रुष्	रोष्टुम्[5] रोषितुम्
उष्	ओषितुम्	लष्	लषितुम्
एष् (एषृ)	एषितुम् प्रेषितुम्	हृष्	हर्षितुम्
कुष्	कोषितुम् निष्कोषितुम् निष्कोष्टुम्[3]	असु (दिवा०)	असितुम्
		अस् (भ्वा० भा०)	असितुम्
		अस् (होना अदा०)	भवितुम्
गवेष्	गवेषयितुम्	आस्	आसितुम्
घुष्	घोषितुम्	ध्वस्	ध्वसितुम्
पुष् (क्र्या०)	पोषितुम्	भास्	भासितुम्
पूष् (भ्वा०)	पूषितुम्	शस् (भ्वा०)	विशसितुम्
प्रुष् (भ्वा०)	प्रोषितुम्	शास्	शासितुम्
प्लुष् (भ्वा०)	प्लोषितुम्	शास्	शासितुम्
प्लुष् (दिवा०)	प्लोषितुम्	श्वस्	श्वसितुम्
मृज्	मार्जितुम् मार्ष्टुम्	ईह्	ईहितुम्
		ऊह्	ऊहितुम्
मुष्	मोषितुम्	गर्ह्	गर्हितुम्

---

१ भक्षू ऊदित है।

२ इष् तुदा० उदात्त (सेट्) है पर तादि प्रत्यय परे इट् का विकल्प होता है।

३ निर कुष (७।२।४६) से निर्पूर्वक कुष् मे इड्विकल्प होता है। कुष् सेट् है।

४ तादि प्रत्यय परे रहते इड्-विकल्प। रिष् सेट् है।

५ तादि प्रत्यय परे रहते इड्विकल्प। रुष् सेट् है।

गुह्	गूहितुम् गोढुम्[1]	स्निह्	स्नेग्धुम् स्नेढुम् स्नेहितुम्
ग्रह्	ग्रहीतुम्		
मह् (भ्वा०)	महितुम्		
मह् (चुरा०)	महयितुम्	स्नुह्	स्नोग्धुम् स्नोढुम् स्नोहितुम्
मुह्	मोग्धुम्[2] मोढुम् मोहितुम्		
रह् (भ्वा०)	रहितुम्	सह्	सहितुम् सोढुम् विसोढुम्[3]
रह् (चुरा०)	रहयितुम्		
वृह् (तुदा०)	वर्हितुम् आवर्हितुम्		

अनिट् हलन्त धातुएँ

शक्	शक्तुम्	वच्	वक्तुम्
पच्	पक्तुम्	विच्	विवेक्तुम्
		सिच्	सेक्तुम् अभिषेक्तुम्
मुच्	मोक्तुम्		
रिच्	रेक्तुम् अतिरेक्तुम् व्यतिरेक्तुम्	प्रच्छ्	प्रष्टुम्
		त्यज्	त्यक्तुम्
		निज्	निर्णेक्तुम्[4]

---

१ गुह् की उपधा को गुण के प्रसङ्ग मे दीर्घ होता है जब अजादि प्रत्यय परे हो। ऊदुपधाया गोहः (६।४।८९)। गुह् ऊदित् है अतः इट् विकल्प से होता है। इट् के अभाव मे प्रत्यय के अजादि न होने से 'गोढुम्' ऐसा रूप हुआ।

२. मुह्, स्नुह्, स्निह् आठ रधादि धातुओं मे से हैं और रधादिभ्यश्च (७।२।४५) से रध् आदि धातुओं से परे वलादि आर्धधातुक प्रत्यय को इट् विकल्प से होता है।

३ सोढः (८।३।११५) से सोढ-रूप सह् के 'स्' को मूर्धन्य 'ष्' नही होता।

४ निज् णोपदेश है। णिजिर् शौचपोषणयोः। अतः उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य (८।४।१४) से उपसर्गस्थ निमित्त (ऋ, र्, ष्) से णोपदेश धातु को 'णत्व' होता है।

भज्	भक्तुम्, विभक्तुम्
भुज् (टेढा चलना)	भोक्तुम्, विभोक्तुम्
भुज् (खाना, रक्षा करना)	भोक्तुम्, उपभोक्तुम्
भ्रस्ज्	भर्ष्टुम्[1], भ्रष्टुम्
मस्ज्	मङ्क्तुम्
यज्	यष्टुम्
युज्	योक्तुम्
रञ्ज्	रङ्क्तुम्, अपरङ्क्तुम्, विरङ्क्तुम्
रुज्	रोक्तुम्
सञ्ज्	सङ्क्तुम्, प्रसङ्क्तुम्, अभिषङ्क्तुम्
सृज्	स्रष्टुम्[2]
स्वञ्ज्	स्वङ्क्तुम्, परिष्वङ्क्तुम्
अद्	अत्तुम्
क्षुद्	क्षोत्तुम्
खिद्	खेत्तुम्
छिद्	छेत्तुम्
तुद्	तोत्तुम्, प्रतोत्तुम्
नुद्	नोत्तुम्, प्रणोत्तुम्
पद्	पत्तुम्
भिद्	भेत्तुम्
विद् (तुदा०)	वेत्तुम्, परिवेत्तुम्, परिवेदितुम्
विद् (दिवा० रुधा०)	वेत्तुम्
शद्	शत्तुम्
सद्	सत्तुम्, निषत्तुम्, प्रसत्तुम्, विषत्तुम्
स्कन्द्	स्कन्तुम्
स्विद् (दिवा०)	स्वेत्तुम्
हद्	हत्तुम्
क्रुध्	क्रोद्धुम्
क्षुध्	क्षोद्धुम्
बन्ध्	बन्द्धुम्
युध्	योद्धुम्
राध्	राद्धुम्
रुध्	रोद्धुम्
साध्	साद्धुम्

---

१ भ्रस्ज् के र् और उपधा (स्) के स्थान मे रम् (र्) आदेश विकल्प से होता है। व्रश्चभ्रस्ज—(८।२।३६) सूत्र से ज् को ष्। संयोग के आदि 'स्' का लोप।

२ सृजिदृशोर्झल्यमकिति (६।१।५८)। अम् आगम।

सिध् (दिवा०)	सेद्धुम्	रम्	रन्तुम्
	प्रसेद्धुम्	क्रुश्	क्रोष्टुम्
हन्	हन्तुम्		आक्रोष्टुम्
आप्	आप्तुम्	दश्	दष्टुम्
क्षिप्	क्षेप्तुम्	दिश्	देष्टुम्
तृप्	तर्प्तुम्[1]		उपदेष्टुम्
	त्रप्तुम्	दृश्	द्रष्टुम्
	तर्पितुम्	मृश्	मर्ष्टुम्
दृप्	दर्प्तुम्		म्रष्टुम्
	द्रप्तुम्		आमर्ष्टुम्
	दर्पितुम्		विमर्ष्टुम्
लिप्	लेप्तुम्		विम्रष्टुम्
लुप्	लोप्तुम्		
वप्	वप्तुम्	रिश् (तुदा०)	रेष्टुम्
शप्	शप्तुम्	रुश् (तुदा०)	रोष्टुम्
सृप्	सर्प्तुम्	लिश् (दिवा०)	विलेष्टुम्
	स्रप्तुम्		
स्वप्	स्वप्तुम्	विश्	वेष्टुम्
रभ्	रब्धुम्		प्रवेष्टुम्
	आरब्धुम्	स्पृश्	स्पर्ष्टुम्
लभ्	लब्धुम्		स्प्रष्टुम्
गम्	गन्तुम्	कृष्	कर्ष्टुम्
नम्	नन्तुम्		क्रष्टुम्
यम्	यन्तुम्	चक्ष्	[2]ख्यातुम्
	नियन्तुम्		आख्यातुम्

१ अनुदात्त ऋदुपध धातुओं को अम् आगम विकल्प से होता है। तृप्, दृप् रधादि हैं अतः इड्-विकल्प ये अमागम के लिये ही अनुदात्त हैं।

२ चक्ष् को आर्धधातुक परे रहते ख्याञ् आदेश होता है।

अनिट् हलन्त धातुएँ

तुष्	तोष्टुम्	श्लिष्	श्लेष्टुम्, आश्लेष्टुम्, परिश्लेष्टुम्
त्विष्	त्वेष्टुम्		
दुष्	दोष्टुम्		
द्विष्	द्वेष्टुम्, विद्वेष्टुम्, प्रद्वेष्टुम्	वस् (रहना) भ्वा०	वस्तुम्
		मिह्	मेढुम्, प्रमेढुम्
पिष्	पेष्टुम्		
विष् (विष्लृ)	वेष्टुम्, विवेष्टुम्	रुह्	रोढुम्, आरोढुम्
शुष्	शोष्टुम्	वह्	वोढुम्[1]

भाव-वाचक तथा कर्तृ-भिन्न कारक वाचक कृत्

घञ्—धातुमात्र से घञ्[2]। पच्—पाक। त्यज्—त्याग। पचन पाक। त्यजन त्याग। प्रत्यय घित् है अतः धातु के च्, ज् को कुत्व हुआ[3]। रञ्ज्—राग। रजति रञ्जयति वाऽनेनेति राग। यहाँ 'करण' में प्रत्यय है। राग = अनुराग, यहाँ भाव में प्रत्यय है[4]। प्रास्यन्ति [illegible] प्रास, भाला। यहाँ कर्म में प्रत्यय है। प्रसीव्यन्ति त प्रसेव, थैला। यहाँ सिव् धातु से कर्म में प्रत्यय हुआ है। धातु को गुण। परिह्रियते त्यज्यत इति परीहार, गाँव के इर्द-गिर्द की कर-मुक्त भूमि, शामलाट। धनुशत परीहारो ग्रामस्य स्यात् समन्ततः (मनु० ८।२३७)। यहाँ कर्म में प्रत्यय है। उपसर्ग को बहुलतया दीर्घ। आहरन्ति तस्माद् रसम् इत्याहार। यहाँ आङ्पूर्वक 'हृ' [illegible] अपादान में प्रत्यय हुआ है। धातु को ञित्वनिमित्तक वृद्धि। प्रपतन्त्यस्माद् इति प्रपात = भृगु, सीधी खड़ी चट्टान। यहाँ भी अपादान में 'पत्' से प्रत्यय हुआ है

---

१ सहि-वहोरोद् अवर्णस्य (६।३।११२) इस सूत्र से ढ-लोप होने पर सह् तथा वह् धातुओं के 'अ' को 'ओ' होता है।

२ भावे (३।३।१८)। अकर्तरि च कारके संज्ञायाम् (३।३।१९)।

३ चजोः कु घिण्ण्यतोः (७।३।५२)।

४ घञि च भाव-करणयोः (६।४।२७)। इससे रञ्ज् धातु के 'न्' का लोप होता है।

और त्रित्व के कारण उपधा-वृद्धि। प्रसीदत्यत्रेति प्रासाद। यहाँ अधिकरण में प्रत्यय हुआ है। जब प्रकृति-प्रत्यय-समुदाय मनुष्य का नाम न हो, तो बहुलयता उपसर्ग को दीर्घ हो जाता है जैसे यहाँ हुआ।[1] अर्थान्तर में 'प्रसाद' (विमलता, प्रसन्नता, अनुग्रह)ऐसा भी साधु होगा। प्रदेश। प्रादेश। यहाँ अर्थभेद है। प्रदेश परिमित स्थान को कहते हैं और प्रादेश अँगूठे से तर्जनी तक फैलाये हाथ के मध्य-भाग को। कहीं-कहीं यह उपसर्ग-दीर्घत्व नित्य होता है–नीशार। नीवार। नितरां शीर्यतेऽनेन शीतम् इति नीशारं प्रावरणम्। विपणन विपण=विक्रय। भाव में प्रत्यय। यहाँ वृद्धि नहीं हुई। वृद्धि संज्ञापूर्वक विधि है और जो भी संज्ञापूर्वक विधि होती है वह अनित्य होती है, ऐसी परिभाषा है[2]। 'युग' शब्द भी घञन्त है। यहाँ भी संज्ञापूर्वक विधि होने से वृद्धि नहीं हुई अथवा आचार्य का तद्धति रथयुगप्रासङ्गम् (४।४।७६) सूत्र में वृद्धि-रहित युग शब्द का प्रयोग वृद्ध्यभाव का ज्ञापक है। पर्यङ्क्यते विश्रान्तिर्भिरिति पर्यङ्कः। परिपूर्वक अकि लक्षणे से घञ्। यहाँ घञ् संज्ञा में विधान किया है, पर कहीं-कहीं असंज्ञा में भी होता है को भवता लाभो लब्ध। को भवता दायो दत्त।

स्मरण रहे घञन्त शब्द पुंल्लिङ्ग होते हैं।

स्फुर् तथा स्फुल् के एच् को नित्य ही आत्व होता है घञ् परे रहते[3]—स्फार। स्फाल। विस्फार। विष्फार। विस्फाल। विष्फाल।

आगे विधीयमान घञ्, अप्, अच्, क्तिन् आदि यथासम्भव भाव व कर्तृ-भिन्न कारक में होते हैं।

सब धातुओं से घञ् होता है यदि घञन्त से परिमाण का बोध हो[4]—एकस्तण्डुलनिचाय, एक परिमाण विशेष वाला चावलों का ढेर। यहाँ निपूर्वक चि से भाव आदि में घञ् हुआ, इकारान्त होने से अच् की प्राप्ति थी।

---

१ उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम् (६।३।१२२)।

२ संज्ञापूर्वको विधिरनित्य।

३ स्फुरतिस्फुलत्योर्घञि (६।१।४७)। इन धातुओं को घञ् परे रहते गुण होने से एच् तो मिल जाता है पर वह औपदेशिक नहीं, अत आत्व की प्राप्ति नहीं थी।

४ परिमाणाख्यायां सर्वेभ्य (३।३।२०)।

द्रौ शूपनिष्पावौ, इतना धान्य जो दो सूपों से साफ किया जाय। द्वौ कारौ। त्रय कारा। कृ विक्षेपे से घञ्। अप् (आगे कहे जाने वाला प्रत्यय) की प्राप्ति थी।

ण्यन्त दृ तथा जृ से कर्ता अर्थ में घञ् होता है और 'णि' का लुक् हो जाता है[1]—दारयन्ति भ्रातॄन् इति दारा (पत्नी, भार्या)। जरयन्तीति जारा। 'दार' नित्य ही पु० बहु० में प्रयुक्त होता है।

इङ् अध्ययने से भाव आदि में घञ् होता है[2]। आगे कहे जाने वाले अच् का अपवाद है—अधीयत इत्यध्याय। कर्म में प्रत्यय। उपेत्याधीयते ऽस्माद् इत्युपाध्याय। अपादान में प्रत्यय। यह घञ् स्त्रीत्व विवक्षा में भी होता है (यद्यपि सामान्यतः घञ् पुस्त्वविशिष्ट भाव में होता है) और घञन्त से पाक्षिक ङीप् होता है[3]—उपेत्याधीयतेऽस्या इत्युपाध्याया उपाध्यायी वा। जिसके पास जाकर पढ़ा जाता है।

शॄ से वायु, वर्ण, निवृत (=प्रावरण) अर्थों में करण कारक में घञ्[4]—शृणात्यनेनेति शारो वायु। शृणाति चित्रीकरोत्यनेनेति शार शबल। निशीर्यते शीतम् अनेनेति नीशार प्रावरणम्।

घञ्—उपसर्ग उपपद होने पर 'रु' से[5]—सराव। विराव। उपसर्ग न हो तो 'रव' ऐसा आगे कहे जाने वाले 'अप्' प्रत्यय से रूप होगा। स्मरण रहे भाव में घञन्त तथा अबन्त (अप्-अन्त) शब्द पुल्लिङ्ग होते हैं।

सम् उपपद होने पर यु (मिलाना, जुदा करना), द्रु (पिघलना), दु (दु ख देना) से घञ्[6]—सयाव। सन्द्राव। सन्दाव। सम् न होगा तो यथाप्राप्त अप् होकर यव, द्रव, दव ऐसे रूप होंगे। 'सयाव' एक प्रकार की गेहूँ की बनी चपाती का नाम है। सन्दाव=सताप।

१ दार-जारौ कर्तरि णिलुक् च (वा०)।
२ इङश्च (३।३।२१)।
३ अपादाने स्त्रियामुपसख्यान तदन्ताच्च वा ङीप् (वा०)।
४ शॄ वायु-वर्ण-निवृतेषु (वा०)।
५ उपसर्गे रुव (३।३।२२)।
६ समि यु-द्रु-दुव (३।३।२३)।

श्रि, नी, भू से घञ् जब उपसर्ग उपपद न हो[1]—श्रि—श्राय। नी—नाय। भू—भाव। उपसर्ग उपपद होने पर यथाप्राप्त अच् अप् प्रत्यय होकर प्रश्रय, प्रणय, प्रभव रूप होंगे। प्रभाव शब्द में प्रपूर्वक 'भू' से घञ् नहीं हो सकता, अत यह घञन्त 'भाव' का प्रादि समास है। राज्ञा नय (नीति)—यहाँ सूत्र से प्राप्त घञ् क्यों नहीं हुआ? इसलिए कि 'कृत्यल्युटो बहुलम्' (३।३।११३) यहाँ 'बहुल' ग्रहण से घञ् न होकर अच् हुआ है।

वि उपसर्ग उपपद होने पर क्षु और श्रु से[2]—विक्षाव। विश्राव। अन्यत्र अप्-प्रत्यय होकर क्षव, श्रव रूप होंगे। क्षु शासना से क्षव, विक्षाव=खाँसी। श्रु से श्रव=श्रवण। विश्राव=विश्रुति=प्रसिद्धि। विश्रावस्तु प्रविख्याति—अमर।

अव, उद् पूर्वक 'नी' से घञ्[3]—अवनाय=निपातन। उन्नाय=उद्ग्रहण। उन्नय पदार्थानाम्—ऐसा प्रयोग देखा जाता है, यह कैसे उपपन्न होता है? कृत्यल्युटो बहुलम्—यहाँ बहुल-ग्रहण से घञ् रूप अपवाद की अप्रवृत्ति रही।

प्र पूर्वक द्रु, स्तु, स्रु से[4]—प्रद्राव। प्रस्ताव (अवसर)। प्रस्राव (पेशाब, बहना)। उपसर्ग न होने पर अप् होकर द्रव, स्तव, स्रव—रूप होंगे। प्रद्राव और द्रव दोनों समानार्थक हैं। ऐसे ही प्रस्राव और स्रव भी। पर प्रस्ताव और स्तव भिन्नार्थक हैं। 'प्रस्ताव' अवसर को कहते हैं और 'स्तव' स्तुति को।

निर्-पूर्वक पू से तथा अभि-पूर्वक लू से[5]—निष्पाव। अभिलाव। उपसर्ग न होने पर अप् होकर पव, लव—रूप होंगे। निर् तथा अभि धात्वर्थ की परिपूर्णता को कहते हैं। पव=पवित्र करना अथवा जिससे पवित्र किया जाय। लव=कटाई (भाव में प्रत्यय)। लव=अंश (कर्म में प्रत्यय)। लवलेशकणाणव—अमर।

---

१ श्रिणी-भुवोऽनुपसर्गे (३।३।२४)।
२ वौ क्षु-श्रुव (३।३।२५)।
३ अवोदोर्नियः (३।३।२६)।
४ प्रे द्रु-स्तु-स्रुव (३।३।२७)।
५ निरभ्योः पूल्वोः (३।३।२८)।

उद् तथा निपूर्वक गृ से[1]—उद्गार॰ समुद्रस्य (समुद्र के जलो का ऊपर उठना, ज्वार-भाटा)। मदोद्गार॰ (मदजल का बाहर निकालना)। सौजन्योद्गार, सुजनता का शब्दादि द्वारा प्रकाश। निगार=निगरण=निगलना। उद् न होने पर अप् होकर 'गर' रूप होगा जो 'विष' अर्थ मे रूढ है।

उद् तथा निपूर्वक कृ से घञ्, यदि धात्वर्थ का विषय धान्य हो[2]—उत्कारो धान्यस्य। निकारो धान्यस्य। दोनो समानार्थक हैं। उत्क्षेपण ऊपर को फेंकना अर्थ है—उत्कारश्च निकारश्च द्वौ धान्योत्क्षेपणार्थकौ—अमर।

यज्ञ-विषयक प्रयोग मे सम्पूर्वक 'स्तु' से[3]—सस्ताव। जिस भूमि मे सामग लोग एकत्र होकर साम गाते हैं उसे 'सस्ताव' कहते हैं। अमर का पाठ भी है—स सस्ताव क्रतुषु या स्तुतिभूमिर्द्विजन्मनाम्। यज्ञविषय मे अन्यत्र अप् होकर 'सस्तव' (=परिचय) रूप होगा।

घञ्—प्रपूर्वक स्तृ से घञ्, यदि यज्ञविषयक प्रयोग न हो[4]—शङ्ख-प्रस्तार। छन्द प्रस्तार। प्रस्तार=फैलाव। 'प्रस्तर' यहाँ अयज्ञ-विषय मे भी घञ् नही हुआ, अप् हुआ है। इसमे कृत् प्रत्ययो का बाहुलक से प्रयोग कारण है।

विपूर्वक स्तृ से घञ्, प्रथन (फैलाव) अर्थ मे, यदि वह प्रथन शब्द-विषयक न हो[5]—विस्तारो नद्या, नदी की चौडाई। कियानस्यागारस्य विस्तार, इस कमरे की चौडाई कितनी है? अन्यत्र अप्—विस्तरो वचसाम्। अलमतिविस्तरेण।

विपूर्वक स्तृ से, जब घञन्त छन्द (वृत्त) का नाम हो[6] – विष्टारपङ्क्ति-श्छन्द। विष्टारबृहतीछन्द।

उद्-पूर्वक ग्रह् से[7]—उद्ग्राह=ऊपर उठाना।

---

१ उन्न्योर्ग्र (३।३।२९)।
२ कृ धान्ये (३।३।३०)।
३ यज्ञे समि स्तुव (३।३।३१)।
४ प्रे स्त्रोऽयज्ञे (३।३।३२)।
५ प्रथने वावशब्दे (=वौ अशब्दे) (३।३।३३)।
६ छन्दोनाम्नि च (३।३।३४)।
७ उदि ग्रह (३।३।३५)।

सम्पूर्वक ग्रह् से, जब धात्वर्थ मुष्टि-विषयक हो[1]—अहो मल्लस्य सग्राह, मल्ल (पहलवान) का मुट्ठी बांधना आश्चर्य है। सम्-पूर्वक ग्रह् जोड़ना, इकट्ठा करना आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है। मुष्टि विषय से अन्यत्र अप् होकर 'सङ्ग्रह' रूप होगा। धनसङ्ग्रह। उक्तार्थसङ्ग्रह =कहे हुए अर्थ का सक्षेप। तत्ते पद सङ्ग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् (कठ उ० १।२।१५)।

परिपूर्वक नी तथा निपूर्वक इण् से घञ्, यदि क्रम से द्यूत-विषयक और अभ्रेष विषयक प्रयोग हो[2]। किसी पदार्थ का दुर्व्यवहार, अपप्रयोग, या अतिक्रम न करना, किन्तु जैसे चाहिए वैसे करना 'अभ्रेष' कहलाता है। परिनी—परिणाय शारारणाम्, पासो का घुमाना। अन्यत्र परिणय (अच् प्रत्यय)=विवाह। इस कर्म मे भी घुमाना (परिनो नयनम्) होता है। वेदि परितो नयन वरेण वध्वा परिणय। नि-इण्—न्याय। यान्ति न्यायप्रवृत्तस्य तिर्यञ्चोपि सहायताम् (अ० रा० १।४)। अन्यत्र निपूर्वक इण् से निर्वाध अच् होगा—न्यय गत पाप। न्यय=विनाश।

परिपूर्वक इण् से, जब अनुपात्यय (क्रमप्राप्त का अतिक्रम न करना, परिपाटी, बारी) अर्थ हो[3]—भुक्ता ब्राह्मणा, एष पर्यायो राजन्यानाम्, ब्राह्मण खा चुके हैं, अब क्षत्रियों की बारी है। अन्यत्र कालस्य पर्यय (अच् प्रत्यय)=काल का व्यतीत होना।

वि-उप-पूर्वक शीङ् से, जब पर्याय (क्रम) का बोध हो[4]—विशायिता गुरवो भवता, इदानीं मम विशाय। उपशायिता. पितृचरणास्त्वया, सम्प्रति ममोपशाय, तुम पूज्य पिताजी के समीप (उनकी देखभाल के लिए) सो चुके, अब मेरी बारी है। अन्यत्र अच् होकर विशय (=सशय, सन्देह) तथा उपशय (=घात) रूप होंगे। विशयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति (निरुक्त ३।१)। (समासादि) वृत्तियां (रचनाएँ) सन्देह वाली होती हैं। हन्ति नोपशयस्थोपि शयालुर्मृगयुर्मृगान् (माघ० २।८०)। घात लगाए बैठा हुआ ऊँघने वाला शिकारी मृगों को नहीं मार सकता

---

१ समि मुष्टौ (३।३।३६)।
२ परिन्योर्नीणोर्द्यूताभ्रेषयो (३।३।३७)।
३ परावनुपात्यय इण (३।३।३८)।
४ व्युपयो शेते पर्याये (३।३।३९)।

'हाथ से चुनना' इस अर्थ की प्रतीति होने पर, अर्थात् अभीष्ट पुष्पादि पदार्थों के हाथ की पहुँच में होने पर, 'चि' से घञ् होता है, यदि चुनना चोरी से न किया गया हो[1]—कुसुमावचायः। पुष्पप्रचाय । दूरस्थित पुष्पादिकों के चुनने में घञ् नहीं होगा—वृक्षशिखरे फलप्रचयं करोति। फलप्रचयश्चौर्येण—यहाँ भी घञ् नहीं हुआ। कवियों की कृतियों में अवचाय के स्थान में अवचय का प्रयोग देखा जाता है और अवतर के स्थान में अवतार शब्द का प्रयोग भी बहुधा मिलता है। इस व्यत्यास पर 'काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति' का कर्ता वामन लिखता है—अवतरावचायशब्दयोर्दीर्घव्यत्यासो बालानाम्। (५।२।४०)। माघ यथास्थान अवचाय शब्द का प्रयोग करता है—अविरत-कुसुमावचायखेदात् (शिशु० ७।७१)। काव्यप्रकाश में भी अवचाय शब्द का स्थान में प्रयोग है—अयत्र यूथ कुसुमावचायं कुरुध्वमत्रास्मि करोमि सख्य ।

आदेय (जिसका आदान=चयन करना है) की प्रत्यासत्ति (समीपता) होने पर भी उत्पूर्वक 'चि' से घञ् नहीं होता[2]—उच्चय पुष्पाणाम्। यहाँ अच् हुआ।

घञ्—'चि' से निवास, चिति (=चयन), शरीर तथा उपसमाधान (=राशीकरण, ढेर लगाना) अर्थों में घञ् होता है और धातु के आदि च् को क् आदेश भी होता है[3]—निकाय=निवास स्थान। काशीनिकाय = काशी निकायोऽस्य, काशीवासी। देवान् देवनिकायांश्च महर्षींश्चामितौजसः (मनु० १।३६)। देवनिकाया—देववेश्मानि (कुल्लूक)। 'चिति' में कर्म में क्तिन् है—चीयत इति। आकाय — आचीयतेऽस्मिन्निष्टका इति। अधिकरण में घञ्। अग्निस्थलविशेष। आकायमग्निं चिन्वीत=चयनेन निष्पादयेत्, ऐसा अर्थ है। काय शरीरम्। चीयतेऽस्थ्यादिकमस्मिन्निति। यहाँ भी अधिकरण में प्रत्यय है। गोमयनिकाय, गोबर का ढेर। यहाँ कर्म में प्रत्यय है। गोमयानां निकेचाय, गोबर का बार-बार ढेर लगाना। धातु के आदि को कादेश कहा है सो यहाँ यङ्लुगन्त धातु के आदि को कादेश हुआ

---

१ हस्तादाने चेरस्तेये (३।३।४०)।
२ उच्चयस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः (वा०)।
३ निवास-चिति-शरीरोपसमाधानेष्वादेश्च कः (३।३।४१)।

है, अभ्यास से उत्तर 'च्' को नहीं। इन अर्थों को छोड़कर अन्यत्र अच् होकर चय, निचय आदि रूप होंगे।

चि धातु से सङ्घ वाच्य होने पर घञ् होता है, जहां औत्तराधर्य एक-दूसरे के ऊपर-नीचे होना—यह अर्थ न हो।[1] प्राणियों के समुदाय को संघ कहते हैं—ब्राह्मणानां निकाय (=सङ्घ), ब्राह्मणनिकाय। वैयाकरण-निकाये भाष्यकारः इति प्रथते भगवान् पतञ्जलिः। पर औत्तराधर्य होने से प्राणिसमूह होते हुए भी 'शूकरनिचय' ऐसा ही अच्प्रत्ययान्त प्रयोग होगा। 'प्रमाणसमुच्चय' आदि में सङ्घ अर्थ न होने से घञ् का प्रसङ्ग ही नहीं।

णच्—कर्म-व्यतिहार (=परस्पर करणम्, आपस में एक सी क्रिया करना) गम्यमान होने पर धातुमात्र से णच् प्रत्यय होता है जब स्त्रीलिङ्ग वाच्य हो।[2] यह प्रत्यय भाव में ही होता है। णच्-प्रत्ययान्त का स्वतन्त्रतया प्रयोग नहीं होता। इससे परे अञ् तद्धित स्वार्थ में किया जाता है, तब यह प्रयोगार्ह होता है। व्यावक्रोशी, परस्पर अवक्रोशन=निन्दा। व्यावहासी, परस्पर हँसना। यहाँ णच् होकर स्वार्थिक अञ् (तद्धित) हुआ। तब अजन्त होने से स्त्रीत्व में ङीप् प्रत्यय हुआ। स्त्रीत्व वाच्य न होगा तो व्यतिपाक (आपस में पकाना)—यहाँ घञ् निर्बाध होगा। कहीं-कहीं बाधक (जैसे ण्यन्त से युच् प्रत्यय) विषय में भी बाहुलकात् णच् हो जाता है—व्यावचोरी, एक-दूसरे की चोरी। व्यावचर्ची, परस्पर पुनः पाठ।

इनुण्—अभिविधि=अभिव्याप्ति गम्यमान होने पर धातुमात्र से भाव में इनुण् (इन्) प्रत्यय है।[3] इनुणन्त का स्वतन्त्रतया प्रयोग नहीं होता। इससे स्वार्थिक तद्धित प्रत्यय अण् किया जाता है, तब यह प्रयोगार्ह होता है—सांराविणं वर्तते, चारों ओर शोर हो रहा है। यहाँ 'रु' धातु है। सम् शब्द अभिविधि का द्योतक है। अणन्त 'सांराविण' स्वभावतः नपुंसकलिङ्ग में प्रयुक्त होता है। संराविन् (इनुणन्त) से अण् परे होने पर 'टि' का लोप नहीं हुआ, कारण कि अनपत्यार्थक अण् परे होने पर इन्नन्त प्रकृत्या=अपने स्वरूप में, अवस्थित रहता है।[4] इसी प्रकार सान्द्राविणं वर्तते, चारों ओर

१ सङ्घे चानौत्तराधर्ये (३।३।४२)।
२ कर्मव्यतिहारे णच् स्त्रियाम् (३।३।४३)।
३ अभिविधौ भाव इनुण् (३।३।४४)।
४ इनण्यनपत्ये (६।४।१६४)।

भगदड़ हो रही है। यहाँ 'द्रु' धातु है। सम् अभिविधि का द्योतक है।

घञ्—अव, नि-पूर्वक ग्रह् से, आक्रोश = शाप गम्यमान होने पर[1]—अवग्राहो हन्त ते वृषल भूयात्, हे शूद्र, तुझे विघ्न उपस्थित हो। निग्राहस्ते पाप भूयात्, हे दुष्ट, तुझे दण्ड हो। आक्रोश न होने पर अवग्रहः पदस्य (पद का विभाग)—यहाँ अप् हुआ। निग्रहश्चोरस्य, चोर का पकड़ना, अथवा चोर को दण्ड।

प्र पूर्वक ग्रह् से, लिप्सा (=प्राप्ति की इच्छा) की प्रतीति होने पर[2]—पात्रप्रग्राहेण चरति भिक्षुः पिण्डार्थी, भोजन की चाह से भिक्षु पात्र लिये विचरता है। स्रुवप्रग्राहेण चरति द्विजो दक्षिणार्थी। लिप्सा की प्रतीति न हो तो अप् प्रत्यय होकर 'प्रग्रह' ऐसा रूप होगा—प्रग्रहो देवदत्तस्य, देवदत्त का बाँधे जाना। भाव में प्रत्यय। प्रग्रह बँदी (बन्दी) का भी नाम है—प्रग्रहोपग्रहौ बन्द्याम्—अमर। इस अर्थ में कर्म में अप्-प्रत्यय समझना चाहिए। रामायण (२।८२।१) में तामार्यगणसम्पूर्णां भरतः प्रग्रहां सभाम्—ऐसा पाठ है। वहाँ बाहर से आए हुए अतिथियों का जहाँ सभाजन (स्वागत) किया जाता है उस सभा को 'प्रग्रहा' कहा है। यहाँ 'प्रग्रह' स्त्रीलिंग में प्रयुक्त होने से अपवाद (अप् अन्त) नहीं हो सकता—ऐसा कहना ठीक नहीं, कारण कि 'घञबाधकौ पुंसि' यह नियम भाव में अप् के लिए है।

परिपूर्वक ग्रह् से, यदि प्रत्ययान्त का प्रयोग यज्ञ-विषय में हो[3]—उत्तर परिग्राह। अधर परिग्राह। परिग्राह=वेदी के चारों ओर बाड़ लगाना।

निपूर्वक वृङ् अथवा वृञ् से, यदि प्रत्ययान्त धान्य का वाचक हो[4]—नीवारा नाम व्रीहयः। उपसर्ग को दीर्घ हुआ है। धान्य से अन्यत्र निवरा कन्या, ऐसे अप् प्रत्यय करके कहेंगे। निश्चित वियते इति निवरा। कर्म में अप्।

उद्-पूर्वक श्रिञ् यु, पू, द्रु से[5]—श्रि—उच्छ्राय (उन्नति, ऊँचाई)। यु—उद्याव। पू—उत्पाव। द्रु—उद्द्राव। पतनान्ताः समुच्छ्रयाः (रा० २।१०५।१६)

१　आक्रोशेऽवन्योर्ग्रहः (३।३।४५)।
२　प्रे लिप्सायाम् (३।३।४६)।
३　परौ यज्ञे (३।३।४७)।
४　नौ वृ धान्ये (३।३।४८)।
५　उदि श्रयति-यौति-पू-द्रुवः (३।३।४९)।

यहाँ अच् कैसे हो गया ? अगले सूत्र में जो 'विभाषा' पढ़ा है उसका इस सूत्र में सिंहावलोकित न्याय (=सिंह का पीछे की ओर देखना इस ढंग) से सम्बन्ध हो जाने से पक्ष में अच् हो जायगा।

आङ्पूर्वक रु तथा प्लु से घञ् विकल्प से[1]। पक्ष में यथाप्राप्त अप् होगा—आराव। आरव। आप्लाव। आप्लव। स्नान। आङ्पूर्वक प्लु का नहाना अर्थ है—स्नातक आप्लुतो व्रती—अमर।

अव पूर्वक ग्रह् से घञ् विकल्प से। पक्ष में यथाप्राप्त अप्, जब वर्ष-प्रतिबन्ध=अनावृष्टि अर्थ हो[2]—वृष्टिर्भवति सस्यानामवग्रहविशोषिणाम् (रघु० १।६२)। वृथैव सीता तदवग्रहक्षताम् (कुमार० ५।६१)। इस अर्थ में घजन्त 'अवग्राह' का प्रयोग विरल है।

प्र-पूर्वक ग्रह् से विकल्प से घञ्, पक्ष में यथाप्राप्त अप्, यदि प्रत्ययान्त तुलासूत्र को कहे[3]—तुलाप्रग्राहेण चरति वणिगन्यो वा, तुलासूत्र से व्यवहार करता है बनिया अथवा कोई और। 'तुलाप्रग्रहेण' ऐसा भी कह सकते हैं।

रश्मि=बागडोर अर्थ में भी प्र-पूर्वक ग्रह् से विकल्प से घञ्[4]—प्रगृह्यतेऽनेनाश्व इति प्रग्राहः प्रग्रहो वा। यहाँ करण में प्रत्यय है। इस अर्थ में वस्तुगत बहुत्व को लेकर प्रग्रह, प्रग्राह, रश्मि का बहुवचन में प्रयोग होता है। इसी अर्थ में 'अभीषु' शब्द का भी बहुवचन में प्रयोग होता है—प्रगृह्यन्तामभीषवो यावदवतरामि (शाकुन्तल)।

प्रपूर्वक वृञ् से विकल्प से घञ्, पक्ष में यथाप्राप्त अप्, यदि प्रत्ययान्त आच्छादन-विशेष का नाम हो[5]—प्रावार (घञ्)। प्रवर (अप्)। पूर्वत्र 'उपसर्गस्य घञि ' से उपसर्ग को दीर्घ भी होता है।

परि-पूर्वक भू से विकल्प से घञ्, पक्ष में यथाप्राप्त अप्, यदि प्रत्ययान्त अवज्ञान=तिरस्कार का अभिधायक हो[6]—परिभाव। परिभव। परिभवो-

१ विभाषाऽऽङि रुप्लुवोः (३।३।५०)।
२ अवे ग्रहो वर्ष-प्रतिबन्धे (३।३।५१)।
३ प्रे वणिजाम् (३।३।५२)।
४ रश्मौ च (३।३।५३)।
५ वृणोतेराच्छादने (३।३।५४)।
६ परौ भुवोऽवज्ञाने (३।३।५५)।

प्रहारिणोऽनर्थाः। घञन्त परिभाव के उपसर्ग को दीर्घ करके 'परीभाव' भी कह सकते हैं—अनादरः परिभवः परीभावस्तिरस्क्रिया—अमर।

अच्—कृत्यल्युटो बहुलम् (३।३।११३) तक (इससे पहले-पहले) भावे और अकर्तरि च कारके संज्ञायाम् की अनुवृत्ति आती है।

इकारान्त धातु से भाव में तथा यथासम्भव कर्तृ-भिन्न कारक में अच् प्रत्यय आता है[१]—इण्—अय। शुभ दैव। वि-पूर्वक—व्यय (खर्च, नाश)। आङ्पूर्वक—आय। प्र-आङ् पूर्वक—प्राय। अदन्त 'प्राय' का अर्थ भूमा=बाहुल्य है और सर्वस्वत्यागपूर्वक अनशन द्वारा मरना भी अर्थ है—प्रायेण-कृतकृत्यतया मृत्योरुद्विजते जनः। प्रायोपवेशनमतिर्नृपतिर्बभूव (रघु० ८।९४)। चय। जि—जय, जीत। भाव में प्रत्यय। जयोऽस्य। जयत्यनेनेति जयः। करण में प्रत्यय। ततो जयमुदीरयेत् इस भारत वाक्य में भी 'जय' में करण में प्रत्यय है। क्षि—क्षय, हानि, नाश। भाव में प्रत्यय। क्षिप्रं पीत्वा क्षयं गतः—इस द्व्यर्थक वाक्य में 'जल पीकर घर गया' यह भी अर्थ है। यहां 'क्षय' में अधिकरण में अच् हुआ है—क्षियति निवसत्यत्रेति क्षयः। क्षि निवासगत्योः। स्मरण रहे, भाव-आदि में अच्-प्रत्ययान्त पुंल्लिङ्ग होता है।

भी, वृष् आदि से नपुंसकत्व विशिष्ट भाव में क्त, ल्युट् न होकर अच् होता है, ऐसा वार्तिककार कहते हैं[२]—भयम्। वर्षम्। वृषभो वर्षणात् इस भाष्य-प्रयोग से ल्युट् भी होता है।

अप्—ऋकारान्त तथा उकारान्त धातुओं से भाव आदि में अप् होता है[३]। यह धातुमात्र से विहित घञ् का अपवाद है। यहां सूत्र में 'उ' को तपर (त् से परे भी 'तपर' होता है) नहीं पढ़ा है, केवल उच्चारण-सौकर्य के लिए 'उ' से पूर्व 'द्' पढ़ा है। ऋकारान्त—कृ—कर। किरत्यनेनेति करः=हस्त। शृ—शृणात्यनेन शरः। गृ—गीर्यते निगीर्यते इति गरः (विष)। विस्तृ—विस्तीर्यत इति विष्टरः, आसन। उकारान्त—स्तु—स्तवन स्तव (भाव में प्रत्यय)। स्तूयतेऽनेनेति वा, स्तोत्र। पू—पव। लू—लव (कटाई, अन्न)। नूयते स्तूयते इति नवः, नया। कर्म में प्रत्यय। अदादि नु

१ एरच् (३।३।५६)।
२ अज्विधौ भयादीनामुपसंख्यानम् (वा०)।
३ ऋदोरप् (३।३।५७)।

अथवा तुदादि नृ। प्रपूर्वक सृ से अप होकर 'प्रसर' निष्पन्न होता है। इसमें बहुल-ग्रहण कारण है। अथवा दीक्षित के अनुसार प्रसर, अवसर आदि में 'पुंसि सञ्ज्ञायां घः प्रायेण'(३।३।११८)से'घ'हुआ है, अप् नहीं। **परिसरन्त्यत्रेति** परिसर, पर्यन्त भू, इर्द-गिर्द की भूमि। यहां भी 'घ' प्रत्यय हुआ है।

अप्—ग्रह्, वृ, दृ, निस्पूर्वक चि, गम् से भाव आदि में[1]—ग्रहण **ग्रह, गृह्यत इति वा।** **वियत इति वर।** कन्या जिसे पति-रूप में चुनती है उसे 'वर' कहते हैं। **तपोभिरिष्यते यस्तु देवेभ्य स वरो मत**, तपस्या द्वारा देवताओं से जिस पदार्थ की चाह की जाती है, उसे 'वर' कहते हैं। दृ—**दर**=दराड। **प्रदर**=स्त्रीरोग-विशेष=अति रज सृति। निस् चि—**निश्चय**। यहाँ अप् अच् का अपवाद है। गम्—**गम**। **आगम**। वश (अदा०, चाहना), तथा रण् (भ्वा०,शब्द करना) से भी वार्तिक के अनुसार अप् होता है[2]—**वश**=इच्छा। यही मुख्यार्थ है—**त्वत्य वशे वश**, हे आत्य, जो तेरी इच्छा। **यथा वशम्**=यथेच्छम्। **किंचित्स्ववशात् क्रियते किंचित्परवशात्**। आयत्त तथा आयत्तता—ये 'वश' के औपचारिक अर्थ हैं—**सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्** (मनु० ४।१६०)। वश् से भाव में घञ् प्राप्त था, सो उसका यह अपवाद है। **रणन्त्यस्मिन् योद्धार इति रण**। अधिकरण में अप्।

क—घञ् के अर्थ में वार्तिककार स्था, स्ना, पा, व्यध्, हन्, युध्—इन धातुओं से क (अ) प्रत्यय का विधान करते हैं[3]—**प्रतिष्ठन्तेऽस्मिन्निति प्रस्थ**=सानु, पर्वत के ऊपर की समतल भूमि। **प्रतिष्ठन्ते**=चलन्ति, गतागत कुर्वन्ति, सचरन्ति। अधिकरण में क। **प्रस्नान्त्यस्मिन्निति प्रस्न**, नहाने के लिए पानी का भरा टब। **प्रपिबन्त्यस्याम् इति प्रपा**, पानीयशालिका, प्याऊ। **आविध्यन्ति तेनेत्याविध**, मोची का टेकुआ। करण में प्रत्यय। **विघ्नन्तेऽस्मिन्निति विघ्न**। अधिकरण में प्रत्यय। यहाँ 'क' परे रहते धातु की उपधा का लोप। लोप होने पर हृ और न् का आनन्तर्य होने से 'हृ' को घ्। **आयुध्यन्तेऽनेनेत्यायुधम्**, हथियार।

अन्यत्र भी शिष्टों के प्रयोगों में घञर्थ में 'क' देखा जाता है—उपाध्य।

---

१ ग्रह्-वृ-दृ-निश्चि-गमश्च (३।३।५८)।
२ वशि-रण्योरुपसङ्ख्यानम् (वा०)।
३ घञर्थे क-विधान स्था-स्ना-पा-व्यधि-हनि-युध्यर्थम् (वा०)।

उपाख्यायते प्रत्यक्षत उपलभ्यत इत्युपाख्य । उपाख्य से भिन्न अनुपाख्य=अनुमेय । सूत्रकार का प्रयोग भी है—द्वितीये चानुपाख्ये (६।३।८०) । स्रुघ्न स्रुघोऽस्मिन् हन्यन्ते इति (कैयट) । आढ्य—यहाँ भी आङ्पूर्वक ध्यै से 'क' प्रत्यय हुआ है और पृषोदरादि होने से ध् को ढ् । आध्यायन्ति तम् इत्याढ्य । अर्थी अथवा दरिद्र लोग जिसका उत्सुकतापूर्वक स्मरण करते हैं । आढ्य=धनी ।

अप्—उपसर्गपूर्वक अद् से अप्[1]—विघस । प्रघस । घञ् तथा अप् परे रहते अद् को घस्लृ (घस्) आदेश होता है । विघस भोजन-शेष को कहते हैं । ब्राह्मण, अतिथि-आदि के भोजन करने के पश्चात् जो अन्न बचे उसे विघस कहते हैं । मनु का वचन भी है—विघसाशी भवेन्नित्यं नित्यं वामृतभोजन । विघसो भुक्तशेषं स्याद् यज्ञशिष्टमथामृतम् (४।२८५) ॥ उपसर्ग के अभाव में 'घास' ऐसा घञन्त रूप होगा ।

ण—निपूर्वक अद् से 'ण' प्रत्यय होता है और अप् भी[2]—न्याद (ण) । णान्त का स्वभाव से पुंल्लिंग में प्रयोग होता है—न्याद । निघस (अप्) ।

अप्—व्यध् तथा जप् से भाव आदि में अप्, जब उपसर्ग न हो[3]—व्यध । जप । उपसर्ग होने पर तो घञ् होगा—आव्याध । उपजाप (काना-फूसी) । आ समन्ताद् व्यधनम्=आव्याध । उपेत्य जपनं कर्णे कथनम् उपजाप ।

स्वन्, हस् से विकल्प से अप्, जब उपसर्ग न हो[4]—स्वन (अप्) । स्वान=शब्द (घञ्) । हस (अप्) । हास (घञ्) । उपसर्ग होने पर तो नित्य घञ् होगा—प्रस्वान । प्रहास । उपहास । परिहास । यहाँ सर्वत्र भाव में प्रत्यय है । स्मरण रहे, भाव-घञन्त नित्य पुंल्लिङ्ग होते हैं ।

सम्, उप, नि, वि—इन उपसर्गों के उपपद होने पर और उपसर्गाभाव में भी यम् धातु से विकल्प से अप् आता है, पक्ष में औत्सर्गिक घञ् भी[5]—

---

१ उपसर्गेऽदः (३।३।५९) ।
२ नौ ण च (३।३।६०) ।
३ व्यधजपोरनुपसर्गे (३।३।६१) ।
४ स्वन-हसोर्वा (३।३।६३) ।
५ यमः समुप नि-विषु च (३।३।६३) ।

संयम । संयाम । यम । याम । उपयम (स्वीकार, विवाह) । उपयाम । नियम । नियाम । वियम । वियाम । सोपसर्गक यमन्ता का साहित्य में प्रयोग विरल है । शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः । अहिंसा-सत्यास्तेय-ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः । 'याम' का प्रहर (पहर) अर्थ भी है—त्रियामा = यामिनी = रात्रि ।

'नि' उपपद होने पर गद, नद्, पठ्, स्वन् से विकल्प से अप् ।[1] पक्ष में घञ्—निगद । निगाद (घञ्) । एतन्निगदव्याख्यातम्, यह पाठ में ही व्याख्यात है । व्याख्या की अपेक्षा नहीं । निनद । निनाद । निपठ । निपाठ । निस्वन । निस्वान । उपसर्गाभाव में बाहुलक[2] से गद् से अप् होकर गद (वाक्य, भाषण) । नद्, पठ्, स्वन् से घञ् होकर नाद, पाठ, स्वान—ये रूप होंगे ।

निपूर्वक क्वण् से विकल्प से अप्, तथा उपसर्गाभाव में भी । वीणा-विषयक प्रयोग में 'नि' से अतिरिक्त कोई और उपसर्ग होने पर भी—अप् विकल्प से[3]—निक्वण । निक्वाण (घञ्) । क्वण । क्वाण (घञ्) । प्रक्वण: प्रक्वाणो वा वीणायाः । कल्याणप्रक्वणा वीणा ।

उपसर्गाभाव में मद् से अप्, अन्यत्र यथाप्राप्त घञ्[4]—मद । विद्यामद । कुलमद । प्रमाद । प्रमादोऽनवधानता—(अमर) उन्माद, पागलपन । उन्मादः चित्तविभ्रमः—अमर ।

प्रमद, सम्मद, दोनों हर्ष-अर्थ में अप्-प्रत्ययान्त निपातन किए हैं ।[5] सोपसर्गक मद् से अप् की प्राप्ति नहीं थी । कन्यानां प्रमदः । कोकिलानां सम्मदः ।

सम्, उद्पूर्वक अज् (=गति, क्षेपण) से अप्, यदि धात्वर्थ का विषय पशु हो[6]—सम्पूर्वक अज् समुदाय अर्थ को कहता है और उद्पूर्वक प्रेरण

---

१. नौ गद-नद-पठ-स्वनः (३।३।६४) ।
२ कृत्यल्युटो बहुलम् । यहाँ बहुल-ग्रहण से दूसरे कृत्-प्रत्यय भी अपने अभिधेय को छोड़ जाते हैं, इस से या पचादच् कर्म में हुआ है ।
३ क्वणो वीणायां च (३।३।६५) ।
४. मदोऽनुपसर्गे (३।३।६७) ।
५. प्रमद-सम्मदौ हर्षे (३।३।६८) ।
६ समुदोरजः पशुषु (३।३।६९) ।

(हाँककर निकालना) को। समज पशूनाम्। उदज पशूनाम्। अन्यत्र समाजो ब्राह्मणानाम्, ब्राह्मणों का समुदाय। उदाज क्षत्रियाणाम्, योद्धाओं का (सेनानी द्वारा) युद्धार्थ ले जाया जाना, अथवा प्रयाण। तस्माद्राजा संग्राम जित्वोदाजमुदजते (मै० सं० १।१०।१६)।

'ग्लह' यह अप्-प्रत्ययान्त निपातन किया है जब धात्वर्थ का विषय अक्ष (पासा) हो[1]—अक्षस्य ग्लह। ग्रह से अप् तो पहले से सिद्ध है, अक्ष विषय में लत्व के लिए निपातन किया है।

प्रजन (गर्भाधान) विषय में सृ धातु से अप्[2]। घञ् का अपवाद। गवामुपसर। स्त्रीगवीषु पुंगवानां गर्भाधानाय प्रथममुपसरणमुपसर, अर्थात् गौ पर बैल का गर्भाधान के लिए पहली बार चढ़ना।

नि, अभि, उप, वि—इन उपसर्गों के उपपद होने पर ह्वेञ् से अप् और धातु को सम्प्रसारण[3]—निहव। अभिहव। उपहव। विहव। अन्यत्र घञ् होकर 'प्रह्वाय' रूप होगा।

आङ्पूर्वक ह्वेञ् से अप्, तथा धातु को सम्प्रसारण, जब प्रत्ययान्त युद्ध का वाचक हो[4]—आहूयन्तेऽस्मिन्निति आहव। युद्ध अर्थ न होगा तो आह्वाय (बुलाना) यह घञन्त रूप होगा। धातु को आत्व होकर कृद् प्रत्यय के जित् होने से युक्-आगम।

निपान (कुएँ के समीप पशुओं के लिए जलाधार) अर्थ में अप्-प्रत्ययान्त 'आहाव' शब्द का निपातन किया है[5]। यहाँ धातु को सम्प्रसारण तथा वृद्धि भी निपातित की है।

अनुपसर्ग ह्वेञ् से अप् तथा सम्प्रसारण, भाव अभिधेय होने पर[6]—हवे हवे सुहवं शूरमिन्द्रम् (ऋग्० ६।४७।११)। हव=पुकार।

---

१ अक्षेषु ग्लहः (३।३।७०)।
२ प्रजने सर्तेः (३।३।७१)।
३ ह्वः सम्प्रसारणं च न्यभ्युप-विषु च (३।३।७२)।
४ आङि युद्धे (३।३।७३)।
५ निपानमाहावः (३।३।७४)।
६ भावेऽनुपसर्गस्य (३।३।७५)।

उपसर्ग-रहित हन् से भाव मे अप् और साथ ही हन् को 'वध' आदेश[1]—तालस्य पतन काकस्य च वध । वधश्चोराणाम् । वधो दस्यूनाम् । घञ् का निषेध नही है—घात । विघात । प्रघात । सघात ।

मूर्ति (काठिन्य) अभिधेय होने पर हन् से अप्-प्रत्ययान्त 'घन' शब्द निपातन किया है।[2] धातु के ह को घ भी निपातन से ही होता है, किसी शास्त्र से प्राप्त नही है—दधिघन, दही की कठिनावस्था । घन पु० अप्-प्रत्ययान्त होने से । घन दधि—यहाँ धर्म (मूर्ति, काठिन्य)-वाची शब्द धर्मी (काठिन्य वाले पदार्थ) को कह रहा है । ऐसा अभिधान व्यवहारानुकूल है ।

अन्तर्घन अथवा अन्तर्घण[3]—यह बाहीक जनपद मे देश-विशेष का नाम है। अप्-प्रत्ययान्त निपातन किया है। जयमगला टीका के अनुसार भट्टि (७।६२) मे प्रयुक्त अन्तर्घण का अर्थ 'बाहरी द्वार को लाँघकर भीतरी खुली जगह' है ।

घर के एकदेश (एक भाग) अर्थ मे अप्-प्रत्ययान्त प्रघण, प्रघाण निपातन किये हैं[4] । बाहर के दर्वाजे के साथ के कमरे को प्रघण अथवा प्रघाण कहते हैं—प्रघाणप्रघणालिन्दा बहिर्द्वारप्रकोष्ठके—अमर ।

उद्-पूर्वक हन् से अप्-प्रत्यय करके 'उद्घन' यह निपातित किया है जब अत्याधान (ऊपर धरना) हो[5]—उद्घन । यस्मिन्काष्ठे स्थापयित्वाऽन्यानि काष्ठानि तक्ष्यन्ते स उद्घन, जिस लकडी पर रखकर दूसरी लकडियाँ काटी अथवा छीली जाती हैं उसे 'उद्घन' कहते हैं ।

अप-पूर्व हन् से 'अपघन' यह अप् प्रत्ययान्त निपातन किया है शरीराग अर्थ मे[6] । वृत्ति के अनुसार 'अपघन' जिस किसी अङ्ग को नही कहते, किन्तु हाथ-पाँव को ही । अमर तो अङ्ग प्रतीकोऽवयवोऽपघन ऐसे 'अपघन' को अगमात्र का पर्याय पढता है । कवि भी अग सामान्य मे 'अपघन' का प्रयोग करते हैं ।

---

१ हनश्च वध (३।३।७६) ।
२ मूर्तौ घन (३।३।७७) ।
३ अन्तर्घनो देशे (३।३।७८) ।
४ अगारैकदेशे प्रघण प्रघाणश्च (३।३।७९) ।
५ उद्घनोऽत्याधानम् (३।३।८०) ।
६ अपघनोऽङ्गम् (३।३।८१) ।

अयस्, वि, द्रु—इनके उपपद होने पर हन् से करण कारक मे अप्-प्रत्यय होता है और साथ ही हन् को घन् आदेश हो जाता है[1]—अयो हन्यतेऽनेनेति अयोघन, हथौडा। विहन्यतेऽनेनेति विघन। द्रु = द्रुमो हन्यतेऽनेनेति द्रुघन। कुछ लोग णत्व करके 'द्रुघण' ऐसा पढते हैं। वह भी ग्राह्य है। द्रुघन अथवा द्रुघण लविष (कुल्हाडी) आदि को कहते हैं।

परिपूर्वक हन् से करण मे अप्, हन् को 'घ'-आदेश[2]—परिहन्यतेऽनेनेति परिघ = अर्गल। 'परेश्च घाङ्कयो' (८।२।२२) मे लत्व होकर 'पलिघ' भी साधु होगा। नगरपरिघप्रांशुबाहुर्भुनक्ति (शाकुन्तल)।

उप-पूर्वक हन् से अप् करके 'आश्रय' अर्थ मे 'उपघ्न' निपातन किया है।[3] वृत्ति के अनुसार सूत्र मे आश्रय शब्द का सामीप्य लक्ष्यार्थ है। पर्वतोपघ्न। ग्रामोपघ्न। ग्राम के समीप की भूमि। कवि कालिदास तो मुख्य आश्रय अर्थ मे 'उपघ्न' का प्रयोग करता है—छेदादिवोपघ्नतरोर्व्रतत्यौ (रघु० १४।१)। आश्रयभूत वृक्ष के कट जाने से दो वेलें।

सम्-पूर्वक हन् से अप् प्रत्यय करके 'सङ्घ' निपातन किया है और उद् पूर्वक हन् से 'उद्घ' (= प्रशस्त)[4]। 'सघ' प्राणिसमूह को कहता है, ऐसा वैयाकरण मानते हैं पर कवि लोग पर-वचन-निरपेक्ष होकर चलते हैं, वे जड वस्तुओ के समूह मे भी 'सघ' का प्रयोग करते देखे जाते हैं—सङ्घचारिणोऽनर्थाः (स्वप्न०)। विपत्तियाँ एक साथ आती हैं। 'उद्घ' शब्द का प्राय समास के उत्तरपद मे रूप मे प्रयोग होता है, वाक्य मे स्वतन्त्रतया नही। पर वृत्तिकार 'उद्घो मनुष्य' एसा उदाहरण देते हैं। क्षीरस्वामी भी 'उद्घ' के साथ नित्य समास नही मानते उद्घोऽसमासेऽपि। उद्घन्यत उत्कृष्टो ज्ञायत इत्युद्घ। हन्तेर्गत्यर्थस्य ज्ञानेर्थे प्रवृत्ते।

निपूर्वक हन् से अप् प्रत्यय करके निमित (= समन्तात् मित, चारो ओर समान-परिमाण, जिसका घेरा और ऊँचाई बराबर है) अर्थ मे निपातित किया है[5]—निघा वृक्षा = समानारोहपरिणाहा। निघा आलय।

---

१ करणेऽयो वि द्रुषु (३।३।८२)।
२ परौ घ (३।३।८४)।
३ उपघ्न आश्रये (३।३।८५)।
४ सङ्घोद्घौ गण प्रशसयो (३।३।८६)।
५ निघो निमितम् (३।३।८७)।

क्त्रि—'डु' इत्संज्ञक धातु से भाव-आदि में 'क्त्रि' प्रत्यय होता है[1], पर इस का (क्त्रि-प्रत्ययान्त का) स्वतन्त्रतया वाक्य में प्रयोग नहीं होता है। इससे स्वार्थिक तद्धित प्रत्यय 'मप्' करके इसको प्रयोगार्ह बनाया जाता है—डुपचष् पाके—पक्त्रिमम्=पाकेन निर्वृत्तम्, पकाया हुआ। डुकृञ्—कृत्रिमम्=क्रियया निर्वृत्तम्=बनावटी। डुवप्—वापेन निर्वृत्तम्=उप्त्रिमम्=बोने से उपजा हुआ।

अथुच्—'टु' इत्संज्ञक धातु से भाव-आदि में अथुच् (अथु)[2]—टुवेपृ—वेपथु=कम्प। टुओश्वि—श्वयथु=शोथ। टुक्षु—क्षवथु=खाँसी। अथुच्प्रत्ययान्त स्वभाव से पुल्लिंग होते हैं।

नङ्—यज्, याच्, यत्, विच्छ्, प्रच्छ्, रक्ष्—से भाव आदि में[3]—यज् न=यज्ञ (चवर्ग के योग से 'न्' को 'ञ्')। याच्ञा। यहाँ भी न् को ञ्। याच् से नङ् स्वभावतः स्त्रीत्व का वाचक होता है, अतः टाप् हुआ। यत्न। विच्छ्—न=विश्न=गति। यहाँ प्रत्यय के ङित् होने से 'च्छ्' को 'श्' हुआ[4]। प्रच्छ्—न=प्रश्न। यहाँ भी 'श्' हुआ। सम्प्रसारण प्राप्त था, पर नहीं होता। इसमें आचार्य का 'प्रश्ने चासन्नकाले' (३।२।११७) इस सूत्र में प्रश्न शब्द का प्रयोग ज्ञापक है। नङ् प्रत्ययान्त पुल्लिंग होते हैं, याच्ञा को छोड़कर।

नन्—स्वप् से भाव में[5]—स्वप्न। स्वप्न पुल्लिंग है।

कि—उपसर्ग उपपद होने पर घु-संज्ञक धातुओं से भाव-आदि में कि[6]। दा, दाण्, देङ्, दो, धा, धेट्—ये घुसंज्ञक हैं। प्रत्यय को कित् किया है ताकि धातु के 'आ' का लोप हो सके। प्रदि (उपदा, उपहार, भेंट) उपाधि। आङ्दा—आदि। प्रधि=नेमि। निधि। सन्निधि। उपधि, कपट। आधि, मानसी व्यथा। व्याधि, शरीर का रोग। अन्तर्धि, छिपना। कि-विधि के

१　ड्वितः क्त्रिः (३।३।८८)।
२　ट्वितोऽथुच् (३।३।८९)।
३　यज-याच-यत-विच्छ-प्रच्छ-रक्षो नङ् (३।३।९०)।
४　च्छ्वोः शूडनुनासिके च (६।४।१९)।
५　स्वपो नन् (३।३।९१)।
६　उपसर्गे घोः किः (३।३।९२)।

लिए अन्तर्, जो उपसर्ग नहीं है, उपसर्ग मान लिया जाता है। कि प्रत्ययान्त पुँल्लिंग होते हैं।

कर्म उपपद होने पर घु-संज्ञक धातुओं से अधिकरण कारक में[1]—जल धीयतेऽस्मिन्निति जलधि समुद्र। उदक धीयतेऽत्रेत्युदधि समुद्र। यहाँ 'उदक' को 'उद' भी होता है। शरा धीयन्तेऽत्रेति शरधि, तूणीर। इषवो धीयन्तेऽनेति इषुधि। इषुधि स्त्रीलिंग भी होता है। ओष प्लोषो दाहो दीप्तिर्वा धीयतेऽस्याम् इत्योषधि। ओषधि नित्य-स्त्रीलिंग है। कि-प्रत्ययान्त प्रायः पुँल्लिंग होते हैं।

स्त्र्यधिकारोक्त कृत्-प्रत्यय

क्तिन्—स्त्रीत्व-विशिष्ट भाव-आदि अर्थों में धातुमात्र से क्तिन् (ति) प्रत्यय आता है।[2] घञ् का अपवाद है। अच् और अप् को परे होने से बाधता है। क्तिन् वलादि आर्धधातुक कित् प्रत्यय है। सेट् धातुओं से इट् प्राप्त था, सो ति-तु-त्र-त-थ सि-सु-सर-क-सेषु (७।२।९) से रुक जाता है। कित् होने से धातु को गुण नहीं होता—अशूङ् (अश्)—अष्टि। इट् विकल्प प्राप्त था। इट् का प्रत्यन्ताभाव रहता है। विपूर्वक—व्यष्टि। सम्पूर्वक—समष्टि। वन्—वति। तन्—तति। वन्, तन् उदात्तोपदेश अर्थात् सेट हैं, पर यहाँ इट् नहीं हुआ। प्रत्यय के झलादि कित् होने से अनुनासिक-लोप हुआ है। गम्—गति। यम्—यति। रम्—रति। मन्—मति। नम्—नति। हन्—हति। (=आघात, घात)। गम् आदि अनुदात्तोपदेश हैं, अतः अनुनासिक-लोप हुआ। अधि—इङ्—अधीति (पढ़ना)। इण्—इति। प्रतिपूर्वक—प्रतीति (ज्ञान, बोध)। ईङ् (गत्यर्थक दिवा०)—ईति। अतिवृष्टिरनावृष्टिर्मूषकाः शलभाः शुकाः। प्रत्यासन्नाश्च राजानः षडेता ईतयः स्मृताः॥ कृ—कृति। चि—चिति। विपूर्वक—विचिति, ढूँढ, खोज, तलाश, परीक्षा, विचार। दृदोर्विचिति, वृत्तपरीक्षा। नी—नीति। री (ङ्) बहना—रीति। रीतीर्निर्वर्तयामास काञ्चनाञ्जनराजतीः (हरिव० २।४२।६०)। रीति=धारा। इस प्रयोग में मूल धात्वर्थ उपस्थित है। परम्परा, रचना-विशेष (शैली), प्रकार आदि सब गौण अर्थ हैं। नु—नुति। स्तु—स्तुति। विपूर्वक क्लिद्—

१　कर्मण्यधिकरणे च (३।३।९३)।

२　स्त्रियां क्तिन् (३।३।९४)।

विक्लित्ति। तण्डुलादि के अवयवों का शिथिल होना। दो—दिति। मा—मिति। अनुपूर्वक—अनुमिति। उपपूर्वक—उपमिति। स्था—स्थिति। स्फाय्—स्फाति, वृद्धि, समृद्धि। अप-चाय् (पूजा करना)—अपचिति। यहाँ चाय् को 'चि' नित्य[1] होता है। निष्ठा में विकल्प से। अर्द्—अर्ति। इडभाव। विनश्—विनष्टि। न चेदिहावेदीन्महती विनष्टि (केन उप०)।

आप् आदि धातुओं से क्तिन् होना है, ऐसा वार्तिक पढा है[2]—आप्ति (प्राप्ति)। राध्—राद्धि (=सिद्धि)। दीप्—दीप्ति। आप् आदि के लिए प्रयोगों का अनुसरण करना होगा। सुपूर्वक अस्—स्वस्ति। ध्वस्—ध्वस्ति। यह वार्तिक 'गुरोश्च हल' (३।३।१०३) जो 'अ' विधान करता है, उसका अपवाद है। लभ्—लब्धि। यहाँ षित् (डुलभष्) होने से अङ् प्राप्त था। उसका अपवाद क्तिन् होता है।

श्रु, यज्, इष्, स्तु—से करण कारक में[3]—श्रूयतेऽनया श्रुतिः, श्रोत्रम्। इज्यन्ते पूज्यन्ते देवा अनयेति इष्टिः यागः। प्रत्यय के कित् होने से सम्प्रसारण। इष् से भी इष्टि। स्तु—स्तुति। स्तूयतेऽनयेति स्तुतिः स्तोत्रम्। करण में ल्युट् की प्राप्ति थी।

नि—ग्लै, म्लै, ज्या, हा—से 'नि'[4]—ग्लानि। म्लानि। ज्यानि (हानि)। हानि। ग्लै, म्लै को उपदेशावस्था में ही 'आत्व' हो जाता है। ज्या को ङित् प्रत्यय परे रहते सम्प्रसारण होना है। यहाँ प्रत्यय ङित् नहीं, सो सम्प्रसारण नहीं हुआ। ॠकारान्त धातुओं से तथा लू आदि से क्तिन् निष्ठा की तरह होना है अर्थात् क्तिन् के त् को न् होता है[5]—कॄ—कीर्णि। कीर्ण्णि। जॄ—जीर्णि। जीर्ण्णि। शॄ—शीर्णि। शीर्ण्णि। अचो रहाभ्यां द्वे (८।४।४६) से यर् (यहाँ ण्) को वैकल्पिक द्वित्व होता है। लू—लूनि (कटाई)। पू (क्र्यादि)—पूनि।

क्विप्—सम्पद्, विपद्, प्रतिपद्—इत्यादिक शब्दों में पद् में क्विप् देखा

---

१ चायतेः क्तिनि चिभावो वाच्यः (वा०)।
२ क्तिन्नाबादिभ्यः (वा०)।
३ श्रु-यजीषि-स्तुभ्यः करणे (वा०)।
४ ग्ला-म्ला-ज्या-हाभ्यो निः (वा०)।
५ ॠकार-ल्वादिभ्यः क्तिन्निष्ठावद् भवतीति वक्तव्यम् (वा०)।

जाता है।[1] क्तिन् भी इष्ट है[2]—सम्पत्ति। विपत्ति। प्रतिपत्ति। यया॒ऽग्नि समिध्यते सा समित्।

क्तिन्—स्था, गै (गा), पा, पच—से क्तिन्[3]। सोपसर्ग आकारान्तों से अङ् प्राप्त था। पच् से भी धातु के षित् (डुपचष्) होने से अङ् प्राप्त था। स्था—प्रस्थिति। गै—सङ्गीति। पा—प्रपीति। सम्पीति। पच्—पक्ति। यहाँ भाव में ही प्रत्यय का विधान है। यदि क्तिन् अङ् का बाधक है तो अव स्था, सस्था आदि कैसे बनेंगे। सूत्रकार का 'पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायामसंज्ञायाम्' (१।१।३४) में व्यवस्था शब्द का प्रयोग ज्ञापक है कि अङ् का अत्यन्त बाध नहीं होता।

क्यप्—व्रज, यज् से भाव में[4]—व्रज्या। इज्या। क्यप् स्त्रीत्व-विशिष्ट भाव में विहित हुआ है, अतः क्यबन्त से टाप् हुआ। प्रत्यय के कित् होने से यज् को सम्प्रसारण।

सम् पूर्वक अज्, निपूर्वक सद् (निषद्), निपूर्वक पत्, मन्, विद्, षुञ्, शीङ्, भृञ्, इण्—इनसे भाव आदि में क्यप् होता है जब प्रत्ययान्त संज्ञा हो[5]—समज्या (सभा)। समजन्त्यस्याम् इति। क्यप् परे रहते अज् को 'वी' नहीं होता, ऐसा वार्तिककार कहते हैं। निषीदन्त्यस्याम् इति निषद्या (खटिया, आपण, दुकान)। निपत्या—निपतन्त्यस्याम् इति, पिच्छिला भूः। मन्—मन्यते ज्ञायतेऽनयेति मन्या, गलशिरा, गले की रग। विद्—विद्या। विदन्त्यनयेति। षुञ्—सुत्या, अभिषव। शीङ्—शय्या। शेतेऽस्याम्। शी के 'ई' को अयङ् कित् प्रत्यय परे होने से।[6] भृञ्—भृत्या (भरण)। कुमार-भृत्या। इण्—एति अनयेति इत्या शिविका (डोली, पालकी)।

---

१ सम्पदादिभ्य क्विप् (वा०)।
२ क्तिन्नपीष्यते (वा०)।
३ स्था-गा-पा-पचो भावे (३।३।९५)।
४ व्रज-यजोर्भावे क्यप् (३।३।९८)।
५ संज्ञायां समज निषद निपत-मन विद षुञ्-शीङ्-भृञ्-इणः (३।३।९९)।
६ अयङ् यि क्ङिति (७।४।२२)।

श, क्यप् क्तिन्—कृ से क्यप्, श (अ) तथा क्तिन् होते हैं भाव आदि मे[1]—कृत्या (क्यप्)। क्रिया (श)। ऋ को 'रि'[2]। कृति (क्तिन्)।

श—'इच्छा' यह श-प्रत्ययान्त निपातन किया है।[3] 'श' सार्वधातुक है। भाव-कर्म मे यक् होना चाहिये था, वह नही हुआ। इष् को इच्छ् आदेश तो हो गया। यहाँ 'श' भाव मे ही हुआ है।

परिचर्या, परिसर्या, मृगया, अटाट्या[4]—ये परिपूर्वक चर्, परिपूर्वक सृ, अदन्त चुरा० मृग, तथा अट् से 'श'-प्रत्ययान्त निपातन किये हैं।

जागर्या—यह जागृ से श-प्रत्ययान्त निपातन किया है।

अ—जागृ से 'अ' भी होता है[5]—जागरा (जागना)। टाप्।

सन् आदि प्रत्ययान्त से अ[6]—चिकीर्षा। कर्तुमिच्छा। अ-प्रत्यय होकर टाप्। जिहीर्षा। हर्तुमिच्छा। पुत्रीया। क्यच्-प्रत्ययान्त से अ, तब टाप्। लोलूया। यङन्त लू से अ, तब टाप्। पोपूया। यङन्त पू से अ, तब टाप्। सेसिधा। यङ्लुगन्त सिध् से अ। निसेसिधा। यहाँ सिचो यङि (८।३।११२) से उपसर्ग-निमित्तक षत्व तथा अभ्यास से परे धातु को षत्व नही होता। चङ्क्रमा। यङ्लुगन्त क्रम् से अ।

छत्रादिभ्यो ण (४।४।६२) मे 'चुरा' शब्द पढा है। यहाँ निपातन से 'अ' प्रत्यय और गुणाभाव हुआ है। ण्यन्त होने से युच् की प्राप्ति थी।

हलन्त धातु जो गुरुमान् (जिसमे गुरु अक्षर हो) हो, उससे भी अ[7]—ईहा (चेष्टा)। ऊहा। ईक्षा। भिक्षा। शिक्षा। हिंसा। कुण्डा (दाह)। हुण्डा। लज्जा। ईड्—इडा। यहाँ इडाया वा (८।३।५४) इस निर्देश से ह्रस्व हुआ है। कुत्सा। परिभाषा। न खलु प्रतिहन्यते कुतश्चित् परिभाषेव गरीयसी यदाज्ञा (शिशु० १६.८०)। शिञ्जा (शिजि अव्यक्ते शब्दे)। धनुर्गुण (धनुष्

१ कृञ श च (३।३।१००)।
२ रिङ् श-यक्-लिङ्क्षु (७।४।२८)।
३ इच्छा (३।३।१०१)।
४ परिचर्या-परिसर्या-मृगयाऽटाट्यानामुपसंख्यानम् (वा०)।
५ जागर्तेरकारो वा (वा०)।
६ अ प्रत्ययात् (३।३।१०२)।
७ गुरोश्च हल (३।३।१०३)।

की डोरी। ईषा। ईष् भ्वा० गत्यादि अर्थों में। मनस ईषा = मनीषा। शकन्ध्वादि होने से पररूप। जो धातु निष्ठा में सेट्, उन्हीं से 'अ' प्रत्यय होता है।[1] अत: आप् से नहीं—आप्ति।

षड्—पित् तथा भिद् आदि धातुओं से भाव आदि[2]—जृष्—जरा। ऋदृशोऽङि गुणः (७।४।१६) से गुण। त्रपूष्—त्रपा। क्षमूष्—क्षमा। भिद्—भिदा (फाड़ना)। भिदा विदारणे (ग० सू०)। पर दीवार-पत्र में भित्ति (क्तिन्)। छिद्—छिदा। छिदा द्वैधीकरणे (ग० सू०)। दो टुकड़े करना। अर्थान्तर (छिद्र) में क्तिन्—छित्ति। मृज—मृजा (शुद्धि, संस्कार)। भिष्—भिषा। गुह्—गुहा। (पर्वत का एक देश, गुफा, ओषधि)। अर्थान्तर (छिपाना) में क्तिन् होकर गूढि। श्रत्-पूर्वक धा—श्रद्धा। श्रत्=सत्य। अङ् कि-विधि के लिये श्रत् को उपसर्ग मान लिया जाता है।[3] मिथ् अथवा मेथ् भ्वा० आ० सेट्—मेधा। मेधते सगच्छतेऽनयेति। आरा=प्रतोद, आर। ऋ को गुण होकर दीर्घ होता है निपातन से।[4] अर्यन्ते प्रेर्यन्तेऽनयाऽश्वा इति। अर्थान्तर में आङ्-पूर्वक ऋ से क्तिन्—आर्ति (दुःख, कष्ट, रोग)। हृ—हारा। गुण होकर दीर्घ। कृ—कारा। कुत्र स्यत्रेति। गुण तथा दीर्घ निपातन किये हैं। कारा बंदीगृह को कहते हैं। क्षि—क्षिया। 'क्षि क्षये' से अथवा 'क्षि निवासगत्योः' से अङ्। 'इ' को इयङ्। क्षिया धर्म-व्यतिक्रम अथवा आचार-परित्याग को कहते हैं। हेति क्षियायाम् (८।१।६०) में आचार्य इस अर्थ में इसे प्रयुक्त करते हैं। तृ—तारा (आँख की पुतली, तारना)। धृन्—धारा[5] (प्रपात)। धार्यते प्रपातयत इति। अर्थान्तर में क्तिन् होकर धृति। लिख्—लेखा। रेखा। यहाँ ल को रेफादेश हुआ है। गुण निपातन से हुआ है। चुद (चुरा०) से—चूडा। यहाँ उपधा दीर्घ और द को ड् निपातन से हुए हैं। ण्यन्त से युच् की प्राप्ति थी। पीड् (चुरा०)—पीडा। वप्—वपा। वस् (निवासे)—वसा। अथवा वस आच्छादने से। सृज्—सृजा। क्तिन् भी इष्ट है—सृष्टि। कृप्—कृपा। इसे सम्प्रसारण होता है ऐसा गणसूत्र है।[6] कृप्, कृपा तथा

---

१ निष्ठायां सेट इति वक्तव्यम् (वा०)।
२ षिद्भिदादिभ्योऽङ् (३।३।१०४)।
३ श्रदन्तरोरुपसर्गवद् वृत्तिः।
४ आरा शस्त्र्याम् (ग० सू०)।
५ धारा प्रपाते (ग० सू०)।
६ कृप सम्प्रसारणं च (ग० सू०)।

गति-अर्थ में भ्वादिगण में अनुदात्तेत् पढी है। भिदादि आकृतिगण है, ऐसा स्वीकार करने से रुजा, तुला, दोला आदि अङन्त साधु हैं। 'तुला' का नौवयोधर्म—(४।४।९१) सूत्र में प्रयोग भी है। दुल उत्क्षेपे यह चुरादि धातु है, इससे युच् प्राप्त था।

अङ्—चिन्त्, पूज्, कथ्, कुम्ब्, चर्च्—इन चुरा० ण्यन्त धातुओं से अङ् होता है[1], यथाप्राप्त युच् नहीं—चिन्ता। पूजा। कथा। कुम्बा (आच्छादन)। चर्चा। चर्च अध्ययने, चुरा०।

उपसर्ग उपपद होने पर आकारान्त धातुओं से[2]—प्रदा। उपदा। (उपप्रदा, भेंट)। उपधा (धर्म, अर्थ, काम, भय आदि से अमात्य आदि का राजा द्वारा परीक्षण)। विधा (भृत्या, भृति, वेतन)। कर्मणि विधीयन्तेऽनयेति। विधा के समृद्धि, गजान्न, प्रकार—ये भी अर्थ हैं। सु-पूर्वक धेट् (धा) से सुधा। सुष्ठु धीयते पीयत इति, अमृत। श्रत् तथा अन्तर् को उपसर्ग मानकर—श्रद्धा। अन्तर्धा। (अन्तर्धि, छिपना)। आहूति, सहूति—ये उपसर्ग-पूर्वक ह्वेञ् (ह्वा) से बाहुलक से क्तिन् प्रत्यय करके साधु हैं। प्रमाङ्—प्रमा। बुधतो यदि सर्वज्ञः कपिलो नेति का प्रमा। उपमाङ्—उपमा। उपमानमुपमा। उपमीयतेऽनयेति वा।

युच्—ण्यन्त धातु से, आस् (बैठना), श्रन्थ् से युच् (अन)[3]। तब स्त्रीत्वद्योतन के लिए टाप्। चुद्—चोदना (प्रेरणा, विधायक वाक्य)। वास् (चुरा०)—वासना। रस् (चुरा०)—रसना (जिह्वा)। रसयत्यास्वादयत्यनयेति। घट् णिच्—घटना। यन्माहात्म्यवशेन यान्ति घटना कार्याणि निर्यन्त्रणम् (राज० ४।३६५)। कारि (कृ णिच्)—कारणा (परीक्षा)। कारणिक =परीक्षक। यत् (चुरा०)—यातना। नारकी यातना, नरक की पीड़ा। आस्—आसना। श्रन्थ्—श्रन्थना। श्रन्थ् यहाँ क्रयादि ली जाती है जिसका विमोचन (खोलना, ढीला करना) अर्थ है, चुरादि श्रन्थ नहीं, जिसका अर्थ है, ग्रन्थन करना। उससे ण्यन्त होने से युच् सिद्ध है।

घट्ट् (तुदादि), वन्द् (भ्वा०), विद लाभार्थक (तुदा०) से युच् होता है

---

१ चिन्ति-पूजि-कथि-कुम्बि-चर्चश्च (३।३।१०५)।

२ आतश्चोपसर्गे (३।३।१०६)।

३ ण्यास-श्रन्थो युच् (३।३।१०७)।

ऐसा वार्तिक पढा है[1]—घट्टना। वन्दना। वेदना। चुरादि विद् से तो युच् सिद्ध ही है। वेदना=अनुभव। दुःखानुभव में रूढ हो गया। विद् ज्ञाने (अदा०) से क्तिन् निर्बाध होता है—संवित्ति।

अनिच्छार्थक इष् से युच हो, ऐसा वार्तिक है[2]—अध्येषणा (सत्कार-पूर्वक कार्य करने की प्रार्थना)। अन्वेषणा=अनुसन्धान, ढूंढ। इष् गत्यर्थक दिवा० से युच्।

परिपूर्वक अनिच्छार्थक इष से युच विकल्प से[3]—पर्येषणा। परीष्टि (क्तिन्)। (परीक्षा)।

ण्वुल्—यदि प्रत्ययान्त रोग का नाम हो तो बहुलतया धातु से ण्वुल् (अक) होता है[4]। प्र छर्द्—प्रच्छर्दिका (वमन का रोग)। वि-चर्च् (चुरा०)—विचर्चिका (=पामा, गीली खुजली)। चर्च् अध्ययन अर्थ में पढी है। प्रत्यय और उपसर्ग के योग में अर्थान्तर हुआ है। प्र वह्—प्रवाहिका=संग्रहणी। भाव में प्रत्यय। वि-पद्—विपादिका=बिवाई। विपद्यते विलस्यते त्वग् यया। करण में प्रत्यय। बहुलग्रहण से अरोचक पु० (अरुचि, खाने-पीने की चाह न होना)—यहां स्त्रीलिंग नहीं हुआ। इस रोग वाले को अरोचकिन् कहते हैं। (मत्वर्थीय इनि)।

धात्वर्थ निर्देश में ण्वुल्[5]—आस्—आसिका (बैठना)। शी—शायिका (सोना, लेटना)। भिद्—भेदिका (तोड फोड)। चर्च्—चर्चिका (अध्ययन)।

इक्, श्तिप्—धातु के निर्देश में इक् और श्तिप् प्रत्यय आते हैं[6]। श्तिप् (ति) शित् होने से सार्वधातुक है। अकर्तृवाचक होने पर भी इसके परे रहते धातु से शप् आता है। इक् (इ)—पिठि। भिदि। छिदि। पचि। कित् होने से गुण नहीं हुआ। श्तिप—पचति। पठति। इगन्त और श्तिबन्त पुंलिंग में प्रयुक्त होते हैं। सम्पूर्वको भिदि सङ्गमने वर्तते। इयर्थं पचिर् इति भाष्यम्। पठतिरर्थवतायां वाचि भ्वादिषु पठित।

---

१ घट्टि-वन्दि-विदिभ्यश्च (वा०)।
२ इषेरनिच्छार्थस्य युज् वक्तव्य (वा०)।
३ परे र्वा (वा०)।
४ रोगाख्यायां ण्वुल् बहुलम् (३।३।१०८)।
५ धात्वर्थनिर्देशे ण्वुल् वक्तव्य (वा०)।
६ इक्-श्तिपौ धातुनिर्देशे (वा०)।

इण्—अज् आदि धातुओं से[1]। ण्वुल् का अपवाद। आजि। आति। आजि (युद्ध) स्त्रीलिंग है। आति पक्षि-विशेष की संज्ञा है।

इक्—कृष् आदि से[2]। कृष्—कृषि। कॄ—किरि=सूकर। गॄ—गिरि=पर्वत। कृष्यतेऽसौ कृषि। किरति भूमिम् इति किरि। बाहुलक से कर्ता में प्रत्यय।

इञ्, ण्वुल्—प्रश्न और उत्तर के गम्यमान होने पर धात्वर्थ-निर्देश में धातु से इञ्, ण्वुल् होता है, और जो कोई अन्य प्रत्यय प्राप्त होता है वह भी विकल्प से होता है[3]—का कारिमकार्षीः। का कारिकामकार्षीः। का क्रियामकार्षीः (श-प्रत्यय)। का कृत्यामकार्षीः (क्यप्)। का कृतिमकार्षीः (क्तिन्)। उत्तर—सर्वां कारिमकार्षम्। सर्वां कारिकामकार्षम्। सर्वां क्रियामकार्षम्। सर्वां कृत्यामकार्षम्। सर्वां कृतिमकार्षम्। का गणिमजीगणः, तूने कौन-सी गिनती की। गण् चुरा० अदन्त है। का गणिकाम् (=गिनती) अजीगणः। का गणनामजीगणः। यहां चुरा० अदन्त गण् से युच् हुआ है। इसी प्रकार का याजिम्, का याजिकाम्, का याचिम्, का याचिकाम्, का पाचिम्, का पाचिकाम्, का पचाम् (भट्), का पक्तिम्। का पाठिम्, का पाठिकाम् (पढाई), का पठितिम् इत्यादि जानें। का स्थायिम्, का स्थायिकाम्। का स्थितिम्। यहां प्रत्यय के ञित् णित् होने से धातु को युक्-आगम हुआ है। पठ् से क्तिन् परे रहते 'ति' सुत्रतत्व—(७।२।६) से इट् का निषेध नहीं हुआ, कारण कि वार्तिककार का कहना है कि ग्रह् आदि धातुओं से यह निषेध नहीं होता।[4]

ण्वुच्—पर्याय (परिपाटी, क्रम), अर्हण (योग्य होना), ऋण, उत्पत्ति—इन अर्थों के द्योत्य होने में ण्वुच् होता है।[5] ण्, च् इत्संज्ञक हैं। 'वु' के स्थान में 'अक' आदेश होता है। पर्याय अर्थ में—भवतः शायिका, आपके सोने की बारी। भवतोऽग्रग्रासिका (पहले खाने की बारी)। भवतोऽग्रगामिका (आगे

१ इञ् अजादिभ्य (वा०)।
२ इक् कृष्यादिभ्य (वा०)।
३ निभाषाऽऽख्यानपरिप्रश्नयोरिञ् (३।३।११०)।
४ नि-तु-त्रेष्वग्रहादीनामिति वक्तव्यम् (वा०)।
५ पर्यायार्हर्णोत्पत्तिषु ण्वुच् (३।३।१११)।

चलने की बारी) अर्ह-अर्थ में—अर्हति भवान् इक्षुभक्षिकाम् (ईख का चूसना)। ऋण-अर्थ में—इक्षुभक्षिकां मे धारयसि, जो तूने इक्षु भक्षण किया वह ऋण तूने मुझे देना है। इसी प्रकार, ओदनभोजिकाम्, पयःपायिकां मे धारयसि, जो तूने (मेरी ओर से) भात खाया, दूध पीया, वह ऋण तूने मुझे देना है अर्थात् मुझे भात खिलाना है, दूध पिलाना है। उत्पत्ति=जन्म-अर्थ में—इक्षुभक्षिका म उदपादि इत्यादि। यह ण्वुच् वैकल्पिक है। चिकीर्षा उत्पद्यते—यह भी अ प्रत्ययान्त साधु होगा।

अनि—आक्रोश=शाप गम्यमान होने पर धातु से 'अनि' होता है जब नञ् उपपद हो[1]—तस्याजननिरेवास्तु जननीक्लेशकारिणः (माघ० २।४५) माता को केवल दुःख देने वाले उसका जन्म न हो। अकरणिस्ते वृष्कृतिन् भूयात्, हे दुष्ट, तेरी क्रिया विफल हो। आक्रोश न होगा तो यथाप्राप्त क्तिन् आदि होंगे—अकृतिस्ते कटस्य प्रवाणप्रवीणस्य न सम्भाव्यते, बुनने में कुशल होते हुए तेरा चटाई को न बुनना सम्भावित नहीं। नञ् उपपद के अभाव में भी ण्वुच् नहीं होगा—मृतिस्ते वृषलिनो भूयात्।

यहाँ स्त्र्यधिकार समाप्त हुआ।

नपुंसकलिङ्ग विशिष्ट भाव में क्त होता है, इस विषय में हम निष्ठा-प्रकरण में कह चुके हैं।

ल्युट्—नपुंसकलिङ्ग भाव में ल्युट् प्रत्यय भी होता है[2]। श्रु—श्रवण। हस्—हसन, हँसना। गम्—गमन, जाना। स्था—स्थान। प्रस्थान। अव-स्थान। संस्थान, समाप्ति, मृत्यु। पर्यवस्थान, विरोध। क्रमण। संक्रमण, एक ओर से दूसरी ओर जाना। चरण। संचरण। भ्रमण।

जैसा हम कृत्य प्रकरण में कह आए हैं, कृत्य तथा ल्युट् जहाँ विहित हुए हैं उनसे अन्यत्र भी आते हैं। कृत्य के विषय में उदाहरण दिए जा चुके हैं। ल्युट् के विषय में यहाँ दिये जाते हैं। अवसिच्यत इत्यवसेचनम्। पादयोर वसेचनम्, पाँवों को धोने का जल। अवस्राव्यत इत्यवस्रावणम्, जल जो नीचे बहाया जाता है। यहाँ कर्म में ल्युट् हुआ है। राजभोजनाः शालयः। राजभोजनी शष्कुल्यः। राजभोजनं मांसम्। यहाँ भी कर्म में ल्युट् है। भुज्यन्त इति भोजनाः शालयः। राज्ञां भोजनाः=राजभोजनाः। षष्ठीसमास। भुज्यत इति

---

1. आक्रोशे नञ्यनिः (३।३।११२)।
2. ल्युट् च (३।३।११५)।

भोजनी क्षैरेयी (=क्षीर में सस्कृत पकवान)। राज्ञो भोजनी=राजभोजनी। षष्ठीसमास। अनूचानः प्रवचने साङ्गेऽधीती (अमर)। यहाँ 'प्रवचन' वेद का नाम है। प्रोच्यत इति प्रवचनो वेद। कर्म में ल्युट्। प्रस्रवत्यस्मादिति प्रस्रवणम् (उत्स, स्रोत)। अपादान में ल्युट्। प्रपतत्यस्माद् इति प्रपतन प्रपात, भृगु। प्रस्कन्दत्यस्माद् इति प्रस्कन्दनम्, वह स्थान जहाँ से छलांग लगाई जाती है।

ल्युट्—जिसके स्पर्श से धात्वर्थ के कर्ता को शारीर सुख मिले, उस कर्म के उपपद होने पर धातु से ल्युट् होता है।[1] नित्य उपपद-समास के लिये यह ल्युट्-विधान किया है, अन्यथा पूर्व-सूत्र से ही ल्युट् सिद्ध था—पय पान सुखम्। दूध का पीना शरीर को सुख देता है। ओदनभोजन सुखम्। यहाँ समास न करके पयस पानम्, ओदनस्य भोजनम् नही कह सकते। तूलिकाया उत्थान सुखम्। यहाँ अपादान तूलिका से सुख है, न कि कर्म से, सो समासाभाव में भी ल्युट् निर्बाध होता है। गुरो स्नापन सुखम्। यहाँ गुरु जिसे सुख हो रहा है वह स्नापन (नहलाना) का कर्म है, कर्ता नही, कर्ता तो शिष्य है, अत असमास रहेगा। पुत्रस्य परिष्वञ्जन सुखम्। यहाँ पुत्र के आलिङ्गन से सुख, मानसी प्रीति होती है, शारीर सुख अभिप्रेत नहीं, अत समासाभाव रहेगा।

करण तथा अधिकरण कारक मे धातु से ल्युट् होता है[2]—करण मे—इध्मप्रव्रश्चन कुठार। इध्मानां प्रव्रश्चन। प्रवृश्च्यन्तेऽनेन (इध्मानि) इति प्रव्रश्चन। इध्मप्रव्रश्चनानि निदधाति(आप० श्रौ० १—५।३)। पलाशशातन कुठार। पलाशाना किंशुकानां शातन इति पलाशशातन। शात्यन्तेऽनेनेति शातन। षष्ठीसमास। शद्लृ (शद्) ण्यन्त से ल्युट्। उपमान मुखस्येन्दु। उपमीयतेऽनेनेति। अश्वाजनीरश्वाजनीमादाय (आप० श्रौ० १८।४।१६)। अश्वान् अजन्त्यनया, कशा। अधिकरण मे—गोदोहनी पात्री। गावो दुह्यन्तेऽस्याम् इति। गवा दोहनी गोदोहनी। षष्ठीसमास। सक्तुधानी। राजधानी। राज्ञा धानी। धीयन्तेऽस्याम् इति। राजधानी नगरी का विशेषण होने से स्त्रीलिङ्ग है। प्रसिद्धिवश विशेष्य छोड दिया जाता है, जैसे 'सागराम्बरा'

---

१ कर्मणि च येन संस्पर्शात्कर्तुः शरीरसुखम् (३।३।११६)।
२ करणाधिकरणयोश्च (३।३।११७)।

(पृथिवी) में । स्मरण रहे, यह ल्युट्-विधि करण-कारक तथा अधिकरण-कारक के अभिधेय होने पर होती है, न कि इनके उपपद होने पर। अत सर्वत्र षष्ठीसमास हुआ है।

अन्य उदाहरण

करण में—दर्शन चक्षु । दृश्यतेऽनेनेति । नन्दामि पश्यन्निव दर्शनेन भवामि दृष्ट्वैव पुनर्युवेव (रा० २।१२।१०३) ॥ आचामत्यनेन इत्याचमनम् (जलम्) । दद्यादाचमन तत (याज्ञ० १।२४२) । उह्यतेऽनेनेति वाहनम् । वाहनमाहितात् (८। ।८) में वृद्धि का निपातन है। स्थान समुदय गुप्ति लब्ध-प्रशमनानि च (मनु० ७।५६) । प्रशमयत्येभिरिति प्रशमनानि प्रशमसाधनानि । तिष्ठत्यनेनेति स्थान दण्डकोषपुरराष्ट्रात्मकम् । सार्यते जलमनयेति सारणी=सेककुल्या, सेचन करने का कूल । गृहावग्रहणी । गृहस्यावग्रहणी । गृहमवगृह्यते पृथक् क्रियतेऽनया । देहली । पालाशमासन पादुके दन्तप्रक्षालनम् इति च वर्जयेत् (आप० ध० १।३२।६) । प्रक्षाल्यतेऽनेनेति प्रक्षालन दन्तकाष्ठम् । प्रवीयतेऽनेन प्राजनो दण्ड प्रवयणो वा, तोत्र, प्रतोद, आर । अज् धातु को 'यु' (अन) परे रहते 'वी'-आदेश विकल्प से होता है। पाटलिपुत्रव्याख्यानी सुकोसला । पाटलिपुत्र व्याख्यायतेऽनया । इस प्रकार के सनिवेश वाला पाटलिपुत्र है, इसे सुकोसला नगरी कहती है। प्रदिश्यतेऽनयेति प्रदेशनी, उँगली जिससे सकेत किया जाता है। टङ्क पाषाणदारण (अमर) । दार्यतेऽनेनेति दारण । अधिकरण मे—जायतेऽस्यामिति जननी । देवा इज्यन्ते पूज्यन्तेऽत्रेति देवयजनी=भूमि । षष्ठीसमास । कमलोदरबन्धनस्थम् (शाकुन्तल) । यहाँ बध्यतेऽत्रेति बन्धन कारागृहम् । अधिकरण में ल्युट् । सहन्यन्ते (सघातमापाद्यन्ते) भूतान्यत्रेति सहनन शरीरम् । जिसमे पाँच भूत इकट्ठे किये जाते हैं, वह सहनन है। शरीर का नाम है। प्रोयतेऽस्याम् इति प्रवाणी, तन्तुवायशलाका, जुलाहे की ढरकी । नवान् मणिकान् कुम्भान् आचमनीश्च (आश्व० गृ० ४।७।५) । आचमन=वह करक=कमण्डलु, जिस मे आचमन किया जाता है। व्रीहिमरण कुसूल । मांसपचनी । मांसपचनी, जिसमें मास पकाया जाता है। यहाँ विकल्प से 'मांस' के अन्त्य 'अ' का लोप हो जाता है। आर्घान्नी=जलपात्र । यमधानी—यमो धीयतेऽत्र । यमस्य धानी । नर ससारान्ते प्रविशति यमधानीजवनिकाम् (मनू० ३।११२) । तैजसावर्तनी मूषा (अमर) । तैजस स्वर्णादिकम् आवर्त्यते सन्तप्यतेऽस्यामिति तैजसावर्तनी ।

घ—पुंल्लिंग करण तथा अधिकरण को कहने के लिए प्राय 'घ' (अ) प्रत्यय होता है यदि समुदाय से संज्ञा का बोध हो[1]—दन्ताश्छाद्यन्तेऽनेनेति दन्तच्छद =ओष्ठ। कालिदास इसे 'दन्तवासस्' भी कहते हैं। उरश्छाद्यतेऽनेनेति उरश्छद। घटते चेष्टतेऽनेनेति घट। घटयति कर्माणि वाऽनेनेति। जयन्त्यनेनेति जय। जयोऽश्व, घोडा जिससे विजय प्राप्त करते हैं। इस अर्थ मे 'जय करणम्' (६।१।२०२) से 'जय' आद्युदात्त है। स्मरन्त्यनेनेति स्मर (काम, कामदेव)। त्वचति संवृणोति आच्छादयति अनेनेति त्वच (त्वच् स्त्री०)। सत्याप-पाश-वीणा—इस णिच् विधायक सूत्र मे घ-प्रत्ययान्त 'त्वच' पढा है। अधिकरण मे—एत्य कुर्वन्त्यत्रेत्याकर, खान। आङ् लीङ्—से घ। आलय गृह का नाम है। आलीयते श्लिष्यत्यत्रेति।

घ—गोचर, सचर, वह, व्रज, व्यज, आपण, निगम—ये घ-प्रत्ययान्त निपातन किए हैं करण अथवा अधिकरण के अभिधेय होने पर संज्ञा मे[2]। आगे हलन्त धातु मे करणाधिकरण मे घञ् कहेंगे, यह उसका पुरस्तात् अपवाद है—गावश्चरन्त्यस्मिन्निति गोचरो विषय। सचरन्तेऽनेनेति सचर। 'सचर' मार्ग का नाम है। वहन्ति तेन वह स्कन्ध। 'अमर' वृषभ के कन्धे को 'वह' कहता है, स्कन्ध-मात्र को नहीं—स्कन्धदेशस्त्वस्य वह। व्रजन्ति तेन व्रज, गोष्ठ, बाडा। व्यजन्ति वात क्षिपन्ति अनेनेति व्यज तालवृन्तम्, पखा। एत्य पणन्ते व्यवहरन्ति क्रयविक्रय कुर्वन्त्यत्रेति आपण, बनिए की दुकान। निगच्छन्ति निश्चित बुध्यन्ते बोध्यमत्यमनेनेति निगमो वेद। सूत्र मे 'च' पढा है वह अनुक्त के सग्रह के लिए है—कष। निकष। कष्यते निकष्यते ऽत्रेति। कसौटी। इसे निकषोपल, निकषग्रावन् भी कहते हैं।

घञ्—अव उपपद होने पर तॄ और स्तॄ से करण व अधिकरण मे संज्ञा अर्थ मे घञ्[3]—अवतारो नद्या, नदी का घाट। अवतरत्यनेन, जिसके द्वारा नदी में उतरते हैं। अवतरन्त्यस्मिन्निति अवतार, जिसमे उतरते हैं, स्नान करने का स्थान। भाव अथवा कर्ता मे 'अवतार' का प्रयोग अपाणिनीय है। वसन्तावतर, वसन्त का उतरना, के स्थान मे वसन्तावतार नहीं कहना

---

१ पुसि सज्ञाया घ प्रायेण (३।३।११८)।

२ गोचर-सचर-वह-व्रज-व्यजाऽऽपण निगमाश्च (३।३।११९)।

३ अवे तॄस्त्रोर्घञ् (३।३।१२०)।

चाहिये। इसी प्रकार यौवनावतार, परोवादनवावतार आदि भी अशुद्ध ही हैं। मत्स्याद्ययोऽवतारा, यहाँ अधिकरण में घञ् है। अवतरन्त्यस्मिन् रूपे शरीरे वेत्यवतारो रूप शरीर वा। अवस्तीर्यतेऽनेन इत्यवस्तारो जवनिका = पर्दा।

घञ्—हलन्त धातु से करण व अधिकरण कारक में घञ् होता है जब प्रत्ययान्त सज्ञा हो[1]—लेख। लिख्यतेऽनेन, लेख = लेखनी। वेद। विदन्त्यनेन वेद। ऋक्-आदि के समूह का नाम। वेद। वेवेष्टि प्रात्मानमनेन इति वेष। वेश। विशन्त्यत्रेति वेश, वेश्याओं का निवास स्थान। बन्ध। आलाबन्ध। बध्यते-ऽनेनेति बन्ध। डोर। सर्गबन्धो महाकाव्यम्। सर्गाणां बन्ध सर्गबन्ध। बध्यतेऽत्रेति बन्ध। अधिकरण में घञ। मार्ग। अपामार्ग। अपमृज्यते व्याध्यादिर् अनेन इत्यपामार्ग, इस नाम का क्षुप। विशेषेण मृज्यते शोध्यते-ऽनेनेति वीमार्ग, समार्जनी, समूहनी, झाड़ू। यहाँ उपसर्ग 'वि' को दीर्घ भी हुआ है। विनह्यतेऽनेन इति वीनाह्, कुएँ के मुँह का ढक्कना।

अध्याय, न्याय, उद्याव, सहार—ये करण व अधिकरण में निपातित किये हैं।[2] हलन्त न होने से अधिइङ् आदि धातुओं से घञ् की प्राप्ति न थी। अधीयतेऽस्मिन्नित्यध्याय। नीयतेऽनेनेति न्याय। नियन्त्यनेनेति न्याय (दीपित)। न्यायैस्त्रिभिरुदीरणम् (कुमार० २।१२)। यहाँ न्याय=स्वर (उदात्तादि) ऐसा मल्लिनाथ मानते हैं। उद्युवन्ति अस्मिन्निति उद्याव। जिसमें मिश्रण करते हैं। संह्रियतेऽनेनेति सहार, प्रयुक्त अस्त्र को वापस बुलाने का मन्त्र। वार्तिककार यहाँ अवहार, आधार, आवाय—इन तीनों में भी घञ् निपातन से चाहते हैं।[3] अवह्रियन्ते सेन्या (शिविरम्) अस्मिन् इत्यवहार, कुछ काल के लिए युद्ध विराम। अधिकरण में घञ्। आध्रियतेऽर्था अस्मिन् इत्याधार। आवयन्त्यस्मिन् इत्यावाय, सट्टी।

'उदङ्क' यह घञन्त निपातन किया है, यदि धात्वर्थ का विषय उदक (जल) न हो[4]—तैलोदङ्क। तेल की कुप्पी। उदच्यन्त उद्ध्रियते स्मिन्निति

---

१ हलश्च (३।३।१२१)।
२ अध्याय-न्यायोद्याव-संहाराश्च (३।३।१२२)।
३ अवहाराऽऽधाराऽऽवायानामुपसंख्यानम् (वा०)।
४ उदङ्कोऽनुदके (३।३।१२३)।

उदङ्क । अन्यत्र उदकोदञ्चन, पानी का डोल, जिससे जल निकाला जाता है।

'आनाय' यह जाल-अर्थ मे घञन्त निपातन किया है।[1] आङ्-पूर्वक नी धातु से करण मे घञ्। आनीयन्तेऽनेन आनाय । आनायो मत्स्यानाम्। आनायो मृगाणाम्।

घ, घञ्—खन् से करण व अधिकरण मे घ और घञ् भी[2]—आखन (घ)। आखान (घञ्)। आखनत्यनेन इत्याखन, खनित्र, कुदाल। इन्ही अर्थों मे 'ड' तथा 'डर' प्रत्यय भी होते हैं[3]—आख। आखर। आखर आवास-स्थानम्, ऐसा 'सुपर्णा वाचमक्रत' (अथर्व० ६।४९।३) पर सायणभाष्य है। करण व अधिकरण मे ही 'इक' और 'इकवक' प्रत्यय भी होते हैं[4]—आखनिक। आखनिकवक। इनका भी 'खनित्र' अर्थ है।

खल्

कृत्य-प्रकरण के प्रारम्भ मे हम कह आये हैं कि कृत्य, क्त और खल् प्रत्यय भाव और कर्म को कहने के लिये आते हैं। खल् (=अ) आर्धधातुक कृत् प्रत्यय है। इससे पूर्व धातु को गुण होता है।

खल्—कृच्छ्र (दुःख) और अकृच्छ्र (सुख) अर्थ वाले दुस्, ईषत्, सु उपपद होने पर धातु मात्र से खल्-प्रत्यय आता है।[5] कृच्छ्र का दुस् के साथ विशेषण-विशेष्य-भाव सम्बन्ध है। अकृच्छ्र का ईषत् और सु के साथ। ईषत्करो भवता कटः, आपसे चटाई आसानी से बनाई जा सकती है। सुकरो भवता कटः। इसका भी पूर्वोक्त ही अर्थ है। दुष्करो भवता कटः, आपसे चटाई कठिनता से बनाई जा सकती है। कर्म 'कट' के उक्त होने से उसमे प्रथमा हुई। 'भवत्' कर्ता के अनुक्त होने से उसमे तृतीया हुई। दुष्प्राप खलु विप्रत्व प्राप्त दुरनुपालनम् (भारत १३।१९२९)। दुर्मरत्वमहं मन्ये नृणां कृच्छ्रेऽपि

---

१ जालमानाय (३।३।१२४)।
२ खनो घ च (३।३।१२५)।
३ डो वक्तव्य। डरो वक्तव्य (वा०)।
४ इको वक्तव्य। इकवको वक्तव्य (वा०)।
५ ईषद्दु -सुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल् (३।३।१२६)।

वर्तताम् । यत् कर्णं हत श्रुत्वा नात्यजज्जीवित नृप (भा० ८।२१) ॥ यहाँ वर्तताम् 'वर्तमानानाम्' के स्थान में आर्ष प्रयोग है। अपि यत्सुकर कर्म तदप्येकेन दुष्करम् (मनु० ७।५५)। सशय सुगमस्तत्र निर्णयस्तत्र दुर्गम (भा० १३।७५३५)। दुष्कुलीना दुरासेवा । दुराचरोऽयमुपवासो विशेषतो बालेन, यह उपवास दु ख से अनुष्ठेय है विशेषकर बच्चे से। इद दुरवधारम-मेधसा, मूर्ख इसका निश्चय नहीं कर सकता। दुर्निमया कीटानुविद्धा-स्तण्डुला । कीड़ों से खाए हुए चावल बदले में नहीं दिये जा सकते।

च्व्यर्थक कर्ता और कर्म के उपपद होने पर भू तथा कृञ् से खल्, ईषद्, दुस् और सु उपपद होने पर।[1] यहाँ धातु से अव्यवहितपूर्व कर्तृ-वाची और कर्मवाची पद को रखना चाहिए, और उससे पूर्व ईषद्, दुस्, सु को प्रयुक्त करना चाहिए—स्वाढ्यम्भव भवता, आप (जो आढ्य=धनी नहीं हैं) अना-यास धनी बन सकते हैं। ईषदाढ्य भव भवता। अनाढ्येन भवता आढ्येन सुख भूयते। खल् प्रत्यय के खित् होने से 'आढ्य' को मुम् का आगम हुआ। कामयेत्स्यात् स्वाढ्यड्करोऽय बन्धुर्भवता, यदि आप चाहें तो इस बन्धु को आसानी से धनी बना सकते हैं। दुर्विनीतङ्करोऽय शिष्य उपाध्यायेन, इस शिष्य को गुरुजी कठिनता से विनीत बना सकते हैं।

युच्—ईषद् आदि उपपद होने पर खलर्थ में आकारान्त धातुओं से युच् (अन) होता है[2]—दुष्पान सोमो भवता, आप सोम नहीं पी सकते। इद सुपान त्वया। इद च दुर्दानम्। दुर्दाना सवस्वर्णा कृपणेन। मृद्घट इव सुखभेद्यो दु खसन्धानश्च दुर्जनो भवति (पञ्च० २।३६)। ईषदुपदान त्वया व्यसनप्रसक्तेन, व्यसनासक्त होने से तुम सहज में ही क्षीण हो सकते हो। यहाँ उप-पूर्वक दीङ् क्षये धातु है। इसे ण्च् के निमित्त-भूत शित् प्रत्यय परे रहने आत्व हो जाता है।

शास्, युध्, दृश्, धृष्, मृष्—से खलर्थ में युच् होता है[3]—दुःशासन। दुःखेन कृच्छ्रेण शिष्यत इति दुःशासन। दुर्योधन। दुःखेन योध्यत इति दुर्योधन, जिसके साथ लड़ना कठिन है। युध यहाँ अन्तर्भावित ण्यर्थ समझना

१ कर्तृ-कर्मणोश्च भू कृञो (३।३।१२७)।

२ आतो युच् (३।३।१२८)।

३ भाषाया शासि युधि-दृशि धृषि-मृषिभ्यो युज् वक्तव्य (वा०)।

चाहिए। विपक्ष अर्जुन-आदि दुर्योधन नाम से परोत्कर्ष झलकता है, इसलिए 'सुयोधन' शब्द का प्रयोग अधिक उचित समझते थे। दुर्दर्शन। दुःखेन दृश्यत इति दुर्दर्शन। दुःखेन धृष्यत इति दुर्धर्षण, जिसे ललकारना मुश्किल है। दुर्मर्षण। दुर्मर्षणोऽस्य क्रोध। इसका क्रोध सहना कठिन है।

क्त्वा- ल्यप्

जब दो (या दो से अधिक) धातु-वाच्य-क्रियाओं का एक ही कर्ता हो तब पूर्वकाल में होने वाली किया को कहने वाली धातु से क्त्वा प्रत्यय आता है।[1] क्त्वान्त अव्यय होता है[2]। अव्यय कृत्-प्रत्यय भाव में होते हैं[3]। भुक्त्वा व्रजति, भोजन करके जाता है। स्नात्वा भुक्त्वा पीत्वा दत्त्वा व्रजति, नहा कर, खाकर, पीकर, देकर जाता है। व्रजति च जल्पति च—यहाँ समान काल में दोनों क्रियाएँ हो रही हैं, अतः क्त्वा प्रत्यय का प्रसंग ही नहीं। आस्यं व्यादाय स्वपिति, मुँह खोलकर सोता है, नेत्रे संमील्य हसति, नेत्र बन्द कर हँसता है, इत्यादि में क्त्वा की प्राप्ति नहीं, तो भी क्त्वा (के स्थान में ल्यप्) इष्ट है। भट्टोजिदीक्षित इसका इस प्रकार समाधान करते हैं—व्यादान-संमीलनोत्तरकालेऽपि स्वापहासयोरनुवृत्तेस्तदविवक्षया भविष्यति ल्यप् इति। अर्थात्, जब मुख-व्यादान (मुँह का खोलना) तथा नेत्र-संमीलन (आँखों का बन्द करना) हो जाता है तो निद्रा और हास जारी रहते हैं, इस अंश में वे मुख-व्यादान व नेत्र संमीलन से उत्तरकालिक होते हैं, अतः ल्यप् की प्राप्ति है।

प्रतिषेधार्थक अलम् और खलु के उपपद होने पर धातु-मात्र से क्त्वा (क्त्वा के स्थान में ल्यप् भी) प्रत्यय आता है[4]। यहाँ पूर्वकालता कुछ भी नहीं, अतः अप्राप्त का विधान है—अलं रुदित्वा, मत रो। अलं बहु विकत्थ्य (मालविका), बहुत डींगें न मारिए। निर्धारितेऽर्थे लेखेन खलूक्त्वा खलु वाचिकम् (माघ २।७०), लेख द्वारा अर्थ का निश्चय किये जाने पर वाचिक = सन्देश-दान की कोई आवश्यकता नहीं। आलप्यालमिदं बभ्रोर्यत्स दारा-

१ समानकर्तृकयोः पूर्वकाले (३।४।२१)।
२ क्त्वा-तोसुन्-कसुनः (१।१।४०)।
३. अव्ययकृतो भावे।
४ अलंखल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा (३।४।१८)।

नपाहरत् (माघ २।४०)। अल वीर दृश्यां गत्वा न त्वं शोचितुमर्हसि (रा० ४।२७।३४)।

प्रतिषेधार्थक अलम् उपपद होने पर तुमुन् का प्रयोग शास्त्र विरुद्ध है, कवियों की निरकुशता का निदर्शन मात्र है—अलं सुप्तजनं प्रबोधयितुम् (मृच्छकटिक ३)। अलमात्मानं खेदयितुम् (वेणी० ३)।

उत्तर भारत के आचार्यों के मत में मेङ् (बदले में देना) से व्यतीहार=व्यतिक्रम=क्रम का उल्लंघन गम्यमान होने पर क्त्वा प्रत्यय आता है[1]। यहाँ पर काल में होने वाली क्रिया को कहने वाली मेङ् धातु से क्त्वा-विधान किया जा रहा है। मतान्तर में न्यायप्राप्त पूर्वकालिक धात्वर्थ को कहने वाली धातु से क्त्वा होगा—अपमाय (अपमित्य) याचते। याचित्वाऽपमयते। माँग कर बदले में देता है—यह दोनों वाक्यों का एक अर्थ है। ल्यप् परे रहते मेङ् (मा) के 'आ' को 'इ' विकल्प से होता है।[2]

पूर्व का पर के साथ योग तथा अवर के साथ पर का योग (=विशेषण-विशेष्य सम्बन्ध) प्रतीत होने पर धातु से क्त्वा प्रत्यय होता है।[3] पर के साथ—अप्राप्य नदीं पर्वतः स्थितः, नदी के इस ओर पर्वत है। पर-नदी-योग से पूर्व पर्वत को विशिष्ट किया जा रहा है। अतिक्रम्य पर्वतं नदी स्थिता, पर्वत को लाँघकर नदी आती है। अवर-पर्वत-योग से पर-नदी को विशिष्ट किया जा रहा है। यहाँ भी पूर्वकालता कुछ भी नहीं। बाल्यमतिक्रम्य यौवनम्, बाल्य से परे यौवन है। यद्वाचां विषयमतीत्य चेतसां वा (महा० चरित ४।१५)।

पूर्वकालता के होने पर भी यदि यद् शब्द उपपद हो और वाक्यार्थ निराकाङ्क्ष (सम्पूर्ण) हो, तो क्त्वा प्रत्यय नहीं होता[4]—यदयं भुङ्क्ते ततः पठति, पहले खाता है पीछे पढ़ता है, खाकर पढ़ता है। यहाँ भोजन-क्रिया पूर्वा है और पठन-क्रिया उत्तरा है, अतः क्त्वा की प्राप्ति थी पर यच्छब्द

---

१ उदीचां माङो व्यतीहारे (३।४।१९)।
२ मयतेरिदन्यतरस्याम् (६।४।७०)।
३ परावरयोगे च (३।४।२०)।
४ न यद्यनाकाङ्क्षे (३।४।२३)।

उपपद होने से और वाक्यार्थ के सम्पूर्ण होने से क्त्वा नहीं हुआ। ऐसे ही यदयमधीते ततः शेते, यहाँ भी। पर यदयं भुक्त्वा व्रजति, अधीत एव ततः परम्, यहाँ भोजन-क्रिया तथा व्रजन-क्रिया (=गमनक्रिया) एक वाक्य में पूर्वापर क्रम से कही हैं, पर यद् शब्द के होते हुए भी वाक्यार्थ निराकाङ्क्ष (सम्पूर्ण) नहीं होता जब तक कि दूसरे वाक्य में और क्रिया न कही जाय। अतः यहाँ क्त्वा का निषेध नहीं।

नञ्-भिन्न अव्यय पूर्व-पद का (अर्थात् गति संज्ञक प्रादियों का) क्त्वान्त के साथ समास[1] होने पर क्त्वा को ल्यप् (=य) आदेश होता है[2]। नञ् पूर्वपद वाले समास में यह आदेश नहीं होता और अनव्यय पूर्वपद वाले समास में भी—पठित्वा—प्रपठ्य। अपठित्वा। परमं कृत्वा=परमकृत्वा। ल्यप् क्त्वा के स्थान में होता है, अतः स्थानिवद्भाव से ल्यप् प्रत्यय, कृत् और कित् होता है। जैसे क्त्वान्त अव्यय होता है, वैसे ही ल्यबन्त भी। अल् धर्म होने से ल्यप् में स्थानी का तादित्व अथवा वलादित्व नहीं आता।

अकृत्वा परसन्तापमगत्वा खलनम्रताम्।
अनुत्सृज्य सतां मार्गं यत्स्वल्पमपि तद् बहु॥

दूसरों को दुःख दिये बिना, दुष्टों के सामने झुकने के बिना, अपने-आप को आयासित किये बिना जो थोड़ा भी प्राप्त होता है वह बहुत है। सूत्र में 'अनञ्पूर्व' समास का विशेषण पड़ा है। पूर्व से पूर्वपद विवक्षित है। अतः

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।
अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः॥ (मनु० ६।३५)।

में नञ् अपाकृत्य ल्यबन्त के साथ समस्त हुआ है, क्त्वान्त के साथ नहीं। क्त्वा के प्रति पूर्वपद आङ् है, नञ् नहीं, सो ल्यप् आदेश का निषेध न हुआ। आङ् का क्त्वान्त के साथ गति समास होने पर 'आकृत्य' रूप हुआ, फिर 'अप' का आकृत्य के साथ गति समास होने पर 'अपाकृत्य' रूप बना। पश्चात् नञ् का अपाकृत्य के साथ समास होकर 'अनपाकृत्य' यह रूप सिद्ध हुआ।

क्त्वा आर्धधातुक प्रत्यय है। यह कित् है, अतः सामान्यतः इससे पूर्व धातु को गुण नहीं होना है। जिन्हें कित्-प्रत्यय परे रहते सम्प्रसारण-विधान किया है उन्हें यहाँ भी सम्प्रसारण होता है। हाँ, सेट् क्त्वा कित् नहीं होता,

---

१ कुगतिप्रादयः (२।२।१८)।

२ समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप् (७।१।३७)।

अपवाद विषय को छोड़कर। न क्त्वा सेट् (१।२।१८)। वलादि आर्धधातुक होने से सेट् धातुओं से परे क्त्वा को इट्-आगम होता है। यह भी सामान्य नियम है।

क्त्वा सम्बन्धी विशेष कार्य

कित्त्व—

सेट् क्त्वा कित् नहीं होता, ऐसा पूर्व कह आये हैं पर इसके कुछ अपवाद हैं।

मृड्, मृद्, गुध्, कुष्, क्लिश्, वद्, वस् इन धातुओं से तथा रुद्, विद्, मुष्, ग्रह् से परे सेट् क्त्वा भी कित् होता है[1]—मृड्—मृडित्वा। (कित् होने से गुणाभाव)। मृद्—मृदित्वा। गुध्—गुधित्वा। (परिवेष्टन, घेर कर, लपेट कर)। कुष्—कुषित्वा (भीतरी वस्तु को बाहर निकालकर)। क्लिश्—क्लिशित्वा। क्लिष्ट्वा (इट् के अभाव में)। वद्—उदित्वा (कित् के निमित्त से सम्प्रसारण)। वस्—उषित्वा। (रहकर)। सम्प्रसारण, स् को ष्। वस् और क्षुध्—दोनों अनिट् हैं पर इन्हें क्त्वा और निष्ठा प्रत्यय (क्त, क्तवतु) परे इट् होता है[2]—उषित्वा। क्षुधित्वा। क्षोधित्वा (कित्त्व-विकल्प)। इसी प्रकार रुद्—रुदित्वा। विद् (जानना)—विदित्वा। मुष्—मुषित्वा। ग्रह्—गृहीत्वा (कित् होने से सम्प्रसारण) में भी सेट् क्त्वा कित् होता है।[3] सूत्र में स्वप् और प्रच्छ् का ग्रहण सन् प्रत्यय के लिए है। क्त्वा तो इनसे स्वतः कित् है—सुप्त्वा (सम्प्रसारण)। पृष्ट्वा (सम्प्रसारण)।

नकारोपध थकारान्त व फकारान्त धातु से सेट् क्त्वा विकल्प से कित् होता है। गुम्फ्—गुफित्वा। गुम्फित्वा। कित्त्व पक्ष में उपधा नकार का लोप। श्रन्थ्—श्रथित्वा। श्रन्थित्वा। ढीला करके।

वञ्च् (जाना), लुञ्च् (नोचना), ऋत्—इनमें सेट् क्त्वा विकल्प से कित् होता है।[4] वचित्वा। वञ्चित्वा। (उदित् होने से इट्-विकल्प)। लुञ्च् = लुचित्वा। लुञ्चित्वा। ऋत (सौत्र धातु)—ऋतित्वा। अर्तित्वा। ऋत को स्वार्थ में ईयङ्

---

१ मृड-मृद-गुध-कुष-क्लिश-वद-वसः क्त्वा (१।२।७)।
२ वसति-क्षुधोरिट् (७।२।५२)।
३ रुद-विद-मुष-ग्रहि-स्वपि-प्रच्छः संश्च (१।२।८)।
४ नोपधात्थफान्ताद्वा (१।२।२३)।
५ वञ्चिलुञ्च्यृतश्च (१।२।२४)।

प्रत्यय होता है। आर्धधातुक विषय मे अर्थात् आर्धधातुक प्रत्यय की विवक्षा मे ही आय आदि (जिन मे ईयङ् भी एक है) विकल्प मे होते हैं, सो जिस पक्ष मे ईयङ् न हुआ उसमे ये उदाहरण हैं। ईयङ् होने पर तो 'ऋतीयित्वा' ऐसा रूप होगा। क्त्वा परे होने पर लघु उपधा न होने से गुण नही हुआ। सेट् क्त्वा को कित्व का विकल्प कहा है अत वञ्च् क्त्वा=वक्त्वा—यहाँ क्त्वा के कित् होने से उपधानकार का लोप होकर एक ही रूप होगा।

तृप, मृप्, कृश्—इनमे सेट् क्त्वा विकल्प से कित् होता है काश्यप आचार्य के मत मे[1]। सूत्र मे काश्यप ग्रहण पूजार्थ है। पूर्वसूत्र से 'वा' की अनुवृत्ति आ रही है—तृपित्वा। तर्पित्वा। मृषित्वा। मर्षित्वा। कृश् (पतला दुबला होना)—कृशित्वा। कर्शित्वा।

हलादि रलन्त सेट् धातु—जिसकी उपधा मे उ, इ हो—से परे क्त्वा (और सन्) विकल्प से कित् होते हैं[2]—द्युतित्वा। द्योतित्वा। लिख्—लिखित्वा। लेखित्वा। रलन्त न होने से दिव् से 'देवित्वा' कित्वाभाव मे एक ही रूप होगा।

ङित्त्व

कुट्-आदि धातुओ से परे ञित् णित्-भिन्न प्रत्यय ङिद्वत् होता है।[3] सो क्त्वा भी ङित् हो जायगा, जिससे सेट् क्त्वा भी गुण का निषेध करेगा—

कुट्—कुटित्वा। कुच्—कुचित्वा। गुर्—गुरित्वा। घू (तुदा०)—घुवित्वा। व्यच्—विचित्वा। सम्प्रसारण।

आदेश

क्त्वा-प्रत्यय की प्रकृति को कही-कही आदेश हो जाता है—

दो, सो, मा (माङ्, मेङ्) स्था को 'इ' अन्तादेश होता है[4]। दो—दित्वा। सो—सित्वा। मा—मित्वा। माङ्—मित्वा। मेङ्—मित्वा। (आत्व होकर इ)। स्था—स्थित्वा।

---

१ तृषि-मृषि-कृशे काश्यपस्य (१।२।२५)।
२ रलो व्युपधाद्धलादे सश्च (१।२।२६)।
३ गाङ्-कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित् (१।२।१)।
४ द्यति-स्यति-मा-स्थाम् इत्ति किति (७।४।४०)।
५ शाच्छोरन्यतरस्याम् (७।४।४१)।
६ दधातेर्हि (७।४।४२)।

दो, छो को 'इ' अन्तादेश विकल्प से होता है[1]—दित्वा । दात्वा । छित्वा । छात्वा ।

हा (ओहाक्) त्यागना, छोड़ना, क्त्वा परे रहते 'हि' आदेश होता है[2]—हित्वा । पर हा (ओहाङ्) जाना के विषय में यह आदेश नहीं होता—हात्वा, जाकर ।

अद् को जग्ध्-आदेश होता है तादि कित् और ल्यप् परे रहते[3]—जग्ध्वा ।

दा—दत्वा (देकर) । दा को दद्-आदेश होता है तकारादि कित् परे रहते ।[4] सो निष्ठा में भी यह आदेश होगा ।

दा (प) काटना—दात्वा ।

दैप् (शुद्ध करना)—दात्वा । (अनैमित्तिक आत्व) ।

देङ् (रक्षा करना)—दीत्वा । आत्व होकर घु-संज्ञा होने से घुमास्था—(६।४।६६) से ईकार अन्तादेश ।

धेट् (चूसना)—'घु' संज्ञा होने से 'ई' अन्तादेश—धीत्वा ।

खन् (खनु), सन् (षणु देना, तनोत्यादि) झलादि कित्-प्रत्यय परे रहते आकार-अन्तादेश हो जाता है[4] । उदित होने से ये धातुएँ क्त्वा परे रहते वेट् हैं । इट् के अभाव में धातु को आकार-अन्तादेश होगा—खात्वा । खनित्वा । सात्वा । सनित्वा ।

मस्ज् को नुम् (न्) आगम अन्त्य वर्ण से पूर्व होता है । इससे संयोग (स्न्ज्) के आदिभूत स् का लोप हो जाता है[5] । ज् को कुत्व और चर्त्व होकर, न् को अनुस्वार और परसवर्ण होकर 'मङ्क्त्वा' रूप सिद्ध होता है ।

अनुनासिक-लोप

अनुदात्तोपदेश अनुनासिकान्त (यम्, रम्, नम्, हन्, मन् दिवादि) के अनुनासिक का तथा वन् और तन् आदि तानादिक धातुओं के अनुनासिक

---

१ जहातेश्च क्त्वि (७।४।४३) ।
२ अदो जग्धिर्ल्यप्ति किति (२।४।३६) ।
३ दो दद्घोः (७।४।४६) ।
४ जन-सन-खनां सञ्झलोः (६।४।४२) ।
५ मस्जेरन्त्यात्पूर्वो नुम् वाच्य (वा०) ।

का लोप हो जाता है झलादि कित् ङित् परे होने पर[1]। यम्—यत्वा। रम्—रत्वा। नम्—नत्वा। गम्—गत्वा। हन्—हत्वा। मन्—मत्वा। वन षण् सम्भक्तौ भ्वादि उदित नहीं है। नित्यइट् होने से झलादि क्त्वा नहीं मिलेगा। अत क्त्वा-प्रत्यय परे इसका उदाहरण नहीं। तनादियों मे वनु याचने पढा है। वह तन् आदि की तरह उदित है। पाक्षिक इट् के अभाव मे झलादि क्त्वा मिलेगा—तन्—तनित्वा। तत्वा। क्षण्—क्षणित्वा। क्षत्वा। क्षिण्—क्षेणित्वा। क्षित्वा। घृण्—घर्णित्वा। घृत्वा। चमककर। घृणि रश्मि को कहते हैं। तृण्—तर्णित्वा। तृत्वा। खाकर। वन् (माँगना)—वनित्वा। वत्वा। मन्—मनित्वा। मत्वा।

जान्त धातु के 'न्' का तथा नश् के नुम् का झलादि कित्-प्रत्यय परे विकल्प से लोप होता है[2]—भञ्ज्—भक्त्वा। भङ्क्त्वा। रञ्ज्—रक्त्वा। रङ्क्त्वा। अञ्ज्—अक्त्वा। अङ्क्त्वा। इट्-पक्ष मे अञ्जित्वा। झलादि न होने से लोप नहीं हुआ।

इडागम

जॄ व व्रश्च् (व्रश्चू) से परे क्त्वा को इट् होता है[3]। जॄ को उगन्त होने से इट् का निषेध प्राप्त था। व्रश्च् ने ऊदित् होने से इट्-विकल्प प्राप्त था। जॄ—जरित्वा। जरीत्वा। (वैकल्पिक इट्-दीर्घ)। व्रश्च्—व्रश्चित्वा (काटकर)।

वस् (रहना) और क्षुध् को क्त्वा तथा निष्ठा-प्रत्यय परे रहते इट् का आगम होता है[4]। वस्—उषित्वा। स् को ष्। क्षुध्—क्षुधित्वा। दोनो धातुएँ अनुदात्त हैं, उनसे परे इट् का प्रसग ही न था।

इण्-निषेध

श्रिञ् (श्रि भ्वा० उभय०) तथा एकाच् उगन्त धातु से परे कित्-प्रत्यय

---

१ अनुदात्तोपदेश-वनति-तनोत्यादीनाम् अनुनासिकलोपो झलि क्ङिति (६।४।३७)।

२ जान्त-नशा विभाषा (६।४।३२)।

३ जॄ-व्रश्च्योः क्त्वि (७।२।५५)।

४ वसति-क्षुधोरिट् (७।२।५२)।

को इट् ग्रागम नहीं होता[1] । श्रित्वा । रु—रुत्वा । यु—युत्वा । भू—भूत्वा । पू—पूत्वा । लू—लूत्वा । वृ—वृत्वा । तॄ—तीर्त्वा । स्वृ, सू (प्राणि-गर्भ-विमोचन, प्राणि-प्रसव), धूञ् हिलाना—इन धातुओं को जो वलादि ग्रार्ध० प्रत्यय परे रहते इट का विकल्प कहा है वह भी यहाँ नहीं होता, इट् का निषेध ही होता है—स्वृ—स्वृत्वा । सू—सूत्वा । धूञ्—धूत्वा ।

इट् विकल्प

जो धातु सेट् है पर उदित् है उससे परे क्त्वा को इट् विकल्प से होता है—वृत् (वृतु)[2]—वर्तित्वा । वृत्त्वा । वृध् (वृधु)—वर्धित्वा । वृद्ध्वा । दिव् (दिवु)—देवित्वा । द्यूत्वा । सेट् क्त्वा कित् नहीं होता, यह पहले कहा जा चुका है । अत इट् होने पर धातु को गुण होता है । इट् के अभाव में गुण नहीं होता । दिव् को ऊठ् (व् के स्थान में ऊ) होता है । धाव् धावु)—धावित्वा । धौत्वा । ऊठ् । वृद्धि । शीङ्—शयित्वा । गुण, ग्रयादेश ।

ऊदित् धातुओं से परे क्त्वा को पूर्व-विहित इट् का विकल्प ही होता है । क्लृप् (कृपू)—क्लृप्त्वा । कल्पित्वा । ग्रश् (ग्रशूङ्)—ग्रष्ट्वा । ग्रशित्वा= व्याप्य । ग्रञ्ज् (ग्रञ्जू)—ग्रङ्क्त्वा ग्रक्त्वा । ग्रञ्जित्वा । क्लिद् (क्लिदू)—क्लित्त्वा । क्लिदित्वा । क्लिश् (क्लिशू)—क्लिष्ट्वा । क्लिशित्वा । ग्रक्ष् (ग्रक्षू)—ग्रष्ट्वा । ग्रक्षित्वा । गुप् (गुपू)—गुप्त्वा । गोपित्वा । गुपित्वा । कित्त्व विकल्प ।

ग्रनिट् क्त्वा परे होने पर स्कन्द् तथा स्यन्द् के 'न्' का लोप नहीं होता[3] । ग्रनिट् क्त्वा के कित् होने से उपधा-भूत न् का लोप प्राप्त था—स्कन्त्वा । स्यन्त्वा । स्यन्द् उपदेश में ऊदित् है ग्रत वेट् है सो पक्ष में इट् होने पर स्यन्दित्वा रूप होगा ।

ग्रञ्च्—यह गति और पूजन ग्रर्थों में पढी है । यह उदित् है । इट् विकल्प से होगा—ग्रञ्चित्वा । ग्रक्त्वा (जाकर) । इट् के ग्रभाव में क्त्वा के कित् होने से 'न्' का लोप हो जाता है । पर पूजन-ग्रर्थ में नित्य इट् होगा

१ श्र्युकः किति (७।२।११) ।
२ उदितो वा (७।२।५६) ।
३ क्त्वि स्कन्दि-स्यन्दोः (६।४।३१) ।

और न् का लोप न होगा[1]—अञ्चित्वा=पूजयित्वा, पूजन करके। (निष्ठा प्रत्यय परे रहते भी नित्य इट् होता है।)

लुभ्—सेट् दिवादि है। इस का अर्थ लोभी होना है। तादि प्रत्यय परे होने पर इट् का विकल्प होता है जैसा कि सह्, इष् आदि धातुओं के विषय में होता है[2]—लुभित्वा। लोभित्वा। लुब्ध्वा। परस्वेलुब्ध्वा पतति। विमोहन-अर्थ में नित्य इट् होता है[3]—लुभित्वा। लोभित्वा। यह इट् निष्ठा में भी नित्य होता है। विमोहन=आकुलीकरण।

शम्, श्रम्, तम्, दम्, भ्रम्, क्षम्, क्लम्—ये सेट् उदित धातुएँ हैं। उदित् होने से इट् का विकल्प होता है। इडभाव में इनके उपधा भूत 'अ' को दीर्घ होता है[4]। शम्—शमित्वा। शान्त्वा। श्रम्—श्रमित्वा। श्रान्त्वा। तम्—तमित्वा। तान्त्वा। दम्—दमित्वा। दान्त्वा। भ्रम्—भ्रमित्वा। भ्रान्त्वा। क्षम्—क्षमित्वा। क्षान्त्वा। क्लम्—क्लमित्वा। क्लान्त्वा।

क्रम् को दीर्घ विकल्प से होता है झलादि क्त्वा परे[5], इससे क्त्वा-प्रत्यय परे रहते तीन रूप होंगे—क्रमित्वा। क्रान्त्वा। क्रन्त्वा।

कम्—कमित्वा। कान्त्वा। (णिङ् के अभाव में)। कामयित्वा (णिङ् होने पर)।

रधादि (रध्, नश्, तृप्, दृप्, मुह्, स्नुह्, स्निह्) धातुओं से परे वलादि आर्धधातुक प्रत्यय को इट् विकल्प से होता है[6]—रध् (सिद्ध होना)—रद्ध्वा। रधित्वा। नष्ट्वा। नंष्ट्वा। नशित्वा। नश्(और मस्ज्)को झलादि-प्रत्यय परे होने पर नुम् होता है।[7] तृप्त्वा। तर्पित्वा। दृप्त्वा। दर्पित्वा।

---

१ अञ्चेः पूजायाम् (७।२।५३)। नाञ्चेः पूजायाम् (६।४।३०)।
२ तीष-सह-लुभ-रुष-रिष (७।२।४८)।
३ लुभो विमोहने (७।२।५४)।
४ अनुनासिकस्य क्वि-झलोः (६।४।१५)।
५ क्रमश्च क्त्वि (६।४।१८)।
६ रधादिभ्यश्च (७।२।४५)।
७ मस्जि-नशोर्झलि (७।१।६०)।

अनिट्-पक्ष में क्त्वा-प्रत्यय के कित् होने से अनुदात्तोपदेश ऋदुपध धातु को जो वैकल्पिक अमागम विधान किया है[1] वह नहीं होता।

क्लिश्[2] तथा पूङ्[3] से क्त्वा और निष्ठा परे रहते विकल्प से इट् होता है—क्लिशित्वा। यहाँ सेट् क्त्वा भी कित् ही होता है। क्लिष्ट्वा। पवित्वा। क्त्वा के सेट् होने से अकित् होकर धातु को गुण हुआ। पूत्वा।

ल्यप्-सम्बन्धी विशेष कार्य

ल्यप् परे होने पर घु-संज्ञक, मा, स्था, गै (गा), पा (पीना), हा (छोड़ना), सो (समाप्त करना) को जो किन्त् हलादि-प्रत्यय परे रहते ईकार-अन्तादेश प्राप्त होता है वह नहीं होता[4]—प्रदाय। निधाय। विमाय, प्रमाय। प्रस्थाय। प्रगाय, सगाय। प्रहाय, विहाय। अवसाय।

मेङ्—अपमाय। अपमित्य। ईकार-अन्तादेश का तो निषेध है, पर इकार-अन्तादेश विकल्प से होता है।[5]

मीञ्, मिञ् और दीङ् को आत्व होता है एज्-विषय में (जहाँ एच् होने वाला है) तथा ल्यप्-विषय में[6]। मीञ्—प्रमाय (मार कर)। मिञ्—निमाय (=आरोप्य, गाड़कर, लगाकर)। दीङ्, क्षीण होना—उपदाय।

लीङ् (लीन होना) को विकल्प से आत्व[7]—विलाय। विलीय।

अनिडादि (जिसके आदि में इट् न हो) आर्धधातुक परे रहते णिच् का लोप होता है[8]—उद् तॄ णिच्-ल्यप्=उत्तार्य। तॄ को वृद्धि। विचर् णि—

---

१ अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतरस्याम् (६।१।५९)। यहाँ सृजिदृशोर्झल्यमकिति (६।१।५८) से 'अकिति' की अनुवृत्ति आती है।
२ क्लिशः क्त्वा-निष्ठयोः (७।२।५०)।
३ पूङश्च (७।२।५१)।
४ न ल्यपि (६।४।६९)।
५ मयतेरिदन्यतरस्याम् (६।४।७०)।
६ मीनाति-मिनोति-दीङां ल्यपि च (६।१।५०)।
७ विभाषा लीयतेः (६।१।५१)। एज्विषय में तथा ल्यप् परे आत्व विकल्प से होता है।
८ णेरनिटि (६।४।५१)।

ल्यप्=विचार्य । आङ् कृ णिच्—ल्यप्=आकार्य, बुलाकर ।

ल्यप् परे रहते यदि धातु के लघ्वक्षर से परे णि हो तो उसे अय्-आदेश होता है (उसका लोप नहीं होता)[1]—प्रशमय्य । निशमय्य । प्रणमय्य । विगणय्य । शम्, नम् से णिच् परे उपधा को वृद्धि होकर मित् होने से ह्रस्व हो जाता है । गण् (अदन्त) से णिच् होने पर अल्लोप (अ का लोप) होता है । उसके स्थानिवत् होने से उपधा मे 'ण्' हो जाता है जिससे वृद्धि का प्रसङ्ग ही नही रहता ।

आप् (ण्यन्त) के णिच् को 'अय्' आदेश विकल्प से होता है, पक्ष में णि का लोप होता है[2]—प्रापय्य । प्राप्य । प्राप्त करवाकर ।

क्षि को ल्यप् परे दीर्घ हो जाता है[3]—प्रक्षीय ।

वेञ् (बुनना) को ल्यप् परे सम्प्रसारण नही होता[4]—प्रवाय ।

ज्या (वृद्ध होना) को ल्यप् परे सम्प्रसारण नही होता[5]—प्रज्याय ।

व्येञ् (ढाँपना) को भी ल्यप् परे रहते सम्प्रसारण नही होता[6]—सम्व्याय । उपव्याय । निष्ठा मे यथाप्राप्त होगा—संवीत । उपवीत ।

परि पूर्वक व्येञ् को सम्प्रसारण विकल्प से[7]—परिवीय । परिव्याय ।

अनुदात्तोपदेश अनुनासिकान्त(यम्, रम्, नम्, गम्, हन्, मन्)धातुओं तथा वन् (उदात्तोपदेश भ्वा० तनादि) और तन् आदि उदात्तोपदेश धातुओं के अनुनासिक का, ल्यप् परे रहते, विकल्प से लोप होता है ।[8] यह व्यवस्थित विभाषा है । इनमे जो मकारान्त हैं उनके अनुनासिक का विकल्प से और जो नकारान्त हैं उनके अनुनासिक का नित्यलोप होता है । यम्—संयम्य । संयत्य । रम्—

---

१ ल्यपि लघुपूर्वात् (६।४।५६) ।
२ विभाषाऽऽपः (६।४।५७) ।
३ क्षियः (६।४।५९) ।
४ ल्यपि च (६।१।४१) ।
५ ज्यश्च (६।१।४२) ।
६ व्यश्च (६।१।४३) ।
७ विभाषा परेः (६।१।४४) ।
८ अनुदात्तोपदेश-वनति-तनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति (६।४।३७) । वा ल्यपि (६।४।३८) ।

उपरम्य। उपरत्य। नम्—प्रणम्य। प्रणत्य। गम्—अवगम्य (जानकर)। अवगत्य। हन्—आहत्य। मन्—अवमत्य (तिरस्कार करके)। वन्—प्रवत्य। तन्—वितत्य। क्षण्—विक्षत्य। नकार का लोप होने पर इन सबमें धातु के ह्रस्व अच् को ह्रस्वस्य पिति० (६।१।७१) से तुक् (त्) आगम होता है। यह आगम पित्-कृत् परे होने पर होता है। ल्यप् ऐसा ही प्रत्यय है।

अधि इङ्—ल्यप्—अधीत्य। प्र इण्—ल्यप्—प्रेत्य। यहाँ दीर्घ-एकादेश तथा गुण एकादेश होकर असिद्धवत् माने जाते हैं जब तुक् कर्तव्य हो अथवा पत्व करना हो[1]। कोऽसिचत् में एकादेश 'ओ' के असिद्धवत् होने से सिच् के आदेश रूप 'स' को पत्व नहीं हुआ।

शीङ् के 'ई' को अयङ् (अय) आदेश होता है यदि कित्-ङित् परे होने पर[2]—सशय्य।

क्त्वान्त-ल्यबन्त रूपावलि

सेट् धातुएँ

धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त
भू (होना)	भूत्वा	अनुभूय, प्रभूय
दू (दु) (परितप्त होना)	दूत्वा	परिदूय
नू (णू-स्तुति करना)	नूत्वा	प्रणूय
पूञ् (पवित्र करना)	पूत्वा	उत्पूय
पूङ् (पवित्र करना)	पवित्वा, पूत्वा	परिपूय
धूञ् (हिलाना)	धूत्वा	विधूय, अवधूय
धू (तुदा०—हिलाना)	धुवित्वा	निधूय
लू (काटना)	लूत्वा	आलूय, विलूय
सू (षूङ्—जन्म देना)	सूत्वा	प्रसूय
सू (षू) (प्रेरित करना)	सूत्वा	आसूय, परासूय
यु (मिलाना)	युत्वा	वियुत्य, संयुत्य

---

१ पत्व-तुकोरसिद्धः (६।१।८६)।
२ अयङ् यि क्ङिति (७।४।२२)।

धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त
रु (शब्द करना)	रुत्वा	विरुत्य, आरुत्य
शीङ् (सोना, लेटना)	शयित्वा	संशय्य, अधिशय्य
क्ष्णु (तेज करना)	क्ष्णुत्वा	संक्ष्णुत्य
स्नु (टपकना)	स्नुत्वा	प्रस्नुत्य
नु (स्तुति करना)	नुत्वा	प्रणुत्य
क्षु (खाँसना)	क्षुत्वा	विक्षुत्य
श्वि (बढ़ना, जाना)	श्वयित्वा	उच्छूय[1]
डीङ् (उड़ना)	डयित्वा	उड्डीय, संडीय
श्रि (आश्रय लेना)	श्रित्वा	संश्रित्य, आश्रित्य
वृङ् (चुनना)	वृत्वा	संवृत्य, विवृत्य
वृञ् (ढाँपना)	वृत्वा	आवृत्य, प्रावृत्य
ऊर्णु (ढाँपना)	ऊर्णुत्वा[2]	प्रोर्णुत्य
कॄ (बिखेरना)	कीर्त्वा[3]	विकीर्य, संकीर्य, आकीर्य
गॄ (क्र्या०) (उच्चारण करना)	गीर्त्वा	संगीर्य, प्रतिगीर्य, आगीर्य
गॄ (तुदा०) (निगलना)	गीर्त्वा	अवगीर्य, निगीर्य
तॄ (तैरना, पार करना)	तीर्त्वा	अवतीर्य, उत्तीर्य
जॄ (जीर्ण होना)	जरित्वा, जरीत्वा	अनुजीर्य
पॄ (पूरा करना)	पूर्त्वा[4]	प्रपूर्य, आपूर्य

---

१ ल्यप् स्थानिवद्भाव से कित् है। यजादि होने से 'श्वि' को सम्प्रसारण। हलः (६।४।२) से दीर्घ।

२ ऊर्णु को नुवद्भाव होता है। एकाच् हो जाने से इट् का निषेध।

३ श्र्युकः किति (७।२।११) से उगन्त होने से इट् का निषेध।

४. श्र्युकः किति (७।२।११) से इट् का निषेध होकर उदोष्ठ्यपूर्वस्य (७।१।१०२) से पॄ के ॠ को उर् (रपर उ) हो जाने पर, हलि च (८।२।७७) से दीर्घ होता है।

धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त
जागृ (जागना)	जागरित्वा[1]	प्रजागर्य
श्लाघ् (सराहना)	श्लाघित्वा	परिश्लाघ्य
ईक्ष् (देखना)	ईक्षित्वा	वीक्ष्य, प्रतीक्ष्य, समीक्ष्य, परीक्ष्य
काङ्क्ष् (इच्छा करना)	काङ्क्षित्वा	आकाङ्क्ष्य
शिक्ष् (सीखना)	शिक्षित्वा	प्रशिक्ष्य
अञ्च् (जाना)	अञ्चित्वा, अक्त्वा	उदच्य, न्यच्य
अञ्च् (पूजन करना)	अञ्चित्वा	प्राञ्च्य
अर्च् (पूजना)	अर्चित्वा	प्रार्च्य, अभ्यर्च्य
याच् (मांगना)	याचित्वा	उपयाच्य
रुच् (रुचना)	रोचित्वा, रुचित्वा	अभिरुच्य, विरुच्य
व्रश्च् (काटना)	व्रश्चित्वा	विवृश्च्य
वाञ्छ् (इच्छा करना)	वाञ्छित्वा	अभिवाञ्छ्य
अर्ज् (कमाना)	अर्जित्वा	उपार्ज्य
तर्ज् (भ्वा०) (झिड़कना)	तर्जित्वा	सन्तर्ज्य
,, (चुरा०) (झिड़कना)	तर्जयित्वा	सन्तर्ज्य
एज् (कांपना, चमकना)	एजित्वा	प्रेज्य[2]
भ्राज् (चमकना)	भ्राजित्वा	विभ्राज्य
राज् ,,	राजित्वा	विराज्य
व्रज् (जाना)	व्रजित्वा	प्रव्रज्य, परिव्रज्य
उज्झ् (छोड़ना)	उज्झित्वा	प्रोज्झ्य
कुट् (कुटिल चलना)	कुटित्वा	सङ्कुट्य
कण्ठ् (उत्कण्ठित होना)	कण्ठित्वा	उत्कण्ठ्य
पठ् (पढ़ना)	पठित्वा	प्रपठ्य
कृत् (काटना)	कर्तित्वा	विकृत्य

१ जागृ अनेकाच् होने से सेट् है। उगन्त होने पर भी एकाच् न होने से श्र्युक: किति से इट् का निषेध नहीं होता है।

२ एङि पररूपम् (६।१।६४) से वृद्धि का अपवाद पररूप एकादेश हुआ है।

धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त
कृत् (कहना, कीर्तन करना)	कीर्तयित्वा[1]	संकीर्त्य
चिन्त् (सोचना)	चिन्तित्वा	विचिन्त्य
,, (चुरा०) (सोचना)	चिन्तयित्वा	विचिन्त्य
द्युत् (चमकना)	द्योतित्वा, द्युतित्वा	प्रद्युत्य, विद्युत्य
पत् (गिरना)	पतित्वा	अवपत्य, उत्पत्य, परापत्य, प्रपत्य, निपत्य, सनिपत्य
यत् (यत्न करना)	यतित्वा	प्रयत्य
वृत् (होना)	वर्तित्वा, वृत्त्वा	प्रवृत्य, परावृत्य, संवृत्य
वृध् (बढ़ना)	वर्धित्वा, वृद्ध्वा	प्रवृध्य, संवृध्य, विवृध्य
कत्थ् (डींग मारना)	कत्थित्वा	विकत्थ्य
क्रन्द् (चिल्लाना, रोना)	क्रन्दित्वा	आक्रन्द्य
निन्द् (निन्दा करना)	निन्दित्वा	प्रनिन्द्य, प्रणिन्द्य
मुद् (प्रसन्न होना)	मुदित्वा, मोदित्वा	प्रमुद्य
रुद् (रोना)	रुदित्वा	प्ररुद्य
वद् (बोलना)	उदित्वा	अनूद्य, अनूद्य
वन्द् (नमस्कार करना)	वन्दित्वा	अभिवन्द्य
विद् (जानना)	विदित्वा	संविद्य
विद् (प्राप्त करना)	विदित्वा, वित्त्वा	अभिविद्य, परिविद्य
स्कन्द् (गिरना, सूखना)	स्कन्त्वा	अवस्कद्य, विस्कद्य विष्कद्य
स्पन्द् (फड़कना)	स्पन्दित्वा	नि स्पन्द्य, परिस्पन्द्य
स्यन्द् (बहना)	स्यन्त्वा, स्यन्दित्वा	निस्यद्य[2], निष्यद्य, अभिस्यद्य, अभिष्यद्य

१ उपधायाश्च (७।१।१०१) से उपधा ऋ को इर् हुआ है। तब 'हलि च' से दीर्घ।

२ अनु-वि-पर्यभि-निभ्यः स्यन्दतेरप्राणिषु (८।३।७२) से विकल्प से षत्व होता है जब अप्राणि-विषय स्यन्दन हो। 'क्त्वि स्कन्दि स्यन्दोः' (६।४।३१) से क्त्वा परे रहते 'न्'-लोप का निषेध कहा है। ल्यप् परे रहते न्-लोप निर्बाध होगा।

धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त
रध् (सिद्ध होना)	रद्ध्वा, रधित्वा	सरध्य
एध् (बढ़ना)	एधित्वा	प्रैध्य[1]
बन्ध् (बाँधना)	बद्ध्वा	निबध्य
बुध् (दिवा०) (जागना)	बुद्ध्वा	प्रबुध्य
(भ्वा०) (जानना)	बोधित्वा, बुधित्वा	विबुध्य
स्पर्ध् (होड़ लेना)	स्पर्धित्वा	प्रतिस्पर्ध्य
अन् (साँस लेना)	अनित्वा	प्राण्य[2]
क्षण् (हिंसा करना)	क्षणित्वा, क्षत्वा	विक्षत्य
खन् (खोदना)	खनित्वा, खात्वा	उत्खन्य, उत्खाय
तन् (विस्तार करना)	तनित्वा, तत्वा	वितत्य
सन् (देना)	सनित्वा, सात्वा	सन्तत्य
कम्प् (काँपना)	कम्पित्वा	प्रकम्प्य
कुप् (रुष्ट होना)	कुपित्वा, कोपित्वा	प्रकुप्य
गुप् (रक्षा करना)	गुप्त्वा, गुपित्वा[3] गोपित्वा, गोपायित्वा	प्रतिगुप्य, प्रतिगोपाय्य
जप् (बोलना, जपना)	जपित्वा	उपजप्य
त्रप् (लज्जित होना)	त्रपित्वा, त्रप्त्वा	अपत्रप्य
दीप् (चमकना)	दीपित्वा	प्रदीप्य, सदीप्य
तृप् (तृप्त होना)	तर्पित्वा, तृप्त्वा	वितृप्य
दृप् (घमण्ड करना)	दर्पित्वा, दृप्त्वा	प्रतिदृप्य
क्रम् (पग धरना)	क्रमित्वा, क्रान्त्वा, क्रन्त्वा	विक्रम्य, आक्रम्य, परिक्रम्य, अनुक्रम्य
क्षम् (क्षमा करना, शक्त होना)	क्षमित्वा, क्षान्त्वा	
क्लम् (थकना)	क्लमित्वा, क्लान्त्वा	विक्लम्य

---

१ एत्येधत्यूठ्सु (६।१।८९) से वृद्धि ।

२. अनितेः (८।४।१९) से उपसर्ग-निमित्तक णत्व ।

३ गुपू के ऊदित् होने से इट् का विकल्प । रलो व्युपधाद्धलादेः संश्च (१।२।२६) से सेट् क्त्वा विकल्प से कित् । आर्धधातुक में 'आय'-प्रत्यय का विकल्प ।

धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त
चम् (खाना)	चमित्वा, चान्त्वा	आचम्य
तम् (क्षीण होना)	तमित्वा, तान्त्वा	उत्ताम्य
दम् (दमन करना, वश मे करना)	दमित्वा, दान्त्वा	सन्दम्य
भ्रम् (घूमना, भ्रान्त होना)	भ्रमित्वा, भ्रान्त्वा	विभ्रम्य, उद्भ्रम्य, सभ्रम्य
वम् (उल्टी करना)	वमित्वा, वान्त्वा	उद्वम्य
शम् (शान्त होना, बुझना)	शमित्वा, शान्त्वा	प्रशम्य, उपशम्य
श्रम् (परिश्रम करना)	श्रमित्वा, श्रान्त्वा	विश्रम्य
अय् (जाना)	अयित्वा	प्लाय्य, पलाय्य
गुर् (तुदा० कुटा०) (उठाना)	गुरित्वा	अवगूर्य
गूर् (दिवा०) (मारना, जाना)	गूरित्वा	अवगूर्य
चर् (खाना)	चरित्वा	उच्चर्य, विचर्य, आचर्य
स्फुर् (फुरना)	स्फुरित्वा	विस्फूर्य, विष्फूर्य
चल् (चलना)	चलित्वा	उच्चल्य
ज्वल् (जलना)	ज्वलित्वा	उज्ज्वल्य
दिव् (उदित्) (चमकना, जुआ खेलना)	देवित्वा[1], द्यूत्वा	प्रतिदीव्य
सिव् (सीना)	सेवित्वा, स्यूत्वा	प्रसीव्य
धाव् (दौड़ना, धोना)	धावित्वा, धौत्वा	प्रधाव्य
कृश् (दुबला होना)	कशित्वा[2], कृशित्वा	प्रतिकृश्य
भ्रश् (गिरना)	भ्रशित्वा, भ्रष्ट्वा	प्रभ्रश्य
नश् (नष्ट होना)	नशित्वा,नंष्ट्वा[3],नष्ट्वा	प्रणश्य[4], विनश्य

१ रलन्त न होने से दिव् से परे सेट् क्त्वा विकल्प से कित् नही होता। दिव् उदित् है, अत इट् का विकल्प। इडभाव मे क्त्वा के कित् होने से 'व्' को ऊठ्।

२ तृषि-मृषि-कृशे काश्यपस्य (१।२।२५) से सेट् क्त्वा कित्।

३ मस्जि नशोर्झलि (७।१।६०) से नुम् हुआ, जिसका जान्त नशा विभाषा (६।४।३२) से विभाषा-लोप हो जाता है।

४ उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य (८।४।१४) से णत्व।

धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त
इष् (तुदा०) (चाहना)	इष्ट्वा, एषित्वा	अभीष्य, प्रतीष्य
इष (दिवा० क्र्या०)(जाना)	एषित्वा	प्रेष्य, अनिष्य
एषृ (एष् जाना)	एषित्वा	अन्वेष्य, प्रेष्य[1]
तृष् (प्यासा होना)	तर्षित्वा, तृषित्वा	वितृष्य
कुष्(खींचकर बाहर निकालना)	कुषित्वा, कोषित्वा	निष्कुष्य
मुष् (चुराना)	मुषित्वा	प्रमुष्य
मृष् (सहना)	मर्षित्वा, मृषित्वा	परिमृष्य
रिष् (हिंसित होना)	रिष्ट्वा, रेषित्वा	आरिष्य
रुष् (रुष्ट होना)	रुष्ट्वा, रोषित्वा	आरुष्य
लष् (चाहना)	लषित्वा	अभिलष्य
हृष् (प्रसन्न होना)	हर्षित्वा	प्रहृष्य
हृषु (झूठ, मिथ्या कहना)	हृष्ट्वा, हर्षित्वा	संहृष्य
आस् (बैठना)	आसित्वा	उपास्य, अध्यास्य, अन्वास्य
भास् (चमकना)	भासित्वा	उद्भास्य
क्लिश् (उदित, क्लेश देना)	क्लिष्ट्वा, क्लिशित्वा	परिक्लिश्य
शास् (शासन करना, दण्ड देना, शिक्षा देना)	शासित्वा, शिष्ट्वा	अनुशिष्य
शस् (उदित)(स्तुति करना)	शसित्वा, शस्त्वा	प्रशस्य
श्वस् (सांस लेना)	श्वसित्वा	निश्वस्य, उच्छ्वस्य
ईह् (चेष्टा करना)	ईहित्वा	समीह्य
ऊह् (बूझना)	ऊहित्वा	अभ्युह्य, समुह्य, व्युह्य
गर्ह् (निन्दा करना)	गर्हित्वा	विगर्ह्य[2]
ग्रह् (ग्रहण करना)	गृहीत्वा	प्रगृह्य, अनुगृह्य
मुह् (व्याकुल होना)	मोहित्वा, मूढ्वा	प्रमुह्य
सह् (सहना)	सहित्वा, सोढ्वा	प्रसह्य, विषह्य

१ एङि पररूपम् (६।१।९४) से पर-रूप।

२ उपसर्गाद् ह्रस्व ऊहते (७।४।२३) से उपसर्ग से परे ऊह् को ह्रस्व हो जाता है यकारादि कित् ङित् प्रत्यय परे रहते। समुह्य=इकट्ठा करके। व्युह्य=विस्तार कर, बाँट कर।

धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त
स्निह् (प्रीतिमान् होना)	स्नेहित्वा, स्नीढ्वा	प्रतिस्निह्य
स्नुह् (वमन करना)	स्नोहित्वा, स्नीढ्वा	प्रस्नुह्य
	चुरादि ण्यन्त धातुएँ	
चोरि (चुराना)	चोरयित्वा	प्रचोर्य
गणि (गिनना)	गणयित्वा	प्रगणय्य, विगणय्य
कथि (कहना)	कथयित्वा	प्रकथय्य, सकथय्य
	हेतुमण्ण्यन्त	
कृ णिच् (कारि)	कारयित्वा	आकार्य
श्रु णिच् श्रावि (सुनाना)	श्रावयित्वा	विश्राव्य, आश्राव्य, सश्राव्य
वादि (बुलाना, बजाना)	वादयित्वा	सवाद्य, परिवाद्य
ईर् णिच् (प्रेरित करना)	ईरयित्वा	प्रेर्य
ह्वे णिच्, ह्वायि (बुलवाना)	ह्वाययित्वा[1]	आह्वाय्य
व्येञ् णिच् (ढँपवाना)	व्याययित्वा	सव्याय्य
दा णिच् दापि (दिलवाना)	दापयित्वा	प्रदाप्य
आपि (प्राप्त करवाना)	आपयित्वा	प्रापय्य, प्राप्य
शमि (शान्त करना)	शमयित्वा	प्रशमय्य, उपशमय्य
दमि (वश मे करना)	दमयित्वा	सन्दमय्य
	यङन्त धातुएँ	
बेभिद्य (पुन पुन फाडना)	बेभिदित्वा[2]	प्रबेभिद्य

---

१ णिच् परे होने पर ह्वे, व्ये को आत्व होने पर युक् (य्) का आगम होता है। युक् आगम के विषय परिज्ञान के लिए ण्यन्त-प्रक्रिया देखें।

२ यस्य हल (६।४।४९)। हल् से उत्तर य का लोप हो जाता है आर्धधातुक प्रत्यय परे होने पर। यहाँ सघात य (य्+अ) का ग्रहण है। अत पहले अतो लोप (६।४।४८) से 'अ' का लोप होगा, पीछे य् का लोप।

लोलूय	लोलूयित्वा[1]	विलोलूय्य
पोपूय	पोपूयित्वा	परिपोपूय्य

क्यच्-क्यङन्त धातुएँ

समिध्य (समिधा को चाहना)	समिधित्वा, समिध्यित्वा[2]	
दृषद्य	दृषदित्वा, दृषद्यित्वा	
नमस्य (नमस्कार करना)	नमसित्वा, नमस्यित्वा	प्रनमस्य
वरिवस्य (पूजा करना)	वरिवसित्वा, वरिवस्यित्वा	सवरिवस्य
सङ्ग्राम (चुरादि) (युद्ध करना)	संग्रामयित्वा[3]	•
प्रेङ्खोल् ,, (झूलना)	प्रेङ्खोलयित्वा	•
आन्दोल् ,, (डोलना)	आन्दोलयित्वा	
अवधीर (तिरस्कार करना)	अवधीरयित्वा[4]	अवधीर्य
सुमनाय (प्रसन्नचित्त होना)		सुमनाय्य
उन्मनाय (उत्सुक होना)	•	उन्मनाय्य
अवगल्भ[5] (प्रगल्भ होना)		अवगल्भ्य

अनिट् धातुएँ

घ्रा (सूँघना)	घ्रात्वा	आघ्राय, उपाघ्राय
ज्ञा (जानना)	ज्ञात्वा	विज्ञाय, अवज्ञाय, अनुज्ञाय

---

१ यहाँ 'य' हल् से परे नहीं, अतः लोप नहीं हुआ।

२ समिधमात्मन इच्छति। क्यच्। क्यस्य विभाषा (६।४।५०)। क्यच्, क्यङ् के 'य' का लोप विकल्प से होता है आर्धधातुक प्रत्यय परे रहते।

३ संग्राम—यह एकमात्र धातु है जिससे उपसर्ग को पृथक् किए बिना प्रत्ययोत्पत्ति होती है। अतः यहाँ ल्यप् नहीं हुआ।

४ अवधीर धातु मानने पर क्त्वा प्रत्यय परे रहते उपसर्ग-सहित 'अवधीरयित्वा' ऐसा रूप होगा। 'धीर' धातु मानी जाये तो ल्यप् में 'अवधीर्य' रूप होगा।

५ 'अवगल्भ' आचार में क्विबन्त धातु है।

धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त
ज्या (बूढ़ा होना)	जीत्वा	परिजीय[1], अनुजीय
दा (देना)	दत्त्वा	प्रदाय, सम्प्रदाय
दाण् ,,	दत्त्वा	परिदाय, आदाय, व्यादाय
दाप् (काटना)	दात्वा	अवदाय
घ्रा (दुर्गंध होना)	घ्रात्वा	निघ्राय, प्रघ्राय
धा (धारण करना, पुष्ट करना)	हित्वा	आधाय, निधाय, विधाय
पा (पीना)	पीत्वा	प्रपाय
मा (मापना)	मित्वा	प्रमाय, निर्माय, विमाय, समाय
म्ना (अभ्यास करना)	म्नात्वा	आम्नाय, समाम्नाय
या (जाना)	यात्वा	निर्याय, प्रयाय
वा (वायु का चलना)	वात्वा	निर्वाय[2], प्रवाय
स्था (ठहरना)	स्थित्वा	आस्थाय, प्रस्थाय, अवस्थाय, अनुष्ठाय, उत्थाय
स्ना (नहाना)	स्नात्वा	निस्नाय[3], [4]निष्णाय, प्रस्नाय
हा (छोड़ना)	हित्वा	विहाय, प्रहाय
हा (ङ्) (जाना)	हात्वा	उद्धाय, [5]सहाय

१ ज्या को सम्प्रसारण और सम्प्रसारण को दीर्घ।

२ बुझकर।

३ अच्छी तरह स्नान करके।

४ कुशल होकर।

५ शय्या से उठकर। सम्पूर्वक हाङ् का अर्थ शय्यापरित्याग है ऐसा कलि: शयानो भवति इत्यादि ऐतरेय ब्रा० के वचन में 'संजिहानस्तु द्वापर' का अर्थ करते हुए सायणाचार्य कहते हैं।

धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त
इक् (स्मरण करना)		अधीत्य
इङ् (पढ़ना)		अधीत्य
इण् (जाना)	इत्वा	प्रेत्य, अपेत्य, समेत्य, परीत्य
क्षि (क्षीण होना)	क्षित्वा	प्रक्षीय[1]
चि (चुनना)	चित्वा	संचित्य, विचित्य, उपचित्य, अपचित्य, अवचित्य
जि (जीतना)	जित्वा	विजित्य, पराजित्य
स्मि (मुस्कराना)	स्मित्वा	विस्मित्य
हि (जाना, बढ़ना)	हित्वा	प्रहित्य
ईङ् (दिवा०, जाना)	ईत्वा	प्रतीय[2]
क्री (खरीदना)	क्रीत्वा	विक्रीय, अवक्रीय[3], परिक्रीय
दी (ङ्) (क्षीण होना)	दीत्वा	उपदाय
नी (ले जाना)	नीत्वा	प्रणीय, परिणीय, आनीय, अनुनीय[4], अपनीय
पी (ङ्) (पीना)	पीत्वा	निपीय
प्री (ङ्-ञ्) (प्रीति करना)	प्रीत्वा	विप्रीय
भी (डरना)	भीत्वा	विभीय
ह्री (लज्जित होना)	ह्रीत्वा	विह्रीय
कु (शब्द करना)	कुत्वा	आकुत्य
दु (दुःख देना)	दुत्वा	सन्दुत्य, प्रदुत्य
द्रु (जाना, पिघलना)	द्रुत्वा	प्रद्रुत्य, विद्रुत्य
धु (हिलाना)	धुत्वा	विधुत्य

१ क्षियः (६।४।५९) से दीर्घ।

२ प्रतीय=जानकर। यहाँ अङ्ग के दीर्घ होने से तुक् की प्राप्ति ही नहीं।

३ किराये पर लेकर।

४ मनाकर।

धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त
प्रुङ् (जाना)	प्रुत्वा	आप्रुत्य
प्लुङ् (तैरना)	प्लुत्वा	आप्लुत्य, विप्लुत्य, सम्प्लुत्य
श्रु (सुनना)	श्रुत्वा	आश्रुत्य[1], प्रतिश्रुत्य, सश्रुत्य, विश्रुत्य
सु (स्वा० सोम, सुरा निकालना)	सुत्वा	अभिषुत्य, आसुत्य
स्तु (स्तुति करना)	स्तुत्वा	प्रस्तुत्य, संस्तुत्य, अभिष्टुत्य
स्रु (बहना)	स्रुत्वा	प्रस्रुत्य
हु (आहुति देना)	हुत्वा	आहुत्य, प्रहुत्य
ह्नु (छिपाना)	ह्नुत्वा	अपह्नुत्य[2]
ब्रू (वच्) (कहना)	उक्त्वा	प्रोच्य[3], प्रत्युच्य, अनूच्य[4]
धृञ् (धारण करना)	धृत्वा	विधृत्य, आधृत्य
धृङ् (अवस्थित रहना)	धृत्वा	अवधृत्य
पृङ् (व्यापृत होना)	पृत्वा	व्यापृत्य
भृ (भरना, पालना)	भृत्वा	आभृत्य, सभृत्य
मृ (मरना)	मृत्वा	अपमृत्य, परामृत्य[5]
सृ (सरकना)	सृत्वा	अपसृत्य, उपसृत्य, संसृत्य[6]

१ प्रतिज्ञा करके। 'प्रतिश्रुत्य' का भी यही अर्थ है।

२ इन्कार कर, छिपाकर।

३ व्याख्यानकर।

४ वेद पढ़कर।

५ परापूर्वक मृ का अर्थ ऐसी मृत्यु है जिसके पश्चात् पुनर्मृत्यु नहीं होती किन्तु मुक्ति होती है। उपनिषद् में प्रयोग भी है—ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृता परिमुच्यन्ति सर्वे (मु० उ० ३।२।६)।

६ संसृत्य=योनी, संक्रम्य, जन्म-मरण-चक्र में घूमकर।

धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त
हृ (ले जाना)	हृत्वा	आहृत्य, उदाहृत्य, विहृत्य, संहृत्य, उपहृत्य, अपहृत्य, उद्धृत्य, [1]अपोद्धृत्य
देङ् (रक्षा करना)	दीत्वा	प्रणिदाय[2]
धेट् (चूसना)	धीत्वा	अनुधाय, सुधाय
मेङ् (बदले में देना)	मित्वा	अपमाय, अपमित्य, विनिमाय
वेञ् (बुनना)	उत्वा	प्रवाय
व्येञ् (ढाँपना)	वीत्वा	[3]संव्याय, परिव्याय, परिवीय
ह्वेञ् (बुलाना)	हूत्वा	आहूय, उपहूय[4]
कॄं (शोर करना)	कात्वा	उत्काय
गै (गाना)	गीत्वा	उद्गाय, संगाय
ग्लै (क्षीण होना)	ग्लात्वा	प्रग्लाय, विग्लाय,
दै (प्) (शुद्ध करना)	दात्वा	अवदाय
ध्यै (ध्यान करना)	ध्यात्वा	[5]आध्याय, प्रध्याय, [6]निध्याय
छो (पतला करना)	छात्वा, छित्वा	
दो (काटना)	दित्वा	अवदाय
शो (तेज करना)	शित्वा, शात्वा	निशाय
सो (समाप्त करना)	सित्वा	अवसाय, [7]व्यवसाय

---

१ निकालकर जुदा करके।
२ बदले में देकर।
३ आच्छाद्य, ढाँप कर।
४ पास बुलाकर।
५ उत्कण्ठा-पूर्वक स्मरण करके।
६ देखकर।
७ निश्चय करके।

धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त
शक् (स्वा०) (सकना)	शक्त्वा	प्रतिशक्य
शक् (दिवा०) (सकना)	शकित्वा, शक्त्वा	,,
पच् (पकाना)	पक्त्वा	प्रपच्य, परिपच्य, विपच्य
मुच् (छोड़ना)	मुक्त्वा	आमुच्य[१], प्रनिमुच्य, विमुच्य
वच् (अदा०) (कहना)	उक्त्वा	प्रोच्य, प्रत्युच्य, अनूच्य
सिच् (सींचना)	सिक्त्वा	प्रसिच्य, [२]आसिच्य, अभिषिच्य
प्रच्छ् (पूछना)	पृष्ट्वा	आपृच्छ्य[३], परिपृच्छ्य
त्यज् (छोड़ना)	त्यक्त्वा	परित्यज्य, सन्त्यज्य
भज् (सेवा करना)	भक्त्वा	विभज्य[४], आभज्य, [५]निर्भज्य
भञ्ज् (तोड़ना)	भक्त्वा, भङ्क्त्वा	अवभज्य
भुज् (भोगना, खाना, पालना)	भुक्त्वा	उपभुज्य
भ्रस्ज् (भूनना)	भृष्ट्वा	विभृज्य
मस्ज् (डूबना)	मङ्क्त्वा	निमज्ज्य
यज् (पूजा करना)	इष्ट्वा	अवेज्य[६]
युज् (जोड़ना)	युक्त्वा	वियुज्य, उपयुज्य, [७]अनुयुज्य, सयुज्य, प्रयुज्य
रञ्ज् (रंगना)	रक्त्वा, रङ्क्त्वा	विरज्य, अपरज्य, अनुरज्य
सञ्ज् (आसक्त होना, जोड़ना)	सक्त्वा	प्रसज्य, अनुषज्य, व्यतिषज्य

---

१ बांधकर। प्रतिमुच् का भी यही अर्थ है।
२ (जलादि को बर्तन में) डालकर।
३ जाने की अनुमति लेकर।
४ भाग देकर।
५ भाग से वञ्चित कर।
६ यज्ञ से दूर कर (पाप आदि को)।
७ पूछकर।

धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त
सृज् (उत्पन्न करना)	सृष्ट्वा	विसृज्य, उत्सृज्य, [1]अतिसृज्य
सृज् (दिवा० मिलना)	सृष्ट्वा	ससृज्य
अद् (खाना)	जग्ध्वा	प्रजग्ध्य
छिद् (काटना)	छित्त्वा	[2]आच्छिद्य, विच्छिद्य, अवच्छिद्य, [3]व्यवच्छिद्य, [4]परिच्छिद्य
भिद् (फाड़ना)	भित्त्वा	विभिद्य, [5]सभिद्य, उद्भिद्य, प्रभिद्य
तुद् (चुभोना)	तुत्त्वा	प्रतुद्य
नुद् (धकेलना)	नुत्त्वा	प्रणुद्य
पद् (जाना)	पत्त्वा	प्रपद्य, प्रतिपद्य, विपद्य, सम्पद्य, [6]निपद्य, उत्पद्य
वद् (कहना)	उदित्वा	[7]व्युद्य, अनूद्य
विद् (प्राप्त करना)	वित्त्वा, विदित्वा	अधिविद्य[8], परिविद्य[9]
विद् (होना, विचारना)	वित्त्वा	निर्विद्य
शद् (नष्ट होना, गिरना)	शत्त्वा	प्रशद्य

---

१ देकर।

२ छीन कर।

३ जुदा कर, भिन्न कर, व्यावृत्त कर।

४ सीमित करके, विवेचन करके।

५ जोड़कर।

६ लेटकर।

७ विवाद कर।

८ एक स्त्री के होते हुए दूसरी को विवाहना। धातु का कर्म पहली स्त्री होती है—देवदत्तामधिविन्दति चैत्र =चैत्र देवदत्ता नाम की स्त्री के होते हुए दूसरी स्त्री को विवाहता है।

९ परि विद्=छोड़कर विवाह करना, बड़े भाई के अविवाहित रहते छोटे भाई का स्त्री-ग्रहण करना।

धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त
सद् (जाना, विशीर्ण होना, दुःख पाना)	सत्वा	आसद्य, प्रसद्य, उपसद्य[1], निषद्य
इन्ध् (जलाना)	इद्ध्वा	समिध्य
क्रुध् (क्रोध करना)	क्रुद्ध्वा	अभिक्रुध्य
क्षुध् (भूखा होना)	क्षोधित्वा, क्षुधित्वा	प्रतिक्षुध्य
बुध् (दिवा०) (जागना)	बुद्ध्वा	प्रबुध्य, प्रतिबुध्य
युध् (लड़ना)	युद्ध्वा	नियुध्य[2]
रुध् (रोकना)	रुद्ध्वा	विरुध्य, निरुध्य, उपरुध्य, अवरुध्य[3]
राध् (सिद्ध करना)	राद्ध्वा	विराध्य, अनुराध्य
व्यध् (बींधना)	विद्ध्वा	अतिविध्य, अनुविध्य
साध् (सिद्ध करना)	साद्ध्वा	प्रसाध्य, संसाध्य
सिध् (दिवा० सिद्ध होना)	सिद्ध्वा	प्रसिध्य
मन् (दिवा० जानना)	मत्वा	अनुमत्य, विमत्य, संमत्य
आप् (प्राप्त करना)	आप्त्वा	प्राप्य, व्याप्य, समाप्य
क्षिप् (फेंकना)	क्षिप्त्वा	प्रक्षिप्य, उपक्षिप्य[4] संक्षिप्य, परिक्षिप्य[5]
तृप् (तृप्त होना)	तर्पित्वा, तृप्त्वा	वितृप्य, सन्तृप्य
दृप् (घमंड करना)	दर्पित्वा, दृप्त्वा	प्रतिदृप्य
लिप् (लीपना)	लिप्त्वा	विलिप्य, अनुलिप्य
लुप् (काटना)	लुप्त्वा	विलुप्य

---

१ पास बैठना, जैसे शिष्य का गुरु के पास बैठना।
२ कुश्ती करके।
३ घेरे में बन्द करके। जैसे गौओं को बाड़े में अथवा रानियों को अन्तःपुर में।
४ सङ्केत करके, आरम्भ करके।
५ घेर करके।

धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त
स्वप् (सोना)	सुप्त्वा	प्रसुप्य, सुषुप्य
रभ् (प्रारम्भ करना)	रब्ध्वा	आरभ्य, प्रारभ्य, संरभ्य[1]
लभ् (प्राप्त करना)	लब्ध्वा	उपलभ्य, विप्रलभ्य[2]
गम् (जाना)	गत्वा	आगम्य, आगत्य, उपगम्य, संगम्य, संगत्य, अपगम्य, अनुगम्य, अवगत्य
नम् (झुकना, नमस्कार करना)	नत्वा	प्रणम्य, प्रणत्य, उपनम्य उपनत्य, परिणम्य, परिणत्य
यम् (नियम में रखना)	यत्वा	संयम्य, संयत्य, नियम्य, नियत्य
रम् (खेलना, आनन्द मनाना)	रत्वा	विरम्य, विरत्य, उपरम्य, उपरत्य
क्रुश् (चिल्लाना)	क्रुष्ट्वा	विक्रुश्य, उत्क्रुश्य, आक्रुश्य
रिश् (हिंसा करना)	रिष्ट्वा	विरिश्य
रुश् (हिंसा करना)	रुष्ट्वा	विरुश्य
दंश् (डसना)	दंष्ट्वा	संदश्य, उपदश्य
दिश् (कहना, देना)	दिष्ट्वा	उपदिश्य, अपदिश्य[3], सन्दिश्य, आदिश्य प्रदिश्य[4]
दृश् (देखना)	दृष्ट्वा	उपदृश्य[5]
विश् (प्रवेश करना)	विष्ट्वा	प्रविश्य, उपविश्य, संविश्य[6]

---

१ आवेश में आकर। क्रुद्ध होकर।
२ ठगकर।
३ बहाना बनाकर।
४ देकर।
५ निकट से देखकर।
६ लेटकर, सोकर।

धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त
स्पृश् (छूना)	स्पृष्ट्वा	सम्पृश्य, उपस्पृश्य[1]
कृष् (खींचना, हल चलाना)	कृष्ट्वा	अपकृष्य, उत्कृष्य, विप्रकृष्य, निकृष्य
तुष् (संतुष्ट होना)	तुष्ट्वा	सन्तुष्य, परितुष्य
दुष् (दुष्ट होना, बिगड़ना)	दुष्ट्वा	प्रदुष्य
द्विष् (द्वेष करना)	द्विष्ट्वा	प्रद्विष्य, विद्विष्य
पुष् (पुष्ट करना)	पुष्ट्वा	सम्पुष्य, विपुष्य
शुष् (सूखना)	शुष्ट्वा	विशुष्य
वस् (रहना)	उषित्वा	प्रोष्य, विप्रोष्य, पर्युष्य[2]
दिह् (लीपना)	दिग्ध्वा	उपदिह्य
दुह् (दोहना)	दुग्ध्वा	प्रदुह्य
नह् (बाँधना)	नद्ध्वा	आनह्य, उपानह्य, सनह्य[3]
मिह् (मूत्र करना)	मीढ्वा	प्रमिह्य
रुह् (उगना)	रूढ्वा	आरुह्य, उपारुह्य, अवरुह्य[4], संरुह्य[5]
वह् (उठाना, ले जाना)	ऊढ्वा	व्युह्य[6], उदुह्य, प्रोह्य

णमुल् (= अम्)

धातुमात्र से क्त्वा प्रत्यय और णमुल् प्रत्यय पूर्वकाल की बार-बार होने वाली क्रिया को कहने के लिए आते हैं। एक कर्ता की दो क्रियाओं में से जो क्रिया पहले होती है उसे कहने के लिए 'क्त्वा' प्रत्यय का विधान किया

---

१ आचमन करके, स्नान करके।
२ पड़े रहकर, जैसे कोई भोज्यपदार्थ कुछ काल के लिए अभुक्त पड़ा रहता है।
३ तैयार होकर।
४ उतर कर।
५. अच्छा होकर (घावादि के विषय में)।
६ विवाह करके। 'उदुह्य' का भी यही अर्थ है।

जा चुका है[१]—भुक्त्वा व्रजति। यहाँ कुछ अधिक अर्थ में 'क्त्वा' का विधान किया जाता है—वह अधिक अर्थ है आभीक्ष्ण्य=पौनःपुन्य=आसेवा=क्रिया का बार-बार होना[२]। इस अर्थ के द्योतन के लिए 'क्त्वान्त' दो बार प्रयुक्त किया जाता है[३]—स्मृत्वा स्मृत्वा नमति शिवम्=शिव को बार-बार स्मरण कर नमस्कार करता है। ठीक ऐसे ही अर्थ में णमुल् (अम्) का प्रयोग होता है और णमुलन्त का भी दुबारा उच्चारण किया जाता है। णमुल् (=अम्) मान्त कृत् प्रत्यय है, अतः णमुलन्त अव्यय होता है—स्मारं स्मारं नमति शिवम्। धातु से परे णमुल् आने पर धातु के अन्तिम इ, उ ऋ को वृद्धि होती है[४] जैसे 'स्मारम्' में हुई। धातु की उपधा के 'अ' को भी वृद्धि (आ) होती है[५]—पाठं पाठं कण्ठे करोत्यृचम् (उच्चारण कर करके ऋचा को याद करता है)। पायं पायं काव्यामृतमवधीरयति सुधाम् (काव्य रूपी अमृत को पी-पीकर सुधा का तिरस्कार करता है)। यहाँ णमुल् प्रत्यय परे होने पर आकारान्त होने से पा से परे (युक्) 'य्'[६] आगम होता है। ऐसा ही सभी आकारान्त धातुओं के विषय में समझो। जो धातुएँ उपदेश में एजन्त=एकारान्त, ऐकारान्त, ओकारान्त हैं उन्हें भी आकारान्त बना लिया जाता है[७] और तब उसे युक् का आगम होता है—दे (ङ्) दायम्। मे (ङ्) अदल-बदल करना—निमायम्, विनिमायम्। इस धातु का प्रयोग नि, वि अथवा 'विनि' के उपसर्गों के साथ ही होता है। त्रै (ङ्)—त्रायम्, परित्रायम्। गै—गायम्। गायं गायं रज्यति रञ्जयति च सभाम्। गा गाकर प्रसन्न होता है और सभा को प्रसन्न करता है। ध्यै—ध्यायम्। ध्यायं ध्यायं महेश्वरं नन्दन्ति मुनीश्वराः। सो—अवसायम्। इस धातु का प्रयोग अव-पूर्वक होता है। अवसायमवसाय शास्त्रार्थं तदनुष्ठानपरो भवति, शास्त्र विहित अर्थ का बार-बार निश्चय करके उस पर आचरण करता है।

---

१. समानकर्तृकयोः पूर्वकाले (३।४।२१)।
२ आभीक्ष्ण्ये णमुल् च (३।४।२२)।
३ नित्यवीप्सयोः (८।१।४)।
४ अचो ञ्णिति (७।२।११५)।
५ अत उपधायाः (७।२।११६)।
६ आतो युक्चिण्कृतोः (७।३।३३)।
७ आदेच उपदेशेऽशिति (६।१।४५)।

अग्रे, प्रथम, पूर्व—इन क्रिया-विशेषणों के उपपद होने पर धातुमात्र से क्त्वा तथा णमुल् विकल्प से होते हैं।[1] पक्ष में लट् आदि होंगे। यहाँ पूर्व-कालता तो द्योतित होती है, पर आभीक्ष्ण्य (=पौन पुन्य) अर्थ नहीं होता—स्वामिनोऽग्रेभोजं प्रथमं भोजं पूर्वं भोजं व्रजन् दुष्यति विधेयार्थो भुजिष्य (स्वामी से पहले भोजनकर चला जाता हुआ काय-संलग्न भृत्य दोष का भागी नहीं होता)। पक्ष में स्वामिनोऽग्रे भुङ्क्तेऽयं व्रजति विधेयार्थो भुजिष्य इति न दुष्यति।

कर्मवाची पद के उपपद होने पर कृ से खमुञ् (=अम्) प्रत्यय आता है जब आक्रोश=निन्दा गम्यमान हो[2]—चौरङ्कारमाक्रोशति (चोर कह कर निन्दा करता है)। यहाँ कृ(ञ्) का अर्थ उच्चारण है। चौरङ्कारम् यह समस्तपद है। यहाँ खिदन्त उत्तरपद परे होने पर पूर्वपद को मुम् (म्) आगम होता है।

स्वादु अर्थ वाले स्वादु, सम्पन्न, लवण आदि शब्दों के उपपद होने पर कृ से णमुल् होता है समानकर्तृक दो क्रियाओं में से पहले होने वाली क्रिया को कहने के लिए[3]—अस्वादु स्वादु कृत्वा भुङ्क्ते वृत्तिहीन स्वादुङ्कारं भुङ्क्ते (जो स्वादु नहीं उसे स्वादु बना कर जीविका-रहित पुरुष खाता है)। सम्पन्न और लवण शब्द भी स्वादुपर्याय हैं। यहाँ इन स्वादु आदि पदों को मान्त बना लिया जाता है।

अन्यथा, एवम्, कथम्, इत्थम्—इन उपपदों के होने पर कृ से णमुल् प्रत्यय होता है। यह णमुल् पौन पुन्य में नहीं होता और [illegible] का प्रयोग बिना अर्थ के ही होता है[4]—अन्यथाकारं पठतीति गुरुणा शिष्यते (=अन्यथा पठतीति   ) वह उलटा पढ़ता है इसलिए गुरु से दण्डित होता है। इत्थंकारमनुशास्त्याचार्यो धर्मम्। कथङ्कारं भुङ्क्षे (=कथं भुङ्क्षे)= कैसे खाते हो। यहाँ उपपद समास होता है। ऐसा ही अन्यत्र जानें।

यथा और तथा शब्दों के उपपद होने पर कृ से णमुल् आता है। जब

---

१ विभाषाऽग्रे प्रथमपूर्वेषु (३।४।२४)।
२ कर्मण्याक्रोशे कृञः खमुञ् (३।४।२५)।
३ स्वादुमि णमुल्। (३।४।२६)।
४ अन्यथैवंकथमित्थंसु सिद्धाप्रयोगश्चेत् (३।४।२७)।

दोष निकालने के लिए प्रश्न होने पर न सहते हुए क्रोध से उत्तर दिया जाता है।[1] यहां भी कृ धातु का कुछ अर्थ नहीं। जैसे—किसी ने किसी से पूछा—कथङ्कारं (=कथम्) भुङ्क्षे, कैसे खाते हो? इसे न सहते हुए वह उत्तर देता है—यथाकारं भुञ्जे तथाकारं भुञ्जे किं तवानेन=मैं जैसे-तैसे खाता हूँ, तुम्हें इससे क्या?

कर्म उपपद होने पर साकल्यविशिष्ट अर्थ में दृश् तथा विद् (अदा०, तुदा० रुधा०) से णमुल् आता है[2]—धनिकदर्शमर्थयतेऽर्थमर्थी (न च गणयति कृपणोऽयमुदारो वेति), जिस-जिस धनी को याचक देखता है उस-उससे मांगता है (यह नहीं सोचता कि यह कृपण है अथवा उदार)। उदार इति ब्राह्मणवेदं भोजयति श्रेष्ठी, (न च गणयति पात्रमिदमपात्रं वेति), उदार हैं इसलिए सेठ जी जिस जिस ब्राह्मण को जानते हैं अथवा पाते हैं अथवा विचारते हैं उस-उस को भोजन खिलाते हैं (यह नहीं सोचते कि यह पात्र है अथवा अपात्र)। त्वमदनासि बालदर्शमिह (तू यहां जिस जिस बच्चे को देखता है, उस-उसको खा जाता है)। (कथा सरित्० २४।२१६)।

यावत् उपपद होने पर विद् (विन्द्), प्राप्त करना तथा 'जीव्' (जीना) धातुओं से णमुल् प्रत्यय होता है[3]। यहां पूर्वकालता भी नहीं है। यावद्वेदं भुङ्क्ते (जितना प्राप्त करता है उतना ही खा लेता है)। यावज्जीवमन्नमदात् (जब तक जीता रहा अन्नदान करता रहा)।

चर्मन् और उदर कर्म उपपद होने पर पूर् (ण्यन्त) धातु से णमुल् होता है।[4] यहां भी न तो पूर्वकालता है और न ही पौन पुन्य। चर्मपूरं स्तृणाति। उदरपूरं भुङ्क्ते (पेटभर खाना है।)

गोष्पद, सीता, खात, मूषिका, बिल आदि कर्म उपपद होने पर पूर् चुरादि से णमुल् होता है, गोष्पद आदि जितनी वृष्टि से भर जाते हैं उतनी वृष्टि हुई ऐसी प्रतीति होने पर[5]। जैसे—गोष्पदपूरं वृष्टो देवः। सीतापूरं

१ यथातथयोरसूयाप्रतिवचने (३।४।२८)।
२ कर्मणि दृशिविदोः साकल्ये (३।४।२९)।
३ यावति विन्दजीवोः। यहां नानार्थकत्वात् क्रियाप्रबन्धसामीप्ययो (३।४।३०) से लङ् का निषेध होकर लुङ् ही होता है।
४ चर्मोदरयोः पूरेः (३।४।३१)।
५ वर्षप्रमाण ऊलोपश्चास्यान्यतरस्याम् (३।४।३२)।

वृष्टो देव. । यहाँ पूर् के 'ऊ' का पक्ष मे लोप कर देते हैं जिससे गोष्पदप्रम् ऐसा भी कह सकते हैं।

चेल अथवा उसके पर्याय वस्त्र, वसन आदि कर्म उपपद होने पर क्नोपि (क्नूय् ण्वा० आ० का ण्यन्त) से णमुल् आता है जब वृष्टि के प्रमाण की प्रतीति हो[1], जैसे गोष्पद आदि के उपपद होने पर होती है। **चेलक्नोप वृष्टो देव** । **वस्त्रक्नोपम्, वसनक्नोपम्** । मेघ इतना ही बरसा जिससे वस्त्र ही भीगे।

समूल और निर्मूल कर्म उपपद होने पर कष् (भ्वादि, रगडना, मर्दन करना, नाश करना) से णमुल् आता है और कष् धातु का ही तिङन्त रूप अनुप्रयुक्त होता है[2]—**समूलकाष कषति** (समूल नष्ट कर देता है)। **तत्ताभाव-विषादय क्लेशा समूलकाष कषिता भवन्ति** (यो० सू० भा० ४।३०)। **निर्मूल-काष कषति** । यहाँ से आगे 'अपमाने कर्मणि च' तक णमुल् की प्रकृति के अनुप्रयोग का नियम है।

शुष्क, चूर्ण, रूक्ष—इन कर्मवाची उपपदो के होने पर पिष् से णमुल् होता है और जिससे णमुल् विधान किया है उसी का ही अनुप्रयोग होता है।[3] अर्थात् पिष् से ही तिङ् प्रत्यय होता है। **शुष्कपेष पिनष्टि**=शुष्क पिनष्टि= सूखा पीसता है। **चूर्णपेष पिनष्टि**=चूरा-चूरा करके पीसता है। **रूक्षपेष पिनष्टि**=बिना स्नेह=तैल, घृत आदि के पीसता है। इन उदाहरणो मे उपपदो के साथ पिष् का कुछ अर्थ नही।

समूल, अकृत, जीव—इन कर्मवाची उपपदो के होने पर क्रम से हन्, कृ, ग्रह् से णमुल् होता है। जिस धातु से णमुल् होता है उसी के तिङन्त रूप का अनुप्रयोग होता है[4]—**समूलघात हन्ति** (=समूल हन्ति)। **अकृतकार करोति शूर** (शूर वह अद्भुत काम करता है जो दूसरो ने न किया हो)। **अकृतकार करोतीति स्खलति** (=अकृत करोति)=न किए हुए को करता है, अत स्खलन करता है। **समूलघातमघ्नन्त परान्नोद्यन्ति मानिन** (माघ)

---

१ चेले क्नोपे (३।४।३३)।

२ निमूल-समूलयो कष (३।४।३४)।

३ शुष्क-चूर्ण-रूक्षेषु पिष (३।४।३५)।

४ समूलाकृतजीवेषु हन्कृञ्ग्रह (३।४।३६)।

मानी लोग=शत्रुओं का समूलनाश किए बिना अभ्युदय को प्राप्त नहीं होते। जीवग्राहं गृह्णाति (=जीवं गृह्णाति)=जीते हुए को पकड़ता है।

करण वाची तृतीयान्त उपपद होने पर हन् धातु से णमुल् प्रत्यय होता है और हन् का ही अनुप्रयोग होता है।[1] उपपद का णमुलन्त के साथ नित्य समास होता है—पादघातं भूमिं हन्ति (=पादेन भूमिं हन्ति), पाँवों से भूमि को ठुकराता है। असिघातं हन्ति पारपन्थिकः पथिकम्, डाकू यात्री को तलवार से मारता है। पाण्युपघातं मुखे हन्ति च्छात्रश्छात्रम्, एक छात्र दूसरे छात्र के मुँह पर हाथ से चोट मारता है। हन् का अर्थ हिंसा=प्राणवियोग ही है ऐसा नियम नहीं। आहन् के अर्थ में भी केवल हन् का प्रयोग व्यवहारानुगुण है।

स्नेह (=जल, तैल, घृत आदि) वाची करण उपपद होने पर पिष् धातु से णमुल् प्रत्यय आता है।[2] उदपेषं पिनष्टि तण्डुलान्, जलसम्मिश्रण द्वारा चावलों को पीसता है। यहाँ उदक के स्थान में 'उद' आदेश होता है। घृतपेषं पिनष्टि, घृत के सम्प्रयोग से पीसता है।

हस्तवाची करण उपपद होने पर ण्यन्त वृत् तथा ग्रह् से णमुल् होता है[3]—हस्तग्राहं गृह्णाति दक्षिणां याजकः, याजक दक्षिणा को हाथ से ग्रहण करता है। हस्तवर्तं वर्तयति मोदकान् भिक्षुकेभ्य, भिक्षुओं को हाथ से मोदक बाँटता है। हस्तपर्यायवाची कर, पाणि आदि उपपद होने पर भी यह विधि होगी। पाणिवर्तं विष्टरेषु वर्तयति मुनीन्नरेन्द्रः। जिस धातु (प्रकृत में वृत्,ग्रह्) से णमुल् होता है उसी का अनुप्रयोग होता है। ऐसी व्यवस्था है।

स्व-वाची करण उपपद होने पर पुष् धातु से णमुल् होता है—स्वपोषं पुष्णाति स्वान्=स्वेन पुष्णाति स्वान्, ज्ञाति वर्ग को धन से पुष्ट करता है।[4] 'स्व' का अर्थ है धन, आत्मा, आत्मीय, ज्ञाति। अतः धनपोषम्, रैपोषम्, गोपोषम्, आत्मपोषम्, ज्ञातिपोषम्, पितृपोषम् आदि णमुलन्त रूप बनेंगे।

---

१ करणे हनः (३।४।३७)।
२ स्नेहने पिषः (३।४।३८)।
३ हस्ते वर्तिग्रहोः (३।४।३९)।
४ स्वे पुषः (३।४।४०)।

अधिकरणवाची उपपद होने पर बन्ध् धातु से णमुल् प्रत्यय आता है[1]—*मुष्टिबन्ध बध्नाति स्वर्णमुद्रा*=मुष्टौ बध्नाति स्वर्णमुद्रा, मुट्ठी मे स्वर्णमुद्राओ को बन्द करता है। चारकबन्ध बध्नाति पाटच्चरान्प्रजाधिप, राजा चोरो को जेल मे बन्द करता है।

जीव, पुरुष—इन कर्तृवाची उपपदो के होने पर क्रम से नश् और वह् से णमुल् आता है और इन्ही धातुओ का अनुप्रयोग होता है[2]—हृतसर्वस्वो हि जीवनाश नश्यति (=जीवो नश्यति), अर्थो हि मनुष्यस्य बहिश्चरा प्राणा, जिसका सर्वस्व लुट गया वह जीता हुआ ही नष्ट हो गया। क्योकि धन मनुष्य का बाहिर चलता-फिरता प्राण है। अर्थार्थिन पुरुषवाह वहन्ति गन्त्री, धन की अपेक्षा वाले दास बनकर गाडियाँ खीचते हैं। जीवनाश नश्यति=अतर्कित नश्यति—ऐसा प्रक्रिया-सर्वस्वकार अर्थ करते हैं। यह कल्पना-मात्र शब्दार्थ मर्यादा से सर्वथा असमर्थित अर्थ है।

कर्तृवाची ऊर्ध्व शब्द उपपद होने पर शुष् व पूर् (दिवा०) धातुओ से णमुल् आता है[3]—ऊर्ध्वशोष शुष्यति वृक्ष कृमिजग्ध कीडो से खाया हुआ वृक्ष खडा-खडा सूख जाता है। ऊर्ध्वपूर पूर्यते घट, ऊर्ध्वमुख घडा वर्षादि जल से भर जाता है।

कर्तृवाची तथा कर्मवाची उपमान उपपद होने पर धातुमात्र से णमुल् होता है। जिस धातु से णमुल् होगा उसी का वाक्य मे अनुप्रयोग होगा[4]—अहो मुनिप्रभावादारण्यका अपि रामाचारमाचरन्ति (रामवदाचरन्ति)। अभ्रविलाय विलीन क्षणेन द्विषतामनीकम् (=मेघ की तरह छिन भर मे शत्रुओ की सेना नष्ट (=अदृष्ट हो गई)। यहाँ अभ्र कर्तृवाची उपमान है। एते शोका कुकूलहुतभुग्दाह दहन्ति मनुजान्—ये शोक तुषानल की तरह मनुष्यो को जलाते हैं। राजभोज भुञ्जते स्वल्पानपि स्वान् दरिद्रा, दरिद्र लोग राजाओ की तरह थोडे से भी धन का उपभोग करते हैं। कर्मवाची उपमान के उदाहरण—रत्ननिधाय निदधाति पुस्तकमुषा (=उषा रत्न की तरह

---

१ अधिकरणे बन्ध (३।४।४१)।

२ कर्त्रोर्जीवपुरुषयोर्नशिवहो (३।४।४३)।

३ ऊर्ध्वे शुषिपूरो (३।४।४४)।

४ उपमाने कर्मणि च (३।४।४५)।

पुस्तक को रखती है)। काण्डलाव लुनाति रक्षसां शिरांसि राम (=श्री राम सरकंडे की तरह राक्षसों के सिर काट रहे हैं)। मृद्घं व भिनत्ति गोपुराणि वीर (वीर नगर के द्वारों को मिट्टी की तरह तोड़फोड़ रहा है)। पशुमार मारयति, पशु की मौत मारता है। बन्दिग्राह गृहीत (बन्दिरिव गृहीत) श्रीवसुदेव कृच्छ्रेण कालमतिवाहयति कारायाम्। हा क्रूरेणानेन पशुमार मारितोऽस्मि। त्रायस्व त्रायस्व माम्। इक्षुभञ्ज बभञ्जासौ गजभञ्ज बभञ्ज तम्। प्रथम चरण में उपमान कर्मोपपद का उदाहरण है, द्वितीय चरण में उपमान कर्तृवचनोपपद का। यथा इक्षुर्भज्यते। यथा गजो भनक्ति।

उपपूर्वक दंश् धातु से णमुल् प्रत्यय आता है तृतीयान्त उपपद होने पर।[1] यहाँ उपपद का णमुलन्त के साथ नित्य समास न होकर विकल्प से समास होता है—मूलकोपदंश मूलकेनोपदंश सस्कृतमन्न भुङ्क्ते, मूली को काटकर उसके द्वारा पक्वान्न खाता है। यहाँ मूलक का उपदंशन (काटना) क्रिया के साथ जो कर्मरूप से सम्बन्ध है वह आर्थिक (=अर्थलभ्य) है, भोजन क्रिया के साथ जो करण-रूप से सम्बन्ध है वह शब्दान्वय से लभ्य है। इसीलिए सीधा करण उपपद न कह कर तृतीयान्त उपपद कहा है। उपपदमतिङ् (२।२।१९) से नित्य समास प्राप्त था, तृतीयाप्रभृतीन्यन्यतरस्याम्[2] (२।२।२१) से विकल्प होता है। ऐसा ही अङ्कृत सूत्र से आगे के सूत्रों में जानें।

तृतीयान्त उपपद होने पर हिंसार्थक धातुओं से, जिनका कर्म वही हो जो अनुप्रयुक्त धातु का, णमुल् प्रत्यय आता है[3] और उपपद का णमुलन्त के साथ विकल्प से समास होता है। अनुप्रयोग्य धातु का नियम नहीं—दण्डोपघात दण्डेनोपघात गा कालयति, डंडा मारकर (डंडे से) गऊओं को हाँकता है। दण्डताडं दण्डेन ताडमजा उदजति (डंडे से बकरे-बकरियों को बाड़े से बाहर निकालता है।

सप्तम्यन्त तथा तृतीयान्त उपपद होने पर उपपूर्वक पीड् (चुरा०), रुध्

१ उपदंशस्तृतीयायाम् (३।४।४७)।

२ इस सूत्र में 'तृतीयाप्रभृतीनि' से उपदंशस्तृतीयायाम् इस सूत्र के तृतीयान्त उपपद तथा इससे अगले सूत्रों में उपात्त तृतीयान्त उपपदों की ओर संकेत है।

३ हिंसार्थानां च समानकर्मकाणाम् (३।४।४८)।

(रुधादि०) तथा कृष् भ्वा० धातुओं से णमुल् प्रत्यय आता है[1]—**पार्श्वोपपीडम् पार्श्वाभ्यामुपपीडमुत्फालयति योधो योधम्**, पहलुओं से दबाकर एक पहलवान् दूसरे को उछालता है। पार्श्वोपपीड पार्श्वे उपपीड घोषवतीं संविशति वासवदत्ता, 'घोषवती' वीणा को पहलू मे दबाकर वासवदत्ता सो जाती है। **व्रजोपरोध व्रजे उपरोध व्रजेनोपरोध गा स्थापयति।** **पाण्युपकर्ष पाणिनोपकर्ष पाणावुपकर्षं धाना संगृह्णाति।**

सप्तम्यन्त वा तृतीयान्त उपपद होने पर धातुमात्र से णमुल् होता है जब समीपता की प्रतीति हो[2]—**केशग्राह युध्यन्ते योधा** (इतने समीप हैं कि एक दूसरे के केशो को पकडकर लडते हैं)। यहाँ समास न कर **केशेषु ग्राह, केशैर्ग्राहम्** भी कह सकते हैं।

अपादान-वाची उपपद होने पर धातुमात्र से णमुल् होता है जब त्वरा (जल्दी) की प्रतीति हो[3]—**चौरश्चौर इत्याक्रोशञ् शय्योत्थाय धावति गृही**= 'चोर-चोर' इस प्रकार चिल्लाता हुआ गृहस्थ एकदम शय्या से उठकर दौडता है।

कर्मवाची द्वितीयान्त उपपद होने पर[4]—**यष्टिग्राह युध्यन्ते परं सहसाऽऽक्रान्ता** (शत्रुओ के एकदम चढ आने से वे लाठियो (जो हाथ लगी) से लडते है)। इसी प्रकार **लोष्टग्राह युध्यन्ते** इत्यादि। यहाँ भी समास न कर **यष्टिं ग्राह लोष्टं ग्राहम्** भी कह सकते हैं। इसी प्रकार **अस्यपगोर** (अस्यपगार युध्यन्ते (जल्दी से तलवार उठाकर लडते हैं) मे भी णमुल् प्रयुक्त होता है। यहाँ गुरी उद्यमने तुदा० धातु है। **अनुदात्त पदमेकवर्जम्** (६।१।१५८) सूत्र मे एकवर्जम् मे भी त्वरा गम्यमान है। पद म एक उदात्त व स्वरित को छोडते ही अवशिष्ट भाग को अनुदात्त स्वर मे उच्चारण करना होता है। उसमे विलम्ब नहीं होना चाहिए। अत यहा णमुल् उपपन्न ही है।

अध्रुव शरीराङ्गवाची द्वितीयान्त उपपद होने पर धातुमात्र से णमुल्

---

१ सप्तम्या चोपपीड-रुध-कर्ष (३।४।४९)।

२ समासत्तौ (३ ४।५०)।

३ अपादाने परीप्सायाम् (३।४।५२)।

४ द्वितीयाया च (३।४।५३)। अपगुरो णमुलि (६।१।५३) से यहाँ विकल्प मे धातु के 'उ' को 'आ' हो जाता है।

प्रत्यय होता है।[1] अक्षिनिकाणं जल्पति (आँख मिचोड़ कर बोलता है)। भ्रूविक्षेपं कथयति (भौंहों को उठा कर कहता है)। यहाँ अध्रुव उस अङ्ग को कहा है जिसके कट जाने पर प्राणी की मृत्यु नहीं होती। इसीलिए शिरस् द्वितीयान्त उपपद होने पर णमुल् नहीं होगा—उत्क्षिप्य शिरः कथयति, ऐसा ही कहेंगे।

पीडित किए गए शरीराङ्गवाची द्वितीयान्त उपपद होने पर धातुमात्र से णमुल् प्रत्यय होता है[2]—उरः पेषं (उरः प्रतिपेषं) युध्यन्ते (छाती को पीडित करते हुए लड़ते हैं)। इसी प्रकार शिरः पेषं, शिरः प्रतिपेषं भी णमुलन्त-रूप होंगे। मूर्धपेषं नियुध्यन्ते। समासाभाव में—मूर्धानं पेषं नियुध्यन्ते।

द्वितीयान्त उपपद होने पर विश्, पत्, पद्, स्कन्द्—इन धातुओं से णमुल् प्रत्यय आता है, जब व्याप्ति और आसेवा की प्रतीति होती हो।[3] पदार्थों का विश् आदि क्रियाओं के साथ साकल्येन सम्बन्ध व्याप्ति है। विश् आदि क्रियाओं की आवृत्ति आसेवा है। आसेवा अर्थ में णमुलन्त को द्विर्वचन होगा। व्याप्ति अर्थ में समासाभाव पक्ष में द्रव्यवाची शब्द को द्विर्वचन होगा। व्याप्ति के उदाहरण—गेहं गेहमनुप्रवेशमास्ते (घर-घर में प्रवेश करके बैठता है)। गेहं गेहमनुप्रपातमास्ते। गेहं गेहमनुप्रपादमास्ते। गेहं गेहमवस्कन्द-मास्ते (घर-घर पर आक्रमण कर बैठता है)। आसेवा के उदाहरण—गेहमनुप्रवेशमनुप्रवेशमास्ते (घर में बार-बार प्रवेश कर बैठता है)। गेहमनु-प्रपातमनुप्रपातमास्ते। गेहमनुप्रपादमनुप्रपादमास्ते। गेहमवस्कन्दमवस्कन्दमास्ते।

समास पक्ष में व्याप्ति और आसेवा (=आवृत्ति, नित्यता=बार-बार करना) के समास से ही कहे जाने के कारण द्रव्यवाची अथवा क्रिया को द्विर्वचन नहीं होता। गेहानुप्रवेशमास्ते (घर-घर में प्रवेश करके अथवा घर में बार-बार प्रवेश करके बैठता है) इत्यादि उदाहरण जानें।

'क्रिया का व्यवधायक' इस अर्थ को कहने वाली अस् दिवा० फैंकना तथा तृष् दिवा० तृषित होना इन धातुओं से णमुल् होता है कालवाची

---

१ स्वाङ्गेऽध्रुवे (३।४।५४)।
२ परिक्लिश्यमाने च (३।४।५५)
३ विशि-पति-पदि-स्कन्दां व्याप्यमानासेव्यमानयोः (३।४।५६)।

द्वितीयान्त उपपद होने पर[1]—द्व्यहात्यास गा पाययति। समासाभाव पक्ष मे—द्व्यहमत्यासम्, दो दिन छोडकर गऊओ को जल पिलाता है। द्व्यहतर्षं (द्व्यह तर्षं) गा पाययति—दो दिन प्यासा रखकर गऊओ को पानी पिलाता है। यहां अत्ययन=कालातिक्रमण और तर्षण (प्यासा रखना) क्रियाओ मे पिलाने की क्रिया व्यवहित होती है। आज पिलाकर दो दिन छोडकर पुन पिलाता है यह अभिप्राय है।

द्वितीयान्त नाम शब्द उपपद होने पर आङ्पूर्वक दिश् तथा ग्रह् धातुओ से णमुल् होता है[2]—नामादेशमाचष्टे (नाम बोलकर कहता है)। नामग्राहमाह्वयति (नाम लेकर बुलाता है)। णमुल् विधान किया है, क्त्वा तो प्राप्त ही था।

अव्यय उपपद होने पर अनिष्ट (=इष्ट के विपरीत) प्रकार से कहने अर्थ मे कृ धातु से क्त्वा और णमुल् होते हैं[3]—ब्राह्मण ! कन्या ते गर्भिणी जाता। तत्किमित्युच्चै कारम् (उच्चैः कृत्वा, उच्चैः कृत्य) ब्रवीषि वृषल। ब्राह्मण ! पुत्रस्ते जात । तत्किमिति नीचै कारम् (नीचैः कृत्वा, नीचैः कृत्य) ब्रवीषि वृषल। यथाऽभिप्रेताख्यान=जैसे कहना चाहिए वैसे न कहना।

सर्वभाव्या कृष्णकया शनै कार ब्रवीषि किम्।
मूढ ! मूढ प्रियावाक्यमुच्चै कृत्य ब्रवीषि किम्॥

तिर्यच् (अव्यय) उपपद होने पर कृ धातु से क्त्वा और णमुल् प्रत्यय होते हैं जब क्रियासमाप्ति गम्यमान हो[4]—तिर्यक् कारम् (तिर्यक् कृत्वा, तिर्यक् कृत्य) स्व कृत्य सुख निद्राति कर्मकार ।

तस् प्रत्ययान्त स्वाङ्गवाची उपपद होने पर कृ और भू धातुओं से णमुल् और क्त्वा प्रत्यय होते हैं[5]—स्तुतिनिन्दे पृष्ठत कारम् (पृष्ठत कृत्वा, पृष्ठत कृत्य) स्वकर्मनिरतो भव। मधु मुखत कारम् (मुखत कृत्वा, मुखत

---

१ अस्यतितृषो क्रियान्तरे कालेषु (३।४।५७)।
२ नाम्न्यादिशि-ग्रहो (३।४।५८)।
३ अव्ययेऽयथाभिप्रेताख्याने कृञ क्त्वा-णमुलौ (३।४।५९)।
४ तिर्यच्यपवर्गे (३।४।६०)।
५ स्वाङ्गे तस्प्रत्यये कृभ्वो (३।४।६१)।

कृत्य) विष च हृदि कृत्वा सव्यवहरते शठो लोकेन। गुरोर्मुखतोभावम् (मुखतो भूत्वा, मुखतोभूय) छन्दास्यधीते शिष्य । मुखतोभावम्=सम्मुख होकर ।

सा माला करत कार मुखतोभावमागता ।
तां पत्युगलत कृत्य पार्श्वतोभूय च स्थिता ॥

नाना नाञ् प्रत्ययान्त तथा धा, धमुञ् आदि प्रत्ययान्त च्व्यर्थ-विषयक उपपदों के होने पर कृ तथा भू से क्त्वा और णमुल् आते हैं[1]—नानाकार (नाना कृत्वा, नानाकृत्य) सबनानरीन् सहतेऽबल (जो बलवान् शत्रु पहले अपृथक्, सहत, एकीभूत थे उन्हे पृथक्-पृथक् करके दुर्बल उनपर वश पाता है । मातुर्विनाकार (विना कृत्वा, विनाकृत्य) शिशुकमुपपीडयति विमाता (सौतेली मा बच्चे को माता से जुदा करके उसे दुःख देती है) । एक द्रव्य नवधाकार (नवधा कृत्वा, नवधाकृत्य) स्वरूपमाचष्टे सूत्रकार । एकधाभावम् (एकधा भूत्वा, एकधाभूय) प्रपञ्चोऽयं ब्रह्मणि प्रतिष्ठतेऽन्ते ।

तूष्णीम् (अव्यय) उपपद होने पर भू से क्त्वा और णमुल् आते हैं—तूष्णीम्भाव (तूष्णीं भूत्वा, तूष्णींभूय) स्मरति भगवन्त भागवत (चुप होकर भगवान् का भक्त उसे स्मरण करता है) ।

अन्वच् (अव्यय) के उपपद होने पर तथा अनुकूलता की प्रतीति होने पर भू से क्त्वा व णमुल् आते हैं[2]। यहाँ भी णमुल् विधानार्थ शास्त्र की प्रवृत्ति हुई है, क्त्वा तो प्राप्त ही था। गुरोरन्वग्भावम् (अन्वग्भूत्वा, अन्वग्भूय) आस्ते शुश्रूषु शिष्य (पढ़ना चाहता हुआ शिष्य उपसङ्ग्रहण, अभिवादन आदि से अनुकूलता का सम्पादन कर गुरु के पास बैठता है) । अनुकूलता की अविवक्षा में णमुल् नहीं होगा, क्त्वा तो निर्बाध होगा—अन्वग्भूत्वा गुरो स्थित (गुरु के पीछे खड़ा हुआ) ।

काटने के विषय में कॄ (बिखेरना, गिटाना) को सुट् (=स) का आगम होता है और 'क्त्वा' के अर्थ में णमुल् प्रत्यय होता है—उपस्कार काश्मीरका लुनन्ति=कश्मीरी पौधे को लिटाकर काटते हैं ।[3]

यहाँ णमुल् विधि समाप्त हुई ।

---

६ नाधाधप्रत्यये च्व्यर्थे (३।४।६२) ।
१ तूष्णीमि भुव (३।४।६३) ।
२ अन्वच्यानुलोम्ये (३।४।६४) ।
३ किरतौ लवने (६।१।१४०) । णमुलत्र वक्तव्य ।

प्रयोगमाला

१ कायस्था लेखितारो भवन्ति ।

कायस्थ लोग लेख में चतुर होते हैं ।

२ स्वर्णकारा कला हर्तारो भवन्तीति कलादा उच्यन्ते ।

स्वर्णकार (स्वर्ण के) अंश को हर लेते हैं अत उन्हें कलाद कहते हैं । कलामादत्ते इति कलाद ।

३ राघवा पञ्च चूडा कर्तारो भवन्ति ।

रघु कुल के लोग पाँच चोटियाँ रखते हैं यह उनका धर्म (=कुलाचार) है ।

४ अयं शतं दायी, न च दशकमपि विगणयति ।

इसने सौ देने हैं, पर यह दस भी नहीं चुकाता ।

५ वोढा भवान् कन्यायाः ।

आप विवाह के योग्य हैं ।

६ करभराक्रान्ता वयमर्या अपि गृहाणामनर्या इव ।

कर के भार से दबे हुए हम घरों के स्वामी होते हुए भी मानो स्वामी नहीं हैं ।

७ अस्ति मे पारिणाह्यं वाह्यं, वह्यं नास्ति ।

मुझे घर का सामान ढोना है, पर वाहन नहीं है ।

८ वञ्च्यं वञ्चन्ति वणिजः । (काशिका)

वनिये गन्तव्य स्थान को जाते हैं ।

९ इदं वाव तज्ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रब्रूयात् प्रणाय्याय वाऽन्तेवासिने नान्यस्मै कस्मैचन । (छा० उ० ३।११।५-६)

(पिता) ज्येष्ठ पुत्र के प्रति ब्रह्म का व्याख्यान करे अथवा निष्काम शिष्य के प्रति, और किसी के प्रति नहीं ।

१० नापुत्रस्य सन्ति लोका शुभा इति पुत्रकाम्या सर्वस्य हृदि सनिविष्टा ।

पुत्रहीन के लिए स्वर्गादि शुभ लोक नहीं है अतः सबके हृदय में पुत्रेच्छा दृढता से विराजमान है ।

११ वन्दारुजनमन्दारं वन्देऽहं यदुनन्दनम् । (मल्लिनाथ) ।

वन्दनशील जन के लिए कल्पवृक्ष के सदृश यदुनन्दन को नमस्कार करता हूँ ।

१२ स्थण्डिलशायी ब्रह्मचारी स्थाण्डिल इत्युच्यते तद्धितवृत्त्या ।

अनावृत भूमि पर सोने के व्रत वाला ब्रह्मचारी तद्धित वृत्ति से 'स्थाण्डिल' कहाता है ।

१३ पण्य एष कम्बल पाण्यो न भवति ।

यह विकाऊ कम्बल स्तुत्य नहीं है ।

१४ गद्येनैव त्वया निगाद्योऽर्थ, न खलु पद्यरचनया मुधा क्लेशस्यात्मा पदमुपनेतव्य ।

तुम्हें गद्यद्वारा अपनी बात कहनी चाहिए, पद्यरचना में अपने को क्लेश का भाजन न बनाइये ।

१५ भिक्षाका इमे वराका सर्वाह्ण भिक्षमाणा अपि किं जीवन्ति ।

ये बेचारे भिखमंगे सारा दिन भीख माँगते हुए भी बुरी तरह जीते हैं ।

१६ उपस्थायुका हि गुरु भवन्ति विद्याभीप्सिनो विनेया ।

विद्या प्राप्ति चाहने वाले शिष्य गुरु की सेवा में जाते हैं ।

१७ हन्ति नोपशयस्थोपि शयालुर्मृगयुर्मृगान् (माघ०) ।

घात में बैठा हुआ भी ऊँघने वाला शिकारी मृगों को नहीं मार सकता ।

१८ आक्रीडिन इमे छात्रा विद्याकणमपि न चिन्वन्ति ।

ये क्रीडाशील छात्र तिलमात्र भी विद्या ग्रहण नहीं करते ।

१९ पण्डितमानिनो वय देवदत्तस्य । अय भूतार्थ , नार्थवाद ।

हम देवदत्त को पण्डित समझते हैं । यह सचाई है, कोरी स्तुति नहीं ।

२० अहो रूपवानस्मीति दर्पणे स्व रूप दृष्ट्वा दृप्यति जन ।

दर्पण में अपने रूप को देखकर मैं कितना सुन्दर हूँ इस प्रकार हर कोई दर्पवान् हो जाता है ।

२१ गायका इमे बटवो न तु गायना , तेन स्वरतालयो भ्रंशमपि क्वचित् कुर्वंति ।

ये लड़के गाते हैं, पर गाना इनका शिल्प नहीं है, अत कहीं-कहीं स्वर-ताल-भङ्ग भी कर देते हैं ।

२२ यदि सचर सचारयो सनक-सानकयोश्च विशेष वेत्थ, नून शाब्दिकोऽसि ।

यदि तू सचर और सचार तथा सनक और सानक शब्दों के भेद को जानता है तो निश्चय ही तू व्याकरण जानता है ।

२३ का कारिमकार्षीः, ननु तामेव या भवानादिक्षत् ।

तूने कौन सा काम किया ? जी, वही जिसकी आपने आज्ञा दी थी ।

२४ अजननिरेवास्तु त्वादृशानाम् अनेलमूकानाम् ।

तुम्हारे जैसे मूक तथा बधिर लोगों का जन्म न हो ।

२५ त्वरित विचिकित्सां कुरु, नो चेद् भीतिदोऽयमामयः परं त्वां कदर्थयति पुरा ।

शीघ्र ही पा की चिकित्सा कर, नहीं तो यह भयानक रोग तुझे भरपूर तंग करेगा ।

२६ अयं तैलोदङ्कश्चार्मणः, अयम् उदकोदञ्चनश्च लौहः ।

यह तेल का कुप्पा चर्म्म का बना हुआ है, यह पानी निकालने का डोल लोहे का है ।

२७ मृगचर्म्मरचिते व्यजने केचिद् धविश्रमिति पठन्ति, परे धुवित्रमिति । कतरत् साधु पश्यसि ।

मृग चर्म से बने हुए पंखे के लिए कई लोग 'धवित्र' ऐसा पढ़ते हैं, दूसरे 'धुवित्र' ऐसा । कौन सा ठीक समझते हो ?

२८ अभिज्ञा वयं पृथग्जनकृतानां कदर्थनानाम् ।

हमें नीचों से की गई पीडाओं का अनुभव है ।

२९ आशितम्भवं वर्तते सम्प्रति नेच्छामोऽभ्यधिकमशितुम् ।

तृप्ति हो गई है, अब हम और खाना नहीं चाहते ।

३० नक्तं प्रकाशेऽवकाशे शयितोऽहम् अवश्यायपातेन प्रतिश्यायं समभ्रंशिषि ।

रात खुली जगह सोया, ओस पडने से मुझे जुकाम हो गया ।

३१ अवहरति नीचैः कर्षति (अभ्यवहरति वा) इति ग्राहोऽवहार इत्युच्यते ।

नीचे की ओर खींच लेता है अथवा निगल जाता है, इस से 'अवहार' ग्राह का नाम है ।

३२ अपक्रान्तेषु मौहम्मदेषु हनिहारा विरलतां गताः ।

मुसलमानों के चले जाने पर माशकियों की कमी हो गई है ।

३३ सम्प्रत्याविष्कृतेषु वैद्युतेनालोकेन दिवामन्या रात्रयः, सम्बाधस्थितेषु क्वचिद् गेहेषु च रात्रिमन्यान्यहानि ।

आजकल कारखानों में बिजली के प्रकाश से रातें दिन सी हो गई हैं और कहीं तंग रास्तों में स्थित घरों में दिन रातें बन गई हैं।

३४ इह देशे विद्यास्नातका क्षुधा सीदन्तीति कष्टतरो व्यतिकर।
इस देश में विद्या पूर्ण करके स्नान किए हुए (=समावृत्त) ब्रह्मचारी भूख से तंग हैं यह दुःखद घटना है।

३५ कियानस्यागारस्य विस्तार, कियान् आयाम, कियाश्चोच्छ्राय ?
इस कमरे की कितनी चौड़ाई है, कितनी लम्बाई और कितनी ऊँचाई है ?

३६ यो हि राजानं राज्येन विना करोति सोऽपि राजघ, न तु यस्तं केवलं प्राणैर्वियुङ्क्ते।
जो राजा का राज्य छीन लेता है वह भी 'राजघ' कहलाता है, न कि केवल वह जो उसे प्राणों से वञ्चित करता है।

३७ मातृकाग्रन्थगतानां दोषाणां लेखका न प्रतिभुव।
मूल भूत आदर्श हस्तलेखों के दोषों के लिए लेखक (प्रतिलिपि करने वाले) उत्तरदायी नहीं।

३८ गत्वर्य सम्पद इत्वय इव कुलात् कुलमटन्ति।
चलस्वभाव सम्पदाएँ स्वैरिणियों की तरह एक कुल से दूसरे कुल को फिरती हैं।

३९ असंनिहिते विनेतरि विनेया सांराविणं कुर्वते।
अध्यापक के अनुपस्थित होने पर शिष्य खूब शोर मचाते हैं।

४० पय पानं यथा सुखं भवति शरीरस्य न तथौदनभोजनम्।
दूध पीना जैसे (पीने वाले के) शरीर को सुख देता है वैसे भात खाना नहीं।

४१ अहो बत महत्कष्टम्! अध्यापका अपि स्वं कृत्यं न जानते किमुताध्यायका।
आश्चर्य है, बड़े दुःख की बात है अध्यापक भी अपने कर्तव्य को नहीं पहचानते, छात्र तो बिल्कुल भी नहीं।

४२ प्रक्रान्तोऽसि शुभानां क्रियाणामित्युदितमयेन ते।
तुम शुभ कर्मों को प्रारम्भ कर रहे हो, इससे (हम जानते हैं) कि तुम्हारा भाग्योदय हो गया है।

४३ दर एष वदावदानाम् । दूराद् विदूराच्च सनिपतन्ति लोका एन सोत्सुक श्रोतुम् ।

यह वक्ताओं मे उत्तम है । इसे चाह से सुनने के लिए लोग दूर-दूर से इकट्ठे होते हैं ।

४४ लवका इमे सस्यानाम् । इमे तु यथा तथा लुनन्तीति लावका ।

ये खेती को अच्छे ढग से काटते हैं, ये तो जैसे तैसे काटते हैं, अत 'लावक' हैं ।

४५ य इच्छेत् प्रियोऽह लोकस्य स्यामिति स शब्दाञ्छोलयेत्साधोयश्च सान् व्यवहरेत् । प्रियङ्करस्सो हि शब्दप्रयोग ।

जो चाहता है कि मैं लोगो का प्यारा बनूँ उसे साधु शब्दो का अभ्यास करना चाहिए, क्योंकि शब्द प्रयोग प्यारा बनाता है ।

४६ दुरुक्तानि बीभत्सानि वचनान्यरुष्कराणि भवन्ति ।

घृणित अपशब्द कहे हुए घाव कर देते हैं ।

४७ वातमजोऽय मृगो न शक्य सहेलमासादयितुम् ।

वायुवेग से अधिक वेग वाले इस मृग को सहज मे नही पकड सकते ।

४८ लेखकस्यैते प्रमादा न प्रणायकस्य । न हि व्युत्पत्तिमति ग्रन्थप्रणेत-र्यिमे सभाव्यन्ते ।

ये प्रमाद लिपिकर के हैं, व्युत्पन्न ग्रथकार मे इनकी सभावना नही ।

४६ निर्वातो वात इति घर्मेण प्रस्विन्नगात्रा न निर्वृण्म ।

हवा बन्द हो गई है, अत घाम के कारण अगो से पसीना बहने से हमे चैन नही ।

५० कि शृत क्षीरेण ? भद्र श्राति पय ।

क्या दूध पक गया है । श्रीमान्, दूध पक रहा है ।

५१ श्रायूनोऽय केन हेतुना परिद्यून । मन्येऽरोचकेन प्रवाहिकया वा ।

यह पेटू किस हेतु क्षीण हो गया है । मेरा विचार है अजीर्णरोग से अथवा ग्रहणी से ।

५२ कोऽस्य रथस्य प्रवेता ? आर्य, अहमस्मि प्राजिता ।

इस रथ का सारथि कौन है । आर्य मैं (इसका) सारथि हूँ ।

५३ व्युष्टा रजनीति प्रस्थेय न ।

प्रभात हो गई है, अत हमे चलना चाहिए ।

५४ देवाश्चासुराश्च सयत्ता आसन् ।

देवता और असुरो मे परस्पर सघर्ष था ।

५५ अल्याऽतो नामाऽनीश्वर ईश्वरमप्युपस्थातुम् ।

जो बीमार है वह ईश्वरोपासना मे भी असमर्थ है ।

५६ अभ्रविलिप्ती द्यौ , नाचिरेण भविष्यन्तीं वृष्टि सम्भावयाम ।

आकाश म पतले से बादल का लेप है, निकट भविष्य मे वर्षा की सम्भावना नही है ।

५७ घनाघनैराच्छन्न नम , आसीदति वर्षम् ।

बरसने वाले बादलो से आकाश घिर गया है । वृष्टि आ रही है ।

५८ ग्लास्नुरय गो क्रमितुमपि नाल किमुत वोढुम् ।

रोग मे क्षीण हुआ यह बैल चलने मे भी असमर्थ है भार वहन तो दूर रहा ।

५९ समासन्ने विपत्तिकाले हितमुपदेश निराकृष्णवो भवन्ति लोका ।

विपत्तिकाल के समीप होने पर हितवचन को भी लोग निराकृत कर देते हैं ।

६० श्वेय आशसवो भवन्ति भव्या ।

होनहार कल्याण की इच्छा किया करते हैं ।

६१ द्वये ब्राह्मणा बभूवु शालीनाश्च यायावराश्च ।

दो प्रकार के ब्राह्मण होते थे एक घर बनाकर रहते थे दूसरे बिना घर इधर-उधर घूमते रहते थे ।

६२ एष वृषलो मुह्य शीतेन । प्रावृण्वेनम् ।

यह शूद्र शीत से सिकुड रहा है, इसे कम्बल से ढाँप दो ।

६३ येऽर्थार्थिन शिक्षका शिष्यगृहानटन्ति शिक्षयितु त उपाध्यायव्यपदेश नार्हन्ति ।

जो शिक्षक धन की इच्छा से शिष्यो को पढाने के लिए घर-घर घूमते हैं वे उपाध्याय कहलाने के योग्य नही हैं ।

६४ प्रदेश-प्रादेशशब्दयो समानव्युत्पत्तिकयोरपि कोऽय विशेष इति वेद्रेत्य नून व्यवहारविशारदोसि ।

प्रदेश और प्रादेश शब्द जो एक ही प्रत्यय से व्युत्पन्न होते हैं, के अर्थो मे क्या भेद है, यदि तू जानता है, निश्चित ही व्यवहार कुशल है ।

६५ उत्कटा इमे दोषा न शक्या प्रोर्णवितुम् ।

ये उत्कट दोष छिपाए नही जा सकते ।

६६ शिशो नोद्विजितुमर्हसि एषाऽऽयाति तेऽम्बा ।

हे वत्स, घबराइये मत, अभी तेरी माँ आ रही है ।

६७ गहना इमेऽर्था न शक्या सहसाऽध्यवसातुम् ।

ये गम्भीर बातें हैं, इन्हें एकदम निश्चित जानना कठिन है ।

६८ त तमर्थमभ्युह्य मनीषया नन्दन्त्यन्तर्मुनीश्वरा ।

उस-उस अर्थ को बुद्धि से बूझ करके मुनीश्वर लोग मन में प्रसन्न होते हैं ।

६९ मल क्रुध्य । खलु सरम्भ ।

झगड़ा न कीजिए । क्रुद्ध न हूजिये ।

७० शास्त्रेऽवधीतिनोऽप्यत्र प्रमाद्यन्ति किम्पुन प्राधीता ।

शास्त्र पढ़े हुए (विद्वान्) भी इसमें प्रमाद करते हैं, जिन्होंने अभी अध्ययन प्रारम्भ किया है, उनका तो क्या कहना ।

७१ यो वाचा शिष्टजुष्ट प्रकारस्तमनुशिष्या शिष्या ।

वाणी का जो शिष्टों से सेवित प्रकार है, उसे शिष्यों को सिखाना चाहिए ।

७२ कण्डूया वपनादपैति शिरस ।

सिर की खुजली मुण्डन से दूर हो जाती है ।

७३ न खलु सम्पदि हर्षणीय प्रज्ञेन न विषदनीय व्यापदि ।

बुद्धिमान् को सम्पत्ति में हर्ष नहीं करना चाहिए, और विपत्ति में शोक नहीं करना चाहिए ।

७४ उपचार्य स्त्रिया साध्व्या सतत देववत्पति (मनु० ५।१५४) ।

सती स्त्री को पति की देवता की तरह नित्य सेवा करनी चाहिए ।

७५ यदा तु प्रतिषेद्धार पापो न लभते क्वचित् ।
　　तिष्ठन्ति बहवो लोकास्तदा पापेषु कर्मसु ॥　(भा० ३।९८४१)

जब पापी को कोई रोकने वाला नहीं मिलता तब बहुत से लोग पाप कर्मों में स्थिरतया प्रवृत्त हो जाते हैं ।

धातुसम्बन्धे प्रत्यया

धातुसम्बन्धे प्रत्यया (३।४।१) यह विधिसूत्र है । धात्वर्थों के परस्पर-सम्बन्ध = विशेषण-विशेष्य-भाव सम्बन्ध में धात्वधिकार-विहित (और

प्रधात्वधिकार-विहित भी) प्रत्यय जिस कालविशेष में विधान किए गए हैं उससे भिन्न काल में भी साधु होते हैं—यह सूत्रार्थ है। सूत्रकार ने किन्हीं कृत्-प्रत्ययों को तथा तद्धित-प्रत्ययों को काल-विशेष में विधान किया है। कृद्-प्रकरण में निष्ठा प्रत्यय (क्त, क्तवतु), करणे यज (३।२।८५) से विहित णिनि, कर्मणि हन (३।२।८६) से विहित णिनि—ये सब भूतकाल के विषय में विधान किए हैं, पर गतो वन श्वो भवितेति रामः, भुक्तवानस्मि, पितृव्यघाती तस्य पुत्रो जनिता, अग्निष्टोमयाज्यस्य पुत्रो जनिता—में ये भविष्यद् काल के बोधक हैं। राम कल वन में पहुँच जाएगा, मैंने खाना खा लिया है, उसके पुत्र उत्पन्न होगा जो चचा को मारेगा, इसके ऐसा पुत्र उत्पन्न होगा जो अग्निष्टोम याग करेगा। शतृ, शानच् लट् का आदेश होने से वर्तमान काल के बोधक हैं, और लृट् के स्थान में विकल्प से होने से भविष्यद् काल के, पर वसन्ददर्श, अधीयमानो जगाम, निवेशयिष्यतो मनो न विव्यथे—यहाँ भूतकाल के बोधक हैं। 'भाविन्' यह उणादि प्रत्यय णिनि से निष्पन्न होता है और भविष्यत् काल में ही प्रयुक्त होता है। पर भावि कृत्यमासीत्, होने वाला कृत्य था, यहाँ भूतकाल का वाचक हो गया है। कृदभिहितभाव विशेषण है और तिङभिहित भाव विशेष्य है। विशेषण गुणीभूत होने से विशेष्य के काल का अनुसरण करता है।

तद्धित-प्रत्ययों में भी ऐसा साधुत्व होता है। मतुप् वर्तमान काल में विहित है। गाव सन्त्यस्येति गोमान्, जिसके पास बहुत सी गौएँ हैं वह गोमान् कहलाता है। जिसके पास गौएँ थीं अथवा जिसके पास गौएँ होंगी उसे गोमान् नहीं कह सकते। पर देवदत्तो गोमानासीत्—यहाँ मतुप् 'आसीत्' क्रिया के अनुरोध से भूत काल का बोध कराता हुआ भी साधु है, निर्दोष है। द्वारे नियुक्त = दौवारिक, जो द्वार पर नियुक्त किया गया है, अर्थात् द्वार-पाल। यहाँ भूतकाल में ठक् विधान किया है। पर दौवारिक सम्पत्स्यते योग्यत्वात्, योग्य होने से दौवारिक बनेगा—इसमें 'द्वारे नियोक्ष्यते' अर्थ में ठक् भविष्यत्काल का वाचक हो गया है। इसमें निद्वाच्य भविष्यत्कालिकी क्रिया 'सम्पत्स्यते' के साथ सम्बन्ध ही कारण है।

उत्सर्गापवाद की बाध्य-बाधक-व्यवस्था

सामान्य विधि को उत्सर्ग कहते हैं और विशेष विधि को अपवाद। विशेष सामान्य का बाधक होता है। और यही न्याय्य है। सामान्य विधि

विशेष विधि के विषय को छोड़कर अन्यत्र प्रवृत्त होती है। इतने से ही उसकी चरितार्थता है। अर्थात् अपवाद उत्सर्ग के विषय का संकोच करता है। लोक में भी यह न्याय देखा जाता है—ब्राह्मणेभ्यो दधि दीयतां तक्रं कौण्डिन्याय, ब्राह्मणों को (ब्राह्मणमात्र को) दही दिया जाय और कुण्डिन-गोत्रज ब्राह्मण को तक्र (मठा) दिया जाए, ऐसा कहने पर सामान्य-विधि से प्राप्त दधि दान विशेष विहित तक्रदान से बाधित हो जाता है। कौण्डिन्य ब्राह्मण को दही नहीं दिया जाता, तक्र ही दिया जाता है। शास्त्र में कर्मण्यण्, कर्म (मात्र) उपपद होने पर धातु (मात्र) से अण् होता है, यह सामान्य विधि है, उत्सर्ग है। आतोऽनुपसर्गे कः आकारान्त धातु से, जब उससे पूर्व उपसर्ग का प्रयोग न हो, कर्म (मात्र) के उपपद होने पर 'क' प्रत्यय आता है, यह विशेष विधि है अपवाद है। कुम्भं करोतीति कुम्भकारः (अण्)। परं गां ददातीति गोदः (क)। यहाँ 'क' के विषय में अण् नहीं हो सकता। यदि हो जाय, तो 'क'—विधान अनर्थक हो जाय और 'गोदायः' ऐसा अनिष्ट रूप प्रसक्त हो जाय। अतः अपवाद उत्सर्ग को नित्य बाधता है।

पर कृत् प्रकरण के प्रारम्भ में सूत्रकार वाऽसरूपोऽस्त्रियाम् (३।१।९४) यह सूत्र पढ़ते हैं जो परिभाषा मानी जाती है। इसका अर्थ है—इस धात्वधिकार में असमान-रूप विशेष विहित अपवाद रूप कृत् प्रत्यय सामान्य विहित उत्सर्ग का विकल्प से बाधक होता है। नित्य नहीं। हाँ स्त्र्यधिकार-विहित क्तिन् आदि प्रत्ययों में तो यथाप्राप्त नित्य ही बाधक होता है। ण्वुल्तृचौ—यह उत्सर्ग है। धातुमात्र से कर्ता में ण्वुल् तथा तृच् प्रत्यय होते हैं—विक्षेप्ता। विक्षेपकः। इगुपध धातु से कर्ता अर्थ में 'क' प्रत्यय होता है, यह अपवाद है—विक्षिपः। अपवाद 'क' उत्सर्ग ण्वुल्, तृच् के साथ समान-रूप नहीं, अतः अपवाद उत्सर्ग का विकल्प से बाधक होता है, अर्थात् अपवाद के विषय में भी उत्सर्ग की प्रवृत्ति पक्ष में होती है। असमान-रूप वह समझा जाता है जो अनुबन्ध के चले जाने पर असमान-रूप रहे, अनुबन्धों से जो असमान-रूपता सम्पन्न होती है वह नहीं ली जाती। कर्मण्यण्। यहाँ अनुबन्ध-रहित प्रत्यय 'अ' है। आतोऽनुपसर्गे कः। यहाँ भी अनुबन्ध रहित प्रत्यय 'अ' है। सानुबन्ध प्रत्यय यद्यपि असमान-रूप हैं, निरनुबन्धक तो समानरूप ही हैं। अतः 'क' अण् को नित्य ही बाधेगा।

स्त्र्यधिकार-विहित प्रत्ययों में उत्सर्गापवादों का नित्य बाध्य बाधक-भाव बना रहता है। धातुमात्र से स्त्रीत्व विषय में भाव आदि को कहने के लिए

क्तिन् प्रत्यय आता है। यह उत्सर्ग है। स्त्रीत्वविषय में प्रत्ययान्त धातु से भाव आदि को कहने के लिए 'अ' प्रत्यय आता है। यह अपवाद है। जिहीर्षा (अ प्रत्यय)। यहाँ क्तिन् नहीं कर सकते। यक्-प्रत्ययान्त 'कण्डूय' से 'अ' प्रत्यय करके कण्डूया रूप ही शुद्ध होगा। जागृ से 'श' और 'अ' का विशेष विधान है, जिससे भाव में जागर्या, जागरा—ये दो रूप बनते हैं। सामान्य-विहित क्तिन् करके 'जागर्ति' नहीं बना सकते और अन्याय्य गुणाभाव-सहित जागृति भी नहीं।

वाऽसरूप-प्रतिषेध स्त्र्यधिकार में भी तभी होता है जब उत्सर्ग और अपवाद दोनों स्त्रीप्रकरणस्थ हों। अतः स्त्रीप्रकरणस्थ ण्यासश्रन्थो युच् (३।३।१०७) से विशेष विहित युच् के साथ स्त्र्यधिकार से बहिर्भूत ऋहलोर्ण्यत् (३।१।१२४) से सामान्य-विहित ण्यत् का समावेश निर्बाध होगा—आसना। आस्या।

स्त्र्यधिकार से उत्तर क्त, ल्युट्, तुमुन्, खलर्थ प्रत्यय—इन प्रत्ययों में वाऽसरूपविधि नहीं होती। यह भी प्रायिक है। कालसमयवेलासु तुमुन् (३।३।१६७)। कालो भोक्तुम्। ल्युट् भी होता है—कालो भोजनस्य।

ताच्छीलिक प्रत्ययों में परस्पर वाऽसरूपविधि नहीं होती, यह वचन भी प्रायिक है। सामान्य-विहित तृन् विशेष विहित इष्णुच् (इष्णु) के विषय में नहीं हो सकता। अलंकरिष्णु के साथ-साथ तृन् करके अलंकर्ता नहीं कह सकते। पर चलनार्थ धातु तथा अनुदात्तेत् हलादि धातु से सामान्य विहित युच् विशेष विहित 'र' के विषय में भी हो जाता है, अर्थात् दोनों का बराबर प्रयोग मिलता है—कम्पना शाखा (युच्)। कम्प्रा शाखा(र)। कमना युवतिः। कम्रा युवतिः। सामान्य विहित युच् भी कपलसकत्थस्रम्भः (३।२।१४३) से विशेष विहित घिनुण् के विषय में भी होता है—विकत्थन। विकत्थी।

कृदभिहितो भावो द्रव्यवत्प्रकाशते

सिद्धावस्थापन्न भाव कृत् प्रत्यय से कहा जाता है (साध्यावस्थापन्न भाव तिङ् से), अतः द्रव्यवाचक शब्दों की तरह भाव कृदन्तों का भी लिङ्गसंख्या में योग होता है। यही 'द्रव्यवत् प्रकाशते' इस वचन का अर्थ है। त्यागः। त्यागौ। त्यागाः। रागः। रागौ। रागाः। पाकः। पाकौ। पाकाः।

उणादि प्रत्यय

पञ्चपादी उणादि सूत्र अष्टाध्यायी से बहिर्भूत हैं। सर्वप्रथम सूत्र 'कृ-वा-पा जि मि-स्वदि साध्यशूभ्य उण्' मे उण् प्रत्यय का विधान होने से ये सूत्र उणादि कहलाते हैं। ये शाकटायनमुनिप्रणीत हैं ऐसी वैयाकरण-निकाय मे प्रसिद्धि है। भगवान् सूत्रकार पाणिनि इनकी सत्ता को स्वीकार करते हैं। आचार्य उणादि प्रत्ययो के आश्रित इडागम-निषेध, ह्रस्वादि कार्य विधान करते हैं। इट्-निषेध-विधायक सूत्र तितुत्रतथसिसुसरकसेषु (७।२।९) मे ति, त्र को छोड़कर सभी उणादि प्रत्यय हैं। ह्रस्वविधायक सूत्र इस्मन्त्रन्क्विप् च (६।४।९७) मे सभी उणादि प्रत्यय हैं। हाँ क्विप् अष्टाध्यायीस्थ भी है। इतना ही नही, इनके विषय मे कुछ विशेष कथन भी करते हैं। इनका कहना है कि उणादि प्रत्यय वर्तमान काल मे तथा संज्ञाविषय मे बहुलतया होते हैं।[1] अर्थात् जिस-जिस प्रकृति को लेकर विधान किये गये हैं उस-उससे अन्यत्र भी देखे जाते हैं, भूत[2] और भविष्यत् मे भी होते हैं[3] और असंज्ञा मे भी। जो प्रत्यय विधान नही भी किये गये वे भी शब्दान्वाख्यान के लिये स्वयम् कल्पित किए जाते हैं। कृत-प्रत्यय होने से इन्हे कर्तृकारक मे ही आना चाहिए था, पर ये अन्य कारको के अर्थ को कहने के लिए भी आते हैं। 'भीम' आदि शब्दो मे अपादान कारक मे ही मक् आदि उणादि प्रत्यय आते हैं।[4] 'दाम' तथा 'गोष्ण' शब्दो मे सम्प्रदान मे ही प्रत्यय होते हैं।[5] अन्यत्र अपादान मे तथा सम्प्रदान मे न होकर शेष कर्मादि कारको मे आते हैं।[6]

उणादि प्रत्ययान्त शब्दो को व्युत्पन्न (धातुज) माना जाता है और अव्युत्पन्न भी। ये दोनो पक्ष पाणिनीय लोगो को अभिमत हैं। कुछेक उणाद्यन्त तो निःसन्देह व्युत्पन्न कहे जा सकते हैं, जहाँ धात्वर्थ प्रत्यय-सहकार से वाच्यार्थ मे अन्वित होता है, जैसे करोतीति कारु, करने वाला, शिल्पी। कृ—उण्। गृणातीति गुरु। गृ—कु। बिभेत्यस्माद् इति भीम।

---

१ उणादयो बहुलम् (३।३।१)।
२ भूतेपि दृश्यन्ते (३।३।२)।
३ भविष्यति गम्यादय (३।३।३)।
४ भीमादयोऽपादाने (३।४।७४)।
५ दाशगोघ्नौ सम्प्रदाने (३।४।७३)।
६ ताभ्यामन्यत्रोणादय (३।४।७५)।

भी—मक्। स्खलत्यस्माद् इति खलति। स्खल्—अति। वातीति वायु।
उण्। युक् आगम। पातीति पायु, गुदा। शतधा द्रवतीति शतद्रु, सतलुज
नदी। कु प्रत्यय, जिसे डित् माना जाता है। पर शृणातीति परशु। कु।
आखनतीति आखु, चूहा। कु, डित्। कृणत्ति वेष्टयति अनेन इति तर्कु
(कातने का साधन)। यहाँ आद्यन्तविपर्यय (आदि क् के स्थान में अन्त का त्,
तथा अन्त्य त् के स्थान में आदि क्) भी हुआ है। शृणातीति शरु, बाण।
उ। सृजन्त्येताम् इति रज्जु। उ प्रत्यय। यहाँ कर्म में प्रत्यय हुआ है—
इत्यादि में धात्वर्थ का वाच्यार्थ में अन्वय है। पर सैंकडों ऐसे उणादि हैं जहाँ
अर्थान्वय कुछ भी नहीं। वहाँ ज्यों-त्यों प्रकृति-प्रत्यय विभाग द्वारा शब्द-
स्वरूप की निष्पत्ति के प्रदर्शन मात्र में यत्न है। ऐसा क्यों किया गया है?
इसलिए कि शाकटायनादि वैयाकरण सभी नामों को धातुज मानते हैं। वे
किस तरह धातुज हैं यह दिखाने के लिए उणादि सूत्रों की निर्मिति हुई है।
हस् हसना से 'तन्' प्रत्यय करके 'हस्त' शब्द की सिद्धि की जाती है, पर
हस्त (हाथ) में हसना क्रिया की कुछ भी सगति नहीं। ऐसे ही पोत (समुद्र-
यान) में भी पूञ् धातु के अर्थ का कुछ भी सम्बन्ध नहीं। नम् धातु से डट
प्रत्यय करके 'नट' शब्द बनाया जाता है, पर नमन झुकना क्रिया का कोई
विशिष्ट सम्बन्ध नट वाच्यार्थ के साथ नहीं। वस्तुत नट अवस्यन्दने से अच्
प्रत्यय करके रूपसिद्धि सुलभ है और अर्थ सगति भी। परुष (=कर्कश,
रूक्ष, रूखा, सख्त) शब्द पृ पालनपूरणयो से उषन् प्रत्यय करके सिद्ध किया
गया है, अर्थ की सगति की ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया गया। वस्तुत
परुस् (नपु० गाँठ), से अर्श-आदि अच् प्रत्यय करके सहज में ही परुष शब्द
सिद्ध हो जाता है और अर्थ भी सगत हो जाता है। परुष=गठीला अत एव
खुरदरा। मञ्जूषा शब्द मस्ज् (डुबकी लगाना, नीचे जाना, स्नान करना
आदि) से कल्पित किया जाता है। यहाँ धात्वर्थ की कुछ भी सगति नहीं।
चरित तदिति चर्म। भूतकाल में मनिन् प्रत्यय। यहाँ धात्वर्थ का वाच्यार्थ में
कुछ भी अन्वय नहीं। त्यद्, तद्, यद्—इन्हें त्यज्, तन्, यज् धातुओं से आदि
(अद्)प्रत्यय करके बनाया गया है। यह भी कोरी अनर्थक कल्पना है। ऐसे ही
रश्मि शब्द की व्युत्पत्ति में अशूङ् धातु को रश् आदेश की कल्पना निराधार है।

इतना होने पर भी उणादि उपादेय हैं। सकडों प्रसिद्ध लौकिक व वैदिक
शब्द जिनका अनुशासन अष्टाध्यायी में नहीं पाया जाता है, पर जिनके
अनुशासन को जानना इष्ट है, जिसके बिना वाक् की परिपूर्णता नहीं होती,

उणादि सूत्रों द्वारा ही व्युत्पन्न होते हैं। गो शब्द कितना प्रसिद्ध है। लोक तथा वेद में इसके अनेकार्थ देखे जाते हैं। इसकी व्युत्पत्ति भी अष्टाध्यायी में नहीं है। इसी तरह प्रतिदिन के व्यवहार में आने वाले स्त्री, पाणि, अस्त्र, वस्त्र आदि शब्दों की व्युत्पत्ति के लिए हमें उणादि सूत्रों का आश्रय लेना पड़ता है। अत हम यहाँ पञ्चपादी उणादि सूत्रों में से प्रसिद्धतम प्रतीवोपयोगी सूत्रों को सोदाहरण सगृहीत करते हैं—व्याकरणस्य कात्स्न्यीय।

अथ प्रथम पाद

उण् (उ)—कृ, वा, पा, जि, मि, स्वद, साधु, अश् (स्वादि०) से उण् प्रत्यय आता है। करोतीति कारु। शिल्पी अथवा करने वाले को कहते हैं। वातीति वायु। पातीति पायु (गुदा)। प्रत्यय के णित् होने से युक् आगम। असज्ञा में भी अर्थात् शुद्ध यौगिक रूप में भी 'पा' से यह प्रत्यय होता है—ये पायवो मामतेय तेऽग्ने पश्यन्तो अन्ध दुरितादरक्षन् (ऋ० १।१४७।३)। जयत्यभिभवति रोगान् जायु, औषध। मिनोति प्रक्षिपति ऊष्माण देहे इति मायु, पित्त। स्वदते इति स्वादु। साध्नोति परकार्यमिति साधु। अश्नुते इति आशु। शीघ्र। आशु अनव्यय भी है—आशुरश्व, तेज चलने वाला घोडा। आशु (पु०) व्रीहि को भी कहते हैं। गा मिमीते इति गोमायु। (शृगाल)। बहुल ग्रहण से रह् से राहु और वस् से वासु। वसति सर्वत्रेति वासु। वासुश्चासौ देवश्चेति वासुदेव।

ञुण् (उ)—दॄ—दारु। दीर्यते इति। काष्ठ। सन्—सानु (पु०, स्त्री०)। पर्वत के ऊपर की समतल भूमि। जन्—जानु (पु०, न०)। चर्—चारु। चरति गच्छति प्रविशति मन इति। सुन्दर। चट्—चाटु, प्रिय वचन, प्रिय वचन बोलने वाला। कि शृणातीति किशारु, सस्य-शूक। किम् उपपद रहते शॄ से ञुण्। जरामेति जरायु (गर्भाशय)। जरा उपपद होने पर इण् धातु से ञुण्।

उ—भृ—भरति बिभर्ति वा भरु, हरि, हर। मृ—म्रियन्तेऽत्रेति मरु, धन्व-देश। शीङ्—शेते इति शयु, अजगर। तॄ—तरु (पु०)। तरन्ति नरकमनेन रोपका। चर्—चरन्ति भक्षयन्ति देवता इमम् इति चरु। त्सर् (छिपकर चलना)—त्सरु (पु०), खड्गमुष्टि। तन्—तनु, स्वल्प। शरीर अर्थ में स्त्री०। धन्—धनु (उकारान्त), धनुष् पर्याय। मस्ज्—मद्गु, जलचर विशेष, जो पानी में डुबकी लगाता है। शॄ—शृणातीति शरु, बाण, वज्र। स्वॄ—स्वर्यते उपतप्यतेऽनेन प्राणी स्वरु, वज्र। त्रप्। त्रपते इति त्रपु (नपु०),

राग। यह मानो अग्नि को देख कर लज्जाती है। अपते का अर्थ है 'लज्जाता है।' राग का पिघलना ही लज्जाना है। अस्—अस्यन्ति क्षिपन्ति शरीरमित्यसव, प्राण। असु पुंल्लिंग बहुवचन में प्रयुक्त होता है। हन्—हनु। जबड़ा। हनु पु० और स्त्री० दोनों में प्रयुक्त होता है। बन्ध्—बन्धु। स्नेहेन बध्नातीति। मन्—मन्यते जानाति मनु। स्कन्द्—कन्दु, तन्दूर। कन्दु पु० स्त्री०। स्कन्दति शोषयति इति कन्दु। स् का लोप। सृज्यतेनाप् इति रज्जु। सृज् के स् का लोप और ऋ से अम् आगम। कृती (कृत्) वेष्टन, लपेटना—तर्कु, तकला। कृणत्ति वेष्टयति अनेन इति तर्कु, कतन-सायन। यहाँ वर्णों का आद्यन्त विपर्यय होता है। जैसे हिंस् से व्युत्पन्न सिंह शब्द में।

पृ—पृणातीति पुरु, राजर्षि का नाम। व्यध्—विरहिण विध्यतीति विधु, चन्द्र। किन् होने से सम्प्रसारण। गृध्—गृधु, काम। धृष्—धृषु, दग, धृष्णु। कृ—करोतीति कुरु, राजा का नाम। गृ—गृणाति उपदिशति इति गुरु। यहाँ ऋ को उ (रपर=उर्) भी होता है। अप, दुस्, सु उपपद होने पर स्था से कु—अपष्ठु, प्रतिकूल। दुष्ठु। सुष्ठु। यहाँ सुषामादि गण में पाठ मानने से स्था के स् को मूर्धन्यादेश हुआ है।

अर्जं—अर्जयति गुणान् इति ऋजु। यहाँ धातु को ऋज् आदेश भी होता है। दृश्—सर्वानविशेषेण पश्यतीति पशु। यहाँ दृश् को पश् आदेश होता है। यदि सौत्र धातु नाश करना अर्थ में पढ़ी है इससे पांसु (पु०), धूलि।

प्रथ्, म्रद्, भ्रस्ज्—इन्हें सम्प्रसारण भी होता है। भ्रस्ज् के स् का लोप भी। प्रथ्—पृथु। म्रद्—मृदु। भ्रस्ज्—भृगु। यहाँ न्यङ्क्वादि आदि गण में पाठ स्वीकार करके कुत्व भी होता है।

आङ् पूर्वक खन्, शृ से परे कु प्रत्यय डित् माना गया है। डित् होने से प्रकृति के टि का लोप हो जाता है। आखु, मूषक। पर शृणातीति परशु, शत्रुओं को नष्ट करने वाला, परसा, कुल्हाड़ा।

हरिभिर्द्रूयते हरिद्रु=वृक्ष। हरि—वानर। द्रु गत्यर्थक है। मित द्रवति इति मितद्रु, समुद्र। शतधा द्रवति इति शतद्रु, नदी विशेष, सतलुज।

मृगयु आदि कुप्रत्ययान्त निपातन किए हैं। मृग याति इति मृगयु, व्याध। 'आतो लोप इटि च' से 'आ' का लोप हो जाता है। मित्रयु, लोकयात्रा को जानने वाला। मृगयु आदि आकृतिगण है।

उरच् (उर) मन्दते नन्दत्यत्र इति मन्दुरा, वाजिशाला, घुड़साल। वाग्—वागुरा। वाग्यन्ते दम्यन्तेऽस्याम् इति वागुरा, रात। वागुर मधे

को कहते हैं ऐसा कुछ लोग मानते हैं। मयतीति मयुरा। चद् (मांगना)—चतति चतते वा चतुर। चड्कुरो रथ। चटक् सौत्र धातु है। अकि—अङ्कुर (पु०), नई कोपल।

मद्गुर आदि शब्द उरच् प्रत्ययान्त निपातन किए हैं। मद्गुर एक प्रकार का मत्स्य। कर्बृ—कर्बुर, रंगबिरंगा। बन्ध्—बन्धुर, नम्र, उन्नतानत, सुन्दर।

किरच् (इर)—इष्—इषिर, अग्नि। इषिरोऽभिवातु वात इस ऋग्वर्ण में इषिर का अर्थ गतिशील है। मद्—मदिरा। माद्यति अनया। मुद्—मुदिर (पु०), कामुक, मेघ। छिद्—छिदिर, चाँद। छिद्—छिदिर (पु०), खड्ग, कुठार। भिद्—भिदिर (नपु०), इन्द्र का वज्र। मदि (प्रमत्त होना)—मन्दन्ते अत्रेति मन्दिर गृहम्। चदि—चन्दति आह्लादयतीति चन्दिर, चाँद। तिम्—तिमिरम्। अन्धेरा, नेत्ररोग, अधकारता। मिह् (सेचन करना)—मिहिर, सूर्य। मेहति वर्षति इति। वृष्टि में मुख्य कारण सूर्य है—आदित्या-ज्जायते वृष्टि। मुह्—मुह्यति इति मुहिरः, मूर्ख। रुच्—रुचिर। रोचते इति। रुध्—रुधिर (नपु०)। बध्नाति इति बधिर। अनिदिताम्० (६।४।२४)—से न् लोप। शुष्—शुषिर, छिद्र।

अजिर, शिशिर, शिथिल, स्थिर, स्फिर, स्थविर, खदिर—ये किरच्-प्रत्ययान्त निपातन किए हैं। अजन्ति यन्त्यत्रेति अजिरम्, आंगन। यहां अज् को वि आदेश नहीं हुआ। शिशिर—शश् (छलांग लगाते चलना) धातु से। शिथिल श्रथ् धातु से। स्था—स्थिर। स्फाय् से—स्फिर, प्रभूत, बहुत। स्था से स्थविर, वृद्ध। वुक् (व्) आगम। खद् (हिंसा करना)—खदिर, खैर का वृक्ष।

तुन् (तु)—सि (बांधना)—सिनोति सिनाति वा सेतु। तन्—तन्तु (पु०)। 'सितन्—' से इट् का निषेध। गम्—गन्तु। आगन्तु=आगन्तुक। मस् (बदलना)—मस्तु (पु०), दही का पानी। सच्—सक्तु (पुं०)। अव्—ओतु, बिडाल, बिल्ला। 'ज्वरत्वर'० (६।४।२०) सूत्र से व् और उपधा को ऊठ्। गुण। धा—धातु। क्रुश्—क्रोष्टु (शृगाल)। प्र० एक०—क्रोष्टा।

तु—ऋ—इयर्तीति ऋतु। यहां 'तु' कित् माना गया है। कम्—कन्तु, कामदेव, चित्त। मन्—मन्तु (पु०), अपराध। जन्—जन्तु, प्राणी। गा—

गातु। गायति इति गातु, कोकिल, गन्धर्व। मा—मातु (पु०), सूर्य। या—यातु (पु०) यात्री, काल। हि (स्वादि०)—हेतु। हिनोति प्रहिणोति प्रेरयति इति हेतु।

आतु—जीव्—जीवातु, जीवनौषध, जिलाने वाला औषध।

इति (इत्)—तड् णिच—ताडयति इति तडित् (स्त्री०), कड़कने वाली बिजली। यहाँ 'णि' का लुक् भी होता है।

क्ल (अल)—वृषल आदि अल-प्रत्ययान्त निपातन किए हैं। वृष्—वृषल (शूद्र)। पल् (जाना)—पलल (नपु०) मांस। सृ—सरल=पूतिकाष्ठ। यहाँ अप्राप्त गुण भी होता है।

सरला विरलायन्ते घनायन्ते कलि-द्रुमाः।
न दामी न च पुन्नागा अस्मिन् संसारकानने॥

ड—अम् (प्रत्याहार) अन्त वाली धातुओं से। दम्—दण्ड। दाम्यति इति दण्ड। रम्—रण्ड। रमते इति। सन् (देना)—सनति सनोति इति वा षण्ड, साँड। पडि—पण्डा, बुद्धि। अम्—अण्ड। यहाँ 'चुटू' से प्रत्यय के आदि टवर्ग की इत् संज्ञा नहीं होती। उणादयो बहुलमिति।

आलच्—स्था—स्थाल, स्थाली=पाकभाजन।

वालन्—चट्—चात्वाल=यज्ञकुण्ड।

आलीयच्—मृज्—मार्जालीय=मार्जार, बिडाल, बिल्ला।

मन् (म)—ऋ—अर्म (नपु०)=चक्षूरोग। स्तु—स्तोम=समात। सु (स्वा०)—सोम। सूयतेऽभिषूयते इति सोम। हु—होम। घृ—घर्म। सि—सेम। (पु० नपु०)। क्षु—क्षोम। प्रज्ञादि होने से अण् करके क्षौम ऐसा भी होगा। मा—माम=सूर्य। या—याम=पहर। वा—वाम=सुन्दर, उलटा। पद्—पद्म। यज् (पूजा करना)—यक्ष्म=रोग राज, तपेदिक्। नी—नेम=आधा।

अव् से मन् और टि (अ) का लोप। अव के व् के स्थान में ऊठ् (ऊ)। गुण। ओम्। अव्यय। प्रणव, स्वीकार।

भी—भीम। बिभेत्यस्माद् इति भीम। षुक् का आगम होने पर भीष्म।

कनिन् (अन्)—नञ्-पूर्वक ओहाक् (हा)=त्याग करना से कनिन्। न जहातीत्यह्न। आतो लोप इटि च (६।४।६४)से आ का लोप।

कनि (क्वन्)—दध्वन्, उक्षन्, पूषन्, प्लीहन्, मूर्धन्, मज्जन्, अर्यमन्, परिज्मन्, मातरिश्वन् मघवन्—ये क्वन् प्रत्ययान्त निपातन किए हैं। इनमें

क्रम से भि, उत्, पूष् (भ्वादि०), प्लिह् (गत्यर्थक), मुह्, मस्ज, अर्य उपपद होते हुए माङ्, जन् (परिपूर्वक), मातरि (सप्तम्यन्त) उपपद होने पर भि, मह् (भ्वा० चुरा०) पूजा करना—ये धातुएँ हैं। मुह्यत्यस्मिन्नाहते इति मूर्धा, मस्तक। जिस पर चोट लगने से मूर्छित हो जाते हैं। मातरि अन्तरिक्षे श्वयतीति मातरिश्वा। दिव गत्यर्थक है।

इति प्रथम पाद।

अथ द्वितीय पादः।

थक् (थ)—पा—पीथ=रवि। पीथ (नपु०) घृत। तृ—तीर्थ (पु० नपु०)=शास्त्र, उपाध्याय, अवतार (=घाट), ऋषि-सेवित नदी-जल। वच् —उक्थ=साम-विशेष। रिच्—रिक्थ (धन, सम्पत्ति)। सिच—सिक्थ (मधूच्छिष्ट, मोम)।

थोड्—थन्। निशीथ (पु०) रात्रि, अर्धरात्र। गोपीथ(पु०)=सोमपान। घुमास्था (६।४।६६) से पा (पीना) के आ को ई। अवगथ। अव-गाह्। धातु को ह्रस्व। ये शब्द थक्-प्रत्ययान्त निपातन किए हैं।

रक् (र)—स्फायी (स्फाय्)—स्फार=प्रभूत। वल् 'र्' परे होने पर 'य्' का लोप। तञ्च्—तक्र। वञ्च्—वक्र। शक्—शक्र। क्षिप्—क्षिप्र। क्षिप्रम् =शीघ्रम्। क्षुद—क्षुद्र। तृप्—तृप्र। (पुरोडाश)। श्विन्—श्वित्र (श्वेत-कुष्ठ)। वृत्—वृत्र (अन्धकार, दानव विशेष)। अज—वीर। अज को 'वी' आदेश। नी—नीर। मद—मद्र (देश-विशेष)। मुद—मुद्र। छिद्—छिद्र। मदि (मन्द्)—मन्द्र। चदि—चन्द्र (चन्द्र)। चन्दति आह्लादयति इति चन्द्र। दह्—दह्र (अग्नि)। दस् (क्षीण होना)—दस्र (अश्विनीकुमार)। दम्भ्— दभ्र (अल्प)। वस्—उस्र (रश्मि)। उस्रा=गौ। हस्—हस्र (मूर्ख), जो (अकारण) हँसता रहता है। शुभ्—शुभ्र (चमकीला)।

रक्—रोदि (रुद् णिच्)—रुद्र। रोदयति इति रुद्र। यहाँ णि का लुक् भी होता है। सज्ञा और छन्दस् (वेद) में अन्य धातु से अन्य-प्रत्यय किए जाने पर भी णि का लुक् देखा जाता है—बृंहयति इति ब्रह्मा। श सुखं भावयति इति शम्भु। वर्धन्तु त्वा सुष्टुतयो गिरो मे (ऋ० ७।९९।७)। यहाँ वर्धन्तु= वर्धयन्तु।

वान्ति पर्णशुषो वातास्तत पर्णमुचोऽपरे ।
तत पर्णरुहो वान्ति ततो देव प्रवर्षति ॥

यहाँ क्विप्-प्रत्यय परे होने पर शुष् आदि से णिच् का लुक् हुआ है ।

क्रन् (र)—सु (स्वा०)—सुर । सुनोति सोमं निष्पादयतीति सुरः । षू (सू) प्रेरणार्थक—सूर (आदित्य) । सुवति लोकं कर्मणीति सूरः । घा—घोर । गृध्—गृध्र ।

रक् (र)—ऋज् (गति, स्थिति)—ऋज्र=नायक । यहाँ गुणाभाव निपातन किया है । इदि (इन्द्)—इन्द्र । इन्दति परमैश्वर्यवान् भवति इति इन्द्रः । अगि (गत्यर्थक)—अग्र । नलोप । वज् (गत्यर्थक)—वज्र । वप्—विप्र । उपधा को इ । कुबि (कुम्ब्)—कुब्र (अरण्य) । चुबि—चुब्र (मुख) । क्षुर् (तुदा०)—क्षुर । र-लोप । गुणाभाव । खुर् (तुदा०)—खुर (पु०) । र-लोप । गुणाभाव । शुच्—शुक्र । च् को क् आदेश । र को ल होने पर 'शुक्ल' भी ।

उकन् (उक)—सम्-कस्—सङ्कसुक (अस्थिर, दुर्जन) । सङ्कसन्ति पलायन्ते जना अस्मादिति सङ्कसुकः ।

क्रुकन् (रुक)—भी—भीरुक । र को ल होने पर 'भीलुक' भी ।

क्वुन् (वु)—रञ्ज्—रजक । रजतीति । धोबी, ललारी । कुट्ट्—इक्षुकुट्टक (ईख को पीडने वाला) । चर्—चरक (वैशम्पायन का नामान्तर) । चष् (खाना)—चषक (पानपात्र, प्याला) । शुन् (तुदा०) जाना—शुनक (कुत्ता) । भष् (भौंकना)—भषक (कुत्ता) । जैसे पाणिनीयाष्टक में वु (प्रत्यय) को 'अक' आदेश होता है ऐसे यहाँ भी ।

क्वुन् (वु)—हन्—वधक । यहाँ हन् को वध् आदेश भी होता है । वस्तुतः वध् स्वतन्त्र प्रकृति भी है । उससे ण्वुल् प्रत्यय होने पर जनिवध्योश्च (७।३।३५) से वृद्धि का प्रतिषेध हो कर इष्ट रूप सिद्ध हो जाता है । कुह्—कुहक (दाम्भिक) । कृप्—कृपक । कापक । यहाँ उदीच्य आचार्यों के मत से वृद्धि होती है ।

किकन् (इक)—व्रश्च्—वृश्चिक (बिच्छू) । सम्प्रसारण । कृष् (तुदा०)—कृषिक (किसान) । मुष्—मूषिक । यहाँ दीर्घ भी होता है ।

इकन् (इक) क्री—क्रयिक (खरीदने वाला) ।

क्विप्—इस प्रत्यय का सर्वापहारी लोप हो जाता है । वच्—वाच् ।

प्रच्छ्—प्राट् । पूछने वाला । प्राट् चासौ विवाकश्च प्राड्विवाक, न्यायाधीश । श्रि—श्री । श्रयन्त्येनाम् इति श्री । स्रु—स्रू । स्रवति अस्माद् घृतादिकमिति स्रू (घृत का साधन विशेष) । द्रु—द्रू (स्वर्ण) । प्रुड्—कटप्रू (कीट) । कटं प्रवते गच्छतीति । जु—जू । वच्, प्रच्छ् में सम्प्रसारण प्राप्त था । वह नहीं होता । क्विप् के सन्नियोग से इन धातुओं के अच् को दीर्घ होता है । प्रच्छ् के च्छ को श् होकर उसे व्रश्चभ्रस्ज—(८।२।३६) सूत्र से ष् और उसे जश्त्व होकर अवसान में वैकल्पिक चर्त्व हो कर प्र० ए० में प्राट् रूप सिद्ध होता है । अपदान्त में प्राशौ, प्राशः इत्यादि रूप होंगे ।

परि-पूर्वक व्रज्—परिव्राट् । यहां भी धातु के अच् को दीर्घ और पदान्त ज् को ष् होता है । अपदान्त में केवल दीर्घ होता है—परिव्राजौ, परिव्राजः इत्यादि ।

युच् (अन)—उन्द् (रघा०)—ओदन । उनत्ति इति ओदन । न् का लोप ।

डो—गम्—गो । टि-लोप । गच्छतीति गौः ।

अति (अत्)—पृष् (सिंचन करना)—पृषत् (नपु० बिन्दु) । पृ—श्वेत बिन्दु युक्त मृग । बृह्—बृहत् । मह्—महत् । गम्—जगत् । इन अति-प्रत्ययान्तों को शतृ-प्रत्यय की तरह कार्य होता है, अर्थात् उगित् मान कर इन्हें सर्वनाम स्थान परे रहते नुम् आगम होता है—बृहन् । बृहन्तौ । बृहन्तः इत्यादि । यहाँ अति प्रत्यय शतृ की तरह वर्तमान काल में होता है । गम् को 'जग्' आदेश भी होता है । इनको शतृ-प्रत्ययान्त मानने पर स्वर-व्यवस्था नहीं बनती ।

किं च । स्त्रीलिङ्ग में ङी परे होने पर नुम् होकर महन्ती, बृहन्ती आदि अनिष्ट रूप प्रसक्त होंगे । महती, बृहती आदि इष्ट हैं । महती नारद की वीणा का नाम भी है और बृहती विश्वावसु की ।

आनच् (आन)—श्वित्—शिश्विदान (अकृष्णकर्मा) । यहां धातु को द्विर्वचन होता है और त् को द् भी ।

तृन्, तृच्—नप्तृ (दोहता, पोता), नेष्टृ (ऋत्विक् विशेष), त्वष्टृ (देवों का बढ़ई), होतृ (ऋग्वेदी ऋत्विक्), पोतृ, भ्रातृ, जामातृ, मातृ, पितृ, दुहितृ—ये तृन्-तृच् प्रत्ययान्त निपातन किए हैं । इनमें क्रम से पत् (नञ्-पूर्वक), नी (षुक् आगम), त्विष् (उपधा इ को अ), हु, पू, भ्राज् (जवार-

लोप), मा (पूर्वपद जाया को जा आदेश), मान् (पूजा करना। नकार का लोप), पा (रक्षा करना), दुह्—ये धातुएँ हैं। जहाँ ताच्छील्य विवक्षित है वहाँ तृन् समझना चाहिए, अन्यत्र तृच्। रूप में अभेद होने पर भी स्वर में भेद है।

ऋ—दिव्—देवृ (देवर)। प्र० ए० देवा। द्वि० देवरौ। बहु० देवर।

अनि—ऋ—अरणि (स्त्री०), काष्ठ जिसे मथ कर अग्नि निकाली जाती है। ऐसी लकड़ी को मथने वाले को भी 'अरणि' कहते हैं। तब यह पुंल्लिंग है। सृ—सरणि (स्त्री०)। धृ—धरणि (भूमि)। धम्—धमनि (नस, शिरा)। धम् ध्मा से भिन्न स्वतन्त्र धातु भी मानी जाती है। अश्—अशनि (वज्र)। अशनि पु० और स्त्री०। अव्—अवनि। तॄ—तरणि (पु० सूर्य, स्त्री० नौका)।

कृष्—चर्षणि। यहाँ धातु के आदि क् को च् भी होता है। वेद में चर्षणि मनुष्य का पर्याय है। सेदु राजा क्षयति चर्षणीनाम्। (ऋ० १।३२।१५)। ओमासश्चर्षणीधृत (ऋ० १।३।७)।

उसि (उस्)—जन् से—जनुस् (नपु)।

इण् से—आयुस्। यहाँ प्रत्यय को णित् माना जाता है। जिससे धातु को वृद्धि। आयुर्जीवितकाल (अमर)। जितना समय किसी ने यहाँ जीना है वह उसकी आयु है। आयु नपु०।

आङ्-पूर्वक मन्नन्त शुष् से—आशुशुक्षणि। अग्नि का नाम है। अग्नि के सभी नाम पु० हैं।

ष्वरच् (वर)—गृ—गवर (गर्ववान्)। शॄ—शर्वरी, रात। नित्य होने से ङीप्। शीर्यन्ते भूतान्यत्रेति शर्वरी। अधिकरण में प्रत्यय। चते—चत्वर (चौक) पु०।

नि-पूर्वक सद् से—निषद्वर (पु०) (काही, सेवाल)। निषद्वरी=रात्रि।

इति द्वितीय पाद।

अथ तृतीय पाद

नु—दा—दानु (दाता, शूर)। भा—भानु (सूर्य)। विष्—विष्णु। वेवेष्टि व्याप्नोति सर्वं जगत् इति विष्णु। वेद में मुख्यतया विष्णु सूर्य का नाम है जिसकी दो पत्नियाँ श्री और लक्ष्मी कही गई हैं। श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च ते पत्न्यौ (वा० म० ३१।२२)।

णु—अज् (वी)—वेणु। वृ—वर्णु (नदी-विशेष, देश-विशेष=वन्नु)। री—रेणु (पु०, स्त्री०)।

उन, उन्त, उन्ति, उनि—शक्—शकुन। शकुन्त। शकुन्ति। शकुनि। ये सब पक्षी के नाम हैं। ज्योति शास्त्र में प्रसिद्ध शकुन, अपशकुन शब्दों का मूल यही पक्षि-वाचक शकुन शब्द है।

उनन्—कृ—करुण (वृक्ष-भेद)। करुणा (कृपा)। वृ—वरुण। वृणोतीति वरुण। वेद में अस्त होते हुए सूर्य को वरुण कहा है। दृ (दृ-णिच्)—दारुण।

पिश् (पढना, तुदा०)—पिशुन। पिशति घटयति प्रभूतार्थं निर्निमित्तया इति पिशुन। सूचक (चुगलखोर), खल।

स—वृ—वर्स (नपु०)। तृ—तर्स (नपु०)। तितुत्र—से इट् का निषेध। अर्ण (नौका, समुद्र)। वद्—वत्स। हन्—हंस। हन् यहाँ गत्यर्थक है। हन्ति गच्छतीति हंस। हंस की गति प्रसिद्ध है, हिंसा नहीं। कम्—कंस (पु०, पीने का पात्र)। कृप्—कृक्ष (नपु०)। पृ को क् होकर पीछे स-प्रत्यय को ष। क् ष् के योग से क्ष्।

अक्ष्—अक्ष (जुए का पासा)।

स्नु—स्नुषा। व्रश्च्—वृक्ष। ऋष्(गत्यर्थक)—ऋक्ष नक्षत्र)। यहाँ 'स' कित् माना गया है। अतएव गुणाभाव और यथास्थान सम्प्रसारण हुआ है।

उन्द्—उत्स (पु०), स्रोत। गुध्—गृत्स (पु०), पुच्छा। कुष्—कुक्ष (पु०), पेट। इनमें भी स-प्रत्यय कित् माना गया है जिस कारण धातु को गुण नहीं हुआ।

सर—अश्—(व्याप्त्यर्थक)—अक्षर। वस्—वत्सर। संवत्सर (पु०)।

त्सरम् (सर)—तन्—तसर। कित् होने से अनुनासिक लोप। तसर=सूत्रवेष्टन, तकला। ऋष्—ऋक्षर=ऋत्विक्। वेद में ऋक्षर=कण्टक। अनृक्षरा ऋजवः सन्तु पन्था (ऋ० १०।८५।२३)।

काकु (प्राकु)—पर्द् (गुद शब्द)—पृदाकु (साँप)। र् को सम्प्रसारण और अकार का लोप।

तन्—हस्, मृ, गृ, इण्, वा, अम्, दम्, लू, पू, धुर्वी—इनसे तन्। तितुत्र—से इट् का निषेध। हस्त। मर्त (भूलोक)। गर्त (गढा)। एत (चितकवरा)। वात। अन्त। दन्त। लोत (आँसू, चिह्न)। पोत (शिशु, जहाज)। लू के साहचर्य से यहाँ पूञ् पवने ली जाती है। पर अर्थ की संगति

कुछ भी नहीं। यदि पूङ् पवने से प्रत्यय हो तो अर्थ कुछ सगत हो जाता है। पवन का अर्थ बहना भी है। जैसे सोम पवते मे। धूर्त। धुर्वी (धुर्व्) के रेफ से परे व् का लोप (राल्लोप ६।४।२१) और पूर्व-स्वर को दीर्घ।

आप् (नञ् पूर्वक—नापित (नाई)। इट् आगम विशेष विहित है। नञ् प्रकृत्या (अपने स्वरूप मे) रहता है। नाऽप्यत इति। कर्म मे प्रत्यय।

तन्—तन् (विस्तार करना, तना०)—तत। यह तन् प्रत्यय कित् माना गया है जिससे अनुनासिक का लोप हो जाता है। तनोतीति तत। वायरह ततो भिषग् उपलप्रक्षिणी नना—(ऋ० ६।११२।३)। तत एव तात। प्रज्ञादि होने से स्वार्थ मे अण्। उणादि व्याख्याकार यहाँ तत वीणादिवाद्यम् इस अमर वचन को उद्धृत करते हैं। उस अर्थ मे तो तन् का निष्ठान्त रूप ही स्वीकार किया जा सकता है। प्रकृत सूत्र व्यर्थ हो जाता है। मृङ्—मृत। म्रियते इति मृत, मर्त्य।

दु (गत्यर्थक)—द्रुत। दीर्घ। तन्—तात। यहाँ भी तन् को कित् माना गया है और धातु को दीर्घ विधान किया गया है। वस्तुत इस सूत्र मे तन् ग्रहण करने की कोई आवश्यकता नहीं। जैसे हम पहले कह चुके हैं। तत से स्वार्थ मे अण् करके रूप सिद्धि सुलभ है।

आन्य—वद्—वदान्य (दानशील)। मा याचस्व इति वदति। वदान्य सुन्दर वक्ता को भी कहते हैं।

अमत्र—अम्—अमत्र (नपु०), भाजन, पात्र। नक्ष्—नक्षत्र। यज्—यजत्र (यष्टव्य, पूज्य)। मद्र पश्येमाक्षभिर्यजत्राः। (ऋ० १।८९।८)। यजत्रा यह सम्बोधन अर्थ मे प्रथमा बहुवचन है। वध्—वधत्र (नपु), आयुध, शस्त्र। पत्—पतत्र (नपु०), पक्ष, पंख।

अथ—शीङ्—शयथ=अजगर। शेते इति शयथ। शप्—शपथ (पु)। रु—रवथ (कोकिल)। गम्—गमथ (पु०), पथिक, मार्ग। वञ्च्—वञ्चथ=धूर्त। जीव्—जीवथ (आयुष्मान्)। अन् (प्र-पूर्वक)—प्राणथ=बलवान्। शम्—शमथ=शान्ति। दम्—दमथ=दम। शम्, दम्, मे बाहुलक से अथ-प्रत्यय हुआ है। वस् (सोपसर्ग)—आवसथ (पु०)=गृह, डेरा, आगन्तुक आदि के ठहरने का स्थान। एत्य वसन्त्यत्र इति आवसथ। अधिकरण मे अथ-प्रत्यय है। संवसथ (पु)=ग्राम। संवसन्ति (सम्भूय वसन्ति) अत्रेति संवसथ। यहाँ भी अधिकरण मे प्रत्यय है।

असच् (अस)—दिव्—दिवस (पु० नपु०) दीव्यन्ति व्यवहरन्ति अत्र

इति दिवस दिवस वा। यहाँ असच् किन् माना गया है। जिससे धातु को गुण नहीं हुआ।

अर—ऋ—अरर(नपु०), कपाट। कपाटमरर तुल्ये-(अमर २।२।१७)। कम्—कमर (कामुक)। भ्रम्—भ्रमर। चम्—चमर (मृग भेद)। चमरी (स्त्री०)। दिव्—देवर। वस् णिच्—वासर (पु०, नपु०)। यहाँ 'अर' चित् माना गया है। इससे अरर आदि अन्तोदात्त हैं।

तनत्—वी (गत्याद्यर्थक अदा०)—वेतन (नपु०)। पद्—पत्तन (नपु०) समुद्रतटवर्ती नगर, बन्दरगाह।

ई—अव्—अवी (रजस्वला स्त्री)। तृ—तरी (नौका)। स्तृ—स्तरी (धुआं)। तन्त्—तन्त्री (वीणा आदि का तार)। यहाँ प्रथमा एकवचन में कहीं भी सु-लोप नहीं होता। यहाँ इसकी प्राप्ति ही नहीं है।

या—ययी (अश्व)। यहाँ द्विर्वचन भी होता है और ई को कित् माना जाता है। पा—पपी (सोम, सूर्य)। यहाँ भी सु-लोप नहीं होता।—ययी। पपी।

लक्ष्—लक्ष्मी (प्र० ए० लक्ष्मी)। यहाँ मुट् आगम भी होता है। लक्ष् चुरादि है। इससे स्वार्थ में आए हुए णिच का लोप होता है।

इति तृतीय पाद।

अथ चतुर्थ पाद

ई—वात शब्द उपपद होने पर प्र-पूर्वक माङ् से ई। वात प्रमिमीते= वातप्रमी। यह ई कित् माना जाता है। इसी कारण 'मा' को 'मी' हुआ है।

कृतनिच् (अलि)—ऋ—रत्नि। अरत्नि। बद्धमुष्टि करो रत्नि सोऽरत्नि प्रसृताङ्गुलि। मुट्ठी में बँधे हुए हाथ को रत्नि कहते हैं और फैली हुई उंगुलियों वाले हाथ को अरत्नि।

इथिन् (इथि) अत्—अतिथि। अतति सनत गच्छतीति अतिथि।

इनि (इन्)—गमिष्यतीति गमी। आङ् पूर्वक गम् से आगामी। आङ् से परे इस प्रत्यय को णित् माना जाता है। अत यहाँ उपधा-वृद्धि हुई। भू—भावि (नपु०)। भावी (पु०)। यहाँ भी प्रत्यय को णित् माना गया है।

प्र-पूर्वक स्था से—प्रस्थायिन्। यहाँ भी प्रत्यय णित् माना गया है। इसीलिए आतो युक्—से युक् आगम हुआ है।

'परमे' सप्तम्यन्त उपपद होने पर स्था से। यह इनि कित् माना गया है। अतः कित्त्व के कारण 'आतो लोप इटि च' से आ का लोप। परमेष्ठिन्। परमेष्ठी=ब्रह्मा।

ईकन् (ईक)—फर्फरीक आदि शब्द ईकन् प्रत्ययान्त निपातित किए हैं। स्फुर्—ईकन्। फर्फर् आदेश। फर्फरीक किसलयम्। फर्फर करने वाली नई कोंपल।

दशपादी में तो धातु स्फुर् को द्वित्व, उकार को अकार, स् का लोप और अभ्यास को रुक् आगम—ऐसी प्रक्रिया दी है। चञ्चरीको भ्रमर। चर् से ईकन्। यहां भी द्विर्वचन होता है और अभ्यास को मुम्। कर्करीका=गलन्तिका (गागर जिसमें से जल टपकता रहता है)। कर्करीक में कृ से ईकन् हुआ है। अमर में कर्कर्यालुर्गलन्तिका ऐसा पाठ है। वहाँ 'कर्करी' शब्द स्वीकार किया गया है।

ईरन् (ईर)—कृ—करीर (वृक्ष विशेष)। पत्रं नैव यदा करीरविटपे दोषो वसन्तस्य किम्। शॄ—शरीर (नपुं०)। शीर्यते इति। पट् (गत्यर्थक)—पटीर (पुं०)=चन्दन। शौट् (गर्व करना)—शौटीर।

वश् (चाहना, अदा०)—उशीर (नपुं०)=खस। सम्प्रसारण। यहाँ ईरन् कित् माना गया है। घस्—क्षीर (नपुं०)। प्रत्यय के अजादि कित् होने से गम हन-जन-खन-घसाम् से घस् की उपधा का लोप। चर्त्व होकर घ् को क्। 'शासि-वसि घसीनां च' (८।३।६०) से घस् के स् को ष्।

डति—पा—पति। डित्त्व के कारण टि (आ) का लोप।

अति—वह्—वहति। (पवन)। वस्—वसति (गृह, रात्रि)। रात्रि अर्थ में वासतेयी—यह अधिक प्रसिद्ध है। ऋ—अरति (क्रोध)।

हन्—अंहति (स्त्री०)। हन् को अंह आदेश। करण में प्रत्यय। हन्ति दुरितमनया इत्यंहति। दान। प्रदेशन निवपणमपवर्जनमंहति (अमर)।

अत्रिन् (अत्रि)—पत्—पतत्रि (पक्षी)। नगौकोवाजिविकिरविविष्किर-पतत्रय (अमर)।

अथिन् (अथि)—सृ—सारथि। यहाँ अथिन् को णित् माना गया है जिससे सृ को वृद्धि हुई।

यक्—जन्—जन्य (नपु०)=युद्ध। जन्या—माता की सखी। जाया (भार्या)। जायतेऽस्यामिति। जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः (मनु० ९।८)। यहाँ 'ये विभाषा' से न् के स्थान में पाक्षिक आ हुआ है।

यक्—अघ्न्यादि शब्द यक्-प्रत्ययान्त निपातित किए हैं। न हन्यते इत्यघ्न्या। गौ। नञ्-पूर्वक हन से यक्। उपधा लोप। ह् को घ्। 'मा गामनागामदितिं वधिष्ट' (ऋ० ८।१०१।१५)। कन्—कन्या। काम्यते इति। दीप्यते इति वा। वन्ध्या (बाँझ स्त्री)।

इन् (इ)—सब धातुओं में इन्। तुड्—तुडि। तुडि (तुण्ड्)—तुण्डि (तोंद)। वल्—वलि (स्त्री०)। यज्—यजि। देवयजि (देवपूजक)।

इगुपध धातुओं से। कृष्—कृषि। ऋष्—ऋषि। ऋषति गच्छति जानाति इति ऋषिः। नैरुक्त लोग ऋष् को दर्शन अर्थ में पढ़ते हैं। ऋषिर्दर्शनात् यह यास्क का वचन है। शुच्—शुचि (शुद्ध, दीप्यमान)। यहाँ लोक में प्रसिद्ध 'शुच् शोके' से प्रत्यय नहीं है। किन्तु छान्दस दीप्त्यर्थक शुच् से है। बृहच्छोचा यविष्ठ्य (ऋ० ६।१६।११)। हे तरुण अग्ने, खूब चमको। लिप्—लिपि। तूल्—तूलि=तूची। यहाँ कृषि आदि में प्रत्यय के कित् माने जाने से उपधा-गुण नहीं हुआ।

मन्—मुनि। यहाँ धातु के अ को उ भी होता है। मन्यते चिन्तयते इति मुनि।

इञ् (इ)—वस्—वासि (छेदन का साधन) (स्त्री०)। वप्—वापि। जलाशय, कमल-सरोवर। ङीप् करने पर वापी। उप्यते अब्जान्यत्रेति वापी। यज्—याजि (यज्ञ करने वाला)। राज्—राजि (पंक्ति)। व्रज्—व्राजि। सद्—सादि (सारथि)। नि हन्—निघाति (लोहा कूटने का साधन)। वद्—वादि (विद्वान्)। वृ—वारि (स्त्री०)=गजबन्धनी। ङीप् होकर वारी रूप भी है। जल अर्थ में वारि नपुंसक लिंग है।

कृ—कारि=शिल्पी। यह उदीच्य आचार्यों के मत से। अन्यथा उण् होकर कारु रूप होगा।

इण् (इ)—जन्—जनि (स्त्री०, जन्म)। 'जनिवध्योश्च' से उपधावृद्धि का निषेध। घस्—घासि (पु०, भक्ष्य)। 'यच्च पपौ यच्च घासिं जघास' (ऋ १।१६२।१४)।

अज्—आजि (स्त्री०=संग्राम)। अत्—आति (चील)।

इण् (इ)—आङ्-पूर्वक श्रिञ् और आङ् पूर्वक हन् से—अश्रि=कोटि, कोना। अहि=साँप। आङ् को ह्रस्व और प्रत्यय के डित् माने जाने से टि का लोप। अष्टाश्रिर्यूपो भवति। आ समन्ताद् हन्ति इति अहि। 'समान' उपपद होने पर 'ख्या' से इण् होना है और वह डित् होता है। ख्या के यू का लोप। समान को स। समान ख्यायते जनैरिति सखा। प्रातिपदिक रूप—सखि।

इ—अजन्त धातु से। रु—रवि। गुण। पू—पवि (पु०, वज्र)। तृ—तरि। (स्त्री० नौ) कु—कवि। कौतीति। ऋ—अरि। अल्—अलि। कॄ—किरि (सूअर)। यहाँ इ कित् माना गया है। अत गुण नहीं हुआ। ऋत इद्धातो से धातु के ऋ को रपर इ (इर्) होता है। गॄ—गिरि। शॄ—शिरि=सलह, घातक। पॄ—पुरि (नगर, राजा, नदी)। कुट्—कुटि (शाला, शरीर)। भिद्—भिदि (पु०, वज्र)। छिद्—छिदि (परसा, कुल्हाड़ा)।

मनिन् (मन्)—सब धातुओं से मनिन्। कृ—कर्मन्। चर्—चर्मन्। भस्—भस्मन्। शॄ—शर्मन्। स्था—स्थामन्=बल। छद् (चुरा०)—छद्मन् (बहाना, कपट)। इस्मन्त्रन् (६।४।९७) से ण्यन्त छादि को ह्रस्व। त्रै (सु-पूर्वक)—सुत्रामन् (इन्द्र)। कर्मन् आदि छद्मन् पर्यन्त नपुं० हैं।

इमनिन् (इमन्)—जन्—जनिमन् (पु०)=जन्म। मृङ्—मरिमन् (पु०, मृत्यु)।

मनि (मन्)—सूत्र में मिथुन शब्द का अर्थ है उपसर्ग और क्रिया का सम्बन्ध। सु शॄ—सुशर्मन्। प्र० एक०—सुशर्मा। सुष्ठु शृणाति इति सुशर्मा।

ष्ट्रन् (त्र)—सब धातुओं से ष्ट्रन् (त्र)। अस्—अस्त्र। वस्—वस्त्र। शस् (हिंसा करना)—शस्त्र। छद्—छत्र। यहाँ ण्यन्त धातु को इस्मन्त्रन्० (६।४।९७) से ह्रस्व होता है। ष्ट्रन् प्रत्ययान्त नपुं० होते हैं। तितुत्र—से इट् का निषेध।

क्त्र (त्र)—अम्—आन्त्र। अनुनासिकस्य क्वि झलोः क्ङिति से दीर्घ। चि—चित्र। मिद्—मित्र। मेद्यति स्निह्यति इति मित्रम्।

पू—पुत्र। धातु को ह्रस्व भी होता है। पुत्र। यह सुपि स्थ से योग-विभाग—सुपि। स्थ। से क प्रत्यय से सिद्ध होता है। इसमें पुद् यह उपपद है। पुद् नरक विशेष का नाम है। पुन्नाम्नो नरकात्त्रायते इति पुत्र।

ष्ट्रन् (र)—स्त्यै—स्त्री। उपदेशावस्था में ही आत्व (स्त्या) होने पर प्रत्यय के डित् होने से टि (आ) का लोप और लोपो व्योर्वलि से वल् (र्) परे होने पर धातु के य् का लोप हो जाता है। प्रत्यय के टित् होने से स्त्रीत्व-विवक्षा में टीप् होकर 'स्त्री' यह रूप सिद्ध होता है। स्त्यायत रजोवीर्ये अस्यामिति स्त्री।

त्र—गुङ्—गोत्र (नपुं०) नाम, वंश। गोत्रा—पृथ्वी। घृ—घर्त्र (नपुं०) गृह। चौ—चेत्र (नपुं०—वेंत)। पच्—पत्र। वच्—वक्त्र (नपुं०)। वक्ति अनेनेति। यम्—यन्त्र। सद्—सत्र (नपुं०=यज्ञ, सदा-दान)। क्षद् (सौत्र धातु)—क्षत्र (नपुं० क्षत्रिय जाति)।

त्रन्—हु—होत्र (नपुं० याग)। होता (स्त्री०) ऋत्विक्। या—यात्रा। मा—मात्रा। श्रु—श्रोत्र। भस्—भस्त्रा (स्त्री० चर्म-प्रसेविका, धौंकनी)।

इत्र—अम्—अमित्र—शत्रु। इसका लिङ्ग विशेष्यानुसारी होता है। केवल के प्रयोग में नियत-पुंलिंग होता है। यहाँ 'इत्र' चित् माना गया है। इसमें अमित्र शब्द अन्तोदात्त है। मित्र के साथ नञ् समास करने पर तो अव्यय पूर्वपद प्रकृतिस्वर होने से 'अमित्र' आद्युदात्त होगा और तत्पुरुष के परवल्लिङ्ग होने से नित्य नपुंसकलिंग होगा।

डुम्सुन् (उम्स्)—पा (रक्षा करना)—पुम्स्। प्रथमा एक० पुमान्। डित्व-सामर्थ्य से टि (आ) का लोप हो जाता है।

ति—विन्ध्याद्ययद् अथम्-पर्वतम् अस्यति इति अगस्ति। अग उपपद होने पर अस् (फेंकना) से ति प्रत्यय। शकन्ध्वादि होने से पर-रूप।

असुन् (अस्)—धातु-मात्र से असुन् होता है। चित् (चुरा० आ०)—चेतस्। प्र० एक०—चेत। पीङ् (दिवा०, पीना)—पयस्। धातु को गुण। अयादेश। सृ—सरस् (तालाब)। सद्—सदस्, सभा। यह स्त्रीलिंग भी है। सीदन्त्यत्रेति सदः। ततसद। सा सदा। तिज्—तेजस्। तप्—तपस्। रक्ष्—रक्षस्। रक्ष्यतेऽस्मादिति रक्षः। वेद में रक्षस् पुं० में भी आया है—यो वा रक्षाः शुचिरस्मीत्याह (ऋ० ७।१०४।१६)। वी (गत्याद्यर्थक)—वयस्। वेति गच्छतीति वयः। पक्षी, बाल्यादि शरीरावस्था। वच्—वचस्। श्रु—श्रवस् (कर्ण, कान)। जैसे उच्चैः श्रवस्—इन्द्र का घोड़ा। चक्षुःश्रवस्—साँप)। प्र० ए० उच्चैः श्रवा। चक्षुः श्रवा। उच्चैः श्रवसी कर्णौ यस्य। चक्षुषी श्रवसी यस्य। मन्—मनस्। असुन्-प्रत्ययान्त सभी नपुंसकलिङ्ग होते हैं।

ऋ धातु को उर् आदेश हो जाता है असुन् परे रहते—उरस्। प्र० एक० उर:, छाती।

उदक वाच्य हो तो ऋ से परे असुन् प्रत्यय को नुट् (न्) आगम होता है—अर्णस्। प्र० एक० अर्णः। अर्णांसि सरन्त्यत्र इत्यर्णव समुद्र। यहाँ अर्णस् के स् का लोप हो जाता है।

इण्—एनस्—पाप, अपराध। धातु को गुण। यहाँ भी असुन् को नुट् का आगम होता है। एति गच्छति प्रायश्चित्तेन इत्येन।

असि (अस्)—यह मोपसर्ग धातु से आता है। यह स्वर के निमित्त असुन् प्रत्यय का अपवाद है। सुयशास्।

गति, कारक उपपद होने पर असुन् का अपवाद असि होता है और पूर्वपद का प्रकृति स्वर (अपना स्वर) रहता है। सामान्यतया गति कारक उपपद होने पर उत्तरपद कृदन्त का प्रकृति-स्वर हुआ करता है। प्रकृत सूत्र उसका अपवाद है। सुतपस्। सुष्ठु तप्यते इति सुतपा। जातानि वेद इति जातवेदा (अग्नि)।

अप् (जल) पूर्व उपपद होने पर सृ से—अप्सरस्। प्र० एक० अप्सरा। अद्भ्य सरतीति। अप्सरस् बहुवचन में प्रयुक्त होता है। कहीं एकवचन में भी।

कनसि (अनस्)—वश् (चाहना, अदा०)—उशनस्। प्र० एक० उशना—शुक्राचार्य। प्रत्यय के कित् होने से धातु को सम्प्रसारण।

इति चतुर्थ पाद।

अथ पञ्चमः पाद

क्स—मुह्—मूर्ख। मुह् को मुर् आदेश।

डुन्—मुखवाची श्मन् शब्द कर्म उपपद होने पर श्रिञ् से डुन् (उ)। डित्वसामर्थ्य से टि का लोप। मुखमाश्रयते इति श्मश्रु (नपुं०)—मुखलोम।

ड—ऊर्णु (अदा० ढाँपना)—ऊर्णा (ऊन)। डित्वसामर्थ्य से टि-लोप। टाप्।

डउ—तन्—तितउ—चालनी। यहाँ सन्वद्भाव होने से द्वित्व और अभ्यास को इत्व। अमर कोष के अनुसार तितउ शब्द पुँल्लिंग है। चालनी तितउ पुमान्। भाष्य में इसे नपुंसक लिङ्ग में पढ़ा है। तितउ परिपवनं भवति। (भाष्य)। और निरुक्त में भी।

वरट् (वर)—अश्(व्याप्त्यर्थक) से वरट्। उपधा को ई। जब प्रत्ययान्त का आशुकर्म—शीघ्र वरदानादि क्रिया करने वाला, ऐसा अर्थ हो। **अश्नुते** **व्याप्नोतीति ईश्वर**। प्रत्यय के टित् होने से स्त्रीलिङ्ग में ईश्वरी (ङीबन्त) रूप होगा। उणादि भिन्न स्थेशभासपिसकसो वरच् से वरच् होने पर तो स्त्रीत्व में टाप् होकर ईश्वरा रूप होगा।

क (अ)—वि आङ् पूर्वक घ्रा से जाति वाच्य होने पर प्रत्यय होता है। व्याघ्र।

अच्—क्षम् से अच् प्रत्यय होता है और उपधा का लोप होता है। क्ष्मा—पृथ्वी।

अमच्—प्रथ् और चर् से अमच् प्रत्यय। प्रथम। चरम—अन्तिम।

इति पञ्चम पाद.।

इति पञ्चपादी संक्षिप्ता।

अवसित कृत्प्रकरणम्।

परिशिष्ट

इस परिशिष्ट में हमें पूर्वप्रतिपादित विषय का परिवर्धन इष्ट है और कदाचित्क स्वकीय-परकीय अनवधानकृत स्खलन का परिशोधन भी।

कर्मवाची-शानच्

शतृ शानच् कर्तृवाचक कृत्-प्रत्ययों के विषय में पर्याप्त कहा जा चुका है। लट् सकर्मक धातुओं से कर्ता व कर्म का वाचक होता है, अकर्मक धातुओं से भाव व कर्ता का। लट् जब कर्मवाची विवक्षित होगा तो उसका आदेश-भूत शानच् भी सामान्यतः प्राप्त कर्तृवाचित्व को बाधकर स्थानी के धर्म को लेता हुआ कर्म-वाची हो जायगा। स्थानिवद्भाव से शानच् को भाव-वाचिता भी प्राप्त होती है पर शतृ शानच् आदेशों का विधान द्वितीयान्तादि के साथ समानाधिकरणता में ही हुआ है, और शानच् के भाववाची होने पर ऐसी समानाधिकरणता दुर्लभ है, अतः शानच् भाव में नहीं होता।

भाव-कर्म-वाची 'ल' के स्थान में आत्मनेपद प्रत्यय विधान किए हैं।[1]

---

१ भाव-कर्मणो (१।३।१३)।

वे हैं तङ् और शानच्[1]। अतः कर्मवाची लट् के स्थान में शतृ जो परस्मैपद-संज्ञक है, नहीं आ सकता।

शानच् ङित् होने से सार्वधातुक है। भाव कर्म वाची सार्वधातुक परे रहते धातुमात्र से यक् (य) प्रत्यय होता है[2]। यक् आर्धधातुक है। यक् के कित् होने से इगन्त अथवा इगुपध अङ्ग को गुण नहीं होता। यक् आने पर अगन्त अङ्ग के अदन्त हो जाने से सर्वत्र मुक् (म्) आगम होता है।[3] ज्ञा—ज्ञायमान। ध्यै—ध्यायमान। गम्—गम्यमान। हन्—हन्यमान। घ्रा—घ्रायमाण। चर्—चर्यमाण। ध्मा—ध्मायमान।

शानजन्त की रूप रचना में धातु किस गण की है, इसका क्या विकरण है इसका कुछ विचार नहीं होता, कारण कि शानच् के कर्मवाची सार्वधातुक होने से शप् आदि, जो कर्तृवाची सार्वधातुक परे रहते आते हैं, का यहाँ प्रसंग ही नहीं।

कार्य-विशेष

यक् परे रहते धातु के औपदेशिक अन्त्य एच् को आत्व, अन्त्य इक् को दीर्घ, अन्त्य ऋ को रिङ्, घु संज्ञक धातुओं के 'आ' तथा मा, स्था, गा (गै), पा, हा, सा (सो) के 'आ' को 'ई', अनिदित हलन्त धातुओं के उपधा-भूत 'न्' का लोप, दीर्घ ॠकारान्त धातुओं के ॠ को 'इर्' होकर दीर्घ, पवर्गादि को उर् होकर दीर्घ, संयोगादि ह्रस्व ऋकारान्त को गुण, णिच्-लोप, ब्रू आदि को वच् आदि आदेश, तन् धातु के अनुनासिक को वैकल्पिक 'आ', सन् व सन् के न् को भी वैकल्पिक आ, तथा वच् आदि और यज् आदि धातुओं को सम्प्रसारण—इत्यादि विशेष कार्य होते हैं।

आत्व

पै (सुखाना)—पायमान। (ओ) वै—वायमान। शो—निशायमान (तेज किया जा रहा)। छो—छायमान (पतला किया जा रहा)।

ईत्व

दा—दीयमान। दाण्—दीयमान। देङ्—दीयमान। प्रणिदीयमान।

१ तङानावात्मनेपदम् (१।४।१००)।
२ सार्वधातुके यक् (३।१।६७)।
३ आने मुक् (७।२।८२)।

(रक्षा किया जा रहा) आत्व होकर, ईत्व। दो—अवदीयमान (टुकडे किए जा रहा)। आत्व होकर ईत्व। धा—धीयमान। धेट्—धीयमान (चूसा जा रहा)। आ होकर ई। मा—मीयमान। स्था—अनुष्ठीयमान (किया जा रहा)। अनु-पूर्वक 'स्था' सकर्मक है। गै—गीयमान। आ होकर ई। पा—पीयमान। (पीया जा रहा)। पा (रक्षा करना)—पायमान। हा (छोडना)—हीयमान। प्रहीयमाण। सो (सा)—अवसीयमान।

अन्त्य इक् को दीर्घ

चि—चीयमान। नी—नीयमान (पर्जन्यवत् सूत्र-प्रवृत्ति हुई है)। श्रि—श्रीयमाण। हि—हीयमान। प्रहीयमाण (भेजा जा रहा)। अधिइङ्—अधीयमान (पढा जा रहा)। मिञ्—प्रमीयमाण। षिञ् (सि)—विसीयमान (बाँधा जा रहा)। निमीयमान (गाडा जा रहा)। मीञ्—प्रमीयमाण (मारा जा रहा)। धु—धूयमाण। स्तु—स्तूयमान। अभिष्टूयमान। हु—हूयमान। ह्नु ह्नु—अप-ह्नूयमान। सुञ्—सूयमान। अभिषूयमाण।

रिङ् आदेश

कृ—क्रियमाण। वृ—व्रियमाण। भृ—भ्रियमाण। हृ—ह्रियमाण।

न-लोप

भञ्ज्—भज्यमान। रञ्ज्—रज्यमान। सञ्ज्—सज्यमान। प्रसज्यमान। बन्ध्—बध्यमान। मन्थ्—मथ्यमान। दंश्—दश्यमान। ध्वंस्—ध्वस्यमान। स्कन्द्—स्कद्यमान।

इर्, उर् अन्तादेश व दीर्घ

स्तॄ—स्तीर्यमाण। कॄ—कीर्यमाण। गॄ—गीर्यमाण। निगीर्यमाण। पॄ—पूर्यमाण। (उर् अन्तादेश)

गुण

स्तृ—स्तर्यमाण। आस्तर्यमाण। ऋ—अर्यमाण। स्मृ—समर्यमाण।

णिच्-लोप

चोरि—चोर्यमाण। कथि—कथ्यमान। गणि—गण्यमान। चिन्ति—चिन्त्यमान। रचि—रच्यमान। स्पृहि—स्पृह्यमाण। कृ-णिच्=कारि—कार्यमाण। हृ-णिच्=हारि—हार्यमाण। वह्-णिच्=वाहि—वाह्यमान। मान्-णिच्=मानि—मान्यमान।

धात्वादेश

ब्रू—वच्—उच्यमान (सम्प्रसारण)। चक्ष्—ख्याञ्—आख्यायमान। शास्—शिष्—शिष्यमाण।

अन्त्य अनुनासिक को आ

तन्—तन्यते। तायते। खन्—खन्यते। खायते। सन्—सन्यते। सायते।

सम्प्रसारण

वच्—उच्यमान। वप्—उप्यमान। यज्—इज्यमान। वद्—उद्यमान। वह्—उह्यमान। ह्वे—हूयमान। प्राहूयमान। सम्प्रसारण को दीर्घ। ग्रह्—गृह्यमाण। प्रच्छ्—पृच्छ्यमान। भ्रस्ज्—भृज्ज्यमान। व्यध्—विध्यमान। व्रश्च्—वृश्च्यमान। वेञ्—प्रोयमाण। व्येञ्—संवीयमान। परिवीयमाण।

गुणाभाव

क्री—क्रीयमाण। नी—नीयमान। पू—पूयमान। लू—लूयमान। षूङ् (सू)—प्रसूयमान। षू (सू)—प्रासूयमान। परासूयमान। इष्—इष्यमाण। क्षिप्—क्षिप्यमाण। भिद्—भिद्यमान। रिच्—रिच्यमान। भुज्—भुज्यमान। मुच्—मुच्यमान। युज्—युज्यमान। रुध्—रुध्यमान। नुद्—नुद्यमान। प्रणुद्यमान। गुह्—गुह्यमान। निगुह्यमान।

प्रत्ययान्त धातुओं के शानजन्तरूप

गुप्—गुप्यमान। गोपाय्यमान। आर्धधातुक यक् परे होने पर गुप् आदि से 'आय' प्रत्यय विकल्प से होता है। पण्—पण्यमान। विपण्यमान। पणाय्यमान। विपणाय्यमान। कम्—कम्यमान। काम्यमान। णिङ् का विकल्प। कण्डू—कण्डूय्यमान। कण्ड्वादिगण में पाठ से स्वार्थ यक् होकर कर्मवाची सार्वधातुक परे रहने पुन यक्। स्तु—यङ्—तोष्टूय्यमान। प्रव सो—प्रवमंसीय्यमान। कृ-सन्—चिकीर्ष्यमाण। ज्ञा-सन्—जिज्ञास्यमान।

प्रयोगमाला

१ धर्मं चर्यमाणमर्था अनूत्पद्यन्ते। (आपस्तम्ब)
२ नायमात्मा हन्यते हन्यमाने शरीरे।
३ पाप नैव निगूह्येत गुह्यमानं विवर्धते।
४ धनाधनैरवस्तीर्यमाणमम्बरं पुष्यति कामप्यभिख्याम्।

५ यत्नेन गोपाय्यमाना अप्यर्था विनश्यन्ति, नश्वरत्वात् ।
६ चिकीर्ष्यमाणेष्वपि कर्मस्वाभ्युदयिकेषु न जायते प्रवृत्तिर्दैवोपहतस्य ।
७ न हि सकृदधीयमानानि सूत्राणि हृदि पद कुर्वन्ति ।
८ गुरुणा प्रोच्यमान वेद शृण्वन्त्यवहित शिष्या ।
९ तोष्टूय्यमाना देवता प्रसीदन्ति प्रणतेषु ।
१० भृज्ज्यमानाश्चणका उत्पतन्ति ऋजीषात् ।
११ काष्ठादग्निर्जायते मथ्यमानाद् भूमिस्तोय खन्यमाना ददाति । (भास)
१२ ह्रियमाणानि विषयैरिन्द्रियाणि निवर्तयेत् । (मनु० ६।६८)
१३ दह्यन्ते ध्मायमानाना धातूना हि यथा मला ।
 तथेन्द्रियाणा दह्यन्ते दोषा प्राणस्य निग्रहात् ॥ (मनु० ६।७१)
१४ निशाय्यमानाच्छस्त्राद् व्युच्चरन्ति विस्फुलिङ्गा ।
१५ पाम्ना पाय्यमानोऽस्य देह किमपि कृशो वृत्त ।
१६ मनुष्ठीयमानैरेव शास्त्रार्थं सुकृती भवति न केवल चिन्तितै ।
१७ इत्थ विध्रियमाणेऽर्थ स्वदतेतरा रसज्ञाय ।
१८ स्मर्यमाणा पूर्व उदन्ता किमप्यौत्सुक्य प्रसुवते ।
१९ वितायमानेषु वितानेषु सहसा प्रावात् प्रवात ।
२० दुह्यमानासु गोषु गत , दुग्धासु चागत । (काशिका)

परिशोधन व परिबृहण

पृ० ६ पर 'राजसूय' की व्याख्या मे राजन् सोम का नाम है यह कहा गया है । इसमे सान्ह राजा मदयाञ्चकार(ऐ० ब्रा० १।१४) । राजान पेष्यन् (श० ब्रा० ४।५।१।२) । यदि राजोपदस्येद् (श० ब्रा० ४।२।२।५)—ये अधिक प्रमाण जानें ।

,, १२ टिप्पण न० ३ ओरावश्यके (३।१।१२५) ऐसा चाहिए ।

,, २५ वाक्य न० ४ विनीयोऽस्मदर्थे के स्थान मे विपूयोऽस्मदर्थे ऐसा पढें ।

,, ३६ प २० मे इतना अधिक पढें—रुजन्ति हि शरीराणि रोगा. शारीरमानसा ।

,, ३५ पर रजक के विषय मे यह श्लोक पढिए—

यो न जानाति निर्हर्तुं वस्त्राणा रजको मलम् ।
रक्तानां वा शोधयितु यथा नास्ति तथैव स (मा० १२।३४०४) ॥

पृ० ५१ पङ्क्ति १६ मे मागवती के स्थान पर भगवती पढ़ें ।

" ५३ पङ्क्ति ११ मे पत्या के स्थान पर पत्या पढ़ें ।

" ६६ प० १७ में स्तेन कस्मात् । संस्त्यानमस्मिन् पापकमिति नैरुक्ता (निरुक्त ३।१६) इतना अधिक पढ़ें ।

" ७१ पङ्क्ति ६ मे निष्ठान्त के स्थान पर निष्ठान्त पढ़ें ।

" ७५ बजा न्त रूपो मे तत के अनन्तर मनु—मन ऐसा अधिक पढ़ें ।

" ८१ आपीलमघु के स्थान मे आपीनोऽघु ऐसा पढ़ें । यहाँ यह विशेष वक्तव्य है कि आपीन (पु०) ऊधु (पु०, कुर्मा) का पर्याय है । इसमे शब्द कल्पद्रुम प्रमाण है । ऊधस् अर्थ में अमर का साक्षात् पाठ है—ऊधस्तु क्लीबमापीनम् ।

" ८४ पर पङ्क्ति ८ से आगे उपधा न् का लोप यह शीर्षक पढ़ें । इसके नीचे—अनिदिता हल उपधायाः क्ङिति (६।४।२४) । अनिदित् हलन्त धातुओ के उपधा भूत न् का कित् ङित् प्रत्यय परे रहते लोप हो जाता है । बन्ध्—क्त=बद्ध । भ्रन्श्—क्त—भ्रष्ट । रञ्ज्—रक्त । सञ्ज्—सक्त । स्वञ्ज्—स्वक्त । दन्श्—दष्ट । ध्वन्स्—ध्वस्त । स्रन्स्—स्रस्त । इतना अधिक पढ़ें । इदित् होने पर भी लगि (लङ्ग्) तथा कपि (कम्प्) के न् का लोप होगा जब अर्थ क्रम से रोग व शरीर विकार हो—विलगित (रुग्ण) । विकपित (विकृत शरीर वाला) । अनिदिता नलोपे लङ्गिकम्प्योरुपतापशरीरविकारयोरुपसंख्यानं कर्तव्यम् (वा०) ।

" १०५ वाक्य न० ८ में दो बार आए हुए बृहस्पतिर् पद के स्थान मे वाचस्पतिर् पढ़ें ।

" १२१ शब्दार्थक धातुओं मे युच् के विधान मे 'रवण' भी पढ़ें । यहाँ रु (अदा०) से युच् हुआ है । रवण उष्ट्र का पर्याय है । स्वनाम निये रवण स्फुटायताम् (माघ १२।१६) ।

" १३० इत्र प्रत्ययान्त पवित्र शब्द के विषय मे इतना और कहना है कि इत्र प्रत्यय कर्तरि चर्षिदेवतयो (३।२।१८६) से ऋषि (वेद) तथा देवता के विशिष्ट होने पर कर्ता तथा करण कारक के अर्थ में पूञ् से आता है । इत्र प्रत्ययान्त ऋषिवाच्य होने

पर पु० में और देवता वाच्य होने पर नपुंसक लिङ्ग में प्रयुक्त होता है। पवित्र ऋषि। अग्नि पवित्र स मा पुनातु।

पृ० १३१ प० १८ से आगे—रामाय यौवराज्य मे दातुमत्रैव रोचते (रा० गोरीसियो-सम्पादित २।२।४) इतना अधिक पढ़ें।

„ १४६ णच् प्रत्यय के विधान में व्यावचर्चा का 'एक दूसरे की चर्चा' यह भी अर्थ है ऐसा अधिक पढ़ें।

„ १५६ पङ्क्ति में °प्राशुबाहु के स्थान पर °प्राशुबाहुर् ऐसा पढ़ें।

„ १६३ प्रत्ययान्त धातु से 'अ' प्रत्यय के विधान में आय-प्रत्ययान्त पणाय, गोपाय से पणाया, गोपाया रूप होते हैं इतना अधिक पढ़ें।

„ १७० ल्युट् के उदाहरणों में गवादनो=गोचर=चरागाह। गावोऽदन्त्यनेनेति। अधिकरण में ल्युट्। श्रो को अवङ् आदेश। इतना अधिक पढ़ें।

„ १४७ पङ्क्ति २ में 'अपि यत् °' से पूर्व, यहाँ खश् प्रत्यय भाव में हुआ है। कृद्योग में कर्ता व कर्म में षष्ठी का निषेध है। यहाँ सम्बन्धमात्र विवक्षा में शैषिकी षष्ठी समझनी चाहिए।

„ १८५ पङ्क्ति २ में 'लघ्वक्षर से परे' के स्थान में 'लघु-पूर्व वर्ण से परे' ऐसा पढ़ें। लघुपूर्व बहुव्रीहि है। लघु है पूर्व जिस वर्ण से, उस वर्ण से परे ऐसा अर्थ है।

इति कृत्प्रकरणपरिशिष्ट समाप्तम्।

अथ

तद्धित-प्रकरणम्

सुबन्त पद से (स्वार्थिक प्रत्यय होने पर प्रातिपदिक से भी) जो प्रत्यय 'अपत्य' आदि अर्थों को कहने के लिए विधान किए गए हैं उन्हें तद्धित कहते हैं। विपुल शब्दराशि इन्हीं प्रत्ययों से निष्पन्न हुई है। संस्कृत का शब्द भण्डार इन तद्धितान्त रूपों से भरपूर हुआ है। अष्टाध्यायी के चतुर्थ अध्याय के प्रथम पाद के ८२वें सूत्र से पञ्चम अध्याय के अन्त तक तद्धित प्रत्ययों का विधान है। स्वर-सूत्र-सम्बन्धी पादों को छोड़कर इससे लम्बे पाद अष्टाध्यायी में कहीं नहीं हैं। तद्धित प्रकरण का उपक्रम करते हुए भगवान् पाणिनि 'तद्धिताः' ऐसा सूत्र पढ़ते हैं। यहाँ बहुवचन साभिप्राय है। इन प्रत्ययों के बहुत्व का संकेतक है। कृत्-प्रत्ययों का प्रारम्भ करते हुए सूत्रकार कृदतिङ् सूत्र में 'कृत्' यह एकवचनान्त पद पढ़ते हैं। ऐसा न्यास हमारी कल्पना का समर्थक है। तद्धित-प्रत्ययों को 'तद्धित' इसलिए कहते हैं कि ये उस-उस प्रयोग की निष्पत्ति में हितकर (उपयोगी) हैं—तस्मै तस्मै प्रयोगाय हिताः। जिसका अर्थ यह है कि इनका उपयोग शिष्ट-सम्मत इष्ट प्रयोगों की साधना में ही होता है, मनमाने नए-नए प्रयोग बनाने के लिए नहीं।

तद्धित विधि में आगे कहे जाने वाले विधायक सूत्रों में समर्थानां प्रथमाद् वा (४।१।८२) इन तीनों पदों का अधिकार चलता रहेगा, जब तक स्वार्थिक प्रत्ययों का विधान प्रारम्भ नहीं होता। जैसा आरम्भ में यहाँ कहा है तद्धित-प्रत्यय पदों से होते हैं अर्थात् तद्धित विधि पद-विधि है और जो भी पद-विधि होती है वह समर्थ=सगतार्थ=सम्बद्धार्थ पदों को होती है।[1] समासविधि भी ऐसी ही पदविधि है। सो तद्धित विधि समासविधि का अपवाद है। पर इससे समास का अत्यन्त बाध नहीं होता, पक्ष में समास भी रहता है, कारण

---

१ समर्थः पदविधिः (२।१।१)।

कि पूर्वसूत्र (४।१।८१) से 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति आती है। और इस अधिकार सूत्र में 'वा' ग्रहण किया है जिससे तद्धित के अभाव में वाक्य भी रहेगा। उदाहरणार्थ उपगु का अपत्य(=सन्तान) इस अर्थ को तीन तरह से कह सकते हैं। वाक्य से जैसे—उपगोर अपत्यम्। समास से जैसे—उपगु-अपत्यम्। तद्धित से जैसे—औपगव।

तद्धितविधि समर्थ पदाश्रित ही होगी। अतः कम्बल उपगो, अपत्य देवदत्तस्य—यहाँ अपत्यार्थ में उपगु अम् से तद्धित नहीं होगा।

लक्षण-वाक्यों में जो प्रथम समर्थ पद होगा उससे प्रत्यय होगा। तस्यापत्यम् (४।१।९२)। यह लक्षण वाक्य है। सो यहाँ षष्ठयन्त पद से प्रत्यय होगा। उपगोरपत्यम् औपगव। प्रथमान्त 'अपत्य' से नहीं। प्रत्यय-विधायक सूत्र में पञ्चमी निर्देश से प्रकृति का निर्देश नहीं, जिससे मुक्तसंशय रूप से प्रत्यय हो। वह तो वाक्य द्वारा प्रत्ययार्थ निर्देशमात्र करता है।

भट्टोजिदीक्षित भाष्याशय का अनुसरण करते हुए समर्थ का अर्थ शक्त, अर्थाभिधान में शक्त, परिनिष्ठित (प्रयोगार्ह) अर्थात् कृतसर्वकार्य ऐसा मानते हैं। यदि ऐसा न हो तो सु उत्थितस्य अपत्यम्—यहाँ अकृतसन्धि पद से प्रत्ययोत्पत्ति हो जाने पर आदि अच् 'उ' को वृद्धि 'औ' और उसे आव् आदेश होने से सावुत्थिति ऐसा अनिष्ट रूप प्रसक्त होगा। सन्धिकार्य के पश्चात् प्रत्यय (इञ्) आने पर 'सौत्थिति' यह इष्ट रूप सिद्ध होता है।

तद्धित प्रत्यय आने पर तद्धितान्त समुदाय की प्रातिपदिक संज्ञा होती है।[1] तब इस समुदाय के अन्तर्वर्ती सुप् (सु आदि प्रत्ययों) का लुक् हो जाता है जैसे समास में।[2] पश्चात् उसमें विवक्षा के अनुसार विभक्ति उत्पन्न होती है जैसे उपगु अम् अण्=उपगु अ। आदि वृद्धि और अकार उपगु के 'उ' को गुण, अवादेश होकर 'औपगव' रूप सिद्ध होता है तब इससे सु आदि प्रत्यय आते हैं—औपगवः, औपगवौ, औपगवाः इत्यादि।

उपगोर् अपत्यम्—यह लौकिक विग्रह है। उपगु अम् अण्—यह अलौकिक (लोक में अप्रसिद्ध) विग्रह है।

---

१ कृत्तद्धित-समासाश्च (१।२।४६)।
२ सुपो धातुप्रातिपदिकयोः (२।४।७१)।

अपत्यार्थक तद्धित

अण्—प्राग्दीव्यतीय अर्थों में अपवाद विषय को छोडकर प्रकृतिमात्र से अण् प्रत्यय होता है।[1] तेन दीव्यति खनति जयति जितम् (४।४।२) ऐसा पाणिनीय सूत्र है। प्राग्दीव्यतीय अर्थात् ४।४।२ से पूर्व निर्दिष्ट नाना अर्थों में अण् का अधिकार है। जिस किसी अर्थ मे कोई दूसरा प्रत्यय विधान नहीं किया गया वहाँ अण् होता है ऐसा समझना चाहिए। अपत्यार्थ भी एक प्राग्दीव्यतीय अर्थ है, अत तस्यापत्यम् (४।१।९२) इस सूत्र से षष्ठ्यन्त से अण् प्रत्यय होगा—उपगोर् अपत्यम् औपगव। मानोरपत्यम् मानव। त्रिशङ्कोरपत्य त्रैशङ्कव (हरिश्चन्द्र)। वचक्नोर् अपत्य स्त्री वाचक्नवी=गार्गी। वचक्नु की पुत्री। स्त्री प्रत्यय ङीप्। रघोरपत्य—राघव। करीषगन्धेर् अपत्यम्—कारीषगन्ध। चक्रवर्मणोऽपत्य चाक्रवर्मण। वज्रिणोऽपत्य वाज्रिण (जयन्त)। वृत्रघ्नोऽपत्य वार्त्रघ्न। वृत्रहन् (इन्द्र) का पुत्र।

तद्धित विधि के एक दो सामान्य नियम हैं उन्हें जानना अत्यावश्यक है—

(क) ञित् णित्, कित् तद्धित प्रत्यय परे रहते प्रकृति के अचो मे जो आदि अच् हो उसे वृद्धि होती है[2] जैसे यहाँ उपगु और मानु शब्दो के अचो में से आदि अच् उ, आ को वृद्धि हुई है। 'आ' पहले ही वृद्धि-सञ्ज्ञक है तो भी 'पर्जन्यवत् शास्त्र प्रवर्तते' इस न्याय से यहाँ भी शास्त्र प्रवृत्त हुआ है। 'कारीषगन्ध' मे 'क' के 'अ' को वृद्धि हुई है।

(ख) भसञ्ज्ञक 'उ' को गुण होता है।[3] ऊपर दिए हुए तीनो उदाहरणो मे अन्त्य 'उ' को गुण होकर अवादेश हुआ है।

(ग) ई (स्त्री प्रत्यय) तथा तद्धित प्रत्यय परे रहते 'भ' प्रकृति के अन्त्य इ, अ का लोप हो जाता है[4]। यहाँ करीषगन्धि के 'इ' का लोप हुआ है।

(घ) नकारान्त 'भ' प्रकृति के 'टि' का लोप हो जाता है।[5] उदाहरण—मेधाविनोऽपत्य मेधाव। यहा टि=इन् का लोप हुआ है।

---

१ प्राग्दीव्यतोऽण् (४।१।८३)।
२ तद्धितेष्वचामादे (७।२।११७)। किति च (७।२।११८)।
३ ओर्गुण (६।४।१४६)।
४ यस्येति च (६।४।१४८)।
५ नस्तद्धिते (६।४।१४४)।

अण्—अश्वपति आदि शब्दों से प्राग्दीव्यतीय अपत्यादि अर्थों में अण् होता है।[1] पति उत्तर पद होने पर 'ण्य' प्रत्यय का विधान करेंगे, सो यह उसका अपवाद है—अश्वपतेर् अपत्यादि आश्वपत। राष्ट्रपतेरपत्यादि राष्ट्रपत। गणपतेर् अपत्यादि गाणपत। पशुपतेर् अपत्यादि पाशुपत। सभापतेर् अपत्यादि साभापत।

शिव आदि शब्दों से अपत्य अर्थ में अण् प्रत्यय होता है।[2] इञ् आदि प्रत्ययों की प्राप्ति को बाधने के लिए गणपाठ किया है—शिवस्यापत्यं शैव। ककुत्स्थस्यापत्यं काकुत्स्थ। कहोडस्यापत्यं काहोड। डकार को लकार आदेश होने पर काहोल। हेहयस्यापत्यं हैहय। वतण्डस्यापत्यं वातण्ड। जरत्कारोर् अपत्यं जारत्कारव। गुण। अवादेश। ऋष्टिषेणस्यापत्यम् आर्ष्टिषेण। यस्कस्यापत्यं यास्क। भूमेर् अपत्यं भौम (मङ्गल ग्रह)। इलाया अपत्यम् ऐल (पुरूरवस्)। सपत्न्या अपत्यं सापत्न। इस गण में तक्षन् शब्द पढ़ा है। कारी (शिल्पी) होने से जो पाक्षिक इञ् प्राप्त होता है उसे बाधने के लिए। जो 'ण्य' प्रत्यय विहित किया है वह इष्ट ही है, सो तक्ष्णोऽपत्यं ताक्ष्ण। यहाँ अन् के 'अ' का लोप भी होता है।[3] ताक्षण्य। यहाँ अन् प्रकृत्या (=अपने स्वरूप में बना) रहता है।[4] गङ्गा शब्द भी इस गण में पढ़ा है। आगे कहे जाने वाले शुभ्र आदि गण में तथा तिकादि गण में भी। सो गङ्गाया अपत्यम् इस अर्थ में गाङ्ग (अण्), गाङ्गेय (ढक्=एय), गाङ्गायनि (फिञ्=आयनि) तीन रूप होंगे।

तद्धित प्रत्ययों के आदि में आए हुए फ, ढ, ख, छ, घ को उपदेशकाल

---

१ अश्वपत्यादिभ्यश्च (४।१।८४)।

२ शिवादिभ्योऽण् (४।१।११२)।

३ यपूर्व-ट्न् पुनराज्ञामणि (६।४।१३५) से अण् प्रत्यय परे होने पर अल्लोप (अन् के 'अ' का लोप) होता है। अन् (६।४।१६७) से प्राप्त प्रकृतिभाव नहीं होता।

४ ये चाभावकर्मणोः (६।४।१६८) से अन् प्रकृत्या=अपने स्वरूप में अवस्थित रहता है। यहाँ यादि ण्य प्रत्यय है जो न भाव में है न कर्म में।

में ही क्रम से आयन, ईन, ईय, इय आदेश होते हैं। फ आदि मे 'अ' उच्चारण के लिए है। फ् आदि के स्थान मे आयन् आदि समझें।[1]

अण्—नदीवाचक तथा मानुषी (मनुष्यजाति की स्त्री)—वाचक जो शब्द संज्ञायें हों और जिनके आदि मे वृद्धि न हो उनसे अपत्य अर्थ मे अण् प्रत्यय होता है[2]—नदीवाचक शब्दो से—यमुनाया अपत्य यामुन । इरावत्या अपत्यम् ऐरावत । वितस्ताया अपत्य वैतस्त । वितस्ता झेलम नदी का प्राचीन नाम है। नर्मदाया अपत्य नार्मद । उस-उस नाम वाले मानुषीवाचक शब्दो से—शिक्षिता नाम काचित्, तस्या अपत्य शैक्षित । चिन्तिताया नाम स्त्रिया अपत्य चैन्तित । यदि आदि अच् वृद्धि होगा तो यथाप्राप्त ढक् (=एय) होगा—चान्द्रमाग्याया अपत्य चान्द्रमागेय । यहाँ हलस्तद्धितस्य (६।४।१५०)से तद्धित यकार का लोप हुआ है। वासवदत्ताया (उदयनपत्न्या) अपत्य वासवदत्तेय । पर शोभना जो किसी स्त्री का नाम नही 'उसका अपत्य' इस अर्थ मे शौभनेय ही होगा, यद्यपि शोभना शब्द वृद्ध नहीं है (अर्थात् इसके अचो मे से आदि अच् भी वृद्धि-संज्ञक नही है)। इसी प्रकार सुपर्णा, विनता (गरुड की माता का नाम) के अपत्य अर्थ मे भी ढक् होकर सौपर्णेय, वैनतेय रूप बनेंगे। क्योंकि सुपर्णा, विनता मानुषी नहीं।

ऋषिवाचक[1] शब्दो से, अन्धक वंशजो[2] के नामो से, वृष्णि (यादव) वंशजो[3] के नामो से, कुरुवंशजो[4] के नामो से 'उसका अपत्य' इस अर्थ मे अण् होता है[3]। ऋषि मन्त्रद्रष्टा को कहते हैं। १—वसिष्ठस्यापत्य वासिष्ठ । विश्वामित्रस्यापत्य वैश्वामित्र । २—श्वफलकस्यापत्य श्वाफलक । ३—वसुदेवस्यापत्य वासुदेव । अनिरुद्धस्यापत्यम् आनिरुद्ध (वज्र)। ४—नकुलस्यापत्य नाकुल । सहदेवस्यापत्य साहदेव ।

अत्रि नामक ऋषि का अपत्य—यहाँ 'आत्रेय' रूप होगा। अण् का अपवाद ढक् आगे कहेंगे।

सख्या, सम्, भद्र से परे मातृ शब्द से 'उसका अपत्य' इस अर्थ मे अण्

---

१ आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम् (७।१।२)।

२ अवृद्धाभ्यो नदीमानुषीभ्यस्तन्नामिकाभ्यः (४।१।११३)।

३ ऋष्यन्धक-वृष्णि-कुरुभ्यश्च (४।१।११४)।

होता है, साथ ही 'मातृ' के ऋ को उ (रपर) आदेश होता है[1]—द्वयोर्मात्रोर् अपत्यं द्वैमातुर (गणेश, जरासन्ध)। सगी मां तथा सौतेली मां का पुत्र' इसका मुख्य अर्थ है। षण्णां मातृणामपत्यं षाण्मातुर (कार्तिकेय)। सम्मातुर-पत्यं सांमातुर (पुण्यात्मा माता का पुत्र)। भाद्रमातुर।

कन्या से 'तस्यापत्यम्' इस अर्थ में अण् होता है, साथ ही कन्या के स्थान में 'कनीन' आदेश होता है[2]—कन्याया अपत्यं कानीन (व्यास, कर्ण)। ढक् की प्राप्ति थी। वेद में 'कनी' कन्यार्थ में तथा 'कनीन' युवक के अर्थ में आया है—जारः कनीनां पतिर्जनीनाम् (ऋ० १।६६।८)। जार कनीन इव चक्षदान (ऋ० १।११७।१८)।

पीला (किसी स्त्री का नाम) से विकल्प से अण् होता है, पक्ष में यथाप्राप्त ढक्[3]—पैल। पैलेय। पैल वैशम्पायन के शिष्यों में से एक शाखा प्रवर्तक शिष्य था।

जनपद समान शब्द क्षत्रियवाची मगध, द्व्यच् (द्व्यक्षर) शब्द से, तथा कलिंग, सूरमस—इनसे 'तस्यापत्यम्' इस अर्थ में अण् होता है[4]—अङ्गा नाम जनपद। अङ्गो नाम क्षत्रिय। अङ्गस्यापत्यम् आङ्ग। वङ्गा नाम जनपद। वङ्गो नाम क्षत्रिय। वङ्गस्यापत्यं वाङ्ग—ये द्व्यच् के उदाहरण हुए। मगधस्यापत्यं मागध। कलिङ्गस्यापत्यं कालिङ्ग। सूरमसस्यापत्यं सौरमस। यह अञ् का अपवाद है।

अञ्—उत्स आदि शब्दों से अपत्यादि प्राग्दीव्यतीय अर्थों में अञ् प्रत्यय होता है[5]—उत्सस्यापत्यादि औत्स। भरतस्यापत्यादि भारत। उशीनरस्यापत्यादि औशीनर। मध्यन्दिनस्यापत्यादि माध्यन्दिन। जगत्या अपत्यादि जागत।

ञ, अञ्—पृथिवी शब्द से अपत्यादि प्राग्दीव्यतीय अर्थों में ञ व अञ्

---

१ मातुरुत्संख्या-सम्भद्रपूर्वायाः (४।१।११५)।
२ कन्यायाः कनीन च (४।१।११६)।
३ पीलाया वा (४।१।११८)।
४ द्व्यञ् मगध-कलिङ्ग-सूरमसादण् (४।१।१७०)।
५ उत्सादिभ्योऽञ् (४।१।८६)।

प्रत्यय होते हैं[1]—पृथिव्या अपत्यादि पार्थिव । रूप में कोई भेद नहीं, पर 'ञ' होने पर स्त्रीलिङ्ग में पृथिव्या अपत्यं स्त्री पार्थिवा (टाप्) ऐसा रूप होगा और अञ् होने पर ङीप् होकर पार्थिवी ऐसा।

यञ् अञ्—देव शब्द से अपत्यादि प्राग्दीव्यतीय अर्थों में यञ् व अञ् प्रत्यय होते हैं[2]—देवस्यापत्यादि दैव्य । दैव ।

यञ् ईकक्—बहिस् शब्द से प्राग्दीव्यतीय अपत्यादि अर्थों में यञ् प्रत्यय होता है और ईकक् भी ।[3] साथ ही इसके 'टि' भाग का लोप हो जाता है—बहिस्—यञ्=बाह्य । बहिस्—ईकक्=बाहीक ।

बिद आदि शब्द जो ऋषिवाचक न हो उनसे 'तस्यापत्यम्' इस अर्थ में अञ् प्रत्यय होता है[4]—पुत्रस्यापत्य पौत्र । दुहितुर् अपत्य दौहित्र । ननान्दुर् अपत्य नानान्द्र । पुनर्भ्वो अपत्य पौनर्भव । जिसका वैधव्यादिकारण से दुबारा विवाह-संस्कार होता है उसे पुनर्भू कहते हैं। परस्त्रिया अपत्य पारशव । यहाँ 'परस्त्री' शब्द को 'परशु' आदेश होता है। जो यहाँ ऋषि-वाचक पढे हैं उनसे गोत्रापत्य में अञ् होगा। उनके उदाहरण गोत्रापत्य प्रकरण में देंगे।

अञ्—जनपदसमान शब्द जो क्षत्रिय का नाम हो, उससे अपत्य अर्थ में अञ् प्रत्यय होता है[5]—पञ्चाला जनपद । पञ्चालो नाम क्षत्रिय । पञ्चाल-स्यापत्य पुमान्=पाञ्चाल । इक्ष्वाकोर् अपत्य पुमान्=ऐक्ष्वाक । यहाँ अन्त्य 'उ' का लोप भी होता है। विदेहस्यापत्य पुमान्=वैदेह । केकया नाम जनपद । केकयो नाम क्षत्रिय । केकयस्यापत्य पुमान्=कैकेय । यहाँ 'केकय' के 'य' के स्थान में 'इय' आदेश भी होता है।[6] स्त्रीत्व विवक्षा में कैकेयी । यदि पञ्चाल आदि ब्राह्मण होगा तो इञ् होकर पाञ्चालि, वैदेहि आदि रूप होंगे।

---

१ पृथिव्या ञाञौ (वा०)।
२ देवाद्यञञौ (वा०)।
३. बहिषष्टिलोपश्च (वा०)। ईकक् च (वा०)।
४ अनृष्यानन्तर्ये बिदादिभ्योऽञ् (४।१।१०४)।
५ जनपदशब्दात्क्षत्रियादञ् (४।१।१६८)।
६ केकयमित्रयु-प्रलयानां यादेरियः (७।३।२)।

अञ् यत्—मनु शब्द से 'तस्यापत्यम्' इस अर्थ में अञ् और यत् प्रत्यय होते हैं, साथ ही षुक् (ष्) का आगम होता है, यदि प्रकृतिप्रत्यय समुदाय से जाति का बोध हो[1]—मनोरपत्यं जातिः=मानुषः। मनुष्यः। जाति की अविवक्षा में केवल अपत्यार्थ में अण् होकर 'मानव' यह रूप होगा।

इञ्—अदन्त शब्द से तस्यापत्यम् अर्थ में इञ् प्रत्यय होता है[2]—दक्षस्यापत्यं दाक्षिः। उत्तानपादस्यापत्यम् औत्तानपादिः=ध्रुवः। दशरथस्यापत्यं दाशरथिः। दुर्ध्यन्तस्यापत्यं दौष्यन्तिः। गर्गस्यापत्यं गार्गिः। औपगवस्यापत्यम्=औपगविः। वसुकस्यापत्यं वासुकिः। वल्मीकस्यापत्यं वाल्मीकिः। यहाँ अपत्यत्व गौण है। भगवान् वाल्मीकि वल्मीकजन्मा होने से ऐसा कहलाये। वे वाम्बी से उत्पन्न हुए। उग्रसेनस्यापत्यम् औग्रसेनिः कंसः।

बाहु आदि शब्दों से 'तस्यापत्यम्' अर्थ में इञ् प्रत्यय होता है।[3] इस गण में ऐसे शब्द पढ़े हैं जो अदन्त नहीं हैं, अतः उनसे इञ् की प्राप्ति नहीं थी। बलाकाया अपत्यं बालाकिः। सुमित्राया अपत्यं सौमित्रिः (लक्ष्मण)। पुष्करसदोऽपत्यम् पौष्करसादिः। उडुलोम्नोऽपत्यम् औडुलोमिः। औडुलोमी (द्विवचन)। उडुलोमाः। बहुवचन में 'अ' प्रत्यय होता है।[4] नकारान्त उडुलोमन् की 'टि' का सर्वत्र लोप हुआ है। अजीगर्तस्यापत्यम्=आजीगर्तिः (शुनःशेप आदि)। वृष्णस्यापत्यं वार्ष्णिः। शूरस्यापत्यं शौरिः। यहाँ वृष्णिवंशज होने से अण् प्राप्त था। प्राद्युम्निः (अनिरुद्ध)। यहाँ भी। यौधिष्ठिरिः (युधिष्ठिर का पुत्र)। आर्जुनिः (अर्जुन का पुत्र)। यहाँ कुरुवंशज होने से अण् प्राप्त था। अम्भसोऽपत्यम् पुमान्=आम्भिः (भीष्म)। यहाँ टि (=अस्) का लोप भी होता है। श्वगुर नामक पुरुष का पुत्र=श्वागुरिः। बाह्वादिगण आकृतिगण है, अतः इन्द्रशर्मन् आदि गण में अपठित शब्दों से भी इञ् होगा—इन्द्रशर्मणोऽपत्यम् ऐन्द्रशर्मिः। 'नस्तद्धिते' से टि (अन्) का लोप।

इन्—उत्तरभारत के आचार्यों के मत में सेनान्त, लक्षण तथा

१ मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च (४।१।१६१)।
२ अत इञ् (४।१।९५)।
३ बाह्वादिभ्यश्च (४।१।९६)।
४ लोम्नोऽपत्येषु बहुषु (वा०)।

कारिवाचक शब्दों से तस्यापत्यम् अर्थ में इञ् प्रत्यय होता है।[1] कारी शिल्पी को कहते हैं। हरिषेणस्यापत्य हारिषेणि । लाक्षणिः । तन्तुवायस्यापत्य तान्तुवायि । कौम्भकारि (कुम्हार का पुत्र)। नापिति (नाई का पुत्र)। पक्षान्तर में 'ण्य' होता है।

सुधातृ शब्द से 'तस्यापत्यम्' अर्थ में इञ् प्रत्यय होता है। साथ ही ऋ के स्थान में 'अक' आदेश होता है[2]—सुधातुर् अपत्यम् पुमान्=सौधातकि ।

वार्तिककार के मत से व्यास, वरुड, चण्डाल, निषाद, बिम्ब—इनसे भी इञ् प्रत्यय तथा अकङ् (अक) अन्त्य आदेश होता है[3]—व्यासस्यापत्यम् पुमान् =वैयासकि (शुक)। यहाँ आदि अच् की वृद्धि न होकर पदान्त य् से पूर्व एच् (ऐ) का आगम होता है। वि आस—यहाँ जैसे 'इ' पदान्त है, वैसे 'इ' के स्थान में यण् (य्) भी पदान्त है। वारुडकि । चाण्डालकि । नैषादकि । बैम्बकि ।

ण्य—दिति, अदिति, आदित्य से, तथा 'पति' उत्तरपद वाले शब्दों से प्राग्दीव्यतीय अपत्यादि अर्थों में 'ण्य' प्रत्यय होता है[4]—दितेरपत्यादि दैत्य । आदित्य । आदित्य । आदित्य्य । यहाँ आदित्य शब्द के 'अ' का लोप होने पर य(प्रत्यय) परे होने से पूर्वयकार का पाक्षिक लोप भी होता है। हलो यमां यमि लोप (८।४।६४)। यदि 'आदित्य' में प्रत्यय अपत्य अर्थ में ही हुआ है, अदितेरपत्य पुमान् आदित्य, तब इस अपत्यार्थक तद्धित का पुन ण्य तद्धित परे होने पर नित्य लोप होता है। आपत्यस्य च तद्धितेऽनाति (६।४।१५१)। सेनापति—सैनापत्य । प्रजापति—प्राजापत्य ।

जनपदसमान शब्द क्षत्रिय-वचन कुरु शब्द से तथा ऐसे ही नकारादि प्रातिपदिकों से 'तस्यापत्यम्' अर्थ में ण्य (=य) प्रत्यय होता है[5]—कुरवो नाम जनपद । कुरु क्षत्रिय । कुरो क्षत्रियस्यापत्य पुमान्=कौरव्य । निषधा नाम जनपद । निषधो नाम क्षत्रिय । निषधस्यापत्य पुमान्=नैषध्य । यह अण् और अञ् का अपवाद है।

---

१ सेनान्त-लक्षण कारिभ्यश्च (४।१।१५२)। उदीचाम् इञ् (४।१।१५३)।

२ सुधातुरकङ् (४।१।९७)।

३ व्यास-वरुड-निषाद-चण्डाल-बिम्बानामिति वक्तव्यम् (वा०)

४ दित्यदित्यादित्य-पत्युत्तरपदाण्ण्य (४।१।८५)।

५ कुरु-नादिभ्यो ण्य (४।१।१७२)।

कुरु (ब्राह्मणवाची) आदि शब्दों से भी यह 'ण्य' प्रत्यय होता है[1]—**कौरव्य**। पर इसकी 'तद्राज' संज्ञा (जो आगे कहेंगे) न होने से बहुवचन में इस (ण्य) का लुक् नहीं होता—**कौरव्य, कौरव्यौ, कौरव्याः**।

कुर्वादिगण पठित होने से वावदूक (बहुत बोलने वाला) से भी 'ण्य' प्रत्यय होता है—**वावदूकस्यापत्य वावदूक्य**। इसी प्रकार वामरथ शब्द से अपत्यार्थ में ण्य प्रत्यय होता है। **वामरथ्य**। यहाँ 'वामरथस्य कण्वादिवत्स्वर-वर्जम्' ऐसा गणसूत्र पढा है। इससे जैसे काण्व्य, काण्व्यौ, कण्वाः, बहुवचन में यञ् का लुक् होता है वैसे ही यहाँ भी **वामरथ्य, वामरथ्यौ, वामरथाः**। बहु० में ण्य का लुक् होता है। स्त्रीत्व विवक्षा में **वामरथी, वामरथ्यायनी**। यहाँ यञन्त (कण्व) की तरह विकल्प से ष्फ (आयन) और ष्फ के षित् होने से ङीप् प्रत्यय होता है।[2]

कुरु आदि गण में पढे होने से गर्ग और कवि शब्दों से भी अपत्यार्थ में ण्य प्रत्यय होता है—**गर्गस्यापत्य पुमान् गार्ग्य**। कवेः (शुक्रस्य) अपत्य पुमान् **काव्य**। इनके बहु० में प्रत्यय का लुक् नहीं होगा—**गार्ग्याः। काव्याः**।

सेनान्त प्रातिपदिक, लक्षण तथा शिल्पीवाचक प्रातिपदिक से अपत्यार्थ में ण्य प्रत्यय होता है[3]—**हरिषेणस्यापत्य हारिषेण्य**। लक्षणस्य—**लाक्षण्य**। तक्ष्णोऽपत्य **ताक्षण्य** (तक्षा=तरखान)। तन्तुवायस्य—**तान्तुवाय्य**। नापितस्य—**नापित्य**।

अ—अश्वत्थामन् शब्द से अपत्यार्थ में 'अ' प्रत्यय होता है[4]—**अश्वत्थाम्नोऽपत्यम् अश्वत्थाम**। यहाँ 'टि' (अन्) का लोप हुआ है।

यत्—गो शब्द से अजादि प्रत्यय की प्राप्ति होने पर सभी प्राग्दीव्यतीय अर्थों में यत् प्रत्यय होता है[5]—**गोरपत्य गव्य**। यहाँ यकारादि प्रत्यय परे होने पर गो को गव् (वान्तादेश) हो जाता है[6]। **गोरिद गव्यम्**। गवि भव

१ कुर्वादिभ्यो ण्य (४।१।१५१)।

२ वामरथस्य कण्वादिवत्स्वरवर्जम् (ग० सू०)।

३ सेनान्त-लक्षण-कारिभ्यश्च (४।१।१५२)।

४ स्थाम्नोऽकार (वा०)।

५ सर्वत्र गोरजादिप्रत्ययप्रसङ्गे यत् (वा०)।

६ वान्तो यि प्रत्यये (६।१।७९)।

गव्यम्। गौर्देवताऽस्य गव्यो मन्त्र । पर अजादि प्रत्यय का प्रसङ्ग न होने पर यत् नहीं होगा—गो पुरीष गोमयम्।

नञ् स्नञ्—स्त्री, पुम्स् शब्दो से धान्याना भवने क्षेत्रे खञ् (५।२।१) तक कहे हुए अर्थो मे क्रम से नञ् (न) तथा स्नञ् (स्न) प्रत्यय आते हैं[1]—स्त्रिया अपत्य स्त्रैण । पुंसोऽपत्य पौंस्न । यहाँ पुम्स् के 'स्' का सयोगान्त होने से लोप हो जाता है। दूसरे अर्थो मे उदाहरण—स्त्रीषु भव स्त्रैणम्। पौंस्नम्। स्त्रीणा समूह स्त्रैणम्। पौंस्नम्। स्त्रीभ्य आगत स्त्रैणम्। पौंस्नम्। स्त्रीभ्यो हित स्त्रैणम्। पौंस्नम्। स्त्रीप्रयोजनो रस स्त्रैण । वति अर्थ मे ये प्रत्यय नही होते—स्त्रीवद्। पुवद्।

ढक्—अग्नि, कलि—इनसे सभी प्राग्दीव्यतीय अर्थो मे ढक् (एय) प्रत्यय होता है[2]—अग्नेरपत्यम् आग्नेयम्। अग्निर्देवताऽस्य हविष —आग्नेय हवि । अग्निना दृष्ट साम आग्नेयम्। अग्नौ भवम् आग्नेयम्। अग्नेर् आगतम्=आग्नेयम्। अग्ने स्वम् आग्नेयम्।

स्त्रीप्रत्ययान्त से 'तस्यापत्यम्' अर्थ मे ढक् (एय) प्रत्यय होता है[3]—'शकुन्तलाया अपत्य शाकुन्तलेय (भरत)। वासवदत्ताया अपत्य वासवदत्तेय । सुपर्णाया—सौपर्णेय (गरुड)। विनताया—वैनतेय (गरुड)। सरमा=देवशुनी। तस्या अपत्य सारमेय श्वा (कुत्ता)। वडवा शब्द से वृष (बीजाश्व) वाच्य होने पर ढक् होता है[4]—वाडवेय=वृष । अपत्यार्थ मे अण् होगा—वाडव (घोडी का पुत्र)।

अदिति शब्द से (जिसका 'इ' क्तिन् का इ नही, और जिसके 'ति' का क्तिन्-समान अर्थ नही है) से ङीप् करके पश्चात् ढक् होने पर आदितेय रूप सिद्ध होता है। अदित्या अपत्यम् आदितेय । भरणी—भारणेयोऽग्नि=भरणीममुत्थ । वासवी (उपरिचर-कन्या)—तस्या अपत्य वासवेयो व्यास । अञ्जनाया अपत्यम्=आञ्जनेयो हनूमान्।

---

१ स्त्रीपुंसाभ्या नञ्स्नञौ भवनात्। (४।१।८७)।
२ सर्वत्राग्निकलिभ्या ढक् वक्तव्य (वा०)।
३ स्त्रीभ्यो ढक् (४।१।१२०)।
४ वडवाया वृषे (वा०)।

द्व्यक्षर स्त्रीप्रत्ययान्त से 'तस्यापत्यम्' अर्थ में ढक् प्रत्यय होता है। यह तान्नामिक अण् का अपवाद है[1]—दत्ता नाम काचित् तस्या अपत्यं दात्तेय। गोपी नाम काचित् तस्या अपत्यं गौपेय। कुन्त्या अपत्यं कौन्तेय।

पृथा से 'तस्येदम्' इस सामान्य अर्थ में अण् करके पार्थ रूप सिद्ध होगा। अथवा शिव आदि गण में पाठ करके अपत्यार्थ में भी अण् साधु होगा।

इकारान्त द्व्यक्षर प्रातिपदिक जो इञन्त न हो, से ढक् होता है[2]—अत्रेर् अपत्यम् आत्रेय (अत्रि का पुत्र। आत्रेयी=अत्रि की पुत्री)। आत्रेयी रजस्वला को भी कहते हैं, आत्रेयी की तरह अगम्य होने से। निधि—नैधेय। विधि—वैधेय (मूर्ख)। कपि—कापेय। मुनि—मौनेय। ऋषि—आर्षेय। कापेयी चलचित्तता। कच्चिन्न खलु कापेयी सेव्यते चलचित्तता (रा० ६।१२७।२३)। यहाँ अपत्य-भाव औपचारिक है। बलेरपत्यं बालेय। पुत्रानुत्पादयामास पञ्च वदाकरा भुवि। अङ्ग प्रथमतो जज्ञे बालेय क्षत्रमुच्यते॥ (हरिवं० १।३१।३३, ३४)।

शुभ्र आदि शब्दों से तस्यापत्यम् अर्थ में ढक् प्रत्यय होता है।[3] इञ् आदि का अपवाद है। शुभ्रस्यापत्यं शौभ्रेय। विमातुर् अपत्यं वैमात्रेय (विमाता=सौतेली माँ)। विधवाया अपत्यं वैधवेय। 'क्षुद्राभ्यो वा' से प्राप्त पाक्षिक ढक् को बाधने के लिए विधवा शब्द यहाँ शुभ्रादिगण में पढ़ा है। गङ्गाया अपत्यं गाङ्गेय (भीष्म)। रोहिणी—रौहिणेय। रुक्मिणी—रौक्मिणेय। अम्बिकाया अपत्यम् आम्बिकेय (धृतराष्ट्र)। कद्रूर्नाम सर्पमाता, तस्या अपत्यं काद्रवेय। यहाँ 'ऊ' का लोप नहीं होता[4]। गुण होकर अवादेश हो जाता है। इतरस्य—ऐतरेय। अन्यतरस्य—आन्यतरेय। शकल—शाकलेय। शबल—शाबलेय। मृकण्ड—मार्कण्डेय।

---

१ द्व्यचः (४।१।१२१)।
२ इतश्चानिञः (४।१।१२२)।
३ शुभ्रादिभ्यश्च (४।१।१२३)।
४ ढे लोपोऽकद्र्वाः (६।४।१४७)।

मृकण्ड मृकण्डु ऋषि का नामान्तर है। मृकण्डु से भी ढक् होने पर 'उ' का लोप[1] हो जाने से 'मार्कण्डेय' रूप ही होगा। प्रवाहणस्यापत्यम्=प्रावाहणेय, प्रवाहणेय। यहाँ उत्तरपद को वृद्धि नित्य और पूर्वपद के आदि अच् को वृद्धि विकल्प से होती है।[2] शुभ्र आदि गण आकृतिगण है, अत पाण्डोर् अपत्य पाण्डवेय, यहाँ भी ढक् होता है। भारत द्रोण० (४८।२०) मे प्रयोग भी है—पश्यता नरसिंहेभ्य पाण्डवेयस्य पश्यत।

दुष्कुलस्यापत्य दौष्कुलेय।[3]

मण्डूकस्यापत्य माण्डूकेय।[4] अण् तथा इञ् भी होते हैं—माण्डूक। माण्डूकि:।

मातृष्वसुर् अपत्यम्=मातृष्वसेय[5] (मौसी का पुत्र)। पितृष्वसुर् अपत्यं पैतृष्वसेय (बूआ का पुत्र)। यहाँ अन्त्य ऋ का लोप भी होता है।

कल्याणी आदि शब्दो को इनङ् अन्तादेश भी होता है[6]—कल्याण्या अपत्य काल्याणिनेय। बन्धक्या—बान्धकिनेय (बन्धकी=पुश्चली)। सुभगाया—सौभागिनेय। दुर्भगाया—दौर्भागिनेय। यहाँ हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च (७।३।१९) से उभयपद वृद्धि होती है। ज्येष्ठा (ज्येष्ठिन्)—ज्यैष्ठिनेय। जेठानी का लड़का। कनिष्ठा (कनिष्ठिन्)—कानिष्ठिनेय। जरती का पुत्र=जारतिनेय। जरती=बुढ़िया। परस्य स्त्री परस्त्री, तस्या अपत्य पारस्त्रैणेय। यहाँ अनुशतिकादि (७।३।२०) होने से उभयपद वृद्धि हुई है।

कुलटाया अपत्य कौलटिनेय। कौलटेय। यहाँ इनङ् आदेश विकल्प से होता है।[7] कुलटा यहाँ भिक्षुकी को कहा है जो भिक्षार्थ घर-घर घूमती है। भिक्षार्थं कुलान्यटतीति कुलटा।

---

१ ढे लोपोऽकद्र्वा (६।४।१४७)। उवर्णान्त भ-संज्ञक का लोप। 'ओर्गुण' का अपवाद है।
२ प्रवाहणस्य ढे (७।३।२८)।
३ दुष्कुलाड्ढक् (४।२।१४२)।
४ ढक् च मण्डूकात् (४।१।११९)।
५ मातृष्वसुश्च (४।१।१३४)।
६ कल्याण्यादीनामिनङ् (४।१।१२६)।
७ कुलटाया वा (४।१।१२७)।

ढञ्—चतुष्पात् (चौपाय) जाति के पशुओं से[1]—कमण्डलु (चौपाय जाति का पशुविशेष)—कामण्डलेय। जम्बू=शृगाली, तस्या अपत्य जाम्बेय। गृष्टि (पहली बार ब्याई हुई गौ)—गार्ष्टेय।

गृष्टि (=सकृत् प्रसूत स्त्री) आदि शब्दों से[2]—गार्ष्टेय। मित्रयु—ऋषि होने से अण् प्राप्त था। ढञ् होता है—मैत्रेय। यहाँ 'यु' को इय् आदेश प्राप्त था।[3] पर दाण्डिनायन (६।४।१७४) आदि सूत्र से 'यु' का लोप निपातन किया है।

ढ्रक्—जो अङ्गहीन अथवा धर्महीन होने से क्षुद्र हैं तद्वाची स्त्रीलिङ्ग शब्दों से अपत्यार्थ में ढ्रक् होता है, पक्ष में स्त्रीप्रत्ययान्त होने से ढक् भी[4]—काणाया अपत्य काणेर (ढ्रक्)। काणेय (ढक्)। दास्या अपत्य दासेर। दासेय। ढ्रक्=एय्र। यहाँ वल्प्रत्याहारान्तर्गत र् परे होने पर 'य्' का लोप हो जाता है। कौलटेर। कौलटेय। यहाँ कुलटा धर्महीन स्त्री को कहा है जो शीलविध्वंस करती हुई घर-घर घूमती है। या कुलान्यटन्ती शीलं भिनत्ति सा कुलटा। गोधा शब्द से भी ढ्रक् होता है।[5] शुभ्र आदि गण में पाठ होने से ढक् भी—गौधेर। गौधेय।

छ—स्वसुर् अपत्य स्वस्रीय।[6] बहिन का पुत्र। 'छ' को ईय आदेश होता है।

छण्—पितृष्वसुर् अपत्यम्=पैतृष्वस्रीय।[7] बूआ का पुत्र। मातृष्वसुर् अपत्यम्=मातृष्वस्रीय।[8] मौसी का पुत्र। प्रत्यय के णित् होने से आदि वृद्धि हुई। स्वसृ के 'स्' को षत्व भी होता है।

यत्—राजन् और श्वशुर से यत्—राजन्य[9]। राजा का पुत्र। श्वशुर

---

१ चतुष्पाद्भ्यो ढञ् (४।१।१३५)।
२ गृष्ट्यादिभ्यश्च (४।१।१३६)।
३ केकय-मित्रयु-प्रलयानां यादेरियः (७।३।२)।
४ क्षुद्राभ्यो वा (४।१।१३१)।
५ गोधाया ढ्रक् (४।१।१२९)।
६ स्वसुश्छः (४।१।१४३)।
७ पितृष्वसुश्छण् (४।१।१३२)।
८ मातृष्वसुश्च (४।१।१३४)।
९ राजश्वशुराद्यत् (४।१।१३७)।

स्यापत्यं श्वशुर्यः। नकारान्त राजन् से यकारादि (जो भाव व कर्म में विहित नहीं) परे होने पर राजन् का अन् प्रकृत्या=अपने स्वरूप में बना रहता है। ये चाभावकर्मणोः। सामान्य नियम से नकारान्त की टि (अन्) का तद्धित परे होने पर लोप हुआ करता है। नस्तद्धिते।

ख—कुल और कुलान्त प्रातिपदिक से[1]—कुलस्यापत्यं कुलीनः=कुल-पुत्र। आढ्यकुलीनः=धनी कुल का पुत्र। श्रोत्रियकुलीनः=वेदपाठी कुल का पुत्र।

यत्, ढकञ्—केवल=(असमस्त) कुल शब्द जिसका पूर्वपद न हो उससे विकल्प से यत्, ढकञ् होते हैं, पक्ष में ख भी[2]—कुल्यः। कौलेयकः। कुलीनः।

अञ्, खञ्—महाकुलस्यापत्यं=माहाकुलः। माहाकुलीनः। यहाँ भी विकल्प है। पक्ष में 'ख' भी होगा—महाकुलीनः।[3]

ढक्—दुष्कुलस्यापत्यं दौष्कुलेयः। यहाँ भी विकल्प है। पक्ष में 'ख' होगा—दुष्कुलीनः।[4]

घ—क्षत्रस्यापत्यं पुमान्=क्षत्रियः।[5] यह जाति शब्द है। जातिवचन न होने पर 'क्षात्रि' रूप होगा। घ को इय आदेश हो जाता है।

छ, व्यत्—भ्रातुरपत्यं भ्रात्रीयः।[6] भ्रातृव्यः। व्यत्। यह स्वरितान्त है—भ्रातृव्य।

व्यन्—भ्रातुरस्य यः शत्रुः—भ्रातृव्यः।[7] यह आद्युदात्त है—यहाँ अपत्यार्थ कुछ भी नहीं, केवल शत्रु वाच्य है ऐसा काशिकाकार मानते हैं।

फिञ्—तिक आदि शब्दों से 'तस्यापत्यम्' अर्थ में फिञ् (=आयनि)

---

१ कुलात्खः (४।१।१३९)।
२ अपूर्वपदादन्यतरस्यां यड्ढकञौ (४।१।१४०)।
३ महाकुलादञ्खञौ (४।१।१४१)।
४ दुष्कुलाड्ढक् (४।१।१४२)।
५ क्षत्राद् घः (४।१।१३८)।
६ भ्रातुर्व्यच्च (४।१।१४४)।
७ व्यन्सपत्ने (४।१।१४५)।

प्रत्यय होता है[१]—कुरोः अपत्यं कौरवायणिः । प्रत्यय के ञित् होने से आदि वृद्धि हुई । कौरव्यस्यापत्यं कौरव्यायणिः । गङ्गा—गाङ्गायनि । वृष—वार्ष्यायणिः । यहाँ प्रत्यय-संनियोग से 'वृष' को 'वृष्य्' आदेश हो जाता है ।

ऐरक्—चटकाया अपत्यं चाटकैरः ।[२] चटकस्यापत्यं चाटकैरः[३] । स्त्र्य-पत्य होगा तो प्रत्यय का लुक् होगा[४]—चटकाया अपत्यं स्त्री चटका ।

ढक्—रेवती आदि शब्दों से ठक् होता है[५] । ढक् आदि का अपवाद है । रेवत्या अपत्यं रैवतिकः । अश्वपाली—आश्वपालिकः ।

ञ्यङ्—वृद्ध[१] (जिस के अचों में से आदि अच् वृद्धिसंज्ञक हो) शब्द से, इकारान्त[२] से, कोसल[३] से तथा 'अजाद[४]' से अपत्यार्थ में ञ्यङ् (=य) प्रत्यय होता है जब ये जनपद-समान-शब्द-क्षत्रिय वाची हों[६]—आम्बष्ठस्यापत्यम् आम्बष्ठ्यः । सौवीरस्य—सौवीर्यः । २—अवन्ति—आवन्त्यः । कुन्ति—कौन्त्यः । ३—कोसल—कौसल्यः । स्त्री-अपत्य हो तो चाप् होकर कौसल्या । कोसल (दन्त्यमध्य) अयोध्याजनपद से भिन्न देश का वाचक है । कोशल (तालव्य-मध्य) अयोध्याजनपद का नाम है ऐसा रामायण के टीकाकार राम का वचन है । देखो रा० २।६४।२४ की टीका । यहाँ मूल का 'कौसल्या पतिता भुवि' ऐसा पाठ है । कोसलराजपुत्री के अर्थ में कौसल्या ऐसा सकारवाला नाम ही शुद्ध समझना चाहिए । ४—आजाद्य ।

अपत्यप्रत्यय का लुक्

कम्बोज जनपद का नाम भी है और क्षत्रिय का भी । इससे जो अञ् प्राप्त था उसका लुक् हो जाता है ।[७] कम्बोजस्यापत्यं कम्बोजः । इसी प्रकार चोल आदि शब्दों से भी लुक् होता है[८]—चोलस्यापत्यं चोलः । इयञ्

---

१ तिकादिभ्यः फिञ् (४।१।१५४) ।
२ चटकाया ऐरक् (४।१।१२८) ।
३ चटकाच्चेति वक्तव्यम् (वा०) ।
४ स्त्रियामपत्ये लुग् वक्तव्यः (वा०) ।
५ रेवत्यादिभ्यष्ठक् (४।१।१४६) ।
६ वृद्धेत्कोसलाजादाञ्ञ्यङ् (४।१।१७१) ।
७ कम्बोजाल्लुक् (४।१।१७५) ।
८ कम्बोजादिभ्यो लुग्वचनं चोलाद्यर्थम् (वा०) ।

लक्षण अरण् का लुक्। केरल । अञ् का लुक् । शक । यवन । कम्बोज, कम्बोजौ, कम्बोजा । चोल । चोलौ । चोला । कम्बोजानां राजा कम्बोज । यहाँ भी तद्राज प्रत्यय अञ् का लुक् होगा। ऐसा ही चोल आदि के विषय में जानो।

अवन्ति, कुन्ति, कुरु—इन जनपद-समान-शब्द क्षत्रियवाची शब्दों से जो 'तद्राज' प्रत्यय प्राप्त था उसका स्त्री अपत्य कहने में लुक् हो जाता है।[1] अवन्तयो नाम जनपद । अवन्तिर्नाम क्षत्रिय । तस्यापत्यं पुमान्=आवन्त्य । कौन्त्य । ञ्यङ् । कुरु—कौरव्य । ण्य । स्त्रीत्व विवक्षा में प्रत्यय का लुक् होकर अवन्ति और कुन्ति से इकारान्त मनुष्य जातिवाची होने से ङीप् होकर अवन्ती, कुन्ती रूप होते हैं।[2] कुरु से ऊङ् होकर कुरू । अपत्य प्रत्ययान्त को जातिवाचक माना जाता है।

इसी प्रकार शूरसेन तथा मद्र' से क्रम से 'तद्राज' प्रत्यय अञ् तथा अण् का लुक् हो जाता है यदि स्त्री अपत्य कहना हो[3]—शूरसेनस्यापत्यं स्त्री=शूरसेनी। मद्रस्यापत्यं स्त्री=मद्री। माद्रीसुतौ पुष्पफले समृद्धे—इस भारत प्रयोग में माद्री यह आर्ष है, पाणिनीय नहीं।

अञ्, अण्, ण्य, ञ्यङ् अपत्यार्थक प्रत्यय जो जनपद समान शब्द क्षत्रिय वाची शब्दों से विधान किए हैं उनका लुक् हो जाता है जब अकेले प्रत्ययान्त का बहुवचन में प्रयोग करना हो, पर स्त्री-अपत्य के बहुत्व में लुक् नहीं होता[4]। इन अञ् आदि प्रत्ययों को 'तद्राज' कहते हैं, ते तद्राजा (४।१।१७४), कारण कि यही अपत्यार्थक प्रत्यय 'उस-उस जनपद का राजा' इस अर्थ में भी होते हैं।[5] तस्य राजा=तद्राज । पञ्चालानां राजा=पाञ्चाल (अञ्)। मगधानां राजा=मागध (अण्)। कुरूणां राजा=कौरव्य (ण्य)। अवन्तीनां राजा=आवन्त्य । अपत्यार्थ में पञ्चालस्य राज्ञोऽपत्यं पाञ्चाल । पाञ्चाल,

१ स्त्रियाम् अवन्ति-कुन्ति-कुरुभ्यश्च (४।१।१७६)।
२ इतो मनुष्यजातेः (४।१।६५)।
३ अतश्च (४।१।१७७)।
४ ते तद्राजाः (४।१।१७४)।
५ तद्राजस्य बहुषु तेनैवास्त्रियाम् (२।४।६२)।

पाञ्चाली, पञ्चाला । कौरव्य, कौरव्यौ, कुरव । स्त्रीत्व विवक्षा मे तो पाञ्चाली, पाञ्चाल्यौ, पाञ्चाल्य । प्रिय पाञ्चालोऽस्य इस अर्थ मे प्रिय-पाञ्चाल शब्द से बहुवचन मे प्रत्यय का लुक् नही होता—प्रियपाञ्चाला इमे । यहाँ प्रियपाञ्चाल का बहुत्व विवक्षित है न कि केवल प्रत्ययान्त पाञ्चाल का । इसी प्रकार इक्ष्वाकोरपत्यम् ऐक्ष्वाक (अञ्) । ऐक्ष्वाकौ । इक्ष्वाकव । प्रत्यय-सनियोग से 'उ' का लोप निपातन किया है । प्रत्यय-लुक् होने पर 'उ' अवस्थित रहेगा ।

गोत्रापत्य

अभी तक जो अपत्यार्थक प्रत्यय कहे हैं वे अनन्तरापत्य (दूसरी पीढी की सन्तान) मे विहित हुए हैं—उपगोर् अपत्यम् औपगव, उपगु का पुत्र । अब गोत्रापत्य अर्थ मे प्रत्ययो का विधान किया जाता है । तीसरी पीढी और उससे आगे की सन्तान को इस शास्त्र मे 'गोत्र' कहते हैं[1] । प्राचीन आचार्य इसे '**वृद्ध**' नाम से भी व्यवहृत करते हैं ।

युवापत्य

पिता आदि वश्य (मूल पुरुष) के जीते हुए पौत्र आदि की जो सन्तान उसे 'युवा' कहते हैं[2], गोत्र नही । मूल पुरुष के निधन के पश्चात् बडे भाई के जीते हुए छोटे भाई जो चौथी वा चौथी पीढी से आगे की सन्तान है, को भी 'युवा' कहते हैं । भाई के अतिरिक्त दूसरे समानपिण्ड वाले स्थविरतर (स्थान व वय मे बडे) पितृव्य (चचा, ताऊ), मातामह (नाना) के जीते हुए स्वय जीते हुए चतुर्थ आदि अपत्य की विकल्प से 'युवा' सज्ञा होती है ।[3] गोत्र को कई बार सम्मान के लिए युवा भी कह दिया जाता है[4] । निश्चय ही युवत्व लोक मे इष्ट है । वह प्रपौत्र आदि भाग्यवान् समझा है जिसके मूल पुरुष, पितृव्य, मातामह आदि जीवित हैं ।

---

१ अपत्य पौत्रप्रभृति गोत्रम् (४।१।१६२) ।

२ जीवति तु वश्ये युवा (४।१।१६३) । भ्रातरि च ज्यायसि (४।१।१६४) ।

३ वान्यस्मिन्सपिण्डे स्थविरतरे जीवति (४।१।१६५) ।

४ वृद्धस्य च पूजायाम् (वा०) । यह वार्तिक है पर काशिकाकार ने इसे सूत्र पाठ मे प्रक्षिप्त किया है । वार्तिक मे वृद्ध=गोत्र । यह गोत्र की सज्ञा व्याकरणान्तर मे पढ़ी है—अपत्यमन्तर्हितं वृद्धम् ।

गोत्रार्थ में प्रथमा प्रकृति से ही प्रत्यय होता है।[1] उपगोर् गोत्रापत्यम् औपगव। यहाँ जो अपत्यार्थ में प्राग्दीव्यतीय अण् विधान किया है, वही गोत्रापत्य में होता है। उपगु का अनन्तरापत्य जो 'औपगव' उससे गोत्रापत्य में इञ् नहीं। औपगवस्य गोत्रापत्यम्=औपगव। उपगु-अण्। शततम अपत्य को कहने के लिए भी प्रथमा प्रकृति उपगु से ही अण् प्रत्यय आकर 'औपगव' रूप ही होगा। ऐसा ही सर्वत्र जानो। गर्गस्यापत्य गार्गि (इञ्)। तस्यापत्य गार्ग्य (गर्ग-यञ्)। तत्पुत्रोऽपि गार्ग्य (गर्ग-यञ्)।

युवापत्य अर्थ में गोत्रप्रत्ययान्त से प्रत्यय होता है[2]—गार्ग्यस्य अपत्य युवा=गार्ग्य+फक् (=आयन)=गार्ग्यायण। यहाँ गोत्र प्रत्ययान्त गार्ग्य से प्रत्यय हुआ, परम प्रकृति गर्ग से नहीं। अनन्तरापत्य 'गार्गि' से भी नहीं। स्त्री प्रत्यय की 'युवा' संज्ञा होती ही नहीं। उसे गोत्र प्रत्यय से ही कहा जाता है—गार्ग्य। गार्गी।

कश्चित् पणी नाम (पण स्तुतिरस्यास्तीति)। तस्य गोत्रापत्य पाणिन (अण्, टिलोपाभाव)। पाणिनस्य युवापत्य पाणिनि (इञ्)।

ष्फञ्—कुञ्जादि शब्दों से गोत्रापत्य अर्थ में। यहाँ स्वार्थ में 'ञ्य' प्रत्यय भी होता है।[3] ञकार वृद्धि के लिए है। कुञ्जस्य गोत्रापत्य कौञ्जायन्य। गोत्रापत्ये कौञ्जायन्यौ। गोत्रापत्यानि—कौञ्जायनाः। बहुवचन में तद्राज प्रत्यय 'ञ्य' का लुक् हो जाता है। शङ्ख—शाङ्खायन्य। शाङ्खायन्यौ। शाङ्खायनाः।

फक्—नड आदि शब्दों से गोत्रापत्य में फक् (=आयन) होता है[4]—नडस्य गोत्रापत्य नाडायन। फक् में क् आदि वृद्धि के लिए है। चर—चारायण। वाजप्य—वाजप्यायन। द्वीप (द्वीपस्थ मुनि को द्वीप कहा है)—द्वैपायन। अमुष्य—आमुष्यायण। द्व्यामुष्यायण।[5] अग्र—आग्रायण।

---

१ एको गोत्रे (४।१।९३)।

२ गोत्राद्यून्यस्त्रियाम् (४।१।९४)।

३ गोत्रे कुञ्जादिभ्यश्च्फञ् (४।१।९८)। व्रातच्फञोरस्त्रियाम् (५।३।११३)। इससे स्वार्थ में 'ञ्य' प्रत्यय होता है।

४ नडादिभ्य फक् (४।१।९९)।

५ नियोगज सुतो बीजिन क्षेत्रिणश्चेत्युभयोरपि रिक्थी पिण्डदश्च भवति। स च द्व्यामुष्यायण इत्युच्यते।

शकट—शाकटायन । बदर—बादरायण । अनन्तरापत्य में इञ् होकर बादरि रूप होगा। अश्वल—आश्वलायन । नर—(ऋषिविशेष)—नारायण । उदुम्बर—औदुम्बरायण । मित्र—मैत्रायण । स्त्रीत्व विवक्षा में मैत्रायणी । ऋक्—आर्क्षायन ।

गोत्र मे जो यञ् और इञ् तदन्त से युवापत्य मे फक् होता है[1]—गार्ग्य (यञन्त) से गार्ग्यायण । गार्ग्यस्यापत्यं युवा । वात्स्यस्य—वात्स्यायन । दाक्षि (इञन्त)—दाक्षायण । दाक्षेर् अपत्यं युवा । दक्ष शब्द से जो अपत्यसामान्य में 'अत इञ्' से इञ् विधान किया है वही गोत्रापत्य में भी होता है, प्रत्ययान्तर का विधान न होने से। पहले कह चुके हैं कि गोत्रप्रत्ययान्त से 'युवापत्य' में प्रत्यय होता है ।

अञ्—ऋषिवाचक विद आदि शब्दों से गोत्रापत्य मे अञ् होता है[2]—विदस्य गोत्रापत्यं बैद । अनन्तरापत्य में तो बैदि (बाह्वादि इञ्) । ऋषि होने से अण् प्राप्त था, उसका अञ् अपवाद है । स्वर मे विशेष होता है । शुनक—शौनक । आपस्तम्ब—आपस्तम्ब । रथीतर—राथीतर । मठर—माठर । उपमन्यु—औपमन्यव । 'भ' संज्ञक 'उ' को गुण होकर अवादेश । कश्यप—काश्यप । कुशिक—कौशिक (गाधिसुतो विश्वामित्र) ।

यञ्—गर्गादि शब्दों से गोत्रापत्य मे यञ् होता है[3]—गर्गस्य गोत्रापत्यं गार्ग्य । वत्स—वात्स्य । व्याघ्रपात्—वैयाघ्रपद्य । (व्याकरण शास्त्र के प्रसिद्ध आचार्य का नाम) । यहाँ 'भ' संज्ञक पात् (पाद्) को 'पद्' आदेश होता है । पुलस्ति—पौलस्त्य । अग्निवेश—आग्निवेश्य । रेभ—रैभ्य । धूम—धौम्य । लोहित—लौहित्य । बभ्रु—बाभ्रव्य । मण्डु—माण्डव्य । जिगीषु—जैगीषव्य । कपि—काप्य । कत—कात्य । कण्व—काण्व्य । शकल—शाकल्य (ऋग्वेद के पद-पाठ का कर्ता ऋषि) । अगस्त्य—आगस्त्य । यहाँ यकारादि प्रत्यय परे होने पर ('भ' संज्ञक अ के लोप के पश्चात्) 'य्' का लोप होता है । कुण्डिन्—कौण्डिन्य । शाण्डिल—शाण्डिल्य । मुद्गल—मौद्गल्य । पराशर—पाराशर्य । अनन्तरापत्य में ऋषि होने से अण् होकर

---

१ यञिञोश्च (४।१।१०१) ।

२ अनृष्यानन्तर्ये विदादिभ्योऽञ् (४।१।१।१०४) ।

३ गर्गादिभ्यो यञ् (४।१।१०५) ।

'पाराशर' होगा। पराशरस्य पुत्र =पाराशर। जतूकर्ण—जातूकर्ण्य। अश्मरथ—आश्मरथ्य। उलूक—औलूक्य। दल्भ—दाल्भ्य। जमदग्नि—जमदग्नेर्गोत्रापत्यं जामदग्न्य। रामो जामदग्न्य ऐसा प्रयोग मिलता है। यहाँ यद्यपि राम (परशुराम) जमदग्नि का अनन्तरापत्य=पुत्र है तो भी उसमें गोत्रत्व का अध्यारोप करके 'जामदग्न्य' कहा गया है। इसी प्रकार भगवान् व्यास पराशर के पुत्र हैं, तो भी उन्हें पौत्र तुल्य मानकर गोत्रप्रत्ययान्त पाराशर्य शब्द से कह दिया जाता है। इस अध्यारोप में कुछ कारण होना चाहिए। हमारे विचार में भगवान् जमदग्नि तथा व्यास की वृद्धावस्था में पुत्र हुआ होगा, जिससे उसे पौत्रतुल्य माना गया और गोत्र-प्रत्यय से कहा गया।

फञ्—अश्व आदि शब्दों से फञ् होता है। जो यहाँ प्रत्ययान्त पढे हैं उन से युवापत्य में फञ् होगा[1]—अश्वस्य गोत्रापत्यम्=आश्वायन। शङ्ख—शाङ्खायन। कुत्स—कौत्सायन। आत्रेय—आत्रेयायण (आत्रेय का युवापत्य)। भरद्वाज—भारद्वाजायन। यहाँ भरद्वाज से गोत्रापत्य में फञ् हुआ है। चक्र—चाक्रायण (चक्र का गोत्रापत्य)।

गोत्रप्रत्यय का लुक्

यस्क आदि से विहित गोत्रप्रत्यय का लुक् हो जाता है जब गोत्रप्रत्ययान्त का बहुवचन में प्रयोग करना हो[2]। इस शास्त्र में गोत्रप्रत्यय विधायक सूत्रों को छोड़कर अन्यत्र सर्वत्र गोत्र शब्द से अपत्य मात्र का ग्रहण होता है। यस्क, लभ्य, दुह्य, अय स्थूण, तृणकर्ण—ये शिवादिगण में पढे हैं। इनसे अपत्य अर्थ में अण् होता है। यस्कस्यापत्यं यास्क। बहुवचन में यस्का (अण् का लुक्)। स्त्रीलिङ्ग में लुक् नहीं होता—यास्की, यास्क्यौ, यास्क्यः। बस्ति, भजबस्ति, मित्रयु—इनसे गृष्ट्यादिगण पठित होने से अपत्यार्थ में विहित ढञ् का लुक् होता है—बास्तेय। बस्तय। भाजबस्तेय। भजबस्तय। मैत्रेय। मित्रयव। बाह्वादिगण में 'पुष्करसद्' पढा है उससे विहित इञ् का लुक् होता है—पौष्करसादि। पुष्करसद।

गोत्र में विहित यञ् और अञ् का बहुवचन में लुक् हो जाता है[3]—

१ अश्वादिभ्य फञ् (४।१।११०)।
२. यस्कादिभ्यो गोत्रे (२।४।६३)।
३ यञञोश्च (२।४।६४)।

गार्ग्य । गर्गा । वात्स्य । वत्सा । विद—वैद । बिदा । प्रियगार्ग्या —यहाँ 'प्रियगार्ग्य' का बहुत्व कहा है, केवल प्रत्ययान्त गार्ग्य का नहीं सो लुक् नहीं हुआ ।

षष्ठी तत्पुरुष समास में पूर्वपद यञन्त अञन्त के प्रत्ययों यञ्, अञ् का एकवचन और द्विवचन में भी विकल्प से लुक् होता है[1]—गार्ग्यस्य कुलं गर्गकुल, गार्ग्यकुलम् । गार्ग्ययो कुल गर्गकुल गार्ग्यकुलम् ।

अत्रि, भृगु, कुत्स, वसिष्ठ, गोतम, अङ्गिरस्—इनसे विहित गोत्रप्रत्यय का बहुवचन में लुक् हो जाता है[2]—अत्रि—आत्रेय । अत्रय । (ढक् का लुक्) । भृगु—भार्गव । भृगव । कुत्स—कौत्स । कुत्सा । वसिष्ठ—वासिष्ठ । वसिष्ठा । गोतम—गौतम । गोतमा । अङ्गिरस्—आङ्गिरस । अङ्गिरस । 'भार्गव' आदि में ऋषि होने से अण् हुआ है । स्त्रीलिङ्ग में लुक् नहीं होता—आत्रेयी । आत्रेय्यौ । आत्रेय्य ।

आगस्त्य (अणन्त) तथा कौण्डिन्य (यञन्त) के बहुवचन में प्रयोग चिकीर्षित होने पर गोत्र में विहित अण् तथा यञ् का लुक् हो जाता है और लुक् होने पर परिशिष्ट प्रकृति भाग के स्थान में 'अगस्ति' तथा कुण्डिन आदेश हो जाते हैं[3]—आगस्त्य । अगस्तय । कौण्डिन्य । कुण्डिना ।

युव प्रत्यय का लुक्

ण्य प्रत्ययान्त, क्षत्रियगोत्र प्रत्ययान्त, ऋषि अपत्य में विहित जो अण् तदन्त तथा जित्प्रत्ययान्त से परे युवापत्य अर्थ में विहित जो अण् व इञ् उनका लुक् हो जाता है[4]—कुरोर् गोत्रापत्य कौरव्य । ण्य । यहाँ कुरु ब्राह्मण है । कौरव्यस्यापत्य युवा—कौरव्य । यहाँ अत इञ् (४।१।९५) से प्राप्त इञ् प्रत्यय का लुक् हुआ है । कौरव्य पिता । कौरव्य पुत्र । क्षत्रिय गोत्र—श्वफल्क क्षत्रिय जाति है । उसमे श्वफल्क नाम के व्यक्ति का अपत्य इस अर्थ मे अण् होकर 'श्वाफल्क' हुआ । 'उसका युवापत्य' इस अर्थ

---

१ यञादीनामेकद्वयो र्वा तत्पुरुषे षष्ठ्या उपसंख्यानम् (वा०) ।
२ अत्रि-भृगु-कुत्स-वसिष्ठ गोतमाऽङ्गिरोभ्यश्च (२।४।६५) ।
३ आगस्त्य-कौण्डिन्ययोरगस्तिकुण्डिनच् (२।४।७०) ।
४ ण्य-क्षत्रियार्षञितो यूनि लुगणिञो (२।४।५८) ।

मे इञ् प्राप्त हुआ, उस का लुक् होने से 'श्वाफलक' रूप ही रहा। ऋषि अण् से परे इञ् का लुक्—वासिष्ठ पिता। वासिष्ठ पुत्र। अण् का लुक्—तिकस्यापत्य तैकायनि (फिञ्)। तस्यापत्य युवा=तैकायनि। प्राग्दीव्यतीय अण् प्राप्त हुआ था, उसका लुक् हो गया।

पैल आदि शब्दो से युवप्रत्यय का लुक् होता है।[1] पीलाया गोत्रापत्य पैल। अण्। द्व्यच्क होने से युवापत्य अर्थ मे फिञ् प्राप्त हुआ उसका लुक् हो जाता है। पैल पिता। पैल पुत्र। शालङ्कि, सात्यकि, सात्यकामि, राणायनि आदि इञन्त पढे हैं उनसे फक् प्राप्त था उसका लुक् हो जाता है। शलङ्कुस्य गोत्रापत्य शालङ्कि (बाह्वादि इञ्) तस्यापत्य शालङ्कि। एव सात्यकि पिता। सात्यकि पुत्र। सात्यकामि पिता। सात्यकामि पुत्र। राणायनि पिता। राणायनि पुत्र।

पर ताल्वलि आदि इञन्त शब्दो से युवापत्य मे उत्पन्न हुए फक् का लुक् नही होता[2]—तल्वलस्य गोत्रापत्य ताल्वलि। तस्यापत्य युवा ताल्वलायन। रावणि पिता। रावणायन पुत्र। प्रावाहणि पिता। प्रावाहणायन पुत्र।

यहाँ अपत्यार्थ तद्धित समाप्त हुए।

रक्ताद्यर्थक तद्धित

अण्—'राग (=रग) से रगा गया' इस अर्थ मे रग विशेषवाची तृतीयान्त पद से प्राग्दीव्यतीय अण् होता है[3]—कषायेण रक्त वस्त्र काषायम्। लाल रग से रग हुआ। न काषायैर्भवेद्यति, गेरुए वस्त्र धारण करने से (ही) यति नही बन जाता। मञ्जिष्ठया रक्त माञ्जिष्ठ वास, मजीठ से रगा हुआ कपडा। मौर्वी मेखलया नियन्त्रितमधोवासश्च माञ्जिष्ठिकम् (उ० रा० च० ४।२०)। यहाँ 'माञ्जिष्ठिक' मे ठक् प्रत्यय का प्रयोग कवि की निरकुशता का निदर्शन मात्र है।

ठक्—लाक्षया रक्त लाक्षिकम्, लाख से रगा हुआ। रोचनया (=गोरचनया) रक्त रौचनिकम्[4]।

---

१ पैलादिभ्यश्च (२।४।५९)।
२ न ताल्वलिभ्य (२।४।६१)।
३ तेन रक्त रागात् (४।२।१)।
४ लाक्षारोचनाट्ठक् (४।२।२)।

शकल तथा कर्दम से भी ठक् वार्तिककार मानते हैं[1]—शक्लेन रक्त यतिवास, शाक्लिकम्, वृक्ष छाल से रगा हुआ यति का वस्त्र। कर्दमेन पङ्केन रक्त (उपरक्तो, लिप्त) ग्राप्रपदीन पट कार्दमिक। वृत्ति के अनुसार शक्ल, व कर्दम से अण् भी होता है[2]—शाक्लम्। कार्दमम्।

अन्—नीली (नील)। नील्या रक्त नीलम्।[3]

कन्—पीतेन रक्त पीतकम्।[4] प्रयोग प्राय बिना 'कन्' के मिलता है।

अञ्—हरिद्रा=हल्दी। हरिद्रया रक्त हारिद्रम्। महारजनम्=हल्दी। महारजनेन रक्त माहारजनम्[5]। हारिद्रौ कुक्कुटस्य पादौ। काषायौ गर्दभस्य कर्णौ—यहाँ रग से रगा हुआ न होने से प्रत्यय की प्राप्ति नहीं, अत हारिद्राविव हारिद्रौ, काषायाविव काषायौ ऐसे औपम्य का आश्रयण करके प्रयोग साधु होता है।

अण्—नक्षत्र समीपवर्ती चन्द्रमा से युक्त जो काल उसे कहने के लिए तृतीयान्त नक्षत्रवाची शब्द से यथाविहित (अण्) प्रत्यय होता है[6]—पुष्येण युक्त पौषमह। पौषी रात्रि। तिष्येण युक्त तैषमह। तैषी रात्रि। पौषम्=पुष्यनक्षत्रयुक्तचन्द्रेण युक्तमित्यर्थ। पुष्य और तिष्य के 'य' का नक्षत्र-विषयक अण् परे होने पर लोप हो जाता है[7]—पौषम्। तैषम्। अवान्तर-विभाग=दिन अथवा रात के भेद की प्रतीति न होने पर सामान्यरूप से काल का बोध कराने मे प्रत्यय का लुप् होता है।[8] लुप् होने पर प्रकृति के व्यक्ति, वचन (लिङ्ग, सख्या) होते हैं—अद्य पुष्य। अद्य तिष्य। अद्य कृत्तिका। मूलेनावाहयेद् देवीं श्रवणेन विसर्जयेत्। यहाँ मूल, तथा श्रवण से प्रत्यय का लुप् हुआ है।

---

१ शक्ल-कर्दमाभ्या चेति वक्तव्यम्।
२ शक्ल-कर्दमाभ्यामणपीष्यते (वृत्ति)।
३ नील्या अन् वक्तव्य (वा०)।
४ पीतात् कन् वक्तव्य। (वा०)।
५ हरिद्रा-महारजनाभ्यामञ्वक्तव्य (वा०)।
६ नक्षत्रेण युक्त काल (४।२।३)।
७ तिष्य-पुष्ययोर्नक्षत्राणि यलोप इति वाच्यम् (वा०)।
८ लुबविशेषे (४।२।४)।

सज्ञाविषय मे श्रवण, अश्वत्थ से प्रत्यय का लुप्—**श्रवणनक्षत्रयुक्तेन चन्द्रेण युक्ता श्रवणा रात्रि**[1]। यहाँ विशेष काल-विभाग के वाच्य होने पर भी लुप् का विधान किया है। पर युक्तवद्भाव नही हुआ, किन्तु अभिधेय (वाच्य) अर्थ रात्रि के अनुसार 'श्रवण' का लिंग हुआ। इसी प्रकार **अश्वत्थो मुहूर्त**, यहाँ भी लुप् विभाग-विशेष मे ही हुआ है।

छ—नक्षत्र-द्वन्द्व से छ प्रत्यय होता है[2]—चाहे दिन रात्रि-रूप काल-विशेष वाच्य हो चाहे कालसामान्य—**तिष्यपुनर्वसवीयमहः**। तिष्यश्च पुनर्वसू (द्विवचन) च=तिष्यपुनर्वसू। ताभ्या युक्तेन चन्द्रेण युक्तमहः। तिष्यपुनर्वसू मे न्यायप्राप्त बहुवचन (तिष्यपुनर्वसव) के स्थान मे तिष्यपुनर्वस्वोर्नक्षत्र० (१।२।६३) से द्विवचन हुआ है। राधा चानुराधा च=राधानुराधे। ताभ्या युक्तेन चन्द्रमसा युक्ता रात्रि=राधानुराधीया। काल सामान्य मे—**अद्य तिष्यपुनर्वसवीयम्**।

अण—'उस ने साम देखा' इस अर्थ मे तृतीयान्त पद से यथाविहित (अण्) प्रत्यय होता है[3]—वसिष्ठेन दृष्ट साम वासिष्ठम्। विश्वामित्रेण **दृष्ट साम वैश्वामित्रम्**।

ढक्—कलि से उपर्युक्त अर्थ मे[4]—कलिना दृष्ट साम=कालेयम्। वार्तिककार के अनुसार अग्नि तथा कलि शब्दो से सभी प्राग्दीव्यतीय अर्थों मे ढक् (एय) होता है[5]—कलिना दृष्ट साम कालेयम्। अग्निना दृष्ट साम आग्नेयम्। अग्नौ भवमाग्नेयम्। अग्नेरागतम् आग्नेयम्। अग्ने स्वम् आग्नेयम्। अग्निर्देवताऽस्येत्याग्नेयम्। इसी प्रकार 'कलि' से प्रत्ययविधि जानें।

यहाँ भाष्य मे एक सग्रह श्लोक पढा है—

> दृष्टे सामनि जाते च द्विरण् डिद्वा विधीयते।
> तीयादीकक् न विद्याया गोत्रादङ्कवद् इष्यते॥

इस का अर्थ यह है—'तेन दृष्ट साम' इस अर्थ मे विहित अण् विकल्प से डित् होता है—उशनसा दृष्ट साम=औशनसम्। औशनम्। प्रत्यय के

१ सज्ञाया श्रवणाश्वत्थाभ्याम् (४।२।५)।
२ द्वन्द्वाच्छ (४।२।६)।
३ दृष्ट साम (४।२।७)।
४ कलेर्ढक् (४।२।८)।
५ सर्वत्राग्निकलिभ्या ढग् वक्तव्य (वा०)।

डित् होने से भ-सञ्ज्ञक 'उशनस्' की 'टि' का लोप हुआ। 'तत्र जात' इस अर्थ में जो प्राग्दीव्यतीय अण् बाधित होकर दुबारा विधान किया जाता है वह भी विकल्प से डित् होता है। इस अर्थ में विहित अण् को काल से विहित ठञ् बाध लेता है। इस ठञ् को सन्धि-वेलादि सूत्र से नक्षत्रवाची से विहित अण् बाध लेता है। सो यह अण् विकल्प से डित् होता है—शत-भिषजि नक्षत्रे जात शातभिष। शातभिषज। तीय प्रत्ययान्त से ईकक् स्वार्थ में विकल्प से होता है—द्वितीय। द्वैतीयीक। तृतीय। तार्तीयीक। यदि विद्या अभिधेय हो ईकक् नहीं होता—द्वितीया विद्या। तृतीया विद्या। गोत्रप्रत्ययान्त से जो जो प्रत्यय अङ्क अर्थ में होते हैं वे वे 'तेन दृष्टं साम' इस अर्थ में भी होते हैं—औपगव गोत्रप्रत्ययान्त है। इससे गोत्रचरणाद् वुञ् (४।३।१२६) से 'तस्येदम्' अर्थ में वुञ् होता है—औपगवस्यायम् अङ्कः = औपगवक। इसी प्रकार औपगवेन दृष्टं साम औपगवकम्। यहाँ भी वुञ् हुआ।

ड्यत्, ड्य—वामदेवेन दृष्टं साम वामदेव्यम्[1]। ड्यत् (तित् होने से) स्वरित है।

अण्—'उससे ढाँपा गया' इस अर्थ में तृतीयान्त पद से यथाविहित अण् होता है यदि जो ढाँपा गया है वह रथ हो[2]—वस्त्रेण परिवृतो रथ = वास्त्र। कम्बलेन परिवृत = काम्बल। चर्मणा परिवृत = चार्मण। 'अन्' से प्रकृति भाव। परिवृत = समन्तात् वेष्टित।

इनि—पाण्डुकम्बलेन परिवृतो रथ पाण्डुकम्बली[3]। अण् के बाधन के लिए इनि का विधान किया है, अन्यथा मत्वर्थीय इनि से रूपसिद्धि हो जाती। वृत्ति के अनुसार राजास्तरण (शाही आच्छादन) पाण्डुवर्ण कम्बल को पाण्डु-कम्बल कहते हैं।

अञ्—द्वीपी के चर्म से अथवा व्याघ्र के चर्म से ढके हुए रथ को कहने के लिए द्वैप, वैयाघ्र से अञ् होता है[4]—द्वैपेन द्वीपिचर्मणा परिवृतो रथ =

---

१ वामदेवाड् ड्यड्ड्यौ (४।२।९)।
२ परिवृतो रथ (४।२।१०)।
३ पाण्डुकम्बलादिनि (४।२।११)।
४ द्वैप-वैयाघ्रादञ् (४।२।१२)।

द्वैप । वैयाघ्र । द्वीपिनोऽवयव = द्वैप । व्याघ्रस्यावयव = वैयाघ्र । प्राणि-रजतादिभ्योऽञ् (४।३।१५४) से अञ् ।

अण्—'कौमार' यह स्त्री को अपूर्वता के विषय में अण् प्रत्ययान्त निपातन किया है ।[1] अपूर्वपति कुमारीं पतिरुपपन्न कौमार पति । ऐसा पति जिसने ऐसी स्त्री का पाणिग्रहण किया जिसका पहले पाणिग्रहण नहीं हुआ । कुमार्या अय पतिरिति कौमार । तस्येदम् अर्थ मे अण् । अपूर्वपति कुमारी पतिमुपपन्ना=कौमारी भार्या । स्वार्थ मे अण् । स्वय तु भार्या कौमारीं चिरमध्युषिता सतीम् (रा० २।३०।८) । कौमार शब्द के प्रयोग विषय में यह समझना चाहिए कि कुमारी अपूर्वपतिका (जिसका पहला पति कोई नहीं) होनी चाहिए, पुरुष चाहे अपूर्वभार्य (जिसकी पहली परिणीता स्त्री कोई नहीं) हो चाहे न हो ।

कौमारापूर्ववचने कुमार्या अण् विधीयते ।
अपूर्वत्व यदा तस्या. कुमार्या भवतीति वा ।।

यहाँ चतुर्थ चरण में सूत्र का प्रत्याख्यान पक्ष रखा है । सूत्र मत आरम्भ किया जाए, कुमार्या भव कौमारः पति । शैषिक अण् । तस्य कौमारस्य भार्या कौमारी । पुयोगलक्षण ङीष् । जिस कुमारी को प्राप्त करके पति 'कौमार' कहलाया, वही कौमारी भार्या होगी, न कि दूसरी कोई और, अत अतिप्रसङ्ग नहीं होगा ।

जिनमें पात्रान्तर से निकालकर रखा जाता है उन पात्रों के वाचक शब्दों से यथाविहित (अण्) प्रत्यय होता है ।[2] सूत्र में उद्धृतम् का अर्थ है उद्धृत्य निहितम् । अमत्र (नपु) पात्र का नाम है । शरावेषूद्धृत शाराव, भुक्तो-च्छिष्ट भात जो थाली आदि से निकालकर छोटी छिछली थाली, तश्तरी मे रखा गया है । खर्परेषूद्धृत कार्परम् ।

अण्—स्थण्डिल शब्द से शयिता (सोने वाला) अर्थ मे यथाविहित (अण्) प्रत्यय होता है जब प्रत्ययान्त से व्रत=शास्त्रीय नियम की प्रतीति हो[3]—स्थण्डिले (अनावृतभूमौ) शयितु व्रतमस्येति स्थाण्डिलो भिक्षु । स्थाण्डिलो ब्रह्मचारी ।

---

१ कौमारापूर्ववचने (४।२।१३) ।
२ तत्रोद्धृतममत्रेभ्य (४।२।१४) ।
३ स्थण्डिलाच्छयितरि व्रते (४।२।१५) ।

अण्—भ्राष्ट्रे संस्कृता पाचिता अपूपा भ्राष्ट्राः।[1] कलशे संस्कृता कालशा। सूत्र में उपात्त 'भक्ष' शब्द का खर (कठिन) तथा विशद (विभक्त, विभक्तावयव) अभ्यवहार्य (भोजन) अर्थ है। दन्तैर्भक्ष्यं भक्षमाहुः। 'भक्ष' वह भोजन है जो दाँतों से चबाकर खाया जाता है।

यत्—शूले संस्कृतं मांसं शूल्यम्।[2] उखायां संस्कृतं मांसम् उख्यम्।[2]

ठक्—दधनि संस्कृतं (लवणादिना) दाधिकम्।[3]

उदश्विति संस्कृतम् औदश्वित्कम्। औदश्वितम्।[4] यथाप्राप्त अण्। उदकेन श्वयति वर्धते इत्युदश्वित्। तक्रमुदश्विन्मथितं पादाम्ब्वर्धाम्बु निर्जलम् (अमर)। उदश्वित् लस्सी को कहते हैं, मथा हुआ दही जिसमें आधा पानी हो और आधा दही। उदश्वित् तान्त है, अतः ठक् को 'क' आदेश हुआ। इस्, उस्, उक्, त् अन्तवाले प्रातिपदिक से ठक् को 'क' आदेश होता है। इसुसुक्तान्तात्कः (७।३।५१)। इस्,उस् प्रतिपदोक्त प्रत्यय लिए जाते हैं न कि लाक्षणिक, लक्षण,सूत्र)से निष्पन्न। अतः आशिषा चरति–आशिषिक। उषा चरति —औषिक। यहाँ 'क' आदेश नहीं हुआ, 'इक' ही हुआ है। 'उषा' यह क्विबन्त वस् को सम्प्रसारण होकर तृतीयान्त पद है। आशिस्—यह भी क्विबन्त है। शास् के 'आ' को 'इ' आदेश होने से 'इस्' शब्द निष्पन्न हुआ है।

दोस् (बाहु) से ठक् को 'क' आदेश होता है जो अप्राप्त था[5]—दौष्मी चरति दौष्क।

ढञ्—क्षीरे संस्कृता क्षैरेयी यवागूः।[6]

अण्—पौर्णमासी-विशेषवाची प्रथमान्त पद से सप्तम्यर्थ में यथाविहित (अण्) प्रत्यय होता है यदि प्रकृति-प्रत्यय-समुदाय संज्ञा हो[7]—मास, अर्धमास तथा संवत्सर की यह संज्ञा होती है। पौषी पौर्णमासी अस्मिन्निति पौषो मासः। पौषोऽर्धमासः। पौषः संवत्सरः। 'पौर्णमासी' शब्द की इस तरह व्युत्पत्ति

१ संस्कृतं भक्षाः (४।२।१६)।
२ शूलोखाद्यत् (४।२।१७)।
३ दध्नष्ठक् (४।२।१८)।
४ उदश्वितोऽन्यतरस्याम् (४।२।१९)।
५ क्षीराड् ढञ् (४।२।२०)।
६ दोष उपसंख्यानम् (वा०)।
७ साऽस्मिन्पौर्णमासीति (४।२।२१)।

की जाती है—पूर्णमासादण् । पौर्णमासी । अथवा पूर्णो मा पूर्णमा, पूर्णमास इव पौर्णमासी । मास् नाम चन्द्रमा का है ।

ठक्—आग्रहायणी पौर्णमासी अस्मिन् मासे आग्रहायणिक । अग्रेहायनमस्या इत्याग्रहायणी । प्रज्ञादि होने से स्वार्थ में अण् । पूर्वपदात् सज्ञायामग (८।४।३) से णत्व । अश्वत्थेन नक्षत्रेण युक्ता पौर्णमासी अश्वत्थ । निपातन से पौर्णमासी अभिधेय होने पर प्रत्यय का लुप् । लुप् होने पर युक्तवद्भाव । **अश्वत्थ पौर्णमासी अस्मिन्मासे आश्वत्थिक** [1] ।

ठक्, अण्—फाल्गुनी, श्रवणा, कार्तिकी, चैत्री—इन पौर्णमासी विशेषवाची प्रातिपदिकों से विकल्प से ठक् होता है, पक्ष में अण्[2]—**फाल्गुनी अस्मिन्मासे फाल्गुनिको मास** । फाल्गुनो मास । श्रावणिको मास । श्रावणो मास । श्रवणा—यहाँ पौर्णमासी वाच्य होने पर भी नक्षत्राण् का लुप् हुआ है, पर निपातन से युक्तवद्भाव नहीं हुआ । कार्तिकी—**कार्तिकको मास** । कार्तिको मास । चैत्री—चैत्रिको मास । चैत्रो मास ।

अण्-आदि—प्रथमान्त देवता-विशेषवाची पद से 'यह इसका देवता है' इस अर्थ में यथा-विहित अण् आदि प्रत्यय होते है ।[3] याग में हवि जिसे दी जाती है, जो पुरोडाश आदि का स्वामी है वह 'देवता' शब्द से लिया जाता है । **इन्द्रो देवताऽस्य हविष =ऐन्द्र हवि** । अण् । **बार्हस्पत्यम्** । **प्राजापत्यम्** । ण्य । उपचार से मन्त्र-स्तुत्य (जिसकी मन्त्र में स्तुति है) को 'देवता' कहा जाता है । अत ऐन्द्रो मन्त्र ऐसा प्रयोग होता है । आग्नेयो वै ब्राह्मणो देवतया, इत्यादि स्थलों में उपमानाश्रित प्रयोग जानना चाहिए—आग्नेय इवाग्नेय ।

अण्—'क' (=ब्रह्मा) के 'अ' को 'इ' आदेश होता है प्रत्यय-सनियोग से । यथाविहित अण् प्रत्यय होता है[4]—**कस्येद हवि कायम्** । आदि वृद्धि ।

घन्—शुक्रो देवताऽस्य हविष शुक्रिय हवि ।[5]

---

१ आग्रहायण्यश्वत्थाट्ठक् (४।२।२२) ।
२ विभाषा फाल्गुनी-श्रवणा-कार्तिकी-चैत्रीभ्य (४।२।२३) ।
३ साऽस्य देवता (४।२।२४) ।
४ कस्येत् (४।२।२५) ।
५ शुक्राद् घन् (४।२।२६) ।

घन्, छ—शतं रुद्रा देवताऽस्य यागस्य शतरुद्रियो यागः । शतरुद्रीयः ।[1] विधान सामर्थ्य से यहाँ द्विगोर्लुगनपत्ये (४।१।८८) । से प्रत्यय का लुक् नहीं होता ।

घ, अण्, छ—महेन्द्रो देवताऽस्य हविषः =महेन्द्रियं हविः । माहेन्द्रम् । (अण्) । महेन्द्रीयम् ।[2]

टयण्—सोमो देवताऽस्य सौम्योमन्त्रः[3] । सौमी ऋक् । ङीप् परे होने पर तद्धित 'य्' का लोप । हलस्तद्धितस्य (६।४।१५०) ।

यत्—वायु, ऋतु, पितृ, उषस् से यत्[4]—वायुर्देवताऽस्य वायव्यः । वायव्यं श्वेतमालभेत । गुण, वान्तादेश । ऋतु—ऋतव्यम् । पितरो देवताऽस्य हविषः पित्र्यं हविः । अकारादि यत् परे होने पर 'पितृ' के 'ऋ' को री (इ)[5] । 'भ' संज्ञा होने से इस 'ई' का लोप । उषा देवताऽस्य—उषस्यम् । 'भ' संज्ञा होने से रुत्व नहीं हुआ ।

छ, यत्—द्यावापृथिवी, शुनासीर, मरुत्वत्, अग्नीषोम, वास्तोष्पति, गृहमेध—इनसे छ तथा यत्[6]—द्यौश्च पृथिवी च द्यावापृथिव्यौ । दिव् के स्थान में 'द्यावा' आदेश होता है । द्यावापृथिव्यौ देवते अस्य द्यावापृथिवीयम् । द्यावापृथिव्यम् । शुनो वायुः । सीरश्चादित्यः । देवताद्वन्द्वे च (६।३।२६) से पूर्वपद को आनङ् (आन्) म तादेश होता है । पदान्त 'न्' का लोप हो जाता है । शुनासीरौ देवते अस्येति शुनासीरीयम् । शुनासीर्यम् । मरुत्वत्—मरुत्वतीयम् । मरुत्वत्यम् । अग्निश्च सोमश्च=अग्नीषोमौ । अग्नीषोमौ देवते अस्य अग्नीषोमीयम् । अग्नीषोम्यम् । अग्नीषोमीयाऽनड्वाही । वास्तुन =वेश्मभुव (गृहभूमे) पतिः=वास्तोष्पतिः । सूत्र में निपातन से साधु है । वास्तोष्पतीयम् । वास्तोष्पत्यम् । ण्य का अपवाद । गृहमेध—गृहमेधीयम् । गृहमेध्यम् । अण् का अपवाद ।

---

१ शतरुद्राच्छश्च घश्च (वा०) ।
२ महेन्द्राद् घाणौ च (४।२।२६) ।
३ सोमाट् ट्यण् (४।२।३०) ।
४ वाय्वृतुपित्रुषसो यत् (४।२।३१) ।
५ रीङ् ऋतः (७।४।२७) ।
६ द्यावापृथिवी-शुनासीर मरुत्वद्-अग्नीषोम-वास्तोष्पति गृहमेधाच्छ च (४।२।३२) ।

ढक्—अग्निर्देवताऽस्य आग्नेय पुरोडाश । आग्नेयो मन्त्र ।[1]

पितृव्य, मातुल, मातामह, पितामह—ये यथोच्चारित साधु हैं ।[2] पितुर्भ्राता=पितृव्य । मातुर्भ्राता=मातुल । मातु पिता=मातामह । पितु पिता=पितामह ।

'उसका समूह' इस अर्थ मे षष्ठयन्त से यथाविहित (अण्) प्रत्यय होता है[3]—काकाना समूह =काकम् । बकाना समूहो बाकम् । काक, बक शब्द आद्युदात्त हैं ।

ग्रामच्—'गुण' आदि शब्दो से 'उसका समूह' अर्थ मे ग्रामच् (ग्राम) प्रत्यय होता है[4]—गुणाना समूह =गुणग्राम । करणम्=इन्द्रियम् । करणग्राम । तत्त्वग्राम । इन्द्रियग्राम । गुणादि आकृतिगण है ।

अण्—भिक्षा आदि शब्दो से अण्[5]—भिक्षाणा समूह =भैक्षम् । गर्भिणीनां समूह =गार्भिणम् । भस्याढे तद्धिते (वा०) से भ-सञ्ज्ञक को पुवद्भाव होता है । भिक्षादि गण मे 'युवति' शब्द पढा है । उसे पुवद्भाव नही होता । यदि वह इष्ट होता तो 'युवन्' शब्द ही पढ देते । युवतीना समूह =यौवतम् । यह वृत्ति के अनुसार है । भट्टोजि दीक्षित तो पुवद्भाव मानते हैं । 'अन्' से प्रकृति भाव होने पर 'यौवनम्' यह रूप होगा । अमर तो वृत्ति के अनुसार पुवद्भाव नही मानता है—गार्भिण यौवत गणे । पदाति—पदातीना समूह पादातम् । करीषाणा (शुष्कगोमयाना) समूह =कारीषम् । समूह नाम का पदार्थ न तो पुमान् है और न स्त्री, अत पारिशेष्य से नपु० लिङ्ग है । अत समूहवाची अणादि प्रत्ययान्त नपु० मे प्रयुक्त होते हैं ।

वुञ्—गोत्र प्रत्ययान्त (=अपत्यमात्र प्रत्ययान्त), उक्षन्, उष्ट्र, उरभ्र, राजन् राजन्य, राजपुत्र, वत्स, मनुष्य, अज—से समूह अर्थ मे वुञ्[6]—औपगवाना समूह =औपगवकम् । उक्षन्—उक्ष्णा समूह =औक्षकम् ।

---

१ अग्नेर्ढक् (४।२।३३) ।

२ पितृव्य-मातुल-मातामह-पितामहा (४।२।३६) ।

३ तस्य समूह (४।२।३७) ।

४ गुणादिभ्यो ग्रामच् वक्तव्य (वा०) ।

५ भिक्षादिभ्योऽण् (४।२।३८) ।

६ गोत्रोक्षोष्ट्रोरभ्र-राज-राजन्य-राजपुत्र-वत्स-मनुष्याजाद् वुञ् (४।२।३९) ।

उक्षन्=बैल । उष्ट्र=औष्ट्रकम् । उरभ्र (भेड़)—औरभ्रकम् । राजन्—राज्ञां समूह=राजकम् । नस्तद्धिते (६।३।१४४) से टिलोप । राजन्य—राजन्यानां समूह=राजन्यकम् । यहाँ आपत्य यत् का लोप नहीं हुआ कारण कि 'प्रकृत्याऽके राजन्य मनुष्य-युवानः' इस वार्तिक से वुञ् (अक) प्रत्यय परे रहते प्रकृति-भाव होता है । राजपुत्राणां समूह=राजपुत्रकम् । वत्स=वात्सकम् । मनुष्य—मानुष्यकम् । यहाँ भी आपत्य 'यत्' का लोप नहीं हुआ । अज=आजकम् ।

'वृद्ध' से भी समूह अर्थ में वुञ्—वृद्धानां समूहो वार्धकम् ।[1]

यञ्, वुञ्, ठञ्—केदार=खेत । केदाराणां समूह कैदार्यम् (यञ्) । कैदारकम् (वुञ्) । अगले सूत्र से ठञ् को पीछे खींचकर इस सूत्र के साथ जोड़ने से ठञ् भी होता है—कैदारिकम्[2] ।

यञ्—'गणिका' से यञ् होता है[3]—गणिकानां समूहो गाणिक्यम् । आदि वृद्धि ।

ठञ्—कवचिनां समूह=कावचिकम्[4] । 'नस्तद्धिते' से टि=इन् का लोप ।

यन्—ब्राह्मणानां समूह=ब्राह्मण्यम् । माणवानां समूह=माणव्यम् । वाडवानां समूह=वाडव्यम् ।[5] वाडव=ब्राह्मण । वाडव अग्नि (समुद्रानल) की तरह अतृप्त होने से ब्राह्मण को 'वाडव' कहा है ।

ख—अहन् शब्द से समूह अर्थ में क्रतुवाच्य होने पर ख[6]—अह्नां समूहोऽहीनः क्रतुः । अहर्गण-साध्य-सुत्याकः क्रतुर् अहीनः, वह क्रतु (सोमयाग) जिसमें सोमसवन कई दिनों में सिद्ध होता है ।

णस्—पर्शु (पसली) । पर्शूनां समूह पार्श्वम् ।[7] प्रत्यय के णित् होने

---

१ वृद्धाच्चेति वक्तव्यम् (वा०) ।
२ केदाराद्यञ्च (४।२।४०) ।
३ गणिकायाश्च यञ् वक्तव्यः (वा०) ।
४ ठञ् कवचिनश्च (४।२।४१) ।
५ ब्राह्मण माणव वाडवाद् यन् (४।२।४२) ।
६ अह्नः खः क्रतौ (वा०) ।
७ पर्श्वा णस् वक्तव्यः (वा०) ।

पूर्व की पद-संज्ञा होने से ओर्गुण की प्रवृत्ति न हो सकी। यण्। आदि वृद्धि।

ऊल—वातानां समूहः=वातूलः।[१]

तल्—ग्राम, जन, बन्धु से[२]—ग्रामाणां समूहः=ग्रामता। जनानां समूहो जनता। बन्धूनां समूहो बन्धुता। तलन्त स्त्रियाम्। तल्प्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्ग होता है।

वार्त्तिककार के अनुसार 'सहाय' शब्द से भी तल् होता है[३]—सहायानां समूहः सहायता, साथियों का समूह। 'गज' शब्द से भी[४]—गजानां समूहो गजता।

अञ्—अनुदात्तादि प्रातिपदिक से समूह अर्थ में अञ्[५]—कपोतानां समूहः कापोतम्। मयूराणां समूहो मायूरम्। तित्तिरीणां समूहस्तैत्तिरम्।

'खण्डिका' इत्यादि शब्दों में अञ्[६]—खण्डिकानां समूहो खाण्डिकम्। खण्डिका=मटर का भोजन। वडवा=घोड़ी। वडवानां समूहः वाडवम्। भिक्षुकाणां समूहः—भैक्षुकम्। उलूकानां समूहः=औलूकम्। क्षुद्रकमालवानां सेना=क्षौद्रकमालवी। अन्यत्र गोत्रलक्षण वुञ् होगा—क्षौद्रकमालवकम्।

वुञ् आदि—चरणवाची कठ, कालाप आदि से समूहार्थ में वे—वे प्रत्यय होते हैं जो-जो धर्म (व आम्नाय) अर्थ में होते हैं[७]—कठानां धर्मः काठकम्। कालापानां धर्मः कालापकम्। गोत्रचरणाद् वुञ्। छन्दोगानां धर्मः=छान्दोग्यम्। औक्थिकानां धर्मः=औक्थिक्यम्। ञ्य। आथर्वणिकानां धर्मः=आथर्वणम्। अण्। इक लोप। इसी प्रकार समूह में भी—काठकम्। कालापकम्। छान्दोग्यम्। औक्थिक्यम्। आथर्वणम्।

ठक्—अचेतन पदार्थवाची प्रातिपदिक से, हस्तिन् तथा धेनु से ठक्[८]—

---

१ वाताद्‌ूलः (वा०)।
२ ग्राम-जन-बन्धुभ्यस्तल् (४।२।४३)।
३ सहायाच्चेति वक्तव्यम् (वा०)।
४ गजाच्चेति वक्तव्यम् (वा०)।
५ अनुदात्तादेरञ् (४।२।४४)।
६ खण्डिकादिभ्यश्च (४।२।४५)।
७ चरणेभ्यो धर्मवत् (४।२।४६)।
८ अचित्त-हस्ति-धेनोष्ठक् (४।२।४७)।

अपूपानां समूहः आपूपिकम्। शष्कुलीनां समूहः=शाष्कुलिकम्। शष्कुलि=कचौड़ी। हस्तिनां समूहः=हास्तिकम्। टिलोप। धेनूनां समूहः=धैनुकम्। उगन्त होने से ठक् को 'क' आदेश।

नञ्-पूर्वक धेनु से ठक् नहीं होता।[1] उत्सादि गण (४।१।८६) में पाठ के कारण अञ् होता है—आधेनवम्। उत्सादि गण में धेनु शब्द पढ़ा है। पर उत्सादियों में तदन्त विधि होती है यह ज्ञापक सिद्ध है ऐसा हम अपत्यार्थक तद्धित प्रकरण में बतला चुके हैं।

यञ्, छ—केश, अश्व से क्रम से यञ्, छ प्रत्यय विकल्प से होते हैं[2], पक्ष में ठक् व अण्—केशानां समूहः=कैश्यम्। कैशिकम् (पूर्वसूत्र से ठक्)। अश्वीयम् (छ)। आश्वम् (अण्)।

य—पाश आदि से 'य'[3]—पाशानां समूहः पाश्या। तृणानां समूहः तृण्या। धूम—धूम्या। वात—वात्या। (आँधी)। हल—हल्या। शकट—शकट्या। वन—वन्या। 'पाश्या' आदि सब स्वभाव से स्त्रीलिंग हैं।

खल, गो, रथ[4]—खलानां समूहः खल्या, खलिहानों का समूह। गवां समूहः=गव्या। रथानां समूहः=रथ्या। ये भी नियत स्त्रीलिङ्ग हैं।

इनि, त्र, कट्यच्—खल, गो, रथ से—खल से इनि (इन्)[5]। खलानां समूहः खलिनी (स्त्रीत्व विवक्षा में ङीप्)। गोत्रा। (त्र)। रथकट्या। ये भी स्वभावतः स्त्रीलिङ्ग में ही प्रयुक्त होते हैं।

इनि—खल आदि से इनि होता है ऐसा वार्तिक है।[6] अतः कुण्डलानां समूहः कुण्डलिनी। कुटुम्बानां समूहः कुटुम्बिनी।

समूहार्थक तद्धित समाप्त।

षष्ठ्यन्त पद से 'उसका विषय' (देश=ग्रामसमुदाय) इस अर्थ में यथाविहित (अण्) प्रत्यय होता है[7]—शिबीनां विषयो देशः शैबः।

---

१ धेनोरनञ इति वक्तव्यम् (वा०)।
२ केशाश्वाभ्यां यञ्छावन्यतरस्याम् (४।२।४८)।
३ पाशादिभ्यो यः (४।२।४९)।
४ खल-गो-रथात् (४।२।५०)।
५ इनि-त्र-कट्यचश्च (४।२।५१)।
६ खलादिभ्य इनिर्वक्तव्यः (वा०)।
७ विषयो देशे (४।२।५२)।

वुञ्—राजन्यादि से वुञ्[1]—राजन्यानां विषयो देशः=राजन्यक। मालवानां विषयो देशो मालवक। त्रिगर्तानां विषयो देशः=त्रैगर्तक। शैलूषाणां विषयो देशः=शैलूषक। शैलूष=नट। राजन्यादि आकृतिगण है।

अण्—छन्दो विशेषवाची प्रथमान्त पद से 'इस प्रगाथ का यह आदि है' इस अर्थ में प्रगाथ के वाच्य होने पर यथाविहित अण् प्रत्यय होता है[2]—पङ्क्तिश्छन्द आदिर् अस्य प्रगाथस्येति पाङ्क्तः प्रगाथः। पंक्ति से अण् हुआ। यत्र प्रग्रथनात्प्रकर्षगानाद्वा द्वे ऋचौ तिस्रः क्रियन्ते स प्रगाथः (काशिका)। जो दो ऋचायें उच्चारण-विशेष अथवा गाने से तीन बना दी जाती हैं उन्हें 'प्रगाथ' कहते हैं। प्रग्रथन=उच्चारण-विशेष।

अण्—प्रथमान्त पद, जो या तो प्रयोजनवाची हो या योद्धा का वाचक हो, से 'इस सङ्ग्राम का' इस अर्थ में सङ्ग्राम अभिधेय होने पर यथाविहित अण् आदि प्रत्यय होते हैं[3]—सुभद्रा प्रयोजनमस्य सङ्ग्रामस्य सौभद्रः सङ्ग्रामः, सुभद्रा के निमित्त किया गया संग्राम। भरता योद्धारोऽस्य सङ्ग्रामस्येति भारतः सङ्ग्रामः।

ण—प्रहरण-विशेषवाची प्रथमासमर्थ (=प्रथमान्त पद) से, 'वह है प्रहरण (आयुध, शस्त्र) इस क्रीडा में' इस अर्थ में क्रीडा अभिधेय होने पर 'ण'[4]—दण्डः प्रहरणमस्यां क्रीडायां दाण्डा। मुष्टिः प्रहरणमस्यां क्रीडायां मौष्टा। आदि वृद्धि। 'यस्येति च' से 'इ' का लोप।

ञ—घञन्त क्रियावाची प्रथमान्त से ञ प्रत्यय हो 'वह क्रिया है इस में' इस अर्थ में।[5] कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम् इस परिभाषा से घञन्त 'पात' आदि गति कारक-पूर्वक भी लिया जा सकता है—श्येनपातो ऽस्यां वर्तते मृगयायाम् इति श्यैनंपाता मृगया, शिकार जिसमें श्येनों का झपटा होता है। तिलपातोऽस्यां स्वधायाम् इति तैलंपाता स्वधा। घञन्त उत्तरपद

१ राजन्यादिभ्यो वुञ् (४।२।५३)।
२ सोऽस्यादिरिति च्छन्दसः प्रगाथेषु (४।२।५५)।
३ संग्रामे प्रयोजन-योद्धृभ्यः (४।२।५६)।
४ तदस्यां प्रहरणमिति क्रीडायां णः (४।२।५७)।
५ घञः साऽस्यां क्रियेति ञः (४।२।५८)।

परे होने पर श्येन (बाज) तथा 'तिल' को मुम् आगम होता है। दण्डपातो ऽस्यां वर्तत इति दाण्डपाता तिथि। सो यहाँ नहीं हुआ।

अण् आदि—द्वितीया समर्थ से उसे पढता है अथवा उसे जानता है इन अर्थों में यथाविहित अणादि प्रत्यय होते हैं[1]—छन्दोऽधीते वेद वा छान्दस। व्याकरणम् अधीते वेद वा वैयाकरण (अण्, आदि वृद्धि को बाधकर ऐजागम)। निरुक्तमधीते वेद वा नैरुक्त। निमित्तानि वेद=नैमित्त। मुहूर्तं वेद मौहूर्त। उत्पातान् वेद=औत्पात। उत्पात इति प्राणिनां शुभाशुभसूचको भूतविकार उच्यते।

ठक्—तदधीते तद्वेद (उसे पढता है, उसे जानता है) इन अर्थों में द्वितीयान्त क्रतु-विशेषवाची, उक्थादि शब्द तथा सूत्रान्त शब्द से ठक्[2]—क्रतु शब्द सोम याग में रूढ है। अग्निष्टोमम् अधीते वेद वाऽऽग्निष्टोमिक। वाजपेयमधीते वेद वा वाजपेयिक। उक्थादि—उक्थमधीते (=औक्थिक्यमधीते)=औक्थिक। यज्ञायज्ञीय साम (ऋ० ६।४८) से परे जो साम गाए जाते हैं उन्हें 'उक्थ' कहते हैं। यहाँ 'उन्हें पढने वाला अथवा जानने वाला' इस अर्थ में प्रत्यय विधान नहीं, किन्तु जो 'उक्थ' शब्द सामलक्षण ग्रन्थ 'औक्थिक्य' के अर्थ में उपचरित (=लक्षणया व्यवहृत) होता है, उससे प्रत्यय इष्ट है। औक्थिक्य शब्द से प्रत्यय होना ही नहीं, व्यवहार न होने से। साम विशेष वाचक उक्थ शब्द से न ठक् होता है और न ही अण्। वाक्य ही रहता है। उक्थानधीते वेद वा। अन्य उक्थादि शब्द—लोकायत—लौकायतिक। न्याय—नैयायिक। निमित्त—नैमित्तिक। निरुक्त—नैरुक्तिक। यज्ञ—याज्ञिक। धर्म—धार्मिक। धर्म धर्मशास्त्रमधीते वेद वा। संहिता—सांहितिक। वृत्ति—वार्तिक। सङ्ग्रह—साङ्ग्रहिक। आयुर्वेद—आयुर्वेदिक। उभयपद वृद्धि। सूत्रान्त शब्दों से—सग्रहसूत्रमधीते वेद वा साङ्ग्रहसूत्रिक। वार्तिकमेव सूत्र वार्तिकसूत्रम्। तदधीते वेद वा। वार्तिकसूत्रिक।

सूत्रान्त से तभी ठक् होता है जब पूर्वपद कल्प आदि न हो, अन्यथा प्राग्दीव्यतीय अण्[3]—कल्पसूत्रमधीते वेद वा काल्पसूत्र।

वार्तिक के अनुसार सूत्रान्त से ही नहीं किन्तु विद्यान्त, लक्षणान्त,

---

१ तदधीते तद्वेद (४।२।५९)।

२ क्रतूक्थादि-सूत्रान्ताट्ठक् (४।२।६०)।

३ सूत्रान्तादकल्पादेरिष्यते (वा०)।

कल्पान्त से भी ठक् इष्ट है[1]—वायसविद्यामधीते वेद वा वायसविद्यिक । सर्पविद्यामधीते वेद वा सार्पविद्यिक । गोलक्षणान्यधीते वेद वा गौलक्षणिक । आश्वलक्षणिक । पराशरकल्पमधीते वेद वा पाराशरकल्पिक । गृह्य, धर्म तथा श्रौत सूत्रों का एक नाम 'कल्प' है।

इस वार्तिक से जो अतिप्रसङ्ग होने लगा उसके वारण के लिए वार्तिककार एक दूसरा वार्तिक रखते हैं—अभी विद्यान्त प्रातिपदिकों से ठक् मत हो। उसी विद्यान्त से हो जिसका पूर्वपद अङ्ग, क्षत्र, धर्म, ससर्ग और त्रि न हो।[2] अत अङ्गविद्यामधीते वेद वाऽऽङ्गविद्य । अण् हुआ । क्षात्रविद्य । धार्मविद्य । सासर्गविद्य । त्रैविद्य । अथवा विद्या=त्रिविद्या । तामधीते वेद वा । यदि तिस्रो विद्या अधीते वेद वा ऐसा विग्रह करेंगे तो तद्धितार्थ मे उत्पन्न हुए अण् का 'द्विगोर्लुगनपत्ये' (४।१।८८) से लुक् हो जाएगा, क्योंकि यह अण् द्विगु का निमित्त है।

वार्तिककार के अनुसार आख्यान तथा आख्यायिका-वाची शब्दो से इतिहास तथा पुराण शब्दो से भी ठक् प्रत्यय होता है[3]—यवक्रीतो नाम राजा। तमधिकृत्य कृतमाख्यानमभ्युपचारात् यवक्रीतम् । तदधीते वेद वा यावक्रीतिक । प्रियङ्गुमधिकृत्य कृतमाख्यानमभ्युपचारात् । प्रियङ्गु । तदधीते वेद वा प्रैयङ्गविक । वासवदत्तामधिकृत्य कृताऽऽख्यायिका वासवदत्ता । 'आख्यायिकाभ्यो लुब्बहुलम् से लुप् । तामधीते वेद वा वासवदत्तिक ।

जहाँ सर्व पूर्वपद हो अथवा 'स' पूर्वपद हो उस समास से तथा द्विगु से भी प्रत्यय का लुक् होता है[4]—सर्ववेदानधीते सर्ववेद । सर्वतन्त्राण्यधीते वेद वा सर्वतन्त्र । वार्तिकान्तमधीते सवार्तिक । अन्तवचन मे 'सह' शब्द का अव्ययीभाव समास । अव्ययीभावे चाकाले (६।३।८१) से सह को स । एव ससग्रहान्तमधीते ससङ्ग्रह । द्विगु—द्वौ वेदौ अधीते वेद वा द्विवेद । चतुरो वेदानधीते वेद वा चतुर्वेद ।

---

१ विद्या-लक्षण-कल्पान्तादिति वक्तव्यम् (वा०)।
२ विद्या च नाङ्ग-क्षत्र-धर्म-ससर्ग-त्रि-पूर्वा (वा०)।
३ आख्यानाऽऽख्यायिकेतिहास पुराणेभ्यष्ठग् वक्तव्य (वा०)।
४ सर्व-सादेर्द्विगोश्च ल (वा०)।

अनुसू (ग्रन्थ विशेष), लक्ष्य, लक्षण—से ठक्।[1] अनुसूमधीते वेद वा आनुसुक। उगन्त होने से ठक् को 'क' आदेश। केऽण (७।४।१३) से अनुसू के 'ऊ' को ह्रस्व। लक्ष्याण्यधीते वेद वा लाक्षिक। लक्षणान्यधीते वेद वा लाक्षणिक।

विकन्—शत, षष्टि जब पूर्वपद हो तो पथिन् से बहुलतया पिकन्[2] (इक)—शतपथमधीते वेद वा शतपथिक। शतपथिकी। प्रत्यय के पित् होने से ङीप्। षष्टिपथिक। षष्टिपथिकी। बहुलतया कहने से कहीं पिकन् न होकर अण् होता है=शातपथ। षाष्टिपथ।

वुन्—क्रम आदि शब्दों से[3]—क्रमम् अधीते वेद वा क्रमक, वेद के क्रमपाठ का परिशीलन करने वाला, अथवा उसे जानने वाला। पद पदपाठ॰ मधीते वेद वा=पदक। मीमांसामधीते वेद वा=मीमांसक। शिक्षामधीते वेद वा शिक्षक।

इनि—अनुब्राह्मण=ब्राह्मण-सदृश ग्रन्थ—अनुब्राह्मणमधीते वेद वा= अनुब्राह्मणी[4]। अनुब्राह्मणिनौ। अनुब्राह्मणिन। अण् न हो, अत इनि का विधान किया है।

ठक्—वसन्तादि शब्दों से[5]। वसन्तसहचरितो ग्रन्थो वसन्त। वसन्त ऋतु के साथ सम्बद्ध अर्थात् जो वसन्त ऋतु में पढा जाता है उसे 'वसन्त' कह दिया है। वसन्त ग्रन्थमधीते वेद वा वासन्तिक। वर्षाभि सहचरितो ग्रन्थो वर्षा, ता अधीते वेद वा वार्षिक। शरद्—शारदिक। हेमन्त—हैमन्तिक। शिशिर—शैशिरिक। अथर्वन्—अथर्वणा प्रोक्त उपचाराद् अथर्वा। तमधीते वेद वा आथर्वणिक।

प्रत्यय-लुक्—प्रोक्त प्रत्ययान्त से अध्येतृ वेदितृ अर्थ में उत्पन्न हुए प्रत्यय का लुक् हो जाता है[6]—पाणिनिना प्रोक्त पाणिनीयम्। वृद्धाच्छ। तदधीते

---

१ अनुसू लक्ष्य लक्षणे च (वा॰)।
२ शत षष्टे पिकन् पथो बहुलम् (वा॰)।
३ क्रमादिभ्यो वुन् (४।२।६१)।
४ अनुब्राह्मणादिनि (४।२।६२)।
५ वसन्तादिभ्यष्ठक् (४।२।६३)।
६ प्रोक्ताल्लुक् (४।२।६४)।

वेद वा पाणिनीय । स्त्रीत्व विवक्षा मे पाणिनीया । पणोऽस्यास्तीति पणी (इन् मत्वर्थीय) । पणिनोऽपत्य पाणिन । अण् । गाथि-विदथि-केशि-गणि-पणिनश्च (६।४।१६५) से अपत्यार्थ अण् परे भी प्रकृतिभाव होता है। पाणिनस्यापत्य युवा पाणिनि । इञ् । आपिशलिना प्रोक्तम् आपिशलम् । गोत्र मे इञन्त से अण् । तदधीते वेद वा आपिशल ।

सूत्रवाची ककारोपध प्रातिपदिक से अध्येतृ-वेदितृ प्रत्यय का लुक्[1]—पाणिनीयमष्टक सूत्रमधीयते विदुर्वा अष्टका पाणिनीया । अष्टावध्याया परिमाणमस्य अष्टकम् । कन् । वैयाघ्रपद्यस्य शिष्या वैयाघ्रपदीया । वृद्धाच्छ । द्वादशक सूत्रमधीयते विदुर्वा द्वादशका वैयाघ्रपदीया । त्रिका काशकृत्स्ना । यह सूत्र अप्रोक्त के लिए है। अष्टकादि प्रोक्त प्रत्ययान्त नहीं हैं। ककारोपध सख्याप्रकृति लिया जाता है। सख्या है प्रकृति जिस कन् प्रत्यय की तदन्त सख्याप्रकृति अष्टकादि हुआ। चतुष्टयमधीते चातुष्टय । यहाँ तयप् की प्रकृति सख्या है पर प्रत्ययान्त ककारोपध नहीं। कलापिना प्रोक्तमधीयते कालापा । तेषामाम्नाय कालापकम् । गोत्रचरणाद् वुञ् । तदधीते कालापक । अण् । इस का लुक् नहीं होता है। अत प्रत्ययस्वर होता है और स्त्रीत्व मे ङीप् भी—कालापकी । 'कालापक' ककारोपध है, पर प्रत्यय (वुञ्) की प्रकृति सख्या नहीं।

प्रत्यय नियम—प्रोक्त-प्रत्ययान्त छन्दस् (मन्त्र) तथा ब्राह्मण अध्येतृ-वेदितृ अर्थ मे आए हुए प्रत्यय को छोडकर स्वतन्त्र रूप से वाक्य मे प्रयुक्त नहीं होते[2]—कठेन प्रोक्तमधीयते कठा । 'कठ' वैशम्पायन का शिष्य है, अत कलापिवैशम्पायनान्तेवासिभ्यश्च (४।३।१०४) से प्रोक्तार्थ मे णिनि आया। उसका कठचरकाल्लुक् (४।३।१०७) से लुक् । उससे 'तदधीते तद्वेद' मे पुन अण् हुआ। उसका 'प्रोक्ताल्लुक्' (४।२।६४) से लुक् । मुदेन प्रोक्तमधीयते मौदा । प्रोक्तार्थ मे अण् । पिप्पलादेन प्रोक्तमधीयते पैप्पलादा । ऋचाभेन प्रोक्तमधीयते आर्चाभिन । 'ऋचाभ' वैशम्पायन का शिष्य है। अत प्रोक्तार्थ मे णिनि हुआ। उससे अध्येतृ अर्थ मे आए हुए अण् का प्रोक्ताल्लुक् से लुक्।

---

१ सूत्राच्च कोपधात् (४।२।६५)।

२ छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि (४।२।६६)।

प्रोक्त-प्रत्ययान्त का कई तरह से प्रयोग देखा जाता है—स्वतन्त्रतया[1], उपाध्यन्तर योग से[2] (विशेषण को लेकर), वाक्य में[3], तथा अध्येतृ-वेदितृ प्रत्यय के विषय में[4]। यथा—१ पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम्। २ महद् पाणिनीयम्। ३ पाणिनीयमधीते। ४ पाणिनीयाश्छात्रा (पाणिनिना प्रोक्तमधीयते)। छन्दस् (मन्त्र) तथा ब्राह्मणवाची प्रोक्त-प्रत्ययान्तों का तो अध्येतृ वेदितृ-प्रत्यय विषयक ही प्रयोग होता है, पहले तीन प्रकार के प्रयोग निवृत्त हो जाते हैं। सूत्र में 'तद्' शब्द से अध्येतृ-वेदितृ अर्थ में विहित प्रत्यय का परामर्श है। विषय का अर्थ अनन्यभाव है, जैसे मत्स्यानां विषयो जलम्।

प्रोक्त-प्रत्ययान्त ब्राह्मणों की भी तद्विषयता होती है—ताण्ड्येन प्रोक्तं ब्राह्मणमधीयते ताण्डिन। आपत्य 'य' का लोप। शाट्यायनेन प्रोक्तं ब्राह्मणमधीयत इति शाट्यायनिन। 'शाट्य' शब्द गर्गादियञन्त है। उससे युवापत्य में यञिञोश्च (४।१।१०१) से फक् (आयन)। आकारादि आपत्य तद्धित होने से 'य' का लोप नहीं हुआ। इतरस्यापत्यम् ऐतरेय। शुभ्रादि ढक्। ऐतरेयेण प्रोक्तं ब्राह्मणमधीयते ऐतरेयिण। प्रोक्तार्थ में णिनि। पर याज्ञवल्क्येन प्रोक्तानि ब्राह्मणानि याज्ञवल्क्यानि। यहाँ तद्विषयता नहीं होती।

सूत्र में चकार ग्रहण अनुक्त के सङ्ग्रह के लिए है। अतः कल्प में भी तद्विषयता देखी जाती है—काश्यपेन प्रोक्तं कल्पमधीयते काश्यपिन। कौशिकिन। सूत्र में भी—पाराशर्येण प्रोक्तं भिक्षुसूत्रमधीयते पाराशरिण। आपत्य 'य' का लोप।

यहाँ तदधीते तद्वेद का अधिकार समाप्त हुआ। रक्ताद्यर्थक भी समाप्त हुए।

चातुरर्थिक प्रत्यय

अण्—'वह इस देश में है' इस अर्थ में प्रथमान्त से यथाविहित प्रत्यय होता है जब प्रत्ययान्त देश की संज्ञा हो[2]—उदुम्बराः सन्त्यस्मिन् देशे इति स देश औदुम्बरो नाम। मत्वर्थीय का अपवाद है।

'उससे बनाया गया' इस अर्थ में तृतीयान्त पद से यथाविहित प्रत्यय होता है जब प्रत्ययान्त देश की संज्ञा हो[3]—सहस्रेण निर्वृत्ता परिखा=

---

१ छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि (४।२।६६)।
२ तदस्मिन्नस्तीति देशे तन्नाम्नि (४।२।६७)।
३ तेन निर्वृत्तम् (४।२।६८)।

साहस्री, सहस्र (मुद्रा) की लागत से बनाई गई खाई साहस्री नाम से प्रसिद्ध हुई। यहाँ हेतु मे तृतीया समझनी चाहिये। **कुशाम्बेन निर्वृत्ता नगरी कौशाम्बी,** कुशाम्ब से बनाई गई कौशाम्बी नाम की नगरी। यह महाराज उदयन की राजधानी थी। आजकल इलाहाबाद के समीप यह 'कोसम' नामक ग्राम है।

'उसका निवास' इस अर्थ मे षष्ठ्यन्त से यथाविहित प्रत्यय होता है जब प्रत्ययान्त देश की सज्ञा हो[1]—शिबीना निवास शैबो नाम देश। निवसन्त्यस्मिन्निति निवास। अधिकरण मे घञ्। निवास मे स्व-स्वामिभाव नहीं पाया जाता।

'उसके अदूर (समीप) होने वाला' इस अर्थ में षष्ठ्यन्त से यथाविहित प्रत्यय होता है यदि प्रत्ययान्त देश की सज्ञा हो[2]—**विदिशाया अदूरभव नगर वैदिशम्।** वरणा च असिश्च नद्यौ वरणासी तयोरदूरभवा **वाराणसी।** पृषोदरादि। सूत्र मे 'च' पढा है। उसका प्रयोजन यह है कि अगले सूत्रो मे यहाँ कहे हुए चारो अर्थों मे प्रत्यय-विधि होगी जिससे इन प्रत्ययो की चातुरर्थिक सज्ञा उपपन्न हो जायगी। चतुर्णामर्थाना समाहार चतुरर्थी। तत्र भवाश्चातुरर्थिका प्रत्यया। चतुरवयवोऽर्थश्चतुरर्थ, तत्र भवाश्चातुरर्थिका।

अञ्—उवर्णान्त प्रातिपदिक से चातुरर्थिक अञ् प्रत्यय होता है[3]—**कक्षतु—काक्षतवम्।** ऊर्णुए। अरडु=क्षत्रिय विशेष। **आरडवम्।** अरडव क्षत्रिया सन्त्यस्मिन् देशे स आरडवो नाम देश। **अरडुना निर्वृत्त नगरम् आरडवम्।** **अरडूना निवासो देश =आरडव।**

जिस मतुप् प्रत्यय की प्रकृति बह्वच् है उस मत्वन्त से चातुरर्थिक अञ्[4]—इषुकावत् से अञ् होकर ऐषुकावतम्। सिध्रकावत् से सैध्रकावतम्। अण् का अपवाद।

बह्वच् प्रातिपदिक से चातुरर्थिक अञ् यदि कूप अभिधेय हो[5]—**दीर्घवरत्रेण निर्वृत्त कूप =दैर्घवरत्र।** कापिलवरत्रेण निर्वृत्त कापिलवरत्र।

---

१ तस्य निवास (४।२।६९)।
२ अदूरभवश्च (४।२।७०)।
३ ओरञ् (४।२।७१)।
४ मतोश्च बह्वजङ्गात् (४।२।७२)।
५ बह्वच कूपेषु (४।२।७३)।

विपाश् नदी के उत्तर तीर पर जो कूएँ हैं उनके अभिधेय होने पर चातुरर्थिक अञ् होता है[1]—दत्तेन निर्वृत्तः कूपो दात्तः । गुप्तेन निर्वृत्तः कूपो गौप्तः । यह सूत्र अबह्वच् प्रातिपदिक से प्रत्यय विधि के लिए बनाया गया है । विपाश् के दक्षिण तीर पर स्थित कूपों के अभिधान में तो यथा-विहित अण् ही होगा—दत्तेन निर्वृत्तः कूपो दात्तः । स्वर में भेद है । अञ् प्रत्यय होने पर ञ्नित्यादिर्नित्यम् (६।१।१९७) से 'दात्त' आद्युदात्त होगा और अण् होने पर प्रत्यय-स्वर होकर अन्तोदात्त होगा । आचार्य की इस सूक्ष्म दृष्टि पर आश्चर्य करते हुए वृत्तिकार कहता है—महती सूक्ष्मेक्षिका वर्तते सूत्रकारस्य ।

अण्—सुवास्तु आदि से चातुरर्थिक अण्[2] । सुवास्तोरदूरभवं नगरम् = सौवास्तवम् । वर्णोर् अदूरभवं नगरं वार्णवम् । सुवास्तोरदूरभवः कूपः सौवास्तवः । सुवास्तोरदूरभवा नदी सौवास्तवी । 'नदी' अभिधेय होने पर आगे मतुप् प्रत्यय कहेंगे, वह न हो इसलिए यहाँ अण् विधान किया है, अन्यथा यथाविहित कह देते उससे ही अण् हो जाता ।

रोणी शब्द (केवल और तदन्त) से चातुरर्थिक अण्[3]—रोण्या अदूरभवः = रौणः । अजकरोण्या अदूरभवः = आजकरोणः । आदिवृद्धि । सिंहिकरोण्या अदूरभवः = सैंहिकरोणः ।

कोपध प्रातिपदिक से चातुरर्थिक अण्[4] । उवर्णान्त-लक्षण तथा कूप-लक्षण अञ् का अपवाद । कर्णच्छिद्रिकेण निर्वृत्तः कूपः = कार्णच्छिद्रिकः । कर्णवेष्टकेन निर्वृत्तः कूपः = कार्णवेष्टकः । कृकवाकुना निर्वृत्तं नगरं कार्क-वाकवम् । गोर्गुण । आदिवृद्धि । त्रिशङ्कुना निर्वृत्तं नगरं त्रैशङ्कवम् ।

वुञ् छण् आदि—सत्तरह प्रातिपदिकगणों से सत्तरह चातुरर्थिक प्रत्यय यथासंख्य विधान किये हैं[5] । सत्तरह गण ये हैं—अरीहणादि[1] । कृशाश्वादि[2] ।

---

१ उदक् च विपाशः (४।२।७४) ।

२ सुवास्त्वादिभ्योऽण् (४।२।७७) ।

३ रोणी (४।२।७८) ।

४ कोपधाच्च (४।२।७९) ।

५ वुञ्-छण्-क-ठच्-इल-सेनि-र-ढञ्-ण्य-य फक्-फिञ्-इञ्-ञ्य-कक्-ठकोऽरीहण कृशाश्वर्श्य-कुमुद-काश-तृण-प्रेक्षाऽश्म-सखि-सङ्काश-बल-पक्ष-कर्ण-सुतङ्गम प्रगदिन् वराह-कुमुदादिभ्यः (४।२।८०) ।

ऋश्यादि[3] । कुमुदादि[4] । काशादि[5] । तृणादि[6] । प्रेक्षादि[7] । अश्मादि[8] । सख्यादि[9] । सङ्काशादि[10] । बलादि[11] । पक्षादि[12] । कर्णादि[13] । सुतङ्ग-मादि[14] । प्रगदिन्नादि[15] । वराहादि[16] । कुमुदादि[17] ।

सत्तरह प्रत्यय ये हैं—वुञ्[1] । छण्[2] । क[3] । ठच्[4] । इल[5] । स[6] । इनि[7] । र[8] । ढञ्[9] । ण्य[10] । य[11] । फक्[12] । फिञ्[13] । इञ्[14] । ञ्य[15] । कक्[16] । ठक्[17] । प्रथम गण से प्रथम प्रत्यय, द्वितीय से द्वितीय इत्यादि ।

वुञ्—अरीहणेन निर्वृत्तं नगरम् आरीहणकम् । खदिरा सन्त्यस्मिन्देशे इति खादिरको नाम देश । काशकृत्स्नेन निर्वृत्ता नगरी=काशकृत्स्निका । शिंशपानामदूरभवो ग्राम =शांशपक । देविका—शिंशपा०—(७।३।१) से आदि वृद्धि के स्थान मे आकार होता है । शिरीषाणामदूरभवो ग्राम = शैरीषको ग्राम । वरणादिभ्यश्च (४।२।८२) मे जो शिरीष शब्द पढा है उससे औत्सर्गिक अण् होकर लुप् हो जाता है—शिरीषा (ग्राम) । वीरणा-नामदूरभव नगर वैरणकम् ।

छण्—कृशाश्वेन निर्वृत्ता नगरी कार्शाश्वीया । अरिष्टानामदूरभव नगरम् आरिष्टीयम् । बर्बराणां निवासो देशः=बार्बरीय । सूकरा सन्त्य-स्मिन्देश इति सौकरीयो नाम देश । मौद्गल्येन निर्वृत्त नगर मौद्गलीयम् । आपत्य तद्धित यञ का लोप ।

क—ऋश्या (मृगविशेषा) सन्त्यस्मिन्देश इति ऋश्यको नाम देश । न्यग्रोधक । शर्कराऽश्मप्राया मृत् । शर्कराऽस्मिन्देशेऽस्तीति शर्करको नाम देश । केऽणः (७।४।१३) से ह्रस्व । वेणूनामदूरभव नगर वेणुकम् ।

ठच्—कुमुदानामदूरभव कुमुदिक नाम नगरम् । शर्करास्मिन्देशेऽस्तीति शार्करिको नाम देश । शिरीषाणामदूरभव नगर शिरीषिकम् । विकङ्कता स्रुवावृक्षा सन्त्यस्मिन्देश इति विकङ्कतिको नाम देश ।

इल—काशा सन्त्यस्मिन्देश इति काशिलो नाम देश । कर्पूराणामदूरभवो ग्राम कर्पूरिल । चरणा वेदशाखाध्यायिन सन्त्यस्मिन्देश इति चरणिलो नाम देश । चरणाना निवास इति वा चरणिल ।

श—तृणानि सन्त्यस्मिन्देश इति तृणशो नाम देश । नडानामदूरभवो ग्राम =नडश । वनस्यादूरभव कासार =वनश ।

इनि—प्रेक्षा सन्त्यस्मिन्देश इति प्रेक्षी नाम देश । क्षिपकाणामदूरभव नगरम्=क्षिपकि (नगरम्) । क्षिपक (पु०)=व्याध, शिकारी । स्त्रीलिंग में 'क्षिपका' होता है, क्षिपिका नहीं । न्यग्रोधानामदूरभवो ग्राम —न्यग्रोधी ।

र—अश्मान सन्त्यस्मिन्देश इति अश्मरो नाम देश । नगानाम् अदूरभवो ग्राम=नगरा । नग=वृक्ष, पर्वत ।

ढञ्—सख्या निर्वृत्त साखेयम् । सखिदत्तेन निर्वृत्त साखिदत्तेयम् । अशोकानामदूरभवम् आशोकेयम् ।

ण्य—सङ्काशेन निर्वृत्त नगर साङ्काश्यम् । काम्पिल्येन निर्वृत्त नगर काम्पिल्यम् । यापत्य 'य' का लोप । शूरसेनेन निर्वृत्त शौरसेन्यम् । प्रगतिना निर्वृत्तम् प्रागत्यम् । नासिकया निर्वृत्त नासिक्यम् । वर्तमान 'नासिक' नाम का नगर ।

य—बलेन निर्वृत्त बल्यम् । कुलेन निर्वृत्त कुल्यम् ।

फक्—पक्षेण निर्वृत्त नगर पाक्षायणम् । तुषेण निर्वृत्त तौषायणम् ।

फिञ्—कर्णेन निर्वृत्त कूप=कार्णायनि । वसिष्ठेन निर्वृत्तो ग्रामो वासिष्ठायनि । पाञ्चजन्येन निर्वृत्त कूप पाञ्चजन्यायनि । तद्धित के प्रकारादि होने से आपत्य 'य' का लोप नहीं हुआ ।

इञ्—सुतङ्गमेन निर्वृत्त कूप=सौतङ्गमि । मुनिचित्तेन निर्वृत्त कूप=मौनिचित्ति । कूपलक्षण अञ् का अपवाद है । अर्जुना (वृक्षा) सन्त्यस्मिन्देश इत्यार्जुनिर्नाम देश ।

ञ्य—प्रगदिन् । प्रगदिना निर्वृत्त नगर प्रागद्यम् । टि-लोप । कोविदाराणामदूरभव नगर कौविदार्यम् । कोविदार=कुद्दाल, युगपत्रक ।

वुञ्—अराहेण निर्वृत्त आराहकम् । ञित् होने से आदि वृद्धि । पलाशानामदूरभव नगर पालाशकम् । शिरीषाणामदूरभव नगर शैरीषकम् । शर्करा सन्त्यस्मिन्देश इति शार्करको नाम देश । बाहुना निर्वृत्त नगर बाहुकम् ।

ठक्—कुमुदानि सन्त्यस्मिन्देश इति कौमुदिको नाम देश । रथकाराणां निवास=राथकारिक ।

प्रत्यय-लुप्—ग्रामसमुदाय को जनपद कहते हैं । जो चातुरर्थिक 'तदस्मिन्नस्तीति देशे तन्नाम्नि' से विहित हुआ है, यदि तदन्त का वाच्य जनपद

हो, तो उसका लुप् हो जाता है[1]। लुबन्त का युक्तवद्भाव होता है, अर्थात् लुबन्त के लिङ्ग व वचन वही होते हैं जो लुप् की प्रकृति के—पञ्चालाना निवासो जनपद पञ्चाला। कुरूणा निवासो जनपद कुरव। मत्स्या। अङ्गा। वङ्गा। कलिङ्गा। मगधा। सुह्मा। पुण्ड्रा। उदुम्बरा अस्मिन् जनपदे सन्तीत्यौदुम्बर। यहाँ लुप् नहीं हुआ, कारण कि लुबन्त जनपद का नाम नहीं, लुबन्त से जनपद नाम की प्रतीति नहीं होती।

वरण आदि प्रातिपदिकों से आए हुए चातुरर्थिक प्रत्यय का लुप् होता है[2]। वरण आदि में प्रत्यय आने पर तदन्त का वाच्य जनपद नहीं होता है, अत पूर्वसूत्र से अप्राप्त लुप का विधान किया है—वरणाना वृक्षविशेषाणामदूरभव नगर वरणा। सूत्र मे जो चकार पढा है वह अनुक्त समुच्चय के लिए है, उससे वरणादि आकृति गण है यह ज्ञापित होता है। इसलिए गण में न पढे हुए शिरीषा, काञ्ची आदि से भी चातुरर्थिक का लुप् होता है—शिरीषाणामदूरभवो ग्राम =शिरीषा। काञ्च्या अदूरभव नगर काञ्ची। कटुकबदर्या अदूरभवो ग्राम कटुकबदरी इत्यादि सिद्ध होते हैं। मथुरा, उज्जयिनी, गया, तक्षशिला गणपठित हैं। मथुराया अदूरभवा नगरी मथुरा। एवमुज्जयिन्या अदूरभवा नगरी उज्जयिनी इत्यादि।

शर्करा सन्त्यस्मिन्देश इति शर्करा[3]। शार्कर। औत्सर्गिक अण् का विकल्प से लुप्। वराहादियो तथा कुमुदादियो मे शर्करा के पढे होने से उन प्रत्ययो (ठक्, कक्) का श्रवण होगा, लुप् नहीं होगा—शार्करिक। शार्करक।

शर्करा से ठक् और छ भी होते हैं[4]—शार्करिक। शर्करीय।

मतुप्—नदी अभिधेय होने पर चातुरर्थिक मतुप् होता है[5]—उदुम्बरा सन्त्यस्या नद्याम् इत्युदुम्बरावती नाम नदी। मशकावती। पुष्करावती। पुष्कर=कमल। मतौ बह्वचोऽनजिरादीनाम् (६।३।११९)। से दीर्घ हुआ।

मधु आदि प्रातिपदिको से मतुप्[6]। प्रत्ययान्त से नदी अभिधेय न होने

---

१ जनपदे लुप् (४।२।८१)।
२ वरणादिभ्यश्च (४।२।८२)।
३ शर्कराया वा (४।२।८३)।
४ ठक् छौ च (४।२।८४)।
५ नद्या मतुप् (४।२।८५)।
६ मध्वादिभ्यश्च (४।२।८६)।

से पूर्वसूत्र से अप्राप्ति थी—मध्वस्मिन्नस्तीति मधुमान् नाम देश । इक्षुमान्। वेणुमान् । ऋक्षा भल्लूकाः सन्त्यस्मिन् देशे इति ऋक्षवान् नाम देश. । आसन्द्य आसनानि सन्त्यस्मिन् इत्यासन्दीवान् नाम ग्राम । सञ्ज्ञायाम् (८।२।११) से मतुप् के म को व ।

ड्मतुप्—कुमुद, नड, वेतस से चातुरर्थिक ड्मतुप्[1]—कुमुद्वान् । नड्वान्। वेतस्वान् । डित्व-सामर्थ्य से भ-अ-सञ्ज्ञक के भी 'टि' का लोप हुआ है। कुमुदानि सन्त्यस्मिन्देशे इति कुमुद्वान् नाम देश ।

ड्वलच्—नड, शाद से ड्वलच् चातुरर्थिक[2]—नड्वलो देश । शाद्वलो देश । यहाँ भी डित्व-सामर्थ्य से टि का लोप । शाद=नवतृण । पङ्कवाची 'शाद' से यह प्रत्यय नहीं होता ।

वलच्—शिखावलं नाम नगरम्[3] । मतुप् प्रकरण में भी 'शिखा' से वलच् का विधान करेंगे, वह मत्वर्थ है, उसका अभिधेय देश नहीं ।

छ—उत्कर आदि प्रातिपदिकों से चातुरर्थिक छ[4]—उत्करोऽस्त्यस्मिन् देशे स उत्करीयो नाम देश । उत्कर =कूटम् । शर्करा सन्त्यस्मिन्देशे स शर्करीयो नाम देश । नस्तद्धिते (६।४।१४४) से टि का लोप । बिल्व—बिल्वीयो नाम देश । आतप—आतपीयो नाम देश ।

नडानामदूरभवं नगरं नडकीयम्[5] । कुक् आगम । प्लक्षकीयम् । वेणुकीयम् । वेत्रकीयम् । वेतसकीयम् । कुञ्चा (=कुञ्च्+अजादि गण में होने से टाप्।कुञ्चा सन्त्यस्मिन् देशे इति कुञ्चकीयो देश । गण-सूत्र से ह्रस्व। तक्षाणः सन्त्यस्मिन् देशे इति तक्षकीयो नाम देश । गणसूत्र से न-लोप ।

इति चातुरर्थिकाः ।

शैषिक प्रत्यय

जब भगवान् सूत्रकार (४।१—२) में तस्यापत्यम्, तेन रक्तं रागात्, साऽस्य देवता, तदधीते तद्वेद, तेन निर्वृत्तम् इत्यादि अर्थों में तद्धित विधान

---

१ कुमुद-नड-वेतसेभ्यो ड्मतुप् (४।२।८७) ।
२ नड-शादाड् ड्वलच् (४।२।८८) ।
३ शिखाया वलच् (४।२।८९) ।
४ उत्करादिभ्यश्छः (४।२।९०) ।
५ नडादीनां कुक् च (४।२।९१) ।

कर चुके तो वे शेषे (४।२।९२) इस सूत्र का निर्माण करते हैं। यह सूत्र लक्षण भी माना जाता है और अधिकार भी। लक्षण के रूप में यह विधायक शास्त्र है। अर्थ यह होगा—परिगणित अपत्यादि अर्थों को छोड़कर शेष अर्थों में अण् हो। यहाँ प्रकृति का निर्देश नहीं है। शेष (=शिष्ट =अवशिष्ट) अर्थों को भी शब्द-द्वारा नहीं कहा है। व्यवहार के उपपादन मात्र में यत्न है। जहाँ शिष्टों के प्रयोगों में अण् दीखता है और उसका विधायक शास्त्र दीखता नहीं, वहाँ शेषे यह विधायक शास्त्र जानना। यथा चक्षुषा गृह्यते चाक्षुषं रूपम्। यहाँ 'तेन गृह्यते' इस अर्थ में चक्षुस् प्रातिपदिक से अण् हुआ है। इसी प्रकार श्रवणेन गृह्यते श्रावणः शब्दः। दृषदि पिष्टा दार्षदाः सक्तवः = शिला पर पीसे हुए सत्तू। यहाँ तत्र पिष्टम् इस अर्थ में दृषद् से अण् हुआ है। ऐसे ही उलूखले क्षुण्ण =औलूखलो यावकः। ऊखल में पीसा हुआ मलक्क। अश्वैरुह्यत आश्वो रथः। यहाँ तेन उह्यते इस अर्थ में अश्व प्रातिपदिक से अण् हुआ है। चातुरं शकटम्=चार घोड़ों अथवा बैलों से खींचा हुआ छकड़ा। चतुर्दश्यां दृश्यत इति चातुर्दशं रक्षः, चतुर्दशी तिथि को दीखने वाला राक्षस। यहाँ 'अत्र दृश्यते' इस अर्थ में चतुर्दशी से अण् हुआ है। कुणपमत्ति कौणपः =राक्षस। यहाँ 'अत्ति' इस अर्थ में कुणप (लाश) से अण् हुआ है। स्मृत्युपदिष्ट =स्मार्त। 'तेनोपदिष्टम्' इस अर्थ में स्मृति से अण् हुआ है, ऐसा बौ० ध० सूत्र (१।१।३) पर गोविन्दराज टीकाकार का लेख है। भ्रातरेव स रूपेणो मम चाक्षुषो जातः (चक्षुर्गोचर इत्यर्थः)। घोर वैतरणिम् प्राप्तो दैवेन मम चाक्षुषो (रा० ३।६९।४४)। वितरणेन दानेन लङ्घ्यत इति वैतरणी। यहाँ 'तेन लङ्घ्यते' इस अर्थ में 'वितरण' से अण् हुआ है। ब्रह्म जानातीति ब्राह्मणः। अण्। मनु (६।४।१६७) से प्रकृतिभाव।

अधिकार के रूप में यह सूत्र कहता है कि यहाँ से आगे विकारार्थक प्रत्ययों के विधान (४।३।१३३) से पूर्व तक जो 'घ' आदि प्रत्यय राष्ट्रावार-पाराद् घखौ (४।२।९३) इत्यादि सूत्रों से विधान किए हैं वे अपत्यादि पूर्व कहे हुए अर्थों में न होकर शेष अर्थों में (जो इस अधिकार में निर्दिष्ट किए हैं) होते हैं और वे इस प्रकरण में कहे हुए सभी अर्थों में होते हैं न कि सर्व-प्रथम निर्देश किए हुए 'तत्र जातः' (४।३।२५) इस अर्थ में ही। तस्येदम् इस अर्थ में यथाविहित 'घ' आदि प्रत्यय होंगे, पर उसके विशेष रूप तस्यापत्यम्, तस्य समूहः इन अर्थों में नहीं होंगे।

शृङ्गार-प्रकाश के कर्ता श्री भोजराज का यह मत है कि 'शेष' से उन अर्थों का भी ग्रहण इष्ट है जो इस अधिकार में नहीं कहे गए, अर्थात् उनके अनुसार यहाँ निर्दिष्ट प्रकृतियों से अनुक्त अर्थों में भी वे ही विहित प्रत्यय साधु होंगे। यथा कुक्षिं रक्षन्त्यस्माद् इति कौक्षेयकः कृपाणः। कलिं कुर्वन्त्यस्मादिति कालेयं गन्धद्रव्यम्। अग्निः पतत्यस्माद् इत्याग्नेयो ग्रावा। नद्यः स्यन्दन्तेऽस्मादिति नादेयः शैलः। यह भोजराज की स्वतन्त्रता अथवा राजतामात्र है। प्रमाणाभाव में इस व्याख्यान को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

शैषिक प्रत्ययों के विषय में यह स्मरण रखना चाहिए कि शैषिक प्रत्यय होने पर पुनः सरूप=समानरूप शैषिक नहीं होता—शालायां भवो घटः शालीयः (छ प्रत्यय)। शालीये घटे भवमुदकं शालीयम्। यहाँ पुनः 'छ' नहीं होता, यद्यपि प्राप्ति है। विरूप अण् होता है। तत्र घोरं रघोजन्यं पार्वतीयैर्गणैरभूत् (रघु० ४।७७)। पर्वतस्यायं पर्वतीयो राजा। (छ)। पर्वतीयस्य राज्ञ इमे गणाः पार्वतीयाः। छप्रत्ययान्त से विरूप अण् हुआ है। इसी प्रकार अहिच्छत्त्रे भवम् आहिच्छत्त्रम्। तत्र भवम् आहिच्छत्त्रीयम्। अणन्त से विरूप 'छ' प्रत्यय हो गया।

घ—राष्ट्रे जातः=राष्ट्रियः। राष्ट्रे भवः=राष्ट्रियः। राष्ट्रं भक्तिरस्य=राष्ट्रियः (देशभक्त)। राष्ट्रे सम्भवति=राष्ट्रियः, जो राष्ट्र में समा जाता है। राष्ट्रे प्रायेण भवति=राष्ट्रियः। राष्ट्राद् आगतम्=राष्ट्रियम्। राष्ट्रस्येदं राष्ट्रियम्। राष्ट्रं निवासोऽस्य राष्ट्रियः। राष्ट्रे क्रीतम्=राष्ट्रियम्। राष्ट्रे लब्धम्=राष्ट्रियम्। राष्ट्रे कुशलः=राष्ट्रियः।[1] 'घ' को 'इय' आदेश।

ख—अवारे जातः इत्यादि=अवारीणः। पारे जातः इत्यादि पारीणः। अवारपारयोर्जातः इत्यादि=अवारपारीणः। पारावारयोर्जातः इत्यादि पारावारीणः। 'ख' को 'ईन' आदेश।

---

१ राष्ट्रावारपाराद् घखौ (४।२।९३)। इस शेषाधिकार में जहाँ कहीं प्रत्यय विधान करते हुए आचार्य ने प्रत्ययार्थ का निर्देश नहीं किया वहाँ *यथासम्भव इन्हीं अर्थों में प्रत्यय समझना चाहिये। यजादि तद्धित परे होने* पर पूर्व की 'भ' संज्ञा होती है और भ-संज्ञक के अन्त्य अ, इ का लोप हो जाता है। राष्ट्र—घ (इय) राष्ट्र् इय=राष्ट्रिय।

य, खञ्—ग्रामे जात इत्यादि =ग्राम्य । ग्रामीण ।[1]

ढकञ्—पुष्करे जात इत्यादि =पौष्करेयक ।[2] नगरे=पाटलिपुत्रे जात इत्यादि =नागरेयक । माहिष्मती नगरी, तस्या जात इत्यादि =माहिष्मतेय । कुल्याया जात इत्यादि =कौलेयक । यहाँ कुल्या के 'य्' का लोप भी होता है । 'ढ' को 'एय' ग्रादेश होता है । 'ञ्' वृद्धि के लिए है । ञित् णित् तद्धित परे प्रातिपदिक के ग्रादि ग्रच् की वृद्धि होती है ।

कुल, कुक्षि, ग्रीवा से तत्र जात इत्यादि ग्रर्थ मे ढकञ्, यदि प्रत्ययान्त का क्रम से कुत्ता, खड्ग तथा ग्रलकार ग्रर्थ हो[3]—कौलेयक =श्वा=कुत्ता । कुक्षौ भव =कौक्षेयक =खड्ग । ग्रीवाया भव ग्रैवेयक=कण्ठभूषा ।

ढक्—नद्या इदम्=नादेयम् ।[4] नादेय जलम् । नद्या भवानि सत्वानि= नादेयानि, नदी मे होने वाले जन्तु । पूर्वनगरी निवासोऽस्य=पौर्वनगरेय । पूर्निवासोऽस्य=पौरेय । वने जाता पादपा वानेया । गिरौ जात भव वा गैरेयम् (धातु विशेष, गेरु) । वाराणस्या भव, वाराणस्या जात, वाराणस्या ग्रागत =वाराणसेय । वाडवेयो वृष । वाडवेय बैल को कहते हैं । कित् तद्धित होने पर प्रातिपदिक के ग्रादि ग्रच् की वृद्धि होती है ।

त्यक्—दक्षिणा (ग्राच्-प्रत्ययान्त ग्रव्यय) भव =दाक्षिणात्य[5] । पश्चाद्भव =पाश्चात्य । पुरो भव =पौरस्त्य । पश्चात् का ग्रर्थ पश्चिम दिशा भी है ग्रौर पुरस् (=पुरस्तात्) का ग्रर्थ पूर्व दिशा भी है, ग्रत पाश्चात्या = पश्चिमदिग्भवा । पौरस्त्या =पूर्वदिग्भवा ।

ष्फक्—कापिशी नगरी विशेष का नाम है । कापिश्या भव तत ग्रागत वा मधु कापिशायनम्[6] । कापिशायनी द्राक्षा । 'फ' को 'ग्रायन' ग्रादेश होता है । प्रत्यय को षित् किया है स्त्रीत्व मे ङीष् करने के लिये ।

ग्रण्, वुञ्—रङ्कु स्थानविशेष का नाम । तत्र भवो राङ्कवो गौ । ग्रण् परे रहते पूर्व 'रङ्कु' की भ-सज्ञा । भ-सज्ञक होने से 'उ' को गुण ।

---

१ ग्रामाद्य-खञौ (४।२।९४) ।
२ न द्यादिभ्यो ढकञ् (४।२।९५) ।
३ कुल-कुक्षि-ग्रीवाभ्य श्वास्यलकारेषु (४।२।९६) ।
४ नद्यादिभ्यो ढक् (४।२।९७) ।
५ दक्षिणा-पश्चात्-पुरसस्त्यक् (४।२।९८) ।
६ कापिश्या ष्फक् (४।२।९९) ।

अवादेश। राङ्कवायणो गौः[1]। एकन्। मनुष्य अभिधेय होगा तो (४।२।१३८) मे वुञ् होकर राङ्कवको मनुष्य ऐसा रूप होगा।

यत् (य)—दिव्—यत्=दिव्य। दिवि भव दिव्यम्। प्राच्—प्राच्य। प्राचि भव प्राच्यम्। प्राचि देशे काले वा भवो मनुष्य प्राच्य। अपाच्—अपाच्य। अपाच्य=पश्चाद्भव, पश्चिमदिग्भव,। उदच्—उदीच्य। प्रत्यच्—प्रतीचि भव=प्रतीच्य।[2] कालवाची प्राच् आदि अव्ययों से तो ट्यु, ट्युल् होकर प्राक्तन आदि रूप होंगे। सस्कारा प्राक्तना इव। (रघु० १।२०)।

ठञ् (इक)—कन्या नाम नगरविशेष, तत आगत कान्यिक।[3]

वुञ् (अक)—वर्ण् नदी के समीपवर्ती देश को भी वर्णु (बन्नू) कहते हैं। उस देश में होने वाले कन्या नामक नगर में होने वाले द्रव्यविशेष को 'कान्यक' कहते हैं।[4] कन्या—वुञ्। आदि वृद्धि। तथाहि जात हिमवत्सु कान्यकम् (काशिका)।

त्यप् (त्य)—अमा (=समीप), इह, क्व, तसिप्रत्ययान्त, त्रल् प्रत्ययान्त नि, निस्—अव्ययों से त्यप्।[5] अमा समीपे भव=अमात्य। इहत्य। क्वत्य। इतस्त्य। तत्रत्य। यत्रत्य। अत्रत्य। नित्य। निस्—निष्ट्य। निर्गतो वर्णाश्रमेभ्य=निष्ट्य चण्डालादि। ह्रस्वात् तादौ तद्धिते (८।३।१०१) से षत्व। यो न स्वो अरणो यश्च निष्ट्यो जिघांसति (ऋ० ६।७५।१९)। य मे निष्ट्यो यममात्यो निचखान(वा० स० ५।२३)। अमात्य=एक ही घर में साथ रहने वाला। इन अव्ययों को छोड़कर उपरिष्टाद्भव=औपरिष्ट, पुरस्ताद्भव=पौरस्त। परस्ताद् भव=पारस्त। यहाँ उपरिष्टात् आदि से प्राग्दीव्यतीय अण् हुआ है। अव्यय जो भसज्ञक हो उनकी 'टि' का लोप हो जाता है सो यहाँ 'आद्' मात्र का लोप हुआ है। अव्यय के वृद्ध (आदि अच् के वृद्धि-सज्ञक) होने पर तो वृद्धाच्छ (४।२।११४) से 'छ' प्रत्यय होगा—आराद् भव=आरातीय=पड़ोसी। अव्ययाना भमात्रे टि लोप इस वचन के अनित्य होने से यहाँ टि का लोप नहीं हुआ।

---

१ रङ्कोरमनुष्येऽण् च (४।२।१००)।
२ द्यु प्राग्-अपाग्-उदक् प्रतीचो यत् (४।२।१०१)।
३ कन्थायाष्ठक् (४।२।१०२)।
४ वर्णौ वुक् (४।२।१०३)।
५ अव्ययात्त्यप् (४।२।१०४)।

रण—अरण्ये भवा सुमनस (=कुसुमानि)=आरण्या[१]। सुमनस्,स्त्री०।

एत्य—दूराद् आगत =दूरेत्य[२] पथिक ।

अञ्—उत्तराहे (=उत्तरस्मिन्नहनि=आगामिनि वासरे) भव कृत्यम् औत्तराहम्[३]।

त्यप् (त्य)—ऐषमस् (इस वर्ष), ह्य, श्वस् से विकल्प से[४]—ऐषमस्त्य। ह्यस्त्य। श्वस्त्य। पक्ष मे ट्यु ट्युल् होकर ऐषमस्तन। ह्यस्तन। श्वस्तन। श्वस् से ठञ् भी होता है और साथ ही तुट् (त्) आगम भी—श्वोभवम्= शौवस्तिकम्। द्वारादीनाम् (७।३।४) से ऐजागम।

ञ—पूर्वा चासौ शाला च=पूर्वशाला। पूर्वशालायां भव =पौर्वशाल। दाक्षिणशाल। आपरशाल[५]। यहाँ दिग्वाची पूर्वपद है। तद्धित प्रत्यय की प्रकृति किसी की सज्ञा नही। सज्ञा होगी तो अण् होगा—पूर्वेषुकामशम्यां भव =पूर्वेषुकामशम। प्राचां ग्रामनगराणाम् (७।३।१४) से उत्तरपद वृद्धि। यहाँ पूर्वेषुकामशमी पूर्वदेश की एक नगरी का नाम है। दिक्सख्ये सज्ञायाम् (२।१।५०) से समास हुआ है।

अण्—गोत्र प्रत्ययान्त कण्वादि (गर्गाद्यन्तर्गण) से[६]—कण्वस्य गोत्रापत्य काण्व्य, तस्येमे छात्रा =काण्वा। आपत्यस्य च तद्धितेऽनाति (६।४।१५१) से आपत्य (अपत्यार्थक) यकार का लोप। गोत्र प्रत्ययान्त के वृद्ध होने से 'छ' की प्राप्ति थी। उसका यह अपवाद है।

गोत्र मे जो इञ्, तदन्त से[७]—दाक्षि (दक्षस्य गोत्रापत्यम्)। तस्येमे छात्रा =दाक्षा। आपिशलेश्छात्रा आपिशला। पाणिनि शब्द मे इञ् युवापत्य मे है अत अण् की प्राप्ति न होने से यथाप्राप्त 'छ' होगा—पाणिनेश्छात्रा पाणिनीया।

छ (ईय)—वृद्ध प्रातिपदिक से (चाहे वह गोत्रप्रत्ययान्त हो चाहे अगोत्र-

---

१ अरण्याण्णो वक्तव्य (वा०)।
२ दूरादेत्य (वा०)।
३ उत्तराहादञ् (वा०)।
४ ऐषमोह्य-श्वसोऽन्यतरस्याम् (४।२।१०५)। श्वसस्तुट् च (वा०)।
५ दिक्पूर्वपदादसज्ञायां ञ (४।२।१०७)।
६ कण्वादिभ्यो गोत्रे (४।२।१११)।
७ इञश्च (४।२।११२)।

प्रत्ययान्त)[1]—गार्ग्यस्यायं गार्गीय । वात्स्यस्याय वात्सीय । आपत्य तद्धित यञ् का लोप । शालाया अय शालीय । शालाया भव =शालीय । शालाया आगत =शालीय । माला—मालीय । मालाया इमानि मालीयानि सुमानि (=कुसुमानि) । जो वृद्ध नहीं पर सज्ञा है उसकी भी विकल्प से वृद्ध सज्ञा मानी है[2]—देवदत्तस्याय देवदत्तीय । देवदत्त । सत प्रमग्ना सहसा महाचमू सा पाण्डवी तेन नराधिपेन (भा० ६।१०७४) । यहाँ छ प्रत्यय करके 'पाण्ड-वीया' न कहकर औत्सर्गिक अण् किया है । 'क्वचिदपवादविषयेऽप्युत्सर्गोऽभि-निविशते' इस न्याय से ।

ठक्, छस्—भवतोऽय भावत्क[3] । यहाँ ठक् को 'इक' आदेश नहीं हुआ किन्तु इसुसुक्तान्तात्क (७।३।५१) से 'क' हुआ है । भवत् तान्त है । भवतोऽय भवदीय (छस्) । यहाँ 'स्' अनुबन्ध इसलिए लगाया है कि तद्धित छ (ईय) से पूर्व प्रातिपदिक की 'भ' सज्ञा न होकर 'सिति च' (१।४।१६) से 'पद' सज्ञा हो, जिसके फल स्वरूप यहाँ भवत् के त् को जश्त्व होने से द् हुआ है । भवत् के त्यदादि० होने से वृद्ध सज्ञा होकर 'छ' प्राप्त था ।

ठञ्, ञिठ—काशि (देश-विशेष) आदि शब्दों से[4]=काशिषु भव = काशिक (ठञ्) । काशिषु भवा स्त्री=काशिकी (ङीप्) । ञिठ प्रत्यय होने पर स्त्रीलिङ्ग में 'काशिका' रूप होगा । आपत्कालिकी (ठञ्)[5] । आपत्का-लिका[5] । और्ध्वकालिकी । और्ध्वकालिका । काश्यादिगण में आपदादिपूर्व-पदात्कालान्ताद्—यह गणसूत्र पढा है ।

वुञ् (अक)—धन्ववाची, यवोपध देशवाची से[6]—पारेधन्वनि भव = पारेधन्वक । 'धन्वन्'(पु०) मरुभूमि का नाम है । यवोपध—सांकाश्ये भव, सांकाश्य निवासोऽभिजनो वास्य=सांकाश्यक । काम्पिल्ये भव, काम्पिल्य निवासोऽभिजनो वास्य काम्पिल्यक । सांकाश्य कुशध्वज की राजधानी का नाम था । काम्पिल्य पञ्चाल देश के नगर विशेष का नाम था ।

---

१ वृद्धाच्छ (४।२।११४) ।
२ वा नामधेयस्य वृद्ध-सज्ञा वक्तव्या (वा०) ।
३ भवतष्ठक् छसौ (४।२।११५) । त्यदादीनि च (१।१।७४) ।
४ *काश्यादिभ्यष्ठञ्ञिठौ (४।२।११६)* ।
५ आपदादिपूर्वपदात्कालान्तात् (वा०) ।
६ धन्व-योपधाद् वुञ् (४।२।१२१) ।

रोपध तथा ईकारान्त पूर्वदेशवाची से[1]—पाटलिपुत्रे भव=पाटलिपुत्रक। पाटलिपुत्रं निवासोऽभिजनो वाऽस्य=पाटलिपुत्रक। पाटलिपुत्रादागत=पाटलिपुत्रक। एकचक्रा (कीचक लोगों की एकनगरी। एङ् प्राचां देशे (१।१।७५) से 'एकचक्रा' वृद्ध है। एकचक्रायां भव इत्यादि=ऐकचक्रक। ईकारान्त—काकन्दी। ककन्देन निर्वृत्ता नगरी काकन्दी। तत्र भव इत्यादि=काकन्दक।

वुञ्—वृद्ध जनपदवाची तथा जनपदावधि (जनपद) से[2]—काश्मीरेषु भव काश्मीरक। ग्रामिसारे भव=ग्रामिसारक। ग्रादर्शे भव=ग्रादर्शक। जनपदरूपावधि से भी—श्यामायनेऽवधिभूते जनपदे भव=श्यामायनक।

वृद्ध हो चाहे ग्रवृद्ध, जो बहुवचन में ही प्रयुक्त होता है ऐसे जनपद और अवधिभूत जनपद-वाची शब्द से[3]—अङ्गाना क्षत्रियाणां निवासो जनपद= ग्रङ्गा। ग्रङ्गेषु भव, जात, तत ग्रागत=ग्राङ्गक। वङ्गा—वाङ्गक। कलिङ्गा—कालिङ्गक। ग्रवृद्ध जनपदावधि से—ग्रजमीढा, तत्र भव= ग्राजमीढक। ग्रजमीढा यह ग्रवधिभूत बहुवचनविषयक जनपद का नाम है। वृद्ध जनपद—दार्वा। जाम्बा। तत्र भव=दार्वक। जाम्बक।

देशवाची धूम ग्रादि शब्दों से[4]—धूमाख्ये देशे भव=धौमक। खण्डाख्ये देशे भव=खाण्डक। यहाँ विदेह और ग्रानर्त शब्द पढे हैं। उनसे प्रदेशवाची होने पर प्रत्यय विवक्षित है—विदेहानां क्षत्रियाणां स्वं वैदेहकम्। ग्रानर्तानां क्षत्रियाणां स्वम् ग्रानर्तकम्। पाथेय शब्द से योपध होने से प्रत्यय सिद्ध था, उसका भी यहाँ प्रदेशार्थ पाठ है। पथि साधु पाथेयम्। तत्र भव पाथेयकम्। समुद्र शब्द से 'नौ' तथा 'मनुष्य' ग्रभिधेय होने पर प्रत्यय होता है[5]— सामुद्रिका नौ। सामुद्रको मनुष्य। ग्रन्यत्र समुद्रस्येदं सामुद्रं जलम् (ग्रण्)। सामुद्र लवणम्। कूले भव कौलक (सुवीरदेशसम्बन्धी कौलक)। ग्रन्यत्र कौल। ग्रण्।

नगर से जातार्थ में वुञ्, जब प्रत्ययान्त से कुत्सा ग्रथवा प्रवीणता की

---

१ रोपधेतो प्राचाम् (४।२।१२३)।
२ जनपद-तदवध्योश्च (४।२।१२४)।
३ ग्रवृद्धादपि बहुवचनविषयात् (४।२।१२५)।
४ धूमादिभ्यश्च (४।२।१२६)।
५ समुद्रान्नावि मनुष्ये च (वा०)।

प्रतीति हो[1]—नगरे जातः कुत्सितः=नागरकः । नगरे जातः प्रवीणः=नागरकः । कुत्सादि अर्थ को वाक्य-द्वारा इस प्रकार झलकाया जाता है—

केनायं मुषितः पान्थो गात्रे पक्ष्मालिधूसरः (इस यात्री को, जिसके शरीर में बरौनियाँ धूलिधूसर हो गई हैं, किसने लूटा है), इह नागरकेण (यहीं शहरिये ने) । चोरा हि नागरका भवन्ति (शहरिये चोर होते हैं न) । काशिका वृत्ति में जो पाठ मुद्रित चला आ रहा है वह ऐसे है—केनायं मुषितः पन्था गात्रे पक्ष्मालिधूसरः । यह पाठ प्रामादिक है । मार्ग का लूटं जाना और बरौनियों में धूसर होना कैसे संगत हो सकता है । सो हमने इसे शुद्ध कर दिया है । 'पन्था' के स्थान पर 'पान्थ' पढ़ने से एकदम अर्थ लग जाता है । प्रवीणता (चातुर्य) को इस प्रकार अभिव्यक्त किया जाता है—केनेदं लिखितं चित्रं मनोनेत्रविकासि यत् । इह नागरकेण । प्रवीणा हि नागरका भवन्ति । बुद्धस्वामी के बृहत्कथाश्लोकसंग्रह (६।१०२) में 'नागरकता' का चतुराई (चालाकी, वञ्चकता, विप्रलम्भकता) अर्थ में प्रयोग आया है—तस्मादाप्तोपदेशोऽपि न नागरकता मम ।

अरण्य से मनुष्य अभिधेय होने पर[2]—अरण्ये जातः, अरण्ये भवः, अरण्यं निवासोऽस्य=आरण्यकः । यह वार्तिक द्वारा विहित 'ण' का अपवाद है । पथिन्, अध्याय, न्याय, विहार, हस्तिन् के अभिधेय होने पर भी[3]—आरण्यकः पन्थाः । आरण्यकोऽध्यायः, एकान्त स्थान में पाठ । अरण्य में पढ़े जाने वाला उपनिषद्भाग 'आरण्यक' कहलाता है । आरण्यको न्यायः, जंगल का ढंग । आरण्यको विहारः, जंगल में क्रीडा, सैर । आरण्यको हस्ती, जंगली हाथी । 'गोमय' से वुञ् विकल्प से[4]—आरण्यका गोमयाः । आरण्या गोमयाः । आरण्याः पशवः—यहाँ 'ण' ही होगा ।

कुरु, युगन्धर (जनपदवाची शब्द) से[5]—कुरुषु जनपदे जातः, भवः=कौरवकः (वुञ्) । कौरवः (अण्) । यौगन्धरकः । यौगन्धरः । कुरु शब्द कच्छादिगण (४।२।१३३) में पढ़ा है उससे अण् सिद्ध ही था ।

---

१ नगरात्कुत्सनप्रावीण्ययोः (४।२।१२८) ।
२ अरण्यान्मनुष्ये (४।२।१२६) ।
३ पथ्यध्याय-न्याय-विहार-मनुष्य-हस्तिषु इति वाच्यम् (वा०) ।
४ वा गोमयेषु (वा०) ।
५ विभाषा कुरु-युगन्धराभ्याम् (४।२।१३०) ।

कन्—मद्र, वृजि (देशवाची) शब्दों से[1]—मद्रेषु जात =मद्रक । वृजिषु जात =वृजिक । जनपदलक्षण वुञ् का अपवाद ।

अण्—कोपध (देशवाची) से[2]—ऋषिकेषु जात =आर्षिक । महिषिकेषु जात =माहिषिक । इक्ष्वाकुषु जात =ऐक्ष्वाक । दाण्डिनायनहास्तिनायन— (६।४।१७४) से इक्ष्वाकु के 'उ' का लोप निपातन किया है।

कच्छ आदि देशवाची शब्दों से[3]—कच्छे भव =काच्छ । सिन्धुषु भव =सैन्धव । वर्णुषु भव =वार्णव । ओर्देशे (४।२।११९) से ठञ् प्राप्त था । गन्धारेषु जात =गान्धार । कम्बोजेषु जात =काम्बोज । कश्मीरेषु भव काश्मीर कौशेयम्, कश्मीरी रेशम ।

वुञ्—कच्छ आदि से वुञ्, जब मनुष्य अथवा मनुष्यस्थ पदार्थ अभिधेय हों[4]—काच्छको मनुष्य । काश्मीरको मनुष्य । काच्छक काश्मीरक वाऽस्य हसित जल्पित वा, इसका हँसना और बोलना कच्छ निवासी अथवा काश्मीर निवासी का सा है। सिन्धु—सैन्धवको मनुष्य । सैन्धविका चूडा ।

छ—देशवाची गर्तोत्तरपद वाले प्रातिपदिक से[5]—वृकगर्त—वृकगर्तीयम् । शृगालगर्तीयम् । पर बहुगर्त । यहाँ ईषदसमाप्ति (किञ्चिदूनता) अर्थ में बहुच् प्रत्यय है पर इसका पर-प्रयोग न होकर पूर्व में ही प्रयोग होता है। अत 'गर्त' उत्तरपद नहीं । छ की प्राप्ति न होने से सामान्य-विहित अण् हुआ।

गह आदि प्रातिपदिकों से[6]—गह=गुफा । गहे भव =गहीय । अन्तस्थे भव =अन्तस्थीय । मध्य—मध्यमीया । मध्य(=पृथिवी मध्य)शब्द को मध्यम आदेश होता है। मध्यमीया =पृथिवीमध्ये भवा । पृथिवीमध्य निवास एषा कठादीना चरणाना ते माध्यमा[7] । अण् होता है, 'छ' नहीं । मुखतो=

---

१ मद्र-वृज्यो कन् (४।२।१३१)।
२ कोपधादण् (४।२।१३२)।
३ कच्छादिभ्यश्च (४।२।१३३)।
४ मनुष्य-तत्स्थयोर्वुञ् (४।२।१३४)।
५ गर्तोत्तरपदाच्छ (४।२।१३७)।
६ गहादिभ्यश्च (४।२।१३८)।
७ मध्यमध्यम चाण् चरणे (गण सू०) । मुखपार्श्वतसोर्लोपश्च (ग० सू०) । कुग्जनस्य परस्य च(ग०सू०)। देवस्य चेति वक्तव्यः (वा०)।

मुले भव मुलतीयम् । पार्श्वत = पार्श्वे भवम् = पार्श्वतीयम् । यहाँ 'तस्' के 'स्' का लोप होता है । जनानामिद जनकीयम् । (परस्य) परेषामिद परकीयम् । देवस्येद देवकीयम् । जन और पर को तथा देव को कुक् (क) आगम भी होता है । मदीयमिद धन न जनकीय भवति । गहन नाम देवकीय चरित विरुद्धाभास-मपि भवतीति नानुष्ठेय मनुष्यं । पूर्वपक्षस्येदम् = पूर्वपक्षीयम् । अपरपक्षस्येदम् अपरपक्षीयम् । अग्निशर्मण इदम् = अग्निशर्मीयम् । देवशर्मण इद देवशर्मी-यम् । तद्धित परे रहते भ-सज्ञक के 'टि' अन् का लोप । अन्तरे भवम् अन्त-रीयम् = परिधानीयम् । गहादि आकृतिगण है । मधुवर्ये भवम् = मधुवर्यीयम् । स्वार्थिक कन्नन्त 'स्वक' से स्वकीय । अन्तरा = बिना । न अन्तरा — नान्तरा (सुप्सुपा) भवम् = नान्तरीयम् । स्वार्थ मे कन् करने पर नान्तरीयकम् = अविनाभूतम्, जिसके बिना जो नहीं होता वह तन्नान्तरीयक होता है । गहा-दियो में यथासभव 'देश' विशेषण होता है ।

छण — वेणुक — वैणुकीय । वेत्र — वैत्रकीय (छण्) ।[1]

राजन् से वृद्ध होने से 'छ' प्रत्यय सिद्ध ही है । छ प्रत्यय के सन्नियोग से प्रत्यय 'न्' को 'क्' हो जाता है[2] — राज्ञ [redacted] राजकीय शासनम् ।

पर्वत से छ, मनुष्य भिन्न अभिधेय हो तो विकल्प से[3] — पर्वतीयो राजा । पर्वतीयो मनुष्य । पर्वतीयानि फलानि । पार्वतानि फलानि । (अण्) पर्वतीय-मुदकम् । पार्वतमुदकम् । (अण्) ।

छ, खञ्, अण् — युष्मद्, अस्मद् (जो त्यदादि होने से 'वृद्ध' हैं) से यथा-प्राप्त 'छ', खञ् विकल्प से होते हैं, पक्ष मे प्राग्दीव्यतीय अण्[4] — युष्मदीय । अस्मदीय । यौष्माकीण । आस्माकीन । अण् — यौष्माक । आस्माक । खञ् तथा अण् परे रहते युष्मद् और अस्मद् को क्रम से 'युष्माक' 'अस्माक' आदेश होते हैं ।[5]

एकवच मे वाचक युष्मद् अस्मद् को 'तवक', 'ममक' आदेश होते हैं खञ्

---

१ वेणुकादिभ्यश्छण् (ग० सू०) ।
२ राज्ञ क च (४।२।१४०) ।
३ पर्वताच्च (४।२।१४३) । विभाषाऽमनुष्ये (४।२।१४४) ।
४ युष्मदस्मदोरन्यतरस्या खञ् च (४।३।१) ।
५ तस्मिन्नणि च युष्माकास्माकौ (४।३।२) ।

तथा अण् होने पर[1]—तावकीन। मामकीन। कुतस्त्योऽयं तावकीनो बुद्धि-विपर्ययः। ममेमे मामकाः। मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय। छ प्रत्यय परे रहते एकत्व में वर्तमान युष्मद्, अस्मद् के मपर्यन्त भाग को 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' (७।२।९८) से 'त्व', 'म' हो जाने से (त्वद् ईय) त्वदीय तथा मदीय रूप होंगे।

यत्—अर्धे भवम्=अर्घ्यम्।[2]

ठञ्—पूर्वपद होने पर अर्धान्त से ठञ्[3]—वालेयार्धिक। वलयमें वस्तु वालेयम्, तस्यार्धम्=एकदेश, तत्र भवम् वालेयार्धिकम्।

यत्—पर, अवर, अधम, उत्तम इनके पूर्वपद होने पर अर्धान्त से यत् ही होता है[4]—परार्ध्य। अवरार्ध्य। अधमार्ध्य। उत्तमार्ध्य। अर्ध शब्द एकदेश (एकभाग) का वाचक है। अग्निर्वै देवानामवरार्ध्यो विष्णु परार्ध्यः (ब्रा० ब्र० १।१।३)। अग्नि सब देवों में नीचे (भूमिष्ठ) है और विष्णु (सूर्य) ऊपर है।

यत्, ठञ्—परादि से भिन्न दिग्वाची पूर्वपद होने पर तो ठञ् भी[5]—पूर्वार्ध्य। पौर्वार्धिक। दक्षिणार्ध्य। दाक्षिणार्धिक।

अञ्, ठञ्—ग्राम अथवा जनपद (=ग्रामसमुदाय) के एकदेश के अभिधेय होने पर यदि परादि से भिन्न दिग्वाची पूर्वपद हो तो 'अर्ध' से अञ् और ठञ्[6]—इमे खल्वस्माकं ग्रामस्य जनपदस्य वा पौर्वार्धाः पौर्वार्धिका वा। दाक्षिणार्धा, दाक्षिणार्धिका वा।

म—मध्ये भव=मध्यम।[7] आदौ भव=आदिम।[8] अव[9] (अवस्तात्) भव=अवम। अग्निर्वै देवानामवम (विष्णु परम)—(ऐतरेय ब्रा०)।

---

१ तवकममकावेकवचने (४।३।३)।
२ अर्धाद्यत् (४।३।४)।
३ सपूर्वपदात् ठञ् वक्तव्य (वा०)।
४ परावराधमोत्तमपूर्वाच्च (४।३।५)।
५ दिक्पूर्वपदाट् ठञ् च (४।३।६)।
६ ग्राम-जनपदैकदेशाद् अञ्-ठञौ (४।३।७)।
७ मध्यान्म (४।३।८)।
८ आदेश्चेति वक्तव्यम् (वा०)।
९ अवोधसोर्लोपश्च (वा०)।

अग्नि (पृथिवीस्थान होने से) देवताओं में सबसे नीचे है (और विष्णु=सूर्य सबसे ऊँचा है।) अध (=अधस्तात्) भव=अधम। यहा अवस् और अधस् के 'स्' का लोप भी होता है।

य—मध्य शब्द से जब जातादि अर्थ 'साम्प्रतिक'=न्याय्य, युक्त, उचित है' ऐसा कहने की इच्छा हो[४]—मध्यो वैयाकरण=नात्युत्कृष्टो नात्यपकृष्ट। मध्य काष्ठम्=नातिह्रस्व नातिदीर्घम्।

यञ्—समुद्र समीप-वर्ती 'द्वीप' से[२]—द्वैप्य। द्वैप्य भवन्तोऽनुचरन्ति चक्रम्। (काशिका)। कच्छादिगण (४।२।१३३) मे द्वीप शब्द पढा है उससे अण् प्राप्त था और मनुष्यतत्स्थयो वुञ् (४।२।१३४) से वुञ्। उन दोनो का अपवाद है। सूत्र में 'अनुसमुद्रम्' अनुर्यत्समया (२।१।१५) से समीप अर्थ मे अव्ययीभाव समास है।

ठञ्—काल विशेषवाची शब्दो से[३]—मासे भव मासिकम्। सवत्सरे भव सावत्सरिकम्। वर्षे भव वार्षिकम्। मासान्ते सवत्सरान्ते वर्षान्तेपि यद्भवति तदपि मासिकम् इत्याद्युच्यते। श्राद्ध कुर्यान्मासानुमासिकम् (मनु० ३।१२२)। मासश्चानुमासश्च मासानुमासौ, तयोर्भव मासानुमासिकम्। सायम्प्रातर्भवो विहार=सायम्प्रातिको विहार। अव्ययाना भमात्रे टिलोप। पुन पुनर्भव-तीति पौन पुनिक। यहाँ पुन पुन शब्द मुख्य वृत्ति से काल का प्रतिपादक नहीं है, गौणवृत्ति से काल बोधक है सो इससे भी प्रत्यय हुआ है। अद्रोहेण भूताना जाति स्मरति पौर्विकीम् (मनु० ४।१४८)—यहाँ 'पूर्व' जो पूर्वकाल का बोधक है से प्रत्यय हुआ। प्रास्थानिक मङ्गलम्। यहाँ प्रस्थान=प्रस्थान-काल। कादम्बपुष्पिक उत्सव। यहाँ भी कदम्बपुष्प=कदम्बपुष्पकाल, कदमो के खिलने का समय। शार्वर तम=शर्वर्यां भव तम। शार्वरस्य तमसो निषिद्धये (कुमार० ८।५८)। यहाँ अण् की प्राप्ति नहीं। अत यह प्रमादवचन है। इसी प्रकार समानकालीन, प्राक्कालीन इत्यादि प्रयोग भी प्रामादिक हैं। सूत्र में काल विशेषवाची का ही ग्रहण इष्ट है ऐसा काशिका तथा पदमञ्जरी मे स्पष्ट कहा है, परन्तु दीक्षित तथा तत्त्वबोधिनीकार स्वरूपग्रहण भी स्वीकार करते हैं—कालिक सम्बन्ध। कालिकी व्याप्ति।

---

१ म साम्प्रतिके (४।३।९)।
२ द्वीपादनुसमुद्र यञ् (४।३।१०)।
३ कालाट्ठञ् (४।३।११)।

शरद् से श्राद्ध अभिधेय होने पर[1]—शरदि भवं शारदिकं श्राद्धम्। अन्यत्र शारदा शालयः (अण्)। आगे (४।३।१६) में ऋतु-विशेषवाची से अण् का विधान करेंगे उसका यह अपवाद है।

रोग और आतप अभिधेय हो तो शरद् से ठञ् विकल्प से[2]—शारदिको रोगः। शारदिक आतपः। शारदो रोगः। शारद आतपः। शरद् ऋतु में नाना रोग उत्पन्न होते हैं। अतः जीवेम शरदः शतम् ऐसी वेदोक्त प्रार्थना है।

निशा तथा प्रदोष (प्रारम्भो दोषायाः) शब्दों से विकल्प से[3]—नैशिकम्। नैशम् (अण्)। प्रादोषिकम्। प्रादोषम्। नैशिकं सन्तमसम्, रात का गाढ़ा अन्धकार। प्रादोषिकम् अवतमसम्, सायं काल का थोड़ा सा अन्धकार।

श्वस् शब्द से भी विकल्प से ठञ्[4]—श्वोभवं शौवस्तिकम्। प्रत्यय परे होने पर इसे तुट् (त्) आगम भी होता है। द्वारादीनां च (७।३।४) से 'व्' से पूर्व ऐच् आगम। श्वस्त्य (त्यप्)। श्वस्तन (ट्यु, ट्युल्)।

अण्—सन्धिवेला, सन्ध्या, अमावास्या, त्रयोदशी, चतुर्दशी, पञ्चदशी, प्रतिपद्, पौर्णमासी—इन से अण् तथा ऋतु और नक्षत्र विशेषवाचियों से भी[5]—सान्धिवेलोऽरुणिमा क्षितिजस्य, दिङ्मण्डल की सन्धिवेला में होने वाली लाली। सान्ध्यो देवोपासनविधिः। आमावास्योऽन्धकारः। चातुर्दशोऽनध्यायः। अहस्य प्रातिपदश्चारः। पौर्णमासो यागः। ऋतु विशेषवाची शब्दों से—शिशिरस्येदं शीतं शैशिरम्। ग्रीष्मस्येदमौष्ण्यं ग्रैष्मम्। नक्षत्रवाचियों से—पुष्ये नक्षत्रे भवो राज्याभिषेकः=पौषः। तिष्ये भवः=तैषः। तिष्य और पुष्य के 'य्' का लोप हो जाता है नक्षत्रवाची से परे विहित अण् परे होने पर[6]। पौर्णमासी शब्द वृद्ध है उससे 'छ' का प्रसंग था, उसको बाधन करने के लिए 'पौर्णमासी' का यहाँ पाठ किया है।

'संवत्सर' से अण् हो यदि फल अथवा पर्व अभिधेय हो[7]—सांव

---

१ श्राद्धे शरदः (४।३।१२)।
२ विभाषा रोगातपयोः (४।३।१३)।
३ निशाप्रदोषाभ्यां च (४।३।१४)।
४ श्वसस्तुट् च (४।३।१५)।
५ सन्धिवेलाद्यृतुनक्षत्रेभ्योऽण् (४।३।१६)।
६ तिष्य-पुष्ययोर्नक्षत्राणि (वा०)।
७ संवत्सरात् फलपर्वणोः (वा०)।

फलम्, वर्ष में (के भीतर) पकने वाला फल। सांवत्सर पर्व, वर्ष में होने वाला उत्सव।

एण्य—प्रावृषि भवा पर्जन्या = प्रावृषेण्या[1]। बरसात के बादल।

ठक्—वर्षा (= बरसात)। वर्षासु भवा अब्दा वार्षिका[2]। श्रावण इति प्रथमो वार्षिको मास, श्रावण (सावन) बरसात का पहला महीना होता है। वार्षिक धनु (इन्द्रधनु)।

ठञ्, अण्—हेमन्त (ऋतु) से—हैमन्तिकमुदपानं वास। हैमनमुपलेपनम् (हेमन्त में कस्तूरी आदि का लेप)[3]। यहाँ अण् परे होने पर 'त' का लोप भी होता है। पूर्व कहे गए ऋत्वण् (४।३।१६) से अण् होने पर तो 'त' का लोप नहीं होगा—हैमन्ती कुररपङ्क्ति।

ट्यु, ट्युल्—साय, चिर, प्राह्ण, प्रग और अव्ययों से—सायंतनी देवार्चा, सायं काल में होने वाली देवपूजा। चिरन्तन सखा, पुराना मित्र। यहाँ साय (घजन्त) दिवसावसान वाची शब्द है, मकारान्त अव्यय सायम् नहीं, किन्तु प्रत्यय-सन्नियोग से वह मान्त हो जाता है। ऐसे ही चिर के विषय में भी जानें। प्राह्णेतनं भोजनम्। प्रगेतनो विहार। प्रात की सैर। यहाँ प्रत्यय सन्नियोग से प्राह्ण (= पूर्वाह्ण) और प्रग को एदन्त बनाया जाता है। ट्यु, ट्युल् में स्वर भेद होता है, शब्द के रूप में कुछ भेद नहीं। 'यु' को 'अन' आदेश पहले होता है। पीछे इसे तुट् (त्) आगम होता है। अव्ययों से—दिवातन। इदानीन्तन। अधुनातन। प्राक्तन। अर्वाक्तन।

त्न—चिर—चिरत्न। परुत्(= गतवर्ष)—परुत्न। परारि—परारित्न[4]। परुत्न समुत्कर्षोऽस्य विद्यालयस्य मुदुरमत्यक्रामत्परारित्नम्, इस विद्यालय का पिछले वर्ष का उत्कर्ष उससे पिछले वर्ष के उत्कर्ष से कहीं बढ़ गया।

---

१ प्रावृष एण्य (४।३।१७)।
२ वर्षाभ्यष्ठक् (४।३।१८)।
३ सर्वत्राण् तलोपश्च (४।३।२२)। इससे पूर्व 'हेमन्ताच्च' यह छान्दस सूत्र है।
४ सायं चिरं प्राह्णे-प्रगे-व्ययेभ्यष्ट्युटयुलौ तुट् च (४।३।२३)।
५ चिर-परुत्परारिभ्यस्त्नो वक्तव्य (वा०)।

डिमच्—अग्र, पश्चात्, अन्त से[1]—अग्रिम । पश्चिम (टि=आत् का लोप) । अन्तिम ।

ट्यु ट्युल्—पूर्वाह्ण, अपराह्ण से विकल्प से (पक्ष मे ठञ्)[2]—पूर्वाह्णतनम् । अपराह्णतनम् । यहाँ घ-काल-तनेषु कालनाम्न (६।३।१७) से सप्तमी का अलुक् भी होता है । पूर्वाह्णेतनम् । अपराह्णेतनम् । पक्ष में ठञ् होकर पौर्वाह्णिकम्, आपराह्णिकम् ऐसे रूप भी होंगे ।

अण् आदि—मथुरायां जात =माथुर । स्रुघ्ने जात =स्रौघ्न । प्राग्दीव्यतीय अण् ।[3] उत्से जात =औत्स (अञ्) । उदपाने=कूपे जात =औदपानो भेक (अञ्) । कुरुषु जात =कौरव (अण्) । पञ्चालेषु जात पाञ्चाल (अञ्) । राष्ट्रे जाता ओषधय =राष्ट्रिया (घ) । ग्रामे जात =ग्राम्य (य) । ग्रामीण (खञ्) । 'तत्र जात' इस अर्थ मे यथाविहित (जो प्रत्यय जिस प्रकृति से विहित है) प्रत्यय हो रहा है ।

ठप्—प्रावृषि जाता प्रावृषिका धारा[4] । 'एण्य' का अपवाद है ।

वुञ्—शरद् शब्द से 'तत्र जात' इस अर्थ मे, प्रत्ययान्त से यदि संज्ञा का बोध हो[5]—शरदि जाता शारदका दर्भा । शरदि जाता शारदका मुद्गा । दर्भविशेष तथा मुद्ग-विशेष को 'शारदक' कहते हैं ।

वुन्—पूर्वाह्णे जात पूर्वाह्णक । अपराह्णक । ठञ् तथा ट्यु ट्युल् का अपवाद । आर्द्रानक्षत्रे जात =आर्द्रक । मूले नक्षत्रे जात =मूलक । नक्षत्र मे विहित अण् का अपवाद । प्रदोष—प्रदोषक । ठञ् और औत्सर्गिक अण् का अपवाद । अवस्करो गूथम् । तत्र जात कृमि =अवस्करक[6] । औत्सर्गिक अण् का अपवाद ।

पथि जात =पन्थक[7] । पथिन् को 'पन्थ' आदेश भी ।

---

१ अग्रादिपश्चाड्डिमच् (वा०) ।
२ विभाषा पूर्वाह्णापराह्णाभ्याम् (४।३।२४) ।
३ तत्र जात (४।३।२५) ।
४ प्रावृषष्ठप् (४।३।२६) ।
५ संज्ञायां शरदो वुञ् (४।३।२७) ।
६ पूर्वाह्णापराह्णार्द्रा-मूल-प्रदोषावस्कराद् वुन् (४।३।२८) ।
७ पथ पन्थ च (४।३।२९) ।

'अमावास्या' से विकल्प से वुन्[1], पक्ष में सन्धिवेलादि होने से अण्—अमावास्यायां जातः=अमावास्यक । वुन् । आमावास्य (अण्) । एकदेशविकृतमनन्यवद् भवति इस न्याय से 'अमावस्या' शब्द से भी ये प्रत्यय होंगे—अमावस्यक । आमावस्य । अमावास्या (तथा अमावस्या) से 'अ' प्रत्यय भी होता है[2]—अमावास्यायां जातः अमावास्य (अ) । अमावस्यायां जातः=अमावस्य ।

कन्—सिन्धु, अपकर से कन्[3]—सिन्धुषु जातः सिन्धुक । अपकरक ।

अण्, अञ्—सिन्धुषु जातः सैन्धव । अपकरे जातः=आपकर ।[4]

अण् लुक्—श्रविष्ठा फल्गुनी आदि से 'तत्र जातः' इस अर्थ में उत्पन्न हुए प्रत्यय (नक्षत्राण्) का लुक् हो जाता है ।[5] तद्धित प्रत्यय का लुक् हो जाने पर स्त्री-प्रत्यय का भी लुक् हो जाता है[6]—श्रविष्ठासु जातः श्रविष्ठ । स्त्रीत्व विवक्षा में पुनः टाप्—श्रविष्ठा (काचित् कन्या) । फल्गुनी—फाल्गुन । अनुराधा—अनुराध । स्वाति—स्वाति । तिष्य—तिष्य । पुनर्वसु—पुनर्वसु । हस्त—हस्त । विशाखा—विशाख । अषाढा—अषाढ । बहुला (=कृत्तिका) —बहुल । बहुलासु जातः=बहुल । बहुला (कृत्तिका) नाम के छः नक्षत्र हैं ।

लुक् प्रकरण में चित्रा, रेवती, रोहिणी नक्षत्रवाची शब्दों से 'तत्र जातः' अर्थ में आए हुए प्रत्यय का लुक् वार्तिककार को इष्ट है, जब स्त्री अपत्य को कहना है[7]—रेवत्यां जाता रेवती । चित्रा । रोहिणी ।

ट, अन्—फल्गुनी, अषाढा से[8]—फल्गुन्यां जाता कन्या फल्गुनी । टित् होने से ङीप् । अषाढायां जाता=अषाढा (अन्) । न् स्वर के लिए है ।

प्रत्यय लुक्—स्थानान्त प्रातिपदिक से, गोशाल, खरशाल—इनसे भी

---

१ अमावास्याया वा (४।३।३०) ।
२ अ च (४।३।३१) ।
३ सिन्ध्वपकराभ्यां कन् (४।३।३२) ।
४ अणञौ च (४।३।३३) ।
५ श्रविष्ठा फल्गुन्यनुराधा-स्वाति तिष्य-पुनर्वसु हस्त विशाखाऽषाढा-बहुलाल्लुक् (४।३।३४) ।
६ लुक् तद्धितलुकि (१।२।४९) ।
७ लुक् प्रकरणे चित्रा-रेवती रोहिणीभ्य उपसंख्यानम् (वा०) ।
८ फल्गुन्यषाढाभ्यां टानौ (वा०) ।

तत्र जात अर्थ में आए हुए प्रत्यय (अण्) का लुक्[1]—गोस्थाने जात = गोस्थान । गोशाले जात = गोशाल । खरशाले जात = खरशाल । गवां शाला गोशालम् । खराणां शाला खरशालम् । समास के नपु० होने से ह्रस्व ।

नक्षत्रवाची प्रातिपदिकों से जातार्थ प्रत्यय का बहुलतया लुक् होता है[2]—रोहिण्यां जात = रोहिण । रौहिण (नक्षत्राण्) । मृगशिरा नाम नक्षत्रम् । तत्र जात मृगशिरा । मार्गशीर्ष । अचि शीर्ष (६।१।६२) से शिरस् को शीर्ष आदेश होता है ।

अणादि और इस प्रकरण में कहे घादि प्रत्यय यथाविहित (जिस प्रकृति से जो विधान किया गया है) कृत, लब्ध, क्रीत, कुशल[3], प्रायभव[4] तथा सम्भूत[5] अर्थों में भी आते हैं—स्रुघ्ने कृतो वा लब्धो वा क्रीतो वा कुशलो वा स्रौघ्न । एवं माथुर । अण् । राष्ट्रे कृतादि = राष्ट्रिय (घ) । स्रुघ्ने प्रायेण बाहुल्येन भवति स्रौघ्न (कदाचिन्न भवतीत्यपि) । एवं माथुर । प्राय-भव = अतिशयभव । राष्ट्रे प्रायेण भवति (कदाचित्ततो बहिरपि) इति राष्ट्रिय । ग्रामे प्रायेण भवति (कदाचिन्नगरेऽपि) इति ग्राम्य । ग्रामीण । 'सम्भूत' का अर्थ 'समाया हुआ' है । स्रुघ्ने सम्भवति संयम् = स्रौघ्नम् । राष्ट्रे सम्भवति राष्ट्रियम् ।

ढञ्—कोशे सम्भूत कौशेय वस्त्र । (वस्त्र जो कोश में समाता है) । कौशेय कृमिकोशोत्थम्—ऐसा अमर कोष में पाठ है । इसके अनुसार 'कौशेय' कीड़ों से बने हुए रेशम का नाम है । श० ब्रा० ५।२।१।८ में कौश वास प्रयोग आया है । वहाँ कोशस्येदं कोशस्य विकारो वा ऐसा अर्थ समझना चाहिए । शैषिक अण् अथवा विकार अर्थ में अण् ।

ढञ्, अण्—कालवाची प्रातिपदिक से यथाविहित प्रत्यय होता है, साधु, पुष्प्यत् (खिल रहा है), पच्यमान (पक रहा है) इन अर्थों में[7]—हेमन्ते साधु

---

१ स्थानान्त-गोशाल-खरशालाच्च (४।३।३५) ।
२ नक्षत्रेभ्यो बहुलम् (४।३।३७) ।
३ कृत-लब्ध-क्रीत-कुशला (४।३।३८) ।
४ प्रायभव (४।३।३९) ।
५ सम्भूते च (४।३।४१) ।
६ कोशाड् ढञ् (४।३।४२) ।
७ कालात् साधु-पुष्प्यत् पच्यमानेषु (४।३।४३) ।

प्राकार =हैमन्तिक । हैमन्त । हैमन । ठञ्, अण्, अण् और तलोप । (वह) दीवार जो हेमन्त मे साधु=हित=उपकारक है, शीत वारक होने से। शैशिरमनुलेपनम्, जो लेप शिशिर ऋतु मे साधु है। अण्। वसन्ते पुष्प्यन्ति वासन्त्यो लता, जो बेलें वसन्त मे खिलती हैं। ऋत्वण्। शरदि पच्यन्ते शारदा शालय । ऋत्वण्।

कालवाची से 'उप्त' अर्थ मे भी यथाविहित प्रत्यय[1]—हैमन्ते उप्यन्ते हैमन्ता यवा, जो जो हेमन्त मे बोए जाते हैं। ग्रीष्म उप्यन्त इति ग्रैष्मा व्रीहय ।

वुञ्—'आश्वयुजी' से 'उप्त' अर्थ मे वुञ्[2]—आश्वयुज्यामुप्ता माषा आश्वयुजका । अश्वयुज्=अश्विनी। अश्विनीभ्या युक्ता पौर्णमासी आश्वयुजी।

ग्रीष्म, वसन्त से 'उप्त' अर्थ मे विकल्प से[3]—ग्रैष्म सस्य ग्रैष्मक वा। वासन्त वासन्तक वा।

कालवाची से 'देयम् ऋणम्' इस अर्थ मे यथाविहित प्रत्यय[4]—मासे देयमृण मासिकम्। ठञ्। आर्धमासिकम्। सांवत्सरिकम्।

वुन्—गौणवृत्ति मे कालवाची कलापिन्, अश्वत्थ, यवस—से 'देयम् ऋणम्' इस अर्थ मे[5]—जिस काल मे कलापी (मोर) कलापी=नये पखों वाले होते हैं उसे कलापी कह दिया है। जिस काल मे अश्वत्थ (पीपल) फलवान् होते हैं उसे 'अश्वत्थ' कह दिया है। जिस काल मे यवस (घास, चारा) उत्पन्न हो जाता है उसे यवस कह दिया है। जिस काल मे बुस (भूसा) तैयार हो जाता है उसे गौणवृत्ति मे बुस कह दिया है। कलापिनि काले देयमृण कलापकम्। अश्वत्थकम्। यवसकम्। बुसकम्।

अण्, ठञ्—कालवाची से यथाविहित प्रत्यय हो, 'व्याहरति मृग' (मृग बोलता है) इस अर्थ मे[6]—निशायां व्याहरति शब्दायते इति नैशो मृग, नैशिक

---

१ उप्ते च (४।३।४४)।
२ आश्वयुज्या वुञ् (४।३।४५)।
३ ग्रीष्म-वसन्तादन्यतरस्याम् (४।३।४६)।
४ देयमृणे (४।३।४७)।
५ कलाप्यश्वत्थ-यवस-बुसाद् वुन् (४।३।४८)।
६ व्याहरति मृग (४।३।५१)।

इति वा । जो मृग रात को बोलता है उसे नैश (अण्) अथवा नैशिक (ठञ्) कहते हैं । इसी प्रकार प्रादोषो मृग । प्रादोषिको मृग ।

निशा-सहचरितमध्ययन निशा । निशा=रात भर जो अध्ययन है उसे भी 'निशा' कह दिया है । जो इस अध्ययन को सहता है उसे नैशिक तथा नैश (ठञ् और अण् करके) कहेंगे । नैशो नैशिको वा[1] ब्रह्मचारी ।

यहाँ कालाट्ठञ्—(४।३।४२) से आया हुआ कालाधिकार समाप्त हुआ ।

अण्, घ—'तत्र भव' अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है—स्रुघ्ने भवः= स्रौघ्नः । मथुरायां भवः=माथुरः । अण् । राष्ट्रे भवः=राष्ट्रियः (घ) । विगततरणो स्वर्गे पाताले भवा वैतरणी (नदी) । अण् । ङीप् ।

यत्—दिश् इत्यादि शब्दों से 'तत्र भव' अर्थ में यत्[3]—दिशि भवं = दिश्यं । वर्गे भवः=वर्ग्यः । सर्वे वर्ग्याः सम विचक्षणाः स्युरिति नियमो न । सेनामुखे भवाः सेनामुख्याः सैनिका भवाः सांयुगीनास्तथा सेनाजघने भवाः सेनाजघन्या अपि । सांयुगीन=युद्ध में विशारद । पक्षे भवः=पक्ष्यः । केचित् कृष्णपक्ष्या, केचित्सपक्ष्या । रहस्—रहसि भवं रहस्यम् । गुप्त, गुप्त बात । रहस्यानि च लोमानि सर्वाण्येव विवर्जयेत् (मनु० ४।१४४) । रहस्यानि= गुह्याङ्गेषु भवानि । आदौ भवम्=आद्यम् । अन्ते भवम्=अन्त्यम् । यूथे भव=यूथ्य । अथ च यूथ्यो गज, अथ च यूथभ्रष्टः । वंशे भवः=वंश्यः । राजवंश्य । यह षष्ठीसमास है । राज्ञो वंश्य इति राजवंश्य । 'राजवंश' से तो वृद्धान्त से 'छ' होगा—राजवंशीय । अप्सु भवा अप्या जन्तवः, जो जन्तु पानी में होते हैं वे 'अप्य' नाम से कहे जाते हैं । शब्द इत्याकाश्यो गुण । आकाशे भव । उदके भवा=उदक्या (रजस्वला) । वस्तुतः यह रूढि शब्द है प्रकृति प्रत्ययादि कुछ भी नहीं । यौगिक अर्थ में तो अण् होकर औदक सत्त्व, जल में होने वाला जीव, ऐसा कहेंगे । मर्तो नाम लोक, तत्र भवो मर्त्यः ।

शरीरावयववाची से भी[4]—दन्तेषु भवं दन्त्यम् । लृकारस्तवर्गो लकार

---

१ तदस्य सोढम् (४।३।५२) ।
२ तत्र भव (४।३।५३) ।
३. दिगादिभ्यो यत् (४।३।५४) ।
४ शरीरावयवाच्च (४।३।५५) ।

सकारश्चेति दन्त्या वर्णाः । ओष्ठयोर्भवम् ओष्ठ्यम् । मुखे भवम् मुख्यम् । न मुख्या विप्रुष उच्छिष्टं कुर्वन्ति (ग० ध० सू० १।१।४४) । मुख से गिरी हुई बूँदें (खाते समय मुख से गिरी हुई बूँदें जिस भोज्य पदार्थ पर पड़ें उसे) जूठा नहीं बनातीं । नोच्छिष्टं कुर्वते मुख्या विप्रुषोऽङ्गं पतन्ति याः (मनु० ५।१४१) । तस्य मुख्यान् (=मुखे भवान्) प्राणान्त्सस्पृशन् (गो० गृ० २।८।१३) । शिरसि भवानि (खानि) शीर्षण्यानि । ये च तद्धिते (६।१।६१) से शिरस् को शीर्षन् आदेश । ये चाभाव-कर्मणोः (६।४।१६८) से प्रकृतिभाव । खानि चोपस्पृशेच्छीर्षण्यानि (गौ० ध० १।१।३८) । वा केशेषु (वा०) से शिरस् को विकल्प से शीर्षन् आदेश—शीर्षण्याः केशाः । शिरस्याः । पदमञ्जरीकार हरदत्त का कहना है कि शिरस्य शब्द केशार्थ में रूढ है इसके अनन्तर केश (विशेष्य) का प्रयोग नहीं करना चाहिए । नासिकायां भवं नस्यम् । नासिका को नस् आदेश । नासिकायां भवा रज्जुः=नस्या । यत्, तस्, क्षुद्र परे रहते नासिका को नस् आदेश होता है । नस्यया उतः=नस्योतः, नुकेल वाला । पादे भवः स्फोटः पद्यः, पाओं में फोड़ा । अतदर्थे (तस्मा इदं तदर्थम्) में यत् प्रत्यय परे होने पर पाद को पद्[1] । दश हस्त्या अङ्गुलयो दश पद्या । विराड् वै पुरुषो दश हि हस्त्या अङ्गुल्यो दश पाद्या (ता० ब्रा० २३।१४।५) । यहाँ 'पाद्य' आर्ष है, पाणिनीय नहीं ।

ढञ्—दृति, कुक्षि, कलशि, वस्ति, अस्ति, अहि से 'तत्र भव' अर्थ में[2]—दृतौ भवं दार्तेयं तैलम् । कौक्षेयी वेदना, कुक्षि में होने वाली पीड़ा । कलश्यां भवं कालशेयं दण्डाहतम्, मटकी में मथानी से मथा हुआ दही । वस्तौ भवं वास्तेयम् । नाभि के नीचे का भाग 'वस्ति' है । अस्ति तिङन्त प्रतिरूपक अव्यय है । अस्तिभवम् आस्तेयम् । यहाँ अस्ति=धन, यथा अस्तिमान्=धनवान् । यहा । बहुला ह्यास्तेया दोषा भवन्ति । अहौ भवम् आहेयं विषम् ।

ढञ्, अण्—ग्रीवासु (=धमनीषु=धमनीसंघाते) भवं ग्रैवेयम् । ग्रैवम्[3] । मातङ्गकरिणां ग्रैवम् (रघु० ४।४८) ।

ञ्य—गम्भीरे भवं गाम्भीर्यम्[4] । बहिस्, देव, पञ्चजन से भी[5]—

१ पद्यत्यतदर्थे (६।३।५३) ।
२ दृति-कुक्षि कलशि-वस्त्यस्त्यहेर्ढञ् (४।३।५६) ।
३ ग्रीवाभ्योऽण् च (४।३।५७) ।
४ गम्भीराञ्ञ्यः (४।३।५८) ।
५ बहिर्देव-पञ्चजनेभ्यश्चेति वक्तव्यम् (वा०) ।

बहिर्भव बाह्यम्। पञ्चजनेषु=सन्निपादेषु ब्राह्मणादिषु चतुर्षु भवम् पाञ्चजन्यम्। 'बहिस्' के 'टि' का लोप। प्राग्दीव्यतीय अर्थों में बहिस् से यञ् तथा देव से अञ् का विधान हो चुका है।

परिमुख आदि अव्ययीभावों से[1]—परिमुख भव=पारिमुख्य। यदि 'परि' वर्जन अर्थ में है तो अप-परि-बहिरञ्चवः पञ्चम्या (२।१।१२) से अव्ययीभाव। यदि 'परि' सर्वतो भाव अर्थ में है तो इसी निपातन से अव्ययीभाव है। यदि परिमुख अव्ययीभाव न होगा तो 'ञ्य' प्रत्यय नहीं होगा। परि गतो मुख परिमुख (प्रादिसमास), तत्र भव=पारिमुख (अण्)। उपसीरम् (सीरस्य समीपे) भवम् औपसीर्यम्। परिहनु भव पारिहनव्यम्, हनु =जबड़े के चारों ओर होने वाला। ओर्गुणः (६।४।१४६) से गुण होकर वान्तो यि प्रत्यये (६।१।७९) से 'ओ' को अवादेश। प्रतिशाख भवम्=प्रातिशाख्यम्। परिपार्श्वं भव=पारिपार्श्विक। एवमुक्त्वा तु तान्सर्वान् राक्षसान्पारिपार्श्विकान् (रा० ६।२१।१७)। परन्तु उपकूल भवम् औपकूलम्—यहाँ परिमुखादि गण में पठित न होने से ञ्य न होकर शैषिक अण् हुआ।

ठञ्—'अन्त' पूर्वपद होने पर अव्ययीभाव से 'तत्र भव' अर्थ में[2]—अन्तर्वेश्म (अन्तर्वेश्मम्) भवा=आन्तर्वेश्मिका राजदारा। वेश्मन् नपुं० प्रातिपदिक है। अतः नपुंसकादन्यतरस्याम् (५।४।१०९) से विकल्प से टच् समासान्त होता है। अन्तर्गेहे भव पारिणाह्यम्=आन्तर्गेहिकम्। पारिणाह्य =गृहोपकरण।

समान शब्द से—सामानिको गुणः (समानेषु भव)।

समानान्त से भी—समानग्रामे भव=सामानग्रामिक। देवदत्तो यज्ञदत्तश्च सामानग्रामिकौ। समानदेशे भव=सामानदेशिक। भारत वर्षं म समानो देश इति सामानदेशिका वयम्।

अध्यात्म आदि अव्ययीभावों से 'तत्र भव' अर्थ में[3]—अध्यात्म आदि विभक्त्यर्थ में अव्ययीभाव हैं। 'अन' (५।४।१०८) टच् समासान्त। अध्यात्मम् भवम् आध्यात्मिकं दुःखम्। आत्मा=शरीर। शारीरिक दुःख। अनुशतिकादि होने से उभयपद-वृद्धि। अधिदेव भवम् आधिदैविकम्। देवा इन्द्रि-

१ अव्ययीभावाच्च (४।३।५९)।
२ अन्तःपूर्वपदाट्ठञ् (४।३।६०)।
३ अध्यात्मादिभ्यश्च (इ०)।

याणि । देवा सूर्यचन्द्रादय । अधिभूत भवम्=आधिभौतिकम् । अध्यात्मादि आकृतिगण है । औत्पादिकी शास्त्रसमुद्भवा च सांसर्गिकी धी (का० नी० १६।३३) । उत्पादे जन्मनि भवा=औत्पादिकी । ऊर्ध्वंदम=ऊर्ध्व । ऊर्ध्वंदमे भव =और्ध्वदमिक । ऊर्ध्वदेहे भव =और्ध्वदेहिक । उपरते प्राणिनि या क्रिया शास्त्रेन क्रियन्ते ता और्ध्वदेहिक्य । प्रतिपुरुष भवा प्रातिपौरुषिका गुणा । स्थित्वा पथि प्राथमकल्पिकाना राजवमाणा प्रशसान्वितानाम् (बुद्ध० २।४६) । प्रथमे कल्पे भवा प्राथमकल्पिका । एष प्रोक्तो द्विजातीनामौपनायनिको विधि (मनु० २।६८) । उभयपद वृद्धि । अथ सामयाचारिकान्धर्मान्व्याख्यास्याम । समय = पौरुषेयी व्यवस्था । तन्मूला आचारा =समयाचारा । तेषु भवा सामयाचारिका । अवेदोऽगृहे भव =आवेदिक, अतिथि । सदृष्टी प्रत्यक्षे भव सादृष्टिकम्=सद्य फलम्, तात्कालिक फल । लोकोत्तरपद वाले समास से—इहलोके भवम् ऐहलौकिकम् ऐश्वयम् । परलोके भव पारलौकिकम् । उभयपद वृद्धि ।

ईय—तसन्त मुख और पार्श्व से—मुखतो भव मुखतीय तेज । पार्श्वतो भव पार्श्वतीयार्ति, पार्श्व भाग मे होने वाली पीडा । तस् यहाँ सप्तम्यर्थ मे हुआ है । मुखत =मुखे । पार्श्वत =पार्श्वे । अव्ययाना भ-मात्रे टि-लोप से टि=अस् का लोप ।

मण, मीय—मध्ये भवम्=माध्यमम् । मध्यमीयम् ।[1] रवा च मा वान्तरा कमण्डलुरिति माध्यम स भवति । मध्यमीयो वा । ईय भी—मध्यीय ।

दिनण—मध्ये दिवमध्ये भव =माध्यन्दिन सूर्य । यहाँ 'मध्य' को मध्यम् आदेश भी होता है ।

प्रत्यय-लुक्—अश्वस्य स्थाम (बलम्) अस्यति अश्वत्थामा । पृषोदरादि होने से 'स्' को 'त्' । अश्वत्थाम्नि भव =अश्वत्थामा । 'तत्र भव' इस अर्थ मे 'स्थाम्नोऽकार' से आए हुए 'अ' प्रत्यय का लुक् हो जाता है ।[2]

ठञ—परि-अनुपूर्व 'ग्राम' से—पारिग्रामिक । आनुग्रामिक । आनुग्रामिकी कुल्या, ग्राम के साथ-साथ बहने वाली नहर ।[3]

छ—जिह्वामूल और अङ्गुलि से 'तत्र भव' अर्थ मे—जिह्वामूले भव =

---

१ मध्यादीय । मण्मीयौ च प्रत्ययौ वक्तव्यौ (वा) ।

२ स्थाम्नो लुग्वक्तव्य (वा०) ।

३ ग्रामात्पर्यनुपूर्वात् (४।३।६१) ।

जिह्वामूलीयस्तवर्ग । अङ्गुलौ भवम् अङ्गुलीयम्[1], तदेवाङ्गुलीयकम् ।

वर्गान्त से भी—कवर्गीय । ककार इति कवर्गीयो वर्ण ।[2]

यत्, ख—शब्द-भिन्नवाच्य होने पर वर्गान्त से यत् तथा ख[3]—वासुदेव-वर्गे भव =वासुदेववर्ग्य । वासुदेववर्गीण । एते तृतीयवर्ग्यास्त्वाश्च । एते चतुर्थवर्गीणा ।

कन्—कर्ण, ललाट से 'तत्र भव' अर्थ में जब अलंकार अभिधेय हो[4]—कर्णे भवोऽलङ्कार कर्णिका । ललाटे भवोऽलङ्कारो ललाटिका । ये स्वभाव से स्त्रीलिङ्ग में ही प्रयुक्त होते हैं। अलङ्कार से अन्यत्र कर्णे भव कर्ण्य किट्टम् (मलम्) । ललाटे भव ललाट्य तिलकम् । यत् ।

अण्—(व्याख्येय के) व्याख्यान रूप ग्रन्थ के अभिधेय होने पर व्याख्येय ग्रन्थ के नाम से यथा-विहित प्रत्यय होता है और उसी से 'तत्रभव' अर्थ में भी[5]—सुपा व्याख्यानो ग्रन्थ सौप । अण् प्राग्दीव्यतीय । व्याख्यान शब्द में करण में ल्युट् है। तिङा व्याख्यानो ग्रन्थ तैङ । कृता व्याख्यानो ग्रन्थ कार्त । भव अर्थ में भी—सुप्सु भवा विधय =सौपा । तिङ्सु भवा कार्य-विशेषा =तैङा । पाटलिपुत्रस्य व्याख्यानी सुकोसला, यहाँ सुकोसला को देखकर पता चलता है कि पाटलिपुत्र इस प्रकार के सन्निवेश वाला है, पर पाटलिपुत्र व्याख्येय ग्रन्थ का नाम नहीं है। अत यहाँ अण् का अपवाद वृद्धाच्छ नहीं होगा, वाक्य ही रहेगा।

ठञ्—अन्तोदात्त बह्वच् व्याख्यातव्य नाम प्रकृति से ठञ्[6]—षत्व च णत्व च षत्वणत्वे, तयोर्व्याख्यानो ग्रन्थ षात्वणत्विक । नतोऽनुदात्त, अनत उदात्त, तयोर्नतानतयो स्वरयोर्व्याख्यानो ग्रन्थ =नातानतिक । संहिता बह्वच् तो है पर गतिरनन्तर (६।२।४९) से गति का स्वर होने से आद्युदात्त है। अत ठञ् न होकर प्राग्दीव्यतीय अण् होगा—संहितायाः व्याख्यानो ग्रन्थ साहित । संहितायां भव साहितम् ।

---

१ जिह्वामूलाङ्गुलेश्छ (४।३।६२)।

२ वर्गान्ताच्च (४।३।६३)।

३ अशब्दे यत्खावन्यतरस्याम् (४।३।६४)।

४ कर्ण-ललाटात् कनलङ्कारे (४।३।६५)।

५ तस्य व्याख्यान इति च व्याख्यातव्यनाम्न (४।३।६६)।

६ बह्वचोऽन्तोदात्ताट् ठञ् (४।३।६७)।

वसिष्ठेन दृष्टो मन्त्रो वसिष्ठ उपचारात्। विश्वामित्रेण दृष्टो मन्त्रो विश्वामित्र उपचारात्। वसिष्ठस्य व्याख्यातव्यनाम्नो व्याख्यानोऽध्याय = **वासिष्ठिक** । वैश्वामित्रिक । यहाँ व्याख्यान अध्याय रूप होना चाहिए तभी प्रत्यय होगा।[1]

यत् अण्—छन्दस् शब्द से तस्य व्याख्यान, तत्रभव इन अर्थों में[2]—छन्दस्य (यत्)। छान्दस (अण्)।

ठक्—द्व्यच् (=द्व्यक्षर) प्रातिपदिक, ऋकारान्त, ब्राह्मण, ऋक्, प्रथम, अध्वर, पुरश्चरण, नाम, आख्यात—इनसे भव-व्याख्यान अर्थों में ठक्[3]—इष्टेर्व्याख्यानो ग्रन्थ =ऐष्टिक । पशो पशुयज्ञस्य व्याख्यानो ग्रन्थ =पाशुक । ऋकारान्त—चातुर्होतृक । पाञ्चहोतृक । ब्राह्मणस्य व्याख्यातव्यस्य व्याख्यानो ग्रन्थो ब्राह्मणिक । ऋचां व्याख्यानो ग्रन्थ =आर्चिक । प्रथम—प्राथमिक । अध्वर—आध्वरिक । पुरश्चरण—पौरश्चरणिक । पुरश्चरण यज्ञ की प्रारम्भिक विधि को कहते हैं। नामन्—नामिक । नाम्नां व्याख्यानो ग्रन्थ । आख्यात—आख्यातिक । नामाख्यातिक । सूत्र में 'नामाख्यात' सङ्घात का भी ग्रहण इष्ट है। ऐसे ही इन सबसे 'भव' अर्थ में प्रत्यय जानें।

अण्—ऋगयन आदि से भव-व्याख्यान अर्थों में[4]—ऋचामयनम् ऋगयनम्। ऋगयनस्य व्याख्यानो ग्रन्थ =आर्गयन ।पदव्याख्यान—पादव्याख्यान। वास्तुविद्याया व्याख्यानो ग्रन्थ =वास्तुविद । व्याकरणस्य व्याख्यानो ग्रन्थ =वैयाकरण । व्याकरणे भव =वैयाकरणो योग । निगम=(वेदमन्त्र)—नैगम । यथा यास्कीये निरुक्ते नैगम काण्डम्। (निगमव्याख्यान काण्ड नैगमम्)।

यहाँ भव व्याख्यान अर्थों में विहित प्रत्यय समाप्त हुए।

अण्—'तत आगत' इस अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है[5]—स्रुघ्नाद्

१ अध्यायेष्वेवर्षे (४।३।६९)।
२ छन्दसो यदणौ (४।३।७१)।
३ द्व्यजृद्ब्राह्मणर्क्-प्रथमाऽध्वर-पुरश्चरण-नामाऽऽख्याताट्ठक् (४।३।७२)।
४, अणृगयनादिभ्य (४।३।७३)।
५ तत आगत (४।३।७४)।

आगत = स्रौघ्न (अण् प्राग्दीव्यतीय)। मथुराया आगत = माथुर। अण्। राष्ट्राद् आगत = राष्ट्रिय (घ)।

ठक्—'तत आगत' इस अर्थ में आय स्थानों से[1]—शुल्कशालाया आगतो धनराशि = शौल्कशालिक। आकरादागतम् आकरिक लवणम्, खनिज नमक।

वुञ्—जो विद्या-निमित्त से अथवा योनि-निमित्त से सम्बन्धी हैं, तद्वाची शब्दों से 'तत आगत' अर्थ में वुञ्[2]—उपाध्यायादागत = औपाध्यायक। यदिह परिच्छेदे पाण्डित्यमस्मिञ्छिष्ये लक्ष्यते स औपाध्यायको गुणो न, किं तर्हि शिष्यस्य सहज। आचार्यादागता औढिर् आचार्यिका। अस्य पैतामहकमौदार्यम्, मातामहकं च चापलम्, इसकी उदारता (बहुप्रदता = दानशीलता) पितामह से आई है और चञ्चलता मातामह से। अस्य तु मातुलक सङ्कोच।

ठञ्—'विद्या-योनि द्वारक सम्बन्धी' इस अर्थ वाले ऋकारान्त शब्दों से 'तत आगत' अर्थ में[3]—होतुरागत हौतृकम्। भ्रातुरागत भ्रातृकम्। स्वसुरागत स्वासृकम्। मातुरागत मातृकम्। पैतृक शतमश्वा अनुहरन्ते मातृक गाव, घोड़े पिता से प्राप्त हुई चाल का परिशीलन करते हैं और बैल माता की। यहाँ ऋकारान्तों से 'ठ' को इसुसुक्तान्तात् क (७।३।५१) से 'क' आदेश हुआ है।

यत्, ठञ्—पितृ शब्द से ठञ् भी और यत् भी[4]—पैतृकम्। पित्र्यम्। आङ्गलेषु पैतृकमृक्थं ज्येष्ठ एव सुतोऽर्हति नेतर। विद्याग्राममभिरुचिरिति पित्र्योऽस्मिन्कुमारे गुण। यत् प्रत्यय परे होने पर पितृ के 'ऋ' को री(इ) आदेश होता है और उसकी 'ई' का भसंज्ञा होने से 'यस्येति च' से लोप हो जाता है।

अण्, वुञ्—गोत्रप्रत्ययान्त से 'तत आगत' अर्थ में दो प्रत्यय होते हैं—अण् जो साक्षात् विहित है अथवा गोत्रचरणाद् वुञ् (४।३।१२६) से जो वुञ् तस्येदम् इस अर्थ में विहित होकर 'अङ्क' अर्थ को भी कहता है[5]। विदेभ्य

---

१ ठगायस्थानेभ्य (४।३।७५)।
२ विद्या-योनि-सम्बन्धेभ्यो वुञ् (४।३।७७)।
३. ऋतष्ठञ् (४।३।७८)।
४ पितुर्यच्च (४।३।७९)।
५ गोत्रादङ्कवत् (४।३।८०)।

आगत बैदम् । गोत्र में अञ्प्रत्ययान्त 'बैद' से जैसे सङ्घाङ्कलक्षणेष्वञ्यञ्-इञामण्(४।३।१२७)मे 'अङ्क' अर्थ में अण् होता है वैसे ही यहाँ 'तत आगत' अर्थ में हुआ। उपगोरपत्यम् औपगव । औपगवानामङ्क =औपगवक । वुञ् । एवम् औपगवेभ्य आगतम् औपगवकम् । गर्गाणामङ्क =गार्ग । यञन्त गार्ग्य से अण् । आपत्य यकार का लोप । एवं गर्गेभ्य आगत गार्गम् । नाडायनानामङ्क =नाडायनक । नाडायनेभ्य आगत नाडायनकम् ।

रूप्य—हेतु वचनों से तथा मनुष्यवाचियों से 'तत आगत' अर्थ में विकल्प से 'रूप्य'[१]—समादागत समरूप्यम् । विषमादागत विषमरूप्यम् । पक्ष में गहादि गण के आकृतिगण होने से 'छ'—समीय । विषमीय । देवदत्तादागत देवदत्तरूप्यम् । यज्ञदत्तरूप्यम् । पक्ष में प्राग्दीव्यतीय अण्—दैवदत्तम् । याज्ञदत्तम् ।

मयट्—इनसे मयट् भी[२]—समादागत सममयम् । विषममयम् । देवदत्तमयम् । यज्ञदत्तमयम् ।

'तत आगत' यह अधिकार समाप्त हुआ ।

अण्—पञ्चम्य त से 'प्रभवति' (प्रकट होता है) इस अर्थ में यथाविहित प्रत्यय (प्राग्दीव्यतीय अण्) होता है[३]—हिमवत प्रभवति हैमवती गङ्गा ।

ञ्य—विदूर से 'प्रभवति' अर्थ में ञ्य[४]—विदूरात् प्रभवति वैदूर्यो मणि । यहाँ यह शङ्का होती है कि मणि वालवाय नामक पर्वत से उपलब्ध होती है, विदूर-नामक नगर में तो उसे सस्कृत (परिशुद्ध) किया जाता है । इसका उत्तर यह है कि जैसे वाराणसी को बनिये 'जित्वरी' नाम से पुकारते हैं ऐसे ही वैयाकरणों मे वालवाय को विदूर नाम से कहने की प्रथा है ।

अण्—तद् गच्छति(उसको जाता है, प्राप्त होता है)इस अर्थ में द्वितीयान्त से यथाविहित (प्राग्दीव्यतीय अण्) प्रत्यय होता है, यदि जो जाता है वह या तो रास्ता हो या दूत[५]—स्रुघ्न गच्छति पन्था दूतो वा स्रौघ्न । मथुरां गच्छति पन्था दूतो वा माथुर ।

१ हेतु-मनुष्येभ्योऽन्यतरस्याम् (४।३।८१) ।
२ मयट् च (४।३।८२) ।
३ प्रभवति (४।३।८३) ।
४ विदूराञ्ञ्य (४।३।८४) ।
५ तद् गच्छति पथि दूतयो (४।३।८५) ।

अण्, घ आदि—अभिनिष्क्रामति (उसकी ओर निकलता है=खुलता है) अर्थ में द्वितीयान्त से यथाविहित अण्, घ प्रत्यय होते हैं[1]—स्रुघ्नमभिनिष्क्रामति कान्यकुब्जद्वारं स्रौघ्नम्, कन्नौज का जो दर्वाजा स्रुघ्न की ओर खुलता है उसे स्रौघ्न कहते हैं। द्वितीयान्त स्रुघ्न से यथाविहित प्राग्दीव्यतीय अण् हुआ। माथुरम्। राष्ट्रमभिनिष्क्रामति द्वारं राष्ट्रियम्। घ।

अण्, छ आदि—तदधिकृत्य (उसे विषय बनाकर) जो ग्रन्थ बनाया जाता है उसे कहने के लिए द्वितीयान्त से यथाविहित अण्, छ आदि प्रत्यय होते हैं[2]—सुभद्रामधिकृत्य कृतो ग्रन्थः सौभद्रः। ज्योतिर्नक्षत्रादि तदधिकृत्य कृतो ग्रन्थो ज्योतिषम्। अण्। संज्ञापूर्वक विधि होने से वृद्धि नहीं हुई। कुत्सितं शरीरं शारीरकम्। तस्यायं शारीरको=जीवात्मा। तमधिकृत्य कृतो ग्रन्थः शारीरकीयः। शारीरकं भाष्यम्—यहाँ प्रत्यय नहीं किया गया। शारीरकीय ग्रन्थ में अभेदोपचार से 'शारीरक' का प्रयोग है। आख्यायिका वाच्य होने पर बहुलतया प्रत्यय का लुप् होता है।[3] लुप् होने पर प्रकृति के लिङ्ग वचन होते हैं—वासवदत्तामधिकृत्य कृताऽऽख्यायिका वासवदत्ता। कहीं लुप् नहीं भी होता—भैमरथीमधिकृत्य कृताऽऽख्यायिका भैमरथी। अण्।

छ—शिशुक्रन्द (बच्चों का रोना), यमसभ (=यमस्य सभा), द्वन्द्व, इन्द्रजनन आदि द्वितीयान्त शब्दों से 'तदधिकृत्य कृते ग्रन्थे' अर्थ में छ प्रत्यय उत्पन्न होता है[4]—शिशुक्रन्दमधिकृत्य कृतो ग्रन्थः=शिशुक्रन्दीयः। यमसभम् अधिकृत्य कृतो ग्रन्थः—यमसभीयः। वाक्यं च पदं च वाक्यपदे, ते अधिकृत्य कृतो ग्रन्थः—वाक्यपदीयम्। किरातश्चार्जुनश्चेति किरातार्जुनौ। तावधिकृत्य कृतो ग्रन्थः किरातार्जुनीयम्। राघवाश्च पाण्डवाश्चाधिकृत्य कृतो ग्रन्थो राघवपाण्डवीयम्। इन्द्रजननमधिकृत्य कृतो ग्रन्थः इन्द्रजननीयम्। इन्द्रजननादि आकृतिगण है। विरुद्धभोजनीयम्। सीतान्वेषणीयं काव्यम्। प्रद्युम्नागमनीयम्। यमसभम्—यहाँ निपातन से नपुं०।

'देवासुर' आदि जो द्वन्द्व उनसे 'छ' नहीं होता[5]—देवाश्चासुराश्च देवासुराः

---

१ अभिनिष्क्रामति द्वारम् (४।३।८६)।

२ अधिकृत्य कृते ग्रन्थे (४।३।८७)।

३ लुबाख्यायिकार्थस्य प्रत्ययस्य बहुलम् (वा०)।

४ शिशुक्रन्द-यमसभ-द्वन्द्वेन्द्रजननादिभ्यश्छः (४।३।८८)।

५ द्वन्द्वे देवासुरादिभ्यः प्रतिषेधः (वा०)।

(द्वन्द्व)। देवासुरानधिकृत्य कृतो ग्रन्थो दैवासुरम्। अण्। रक्षांसि चासुराश्च =रक्षोऽसुरा। तानधिकृत्य कृतो ग्रन्थो राक्षोऽसुरम्। गौणं च मुख्यं च= =गौणमुख्यम्। तदधिकृत्य कृतो ग्रन्थो गौणमुख्यम्। यहाँ सर्वत्र प्राग्दीव्यतीय अण् हुआ है।

अण्, घ आदि—'सोऽस्य निवास' (वह इसका निवास स्थान है) इस अर्थ में प्रथमान्त से यथाविहित अण्, घ आदि प्रत्यय होते हैं[1]—स्रुघ्नो निवासोऽस्य=स्रौघ्न। अण्। मथुरा निवासोऽस्य माथुर। राष्ट्रं निवासोऽस्येति राष्ट्रिय। निवास शब्द में अधिकरण में घञ् है।

अण्, घ आदि—'सोऽस्याभिजन' (यह वह स्थान है जहाँ इसके पूर्वज रहे, अर्थात् जहाँ वह स्वयम् अब नहीं रहता) इस अर्थ में प्रथमान्त से यथाविहित अण्, घ आदि प्रत्यय होते हैं[2]—स्रुघ्नोऽभिजनोऽस्य=स्रौघ्न। माथुर। राष्ट्रिय। अभिजायते येभ्यस्तेऽभिजना पूर्वबान्धवा पित्रादय। उनसे सम्बद्ध होने से 'देश' को भी 'अभिजन' कह दिया है।

अण्, अञ्—सिन्ध्वादि प्रातिपदिकों से अण् तथा तक्षशिलादि प्रातिपदिकों से अञ् होता है 'सोऽस्याभिजन' इस अर्थ में[3]—सैन्धव (अण्)। वर्णु—वार्णव (अण्)। कश्मीर—काश्मीर। काश्मीरा ह्येते मेहव सम्प्रभृतयो लोकनायका। तक्षशिलाऽभिजनोऽस्य ताक्षशिल। अञ्।

छण्—शलातुरम् अभिजनोऽस्य भगवत पाणिने शालातुरीय[4]।

अण्, घ—स्रुघ्नो भक्तिरस्य=स्रौघ्न[4]। यथाविहित प्राग्दीव्यतीय अण्। मथुरा भक्तिरस्य=माथुर। राष्ट्रं भक्तिरस्य राष्ट्रिय। घ। भक्ति शब्द में क्तिन् कर्म में है—भज्यते सेव्यते इति भक्ति।

ठक्—देश काल से भिन्न अचेतनपदार्थवाची से 'सोऽस्य भक्ति' इस अर्थ में ठक्[5]—अपूपा भक्तिरस्य=आपूपिक, पूओं को सप्रेम सेवन करने वाला। शष्कुलयो भक्तिरस्य=शाष्कुलिक, कचौरियों का प्यारा। पयो भक्तिरस्य=पायसिक, दूध का प्यारा।

---

१ सोऽस्य निवास (४।३।८९)।

२ अभिजनश्च (४।३।९०)।

३ सिन्धु-तक्षशिलादिभ्योऽणञौ (४।३।९३)।

४ भक्ति (४।३।९५)।

५ अचित्तादेशकालाट् ठक् (४।३।९६)।

ठञ्—महाराजो भक्तिरस्य माहाराजिक[1]। प्रत्यय-भेद स्वर के लिए है। ठञ् के ञित् होने से 'माहाराजिक' आद्युदात्त होगा।

वुन्—वासुदेवो भक्तिरस्य वासुदेवक। कृष्णभक्त। अर्जुनो भक्तिरस्य अर्जुनक।[3]।

जो जनपदिन्=क्षत्रिय-वाची शब्द बहुवचन में जनपद शब्द के साथ समानश्रुति हैं, जैसे अङ्ग, बङ्ग, कलिङ्ग, सुह्म, पुण्ड्र, उनसे सोऽस्य भक्ति अर्थ में वे ही प्रत्यय होते हैं जो जनपद-तदवध्यो (४।२।१२४) इस अधिकार में तत्र जात, तत्र भव, सोऽस्य भक्ति आदि अर्थों में जनपदवाची शब्दों से विधान किए हैं—जैसे अङ्गा जनपदो भक्तिरस्येत्याङ्गक। वाङ्गक। कालिङ्गक। सौह्मक। पौण्ड्रक में अवृद्धादपि बहुवचनविषयात् (४।२।१२५) से वुञ् हुआ वैसे ही अङ्गा (जनपदिन) क्षत्रिया भक्तिरस्येत्याङ्गक। वाङ्गक। कालिङ्गक। सौह्मक। पौण्ड्रक में भी वुञ् होता है। जैसे मद्रा जनपदो भक्तिरस्येति मद्रक। वृजयो जनपदो भक्तिरस्येति वृजिक। यहाँ मद्रवृज्योः (४।२।१३१) से कन् हुआ वैसे ही मद्रा जनपदिन क्षत्रिया भक्तिरस्येति मद्रक इत्यादि में भी कन् होता है। सूत्र में 'वति' सर्वसादृश्य के लिए है। इससे न केवल प्रत्यय का अतिदेश है, प्रकृति का भी। अतः आङ्ग क्षत्रियो भक्तिरस्य। यहाँ भी वुञ् 'अङ्ग' से होगा, न कि 'आङ्ग' से। इसी प्रकार माद्र क्षत्रियो भक्तिरस्य—यहाँ भी कन् (अतिदिष्ट) 'मद्र' (जो जनपदवाची से भक्ति अर्थ में प्रत्ययविधान की प्रकृति है) से ही होगा न कि 'माद्र' से—मद्रक। वार्ज्यो भक्तिरस्य=वृजिक। मद्र से द्व्यञ्-मगध-कलिङ्ग-सूरमसादण् (४।१।१७०) से अपत्यार्थ में अण् होता है। वृजि से वृद्धेत्कोसलाजादाञ्ञ्यङ् (४।१।१७१) से ञ्यङ्। वृजेरपत्यं पुमान् वार्ज्यः। बहुवचन में अण् व ञ्यङ् की 'तद्राज' संज्ञा होने से इनका लुक् हो जाता है। मद्राः। वृजयः।[4]

१ महाराजाट्ठञ् (४।३।९७)।
२ वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन् (४।३।९८)।
३ जनपदिनां जनपदवत् सर्वं जनपदेन समानशब्दानां बहुवचने (४।३।१००)।
४ अङ्गानां क्षत्रियाणां निवासो जनपद =अङ्गाः। सोऽस्य निवासः। जनपदे लुप्। निवास अर्थ में आए हुए अण् का जनपद वाच्य होने पर लुप् हो जाता है। लुबन्त के लिंग व वचन वे ही होते हैं जो प्रकृति के।

अण्, छ—तेन प्रोक्तम् इस अर्थ में यथाविहित अण् आदि प्रत्यय होते हैं।[1] अध्यापनेनार्थव्याख्यानेन वा प्रकर्षेण उक्तं प्रोक्तम्। अन्येन कृता माथुरेण प्रोक्ता माथुरी वृत्तिः। कलापिनोऽण् (४।३।१०८) में अण्ग्रहण अधिक विधान के लिए है ऐसा मानकर यहाँ 'छ' के विषय में अण् हुआ है। आपिशलिना प्रोक्तम् आपिशलम्। काशकृत्स्निना प्रोक्तं काशकृत्स्नम्। इन दोनों में इञश्च (४।२।११२) से अण् हुआ है। पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम्। वृद्धाच्छः।

छण्—तित्तिरि, वरतन्तु, खण्डिक, उख से 'तेन प्रोक्तम्' अर्थ में[2]—तित्तिरिणा प्रोक्तमधीयते तैत्तिरीयाः। वारतन्तवीयाः। खाण्डिकीयाः। औखीयाः। जो प्रोक्त हो वह छन्दस्=वेद हो तभी यह प्रत्ययविधि है। श्लोकादि प्रोक्त होने पर छण् प्रत्यय नहीं होगा। अण् भी नहीं होगा। अनभिधानात्, ऐसा व्यवहार न होने से।

इस सूत्र को तथा प्रोक्त-प्रत्ययविषयक अगले सूत्रों को शौनकादिभ्यश्छन्दसि (४।३।१०६) यहाँ पढ़ना चाहिए ताकि छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि (४।२।६६) से प्रोक्त प्रत्ययान्त का अध्येतृ वेदितृ-प्रत्ययान्त होकर ही प्रयोग हो, स्वतन्त्र प्रयोग मत हो। ऐसा ही उदाहरण से स्पष्ट है। सूत्र में तद् शब्द से अध्येतृ-वेदितृ प्रत्यय का परामर्श है। विषय का 'अन्यत्राभाव' अर्थ है।

णिनि—काश्यपेन प्रोक्तं सूत्रमधीयते=काश्यपिनः। कौशिकेन प्रोक्तं सूत्रमधीयते कौशिकिनः[3]। यहाँ भी इस सूत्र के छन्दोऽधिकारस्थ होने से तद्विषयता होती है। यद्यपि जो प्रोक्त है वह छन्द नहीं। प्रोक्त प्रत्ययान्त से परे अध्येतृ-वेदितृ प्रत्यय का लुक् हो जाता है।

कलापिन् तथा वैशम्पायन के शिष्यों के वाचक शब्दों से तेन प्रोक्तम् अर्थ में णिनि प्रत्यय होता है और प्रोक्त प्रत्ययान्त से अध्येतृ-वेदितृ प्रत्यय का लुक् हो जाता है[4]—कलापिन् के शिष्य (अन्तेवासिन्) चार हैं—हरिद्रु, छगलिन्, तुम्बुरु, उलप। वैशम्पायन के नौ हैं—

---

१ तेन प्रोक्तम् (४।३।१०१)।

२ तित्तिरि वरतन्तु खण्डिकोखाच्छण् (४।३।१०२)।

३ काश्यप-कौशिकाभ्यामृषिभ्यां णिनिः (४।३।१०३)।

४ कलापि-वैशम्पायनान्तेवासिभ्यश्च (४।३।१०४)। प्रोक्ताल्लुक् (४।२।६४)।

आलम्बि, पलङ्ग, कमल, ऋचाभ, आरुणि, ताण्ड्य, श्यामायन, कठ, कलापिन्। यद्यपि कलापिन् वैशम्पायन का अन्तेवासी है, इसलिए जो कलापिन् के अन्तेवासी हैं वे वैशम्पायन के भी अन्तेवासी हैं, पर कलापिन् के शिष्यों का पृथक् ग्रहण किया है, इससे सूत्र में साक्षात् शिष्यों का ही ग्रहण इष्ट है, शिष्य के शिष्यों का नहीं ऐसा ज्ञापित होता है। हरिद्रुणा प्रोक्तमधीयते हारिद्रविणः। ओर्गुंण। तौम्बुरविणः। औलपिनः। छगलिना प्रोक्तमधीयते छागलेयिनः (ढिनुक्)। आलम्बिना प्रोक्तमधीयते आलम्बिनः। पालङ्गिनः। कामलिनः। आर्चाभिनः। ऋचाभ से प्रोक्तार्थ में णिनि। आरुणिनः। ताण्डिनः। ताण्ड्य से प्रोक्तार्थ में णिनि। अपत्यार्थ में आए 'यञ्' का लोप। श्यामायनिनः। कठेन प्रोक्तमधीयते कठाः। 'कठ' से प्रोक्त-प्रत्यय का लुक् आगे कहेंगे।

चिरन्तन मुनि से प्रोक्त होने पर णिनि, यदि जो प्रोक्त हो वह चाहे ब्राह्मण हो चाहे कल्प[1]—भल्लुना प्रोक्तं ब्राह्मणमधीयते भाल्लविनः। शाट्यायनेन प्रोक्तं ब्राह्मणमधीयते शाट्यायनिनः। ऐतरेयेण प्रोक्तं ब्राह्मणमधीयते ऐतरेयिणः। प्रोक्त प्रत्ययान्त छन्दस् तथा ब्राह्मणों की तद्विषयता है, न कि 'कल्प' की भी। अत पिङ्गेन प्रोक्तः कल्पः=पैङ्गी। अरुणपराजेन प्रोक्तः कल्पः=आरुणपराजी। याज्ञवल्क्येन प्रोक्तानि ब्राह्मणानि=याज्ञवल्कानि। काशिकावृत्ति के अनुसार याज्ञवल्क्यादि चिरन्तनमुनि नहीं हैं क्योंकि ऐसा भारतादि आख्यानों में वचन है। और इस वचन का आलम्बन करके सूत्रकार 'प्रोक्त' को 'पुराण' से विशिष्ट कर रहे हैं। यद्यपि याज्ञवल्क्य-प्रोक्त ब्राह्मण भी दूसरे ब्राह्मणों के समकाल हैं। याज्ञवल्क्य गोत्रप्रत्ययान्त कण्वादि है, अत 'कण्वादिभ्यो गोत्रे' से (अण्) हुआ। णिनि न हो पर तद्वि-षयता क्यों न हो। प्रोक्तार्थ ब्राह्मण होने पर 'तेन प्रोक्तम्' अर्थ में जो णिनि विधान किया है उसी की तद्विषयता है। गोत्रप्रत्ययान्त 'याज्ञवल्क्य' से तो कण्वादि होने से 'तस्येदम्' इस अर्थ में अण् हुआ है वह शैषिक होने से प्रोक्तार्थ को भी कह देगा। साक्षात् ब्राह्मण प्रोक्तार्थ में प्रत्यय विधान नहीं।

शौनकादि शब्दों से 'तेन प्रोक्तम्' अर्थ में, यदि जो प्रोक्त है वह छन्द हो[2]—शौनकेन प्रोक्तं छन्दोऽधीयते शौनकिनः। वाजसनेयेन प्रोक्तं छन्दोऽधीयते

---

१ पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मण-कल्पेषु (४।३।१०५)।

२ शौनकादिभ्यश्छन्दसि (४।३।१०६)।

वाजसनेयिन । कठशाठाभ्यां प्रोक्तमधीयते काठशाठिन । खाडायनेन प्रोक्त छन्दोधीयते खाडायनिन । तलवकारेण प्रोक्त छन्दोऽधीयते तालवकारिण । आदि वृद्धि ।

प्रत्यय-लुक्—कठेन प्रोक्तमधीयते कठा । यहाँ प्रोक्त प्रत्यय का भी लुक् होता है।[1] चरक वैशम्पायन का नाम है। चरकेण प्रोक्तमधीयते चरका । प्रोक्त प्रत्यय का भी लुक् । अध्येतृ-वेदितृ-प्रत्यय का तो प्रोक्त प्रत्ययान्त से लुक् हुआ ही करता है।

अण्—कलापिना प्रोक्तमधीयते कालापा[2] । इनण्यनपत्ये (६।४।१६४) से प्रकृतिभाव प्राप्त था पर 'नान्तस्य टि-लोपे सब्रह्मचारि-पीठसर्पि-कलापि-कौथुमि तैतलि जाजलि लाङ्गलि-लाङ्गलि-शिलालि शिखण्डि सूकरसद्म-सुपर्वणा-मुपसंख्यानम्' इस वार्तिक से टि-लोप होता है। वार्तिक में पढ़े सब्रह्मचारिन् आदि सभी इन्नन्त हैं। केवल सूकरसद्मन् और सुपर्वन् (=देवता) अन्नन्त हैं। सूत्र में अण् विधान अधिक विधान के लिए है। 'कलापिन' इतना कहने पर भी जो प्राग्दीव्यतीय अण् कलापिवैशम्पायनान्तेवासिभ्यश्च (४।३।१०४) से विहित णिनि से बाधित हो गया, वही होता था, तो फिर जो इस सूत्र में अण् ग्रहण किया है वह अधिक विधान के लिए है, अर्थात् जहाँ प्राप्त नहीं वहाँ भी कुछेक शब्दों में होता है—मुदेन प्रोक्त छन्दोऽधीयते मौदा । पिप्पलादेन प्रोक्त छन्दोऽधीयते पैप्पलादा । शाकल्येन प्रोक्त छन्दोऽधीयते शाकला । आपत्य यञ् का लोप । जाजलिना प्रोक्त छन्दोधीयते जाजला । प्रकृतिभाव का वार्तिकोक्त अपवाद टिलोप ।

ढिनुक्—छगलिन् शब्द से[3]—छगलिना प्रोक्त छन्दोऽधीयते छागलेयिन । 'ढ' को एय् । एयिन् प्रत्यय है। 'नस्तद्धिते' से टिलोप ।

णिनि—पाराशर्येण प्रोक्त भिक्षुसूत्र (ब्रह्मसूत्र वेदान्तशास्त्रम्) अधीयते पाराशरिण ।[4] आपत्य यञ् का लोप । शिलालिना प्रोक्त नटसूत्रमधीयते शैलालिन । टिलोप । सूत्रों को भी छन्द मानकर यहाँ तद्विषयता होती है,

---

१ कठचरकाल्लुक् (४।३।१०७)।

२ कलापिनोऽण् (४।३।१०८)।

३ छगलिनो ढिनुक् (४।३।१०९)।

४ पाराशर्य शिलालिभ्यां भिक्षु-नट-सूत्रयोः (४।३।११०)।

प्रोक्त-प्रत्ययान्त का स्वतन्त्र प्रयोग नहीं होता। यदि जो प्रोक्त है वह भिक्षु-सूत्र अथवा नटसूत्र नहीं है तो णिनि नहीं होगा और तद्विषयता भी नहीं होगी —पाराशर्येण प्रोक्तं धर्मशास्त्र पाराशरम्। वर्ष्यायण। शिलालिना प्रोक्तम् =शैलालम्। अण् (प्राग्दीव्यतीय)। इन्नन्त होने से अण् प्रत्यय परे प्रकृति-भाव प्राप्त था, पर नान्तस्य टिलोपे—इत्यादि वार्तिक से टिलोप हो जाता है।

इनि—कर्मन्द, कृशाश्व से[1]—कर्मन्देन प्रोक्तमधीयते कर्मन्दिनो भिक्षव। कृशाश्वेन प्रोक्तमधीयते कृशाश्विनो नटा। यहाँ भी तद्विषयता होती है।

प्रोक्ताधिकार समाप्त।

अण्—तेनैक दिक्(४।३।११२) उसके साथ समान दिशा वाला, इस अर्थ मे तृतीयान्त से यथाविहित अण् प्रत्यय होता है[2]—सुदाम्ना पर्वतेन एकदिक् =सौदामनी। अन् (६।४।१६७) से प्रकृतिभाव। सौदामनी=विद्युत। हिम-वता एकदिक्=हैमवती।

तसि—तेनैकदिक् अर्थ में तसि प्रत्यय भी होता है।[3] तसिप्रत्ययान्त अव्यय होता है—सुदामतः। हिमवत्तः।

यत्, तसि—उरस् से 'तेनैकदिक्' इस अर्थ मे[4]—उरस्य। उरस्तः।

तेनोपज्ञातम् (उसने पहली बार बिना दूसरे से सीखे जाना) इस अर्थ मे यथाविहित अण्, छ आदि प्रत्यय होते है[5]—पाणिनिना उपज्ञातम् आदौ ज्ञात स्वयमेव सम्बद्धमकालक व्याकरणम् पाणिनीयम्। वृद्धाच्छ। पाणिनीय व्याकरण को 'अकालक' इसलिए कहा है क्योंकि इसमें वर्तमान कालादि का लक्षण नहीं किया। काशकृत्स्निना उपज्ञात गुरुलाघवम्=काशकृत्स्नम्। अण्। गुरुलाघवम् नाम का अर्थशास्त्र था जिसमे उपायों की गुरुता लघुता पर विचार किया गया था। आपिशलिना उपज्ञात दुष्करण व्याकरणम् आपिशलम्। अण्। जैसे पाणिनीय व्याकरण मे गणादि की समाप्ति को 'वृत्' से संकेतित किया जाता है वैसे ही आपिशल व्याकरण मे 'दुप्' शब्द से किया जाता था।

---

१ कर्मन्द-कृशाश्वादिनि (४।३।१११)।
२ तेनैकदिक् (४।३।११२)।
३ तसिश्च (४।३।११३)।
४ उरसो यच्च (४।३।११४)।
५ उपज्ञाते (४।३।११५)।

अण् आदि—'तेन कृते ग्रन्थे' उससे ग्रन्थ बनाया गया' इस अर्थ में यथा-विहित अण् आदि प्रत्यय होते हैं[१]—वररुचिना कृता श्लोका =वाररुचा। वाररुचं काव्यम्।

मक्षिकाभिः कृतं माक्षिकं मधु।[२] सरघाभिः कृतं सारघम् मधु। पुत्तिकाभिः कृतं पौत्तिकम् मधु। ये सब मधु की संज्ञाएँ हैं।

वुञ्—कुलाल आदि शब्दों से[३]—कुलालेन कृतं कौलालकम्। वरुडेन कृतं वारुडकम्। निषादेन कृतं नैषादकम्। चण्डालेन कृतं चाण्डालकम्। कर्मारेण कृतं कार्मारकम्। कर्मार=लोहार।

अञ्—क्षुद्रा (छोटी शहद की मक्खी), भ्रमर, वटर, पादप से[४]—क्षुद्राभिः कृतं क्षौद्रं मधु। भ्रमरैः कृतं भ्रामरम्। वटरैः कृतं वाटरम्। पादपेन कृतं पादपम्। वटर=सुगन्धि घास।

अण् आदि तथा घादि—'तस्येदम्' इस अर्थ में अण् आदि पञ्च महोत्सर्ग (अण, अञ, ण्य, नञ्, स्नञ्) तथा घ आदि प्रत्यय यथाविहित होते हैं[५]—उपगोरिदम् औपगवम्। कपटु—कपटोरिदं कापटवम्। दशतय ऋग्वेद। तस्येय दाशतयी ऋक्। अण्। राष्ट्रस्येव राष्ट्रियम्। घ। अवारपारयोरिदम् अवारपारीणम्। ख। देवदत्तस्यान्तरम् इत्यादि अर्थ में प्रत्यय नहीं होगा। अनभिधानात्। व्यवहार न होने से। सवोढुः स्वं सावहित्रम्। यहाँ तृच् को इट् आगम का वार्तिकद्वारा विधान किया है।[६] अण् तो सिद्ध है। इत्वादि के असिद्ध होने से पहले इट् होगा। इट् होने पर इत्वादि का निमित्त न रहेगा तो वे नहीं होंगे। सवोढृ=मयन्तृ, सारथि।

अग्निमिन्धे इत्यग्नीत्। अग्नीधः शरणं (गृहम्)=आग्नीध्रम्।[७] रण् (र) प्रत्यय। प्रत्यय परे होने पर पूर्व की 'भ' संज्ञा। जिससे 'ध्' को जशत्व (द्) न हुआ।

---

१ कृते ग्रन्थे (४।३।११६)।
२ संज्ञायाम् (४।३।११७)।
३ कुलालादिभ्यो वुञ् (४।३।११८)।
४ क्षुद्रा-भ्रमर-वटर-पादपादञ् (४।३।११९)।
५ तस्येदम् (४।३।१२०)।
६ वहस्तुरण् इट् च (वा०)।
७ अग्नीधः शरणे रण् भं च (वा०)।

समिधाम् प्रथम् आधानो मन्त्र =सामिधेन्य ।[1] समिध्यतेऽनयेति समित्। सम्पदादि होने से करणे क्विप्। आधीयतेऽनेनेति आधान । करणे ल्युट्। यहाँ वेण्यण् (एन्य) प्रत्यय हुआ । णित् होने से आदि वृद्धि । पित् होने से स्त्रीत्व विवक्षा में ङीप्—**सामिधेनी ऋक्** । हलस्तद्धितस्य से य-लोप ।

मा दम्पती पौत्रमघ निगाताम् (अथर्व० १२।३।१४) । **पुत्रस्येद पौत्रम्** । अघ=व्यसन=विनाशम् । शुनोऽघ सकोच शौव । यहाँ वार्तिक से अन् (टि) का लोप हुआ । द्वारादीना च (७।३।४) से ऐच् आगम । **स्वरस्येय सप्तमी=सौवरी सप्तमी** । सौवर्य सप्तम्यस्तस्तन्तसप्तम्य । समन्तगया स्ववेशान्यव-हिताया भूमे राजा सामन्त । पितृणा तस्य तृप्ति स्याच्चात्तवती सात्नपौरुषी (मनु० ३।१४६) । **सप्तपुरुषाणामिय साप्तपौरुषी** । द्विगोर्लुगनपत्ये (४।१।८८) से द्विगुनिमित्त तद्धित का लुक् नहीं किया । स्वच्छन्दत्वाच ऋषय ।

यत्—रथस्येद रथ्यम्[2], रथ का चक्र अथवा युग ।

अञ्—पत्त्रपूर्वक रथ से अञ्[3] । पत्त्र अश्वादि वाहन को कहते हैं । पत्त्र शब्द से अश्वादि का ग्रहण है । **अश्वरथस्येदम्=आश्वरथम्** । अञ् । यद का अपवाद । **औष्ट्ररथम्** । **गार्दभरथम्** ।

पत्त्र=वाहन, तद्वाची प्रातिपदिक से, अध्वर्यु, परिषद् से 'तस्येदम्' अर्थ में अञ्[4] । **अश्वस्येद वाह्यम्=आश्वम्**, जिसे घोडा खीच सकता है या खीच सकता है । **औष्ट्रम्** । **गार्दभम्** (गर्दभस्य वहनीयम्) । **अध्वर्योर् इद कर्मादि आध्वर्यवम्** । **परिषद इय कृति पारिषदी** ।

ठक्—**हलस्येद हालिकम्**[5] । **सीरस्येद सैरिकम्** । सीर=हल ।

वुन्—द्वन्द्व से वैर तथा मैथुनिका (विवाह-सम्बन्ध) अर्थ में[6]—बाभ्रव्य =गर्गादि यञन्त । बहुवचन में बभ्रव । बभ्रवश्च शालङ्कायनाश्च बाभ्रव्य-शालङ्कायना, तेषा वैर बाभ्रव्यशालङ्कायनिका । काकाश्च उलूकाश्च=

---

१ समिधामाधाने षेण्यण् (वा०) ।
२ रथाद्यत् (४।३।१२१) ।
३ पत्त्रपूर्वादञ् (४।३।१२२) ।
४ पत्त्राध्वर्युपरिषदश्च (४।३।१२३) । पत्त्राद् वाह्ये (वा०) ।
५ हल-सीराट्ठक् (४।३।१२४) ।
६ द्वन्द्वाद् वुन् वैरमैथुनिकयो (४।३।१२५) । वैरे देवासुरादिभ्य प्रतिषेधो वक्तव्य (वा०) ।

काकोलूकम्, तस्य वैरं काकोलूकिका। 'वैर' यद्यपि नपुं० है, वुञन्त स्वभाव से स्त्रीलिंग होते हैं।

मैथुनिका—अत्रयश्च भरद्वाजाश्च=अत्रिभरद्वाजाः, तेषां मैथुनिका विवाहसम्बन्ध=अत्रिभरद्वाजिका। कुत्साश्च कुशिकाश्च=कुत्सकुशिकाः, तेषां मैथुनिका=कुत्सकुशिकिका। पर देवासुराणां वैरं दैवासुरम्। यहाँ वुञ् नहीं होता, अण् होता है।

वुञ्—गोत्रवाची तथा चरणवाची प्रातिपदिक से 'तस्येदम्' अर्थ में[1]—औपगवस्येदम् औपगवकम्। अपत्याधिकार से अन्यत्र गोत्र से अपत्यमात्र लिया जाता है। चरण=शाखाध्येता। चरणवाची से धर्म तथा आम्नाय (=वेद शाखा) अर्थ में ही प्रत्यय इष्ट है—कठानां धर्म आम्नायो वा काठकम्। कालापानां धर्म आम्नायो वा कालापकम्। ग्रामे ग्रामे काठकं कालापकं चाधीयते (भाष्य)। मौदानां धर्म आम्नायो वा मौदकम्। पैप्पलादानां धर्म आम्नायो वा पैप्पलादकम्।

अण्—तस्येदम् इस अर्थ के विशेषणभूत सङ्घ, अङ्क, लक्षण के वाच्य होने पर अञन्त, यञन्त तथा इञन्त से अण्[2]—बिदानां सङ्घ=बैद। अनृष्यानन्तर्ये बिदादिभ्योऽञ् (४।१।१०४) से ऋषिवाचक 'बिद' से गोत्रापत्य में अञ्। अञन्त बैद से अण्। बैदोऽङ्क। बैदं लक्षणम्। वार्तिककार के अनुसार घोष (=आभीर पल्ली) वाच्य होने पर भी अञन्त से अण् होता है—बैदो घोष। यञन्त गार्ग्य से भी—गर्गाणां सङ्घ=गार्ग। अपत्य तद्धित का लुक्। गार्गोऽङ्क। गार्गं लक्षणम्। गार्गो घोष। इञन्त से भी—दक्षस्यापत्यं दाक्षि। इञ्। दाक्षीणां सङ्घो दाक्ष। दाक्षोऽङ्क। दाक्षं लक्षणम्। दाक्षो घोष। अङ्क और लक्षण में क्या भेद है। लक्षण तो लक्ष्य की अपनी वस्तु होती है जैसे बैद लोगों की विद्या उनका लक्षण (चिह्न) है, यह दूसरों से भेद करने वाली वस्तु उनकी अपनी है। अङ्क (चिह्न) गौ आदि के शरीर पर होता हुआ भी उनकी अपनी वस्तु नहीं है।

अण्, वुञ्—शाकल से सङ्घादि अर्थों में अण् विकल्प से होता है, पक्ष

---

१ गोत्रचरणाद् वुञ् (४।३।१२६)। चरणाद् धर्माम्नाययोरिष्यते (वा०)।

२ सङ्घाङ्कलक्षणेष्वञ्यञिञामण् (४।३।१२७)।

से चरणवाची होने से गोत्रचरणाद् वुञ् (४।३।१२६) से वुञ्[1]—शाकल्येन प्रोक्तमधीयते शाकला । शाकलेन प्रोक्तमधीयते शाकला । दोनों तरह से 'शाकल' शब्द की व्युत्पत्ति हो सकती है। शाकल शब्द चरणवाची है। शाकलाना सङ्घ शाकल । शाकलक । शाकलोऽङ्क । शाकलकोऽङ्क । शाकल लक्षणम् । शाकलक लक्षणम् । चरणवाची से धर्म तथा आम्नाय अर्थ में प्रत्यय इष्ट है—शाकलो धर्म । शाकलको धर्म । शाकल आम्नाय । शाकलक आम्नाय ।

ञ्य—छन्दोग, औक्थिक, याज्ञिक, बह्वृच, नट से तस्येदम् इस अर्थ में[2]। छन्दोग आदि चरणवाची हैं उनके साथ नट शब्द पढ़ा हुआ है जो चरण-वाची नहीं है। चरणवाचियों से धर्म तथा आम्नाय वाच्य होने पर प्रत्यय होता है, 'नट' से भी इन्हीं अर्थों में—छन्दोगाना धर्म आम्नायो वा छान्दोग्यम् । औक्थिकमधीते औक्थिक । औक्थिकाना धर्म आम्नायो वा औक्थिक्यम् । यज्ञमधीते वेद वा याज्ञिक । याज्ञिकाना धर्म आम्नायो वा याज्ञिक्यम् । बह्वृच ऋच सन्त्येषा ते बह्वृचा । बह्वृचाना धर्म आम्नायो वा बाह्वृच्यम् । नटाना धर्म आम्नायो वा नाट्यम् ।

वार्तिककार के अनुसार तस्येदम् अर्थ में 'आथर्वणिक' से अण् होता है, तथा इसके 'इक' का लोप हो जाता है[3]—'आथर्वणिक' चरणवाची शब्द है। आथर्वणिकस्याय धर्म आम्नायो वा आथर्वण ।

यहाँ शैषिक प्रकरण समाप्त हुआ ।

विकारावयवार्थक तद्धित

अण्—'तस्य विकार' इस अर्थ में षष्ठ्यन्त से[4]—अश्मनो विकार आश्म, आश्मन । 'अश्मनो विकारे टि लोपो वा वक्तव्य' इस वार्तिक[5] से अन् (६।४।१६७) से नित्य प्रकृतिभाव न होकर पाक्षिक टि-लोप होता है। प्रकृति (कारण) के अवस्थान्तर=अन्यथाभाव, परिवर्तन को विकार कहते

---

१ छन्दोगौक्थिक-याज्ञिक-बह्वृच-नटाञ्ञ्य (४।३।१२९)।
२ आथर्वणिकस्येकलोपश्च (वा०)।
३ शाकलाद् वा (४।३।१२८)।
४ तस्य विकार (४।३।१३४)।
५ अश्मनो विकारे टिलोपो वा वक्तव्य (वा०)।

हैं। भस्मनो विकार = भास्मन । यहाँ प्रकृतिभाव होता है। भस्मन्, भस्मन् —दोनो अप्राणी हैं, अवृद्ध (आदि मे वृद्धि-रहित) तथा मनिन्प्रत्ययान्त होने से आद्युदात्त हैं। अत इनसे वक्ष्यमाण अञ, मयट तो हो नही सकते। औत्सर्गिक अण् होता है। मृत्तिकाया विकार = मार्तिक । यहाँ भी प्रत्यय तिकन् के नित् होने से आदिभूत 'ऋ' उदात्त है। चपस्य विकार = चापम्। कृमुकस्य विकार = कार्मुकम् (धनुष)। धनुष उपादानभूत सारवान् वृक्षविशेष कृमुक इति सायण। सा (समित्) कार्मुकी स्यात् (तै० ब्रा० ६।६। २।११)। चमरणो विकार कोश = चार्म । यहाँ टि लोप होता है।[1] शिलाया विकार शैली प्रतिमा, पत्थर की मूर्ति। हिरण्यस्य विकार = हैरण्यम्। हैरण्य कक्षप्रैवेयान् सुवर्णाङ्कुशभूषितान् (रा० १।५३।१७)। शेषाधिकार की निवृत्ति हो जाने से 'घ' आदि प्रत्यय विकार तथा अवयव अर्थों मे नही होते—हलस्यायमवयवो विकारो वा हाल । सीरस्यायमवयवो विकारो वा सैर । अण्। दीपिक ठक् नही हुआ।

प्राणी, ओषधि, वृक्षवाची शब्दो से विकार तथा अवयव अर्थ मे यथाविहित प्रत्यय होते हैं[1]—प्राणियो से अञ् विधान करेंगे—कपोतस्य विकारोऽवयवो वा = कापोत । मयूरस्य विकारोऽवयवो वा = मायूर । तैत्तिर । ओषधि—मूर्वाया विकारो मौर्वी = ज्या । मौर्वं भस्म । मौर्वं काण्डम् । मूर्वा शब्द तृणवाची द्व्यच्क होने से आद्युदात्त है। सो औत्सर्गिक अण हुआ। वृक्ष—खदिरस्य विकारोऽवयवो वा खादिर । पलाशादियो मे खदिर पढा है। सो इससे पाक्षिक अञ् होता है। इससे आगे दोनो अर्थों मे प्रत्यय होते हैं। पर प्राणी, ओषधि तथा वृक्षो से ही, अन्यत्र केवल विकार अर्थ मे ही।

अण्—बिल्व आदि शब्दो से विकार, अवयव मे अण्[2]—बिल्वस्यावयवो विकारो वा बैल्व । व्रीहि—व्रैह । मुद्ग—मौद्ग । कर्पासी—कार्पास । वेणु—वैणव । अञ् तथा मयट् का यथायोग अपवाद । यहाँ पाटली (जातिलक्षण ङीषन्त) पढा है उससे अनुदात्तादिञ् प्राप्त हुआ उसे वृद्ध होने से मयट् ने बाधा। मयट् को बाधने के लिए अण् का विधान किया है। पाटल ।

ककारोपध से विकार अवयव अर्थों मे[3]—तर्कु—तार्कवम् । तित्तिडीक

१ अवयवे च प्राण्योषधिवृक्षेभ्य (४।३।१३५)।
२ बिल्वादिभ्योऽण् (४।३।१३६)।
३ कोपधाच्च (४।३।१३७)।

—तैन्तिडीकम् । तिन्तिडीक इमली का नाम है । मण्डूक—माण्डूकम् । दर्दरूक—दार्दरूकम् । मधूक—माधूकम् । मधूक = महोवा । तर्क से उकारान्त होने से अञ् प्राप्त था । तिन्तिडीकादि मध्योदात्त होने से अनुदात्तादि हैं, सो इनसे भी अञ् प्राप्त था । उसका अपवाद अण् विधान किया है ।

त्रपु, जतु से अण्, प्रत्यय-सन्नियोग से इन्हें षुक् आगम भी[1]—त्रपुणो विकार = त्रापुषम् । जतुनो विकार = जातुषम् । जतु = लाक्षा = लाख । त्रापुषाणि पात्राण्यस्माभिर्न उपयुज्यन्ते । जातुषा अलङ्कारा वह्नितापं न सहन्ते ।

अञ्—उकारान्त प्रातिपदिक से[2]—देवदारु—देवदारोर्विकारोऽवयवो वा = दैवदारवम् । भद्रदारोर्विकारोऽवयवो वा भाद्रदारवम् । देवदारु तथा भद्रदारु दोनों आद्युदात्त हैं ।

अनुदात्तादि प्रातिपदिक से[3]—कपित्थस्य विकारोऽवयवो वा कापित्थम् ।

पलाश आदि प्रातिपदिकों से विकल्प से[4]—पलाशस्य विकारोऽवयवो वा पालाशम् । खादिरम् । याबासम् । शिंशपा—शिंशपाया विकारोऽवयवो वा शांशप । शांशपश्चमस । शिंशपा के आदि अच् की वृद्धि प्रसङ्ग में 'आ' होता है । देविकाशिंशपा—(७।३।१) । यह उभयत्र विभाषा है । पलाश, खदिर, शिंशपा, स्पन्दन इनके अनुदात्तादि होने से अञ् प्राप्त था औरों से अप्राप्त था ।

ट्लञ्—शमी से विकार अवयव अर्थों में[5]—शामील भस्म । शामीली स्रुक् । दीक्षित 'शम्या ष्लञ्', ऐसा सूत्रपाठ स्वीकार करते हैं ।

मयट्—प्रकृतिमात्र से विकार, अवयव अर्थ में मयट् (मय) विकल्प से होता है यदि भक्ष्य तथा आच्छादन वाच्य न हो[6]—अश्मनो विकार = अश्ममयम् । आश्मनम् । आश्मम् (टिलोप) । मूर्वामयम् । मौर्वम् । मौद्ग सूप । मुद्गाना विकार । भक्ष्य होने से मयट् नहीं हुआ । बिल्वादि होने से अण् हुआ है । कार्पासमाच्छादनम् । कृपास्या विकार = कार्पासम् । कपोत-

---

१ त्रपुजतुनो षुक् (४।३।१३८) ।

२ ओरञ् (४।३।१३९) ।

३ अनुदात्तादेश्च (४।३।१४०) ।

४ पलाशादिभ्यो वा (४।३।१४१) ।

५ शम्याष्ट्लञ् (४।३।१४२) ।

६ मयड् वैतयोर्भाषायामभक्ष्याच्छादनयोः (४।३।१४३) ।

मयम् । कापोतम् । मयूरमयम् । मायूरम् । लौहम् । रजतादि होने से अञ् ।

वृद्ध प्रातिपदिक तथा शरादि शब्दों से नित्य मयट्[1]—आम्रमयम् । शालमयम् । शाकमयम् । दारुमयम् । ईशस्य हि वशे सर्वं योषा दारुमयी यथा (भाग० १।६।७) । प्रचकात् काञ्चनमय श्रीमुक्ताकेशवो हरिः (राजत० ४।१९६) । पर काञ्चनी वासयष्टि (मेघ०) यहाँ औत्सर्गिक अण् हुआ, अपवाद मयट् नहीं। ऐसा कहीं-कहीं हो जाता है—क्वचिदपवादविषयेऽप्युत्सर्गोऽभिनिविशते । शर आदि शब्दों से—शरमयम् । दर्भमयम् । मृद्—मृन्मयम् । णत्व के असिद्ध होने से णत्व नहीं होता । अतः 'मृण्मय' यह अपशब्द है। मोषु वरुण मृन्मयं गृहं राजन्नहं गमम् (ऋ० ७।८९।१) । हे वरुण राजन् मैं मिट्टी के घर को प्राप्त न होऊँ । एकाच् से नित्य मयट् इष्ट है—त्वङ्मयम् । स्रङ्मयम् । वाङ्मयम् ।

गो शब्द से 'तस्येदम्' अर्थ में जब प्रत्ययार्थ पुरीष हो[2]—गोमयम्, गोबर ।

'पिष्ट' से नित्य मयट्[3]—पिष्टमय भस्म ।

कन्—'पिष्ट' से विकार अर्थ में संज्ञाविषय में कन्[4] । पिष्टक । मयट् का अपवाद ।

मयट्—व्रीहि से विकार अर्थ में पुरोडाश वाच्य होने पर[5] । व्रीहिमय पुरोडाश । अन्यत्र व्रैहम् । बिल्वादि होने से अण् ।

तिल तथा यव शब्दों से विकार अर्थ में यदि प्रत्ययान्त संज्ञा न हो[6]—तिलमयम् । यवमयम् । संज्ञा में तो अण् होगा—तैलम् । यवाना विकारो यावक । 'यावादिभ्य कन्' (५।४।२९) से कन् ।

अण्—ताल आदि प्रातिपदिकों से विकार अवयव अर्थों में[7]—तालस्य

१ नित्यं वृद्धशरादिभ्यः (४।३।१४४) ।
२ गोश्च पुरीषे (४।३।१४५) ।
३ पिष्टाच्च (४।३।१४६) ।
४ संज्ञायां कन् (४।३।१४७) ।
५ व्रीहेः पुरोडाशे (४।३।१४८) ।
६ असंज्ञायां तिलयवाभ्याम् (४।३।१४९) ।
७ तालादिभ्योऽण् (४।३।१५२) ।

विकारो धनु —तानं धनु । 'तालाद् धनुषि' यह गणसूत्र पढ़ा है अतः धनु से अन्यत्र यथाप्राप्त मयट् होगा—तालमयं व्यजनम् । बर्हिणो विकारोऽवयवो वा बार्हिणम् । प्राणिरजतादिभ्योऽञ् (४।३।१५४) से अञ् । बार्हिणस्य विकारो बार्हिणम् । यहाँ ञितश्च तत्प्रत्ययात् (४।३।१५५) से अञ् प्राप्त था । प्रकृत सूत्र से अण् हुआ । इन्द्रायुधस्य विकार ऐन्द्रायुधम् । अण् ।

सुवर्णवाची शब्दों में परिमाण-रूप विकार में[1]—हाटको निष्कः । हाटकं कार्षापणम् । जातरूपम् । तापनीयम् । तपनीय=सुवर्ण । निष्क=१६ बड़ी रत्तियाँ । कार्षापण=१६ माशे ।

अञ्—प्राणिवाची तथा रजत आदि शब्दों से विकार या अवयव अर्थ में[2] —कापोतम् । मायूरम् । तैत्तिरम् । शुनोऽवयवो मांसं शौवम् । द्वारादीनां च (७।३।४) से ऐजागम । श्व-युव-मघोनामतद्धिते (६।४।१३३) में तद्धित का पर्युदास होने से यहाँ सम्प्रसारण नहीं हुआ । रजत=राजतम् । राजती सुग्रा । सीस—सैसम् । लोह=लौहम् । लौह उदञ्चनं । उदुम्बर—औदुम्बरम् । औदुम्बरो दण्डः । उदुम्बर=गूलर । विभीतक—वैभीतकम् । विभीतक=बहेड़ा । नीलदारु—नैलदारवम् । पीतदारु—पैतदारवम् ।

विकार, अवयव अर्थ में जो भी ञित् प्रत्यय है, तदन्त से विकार, अवयव में ही पुनः अञ् होता है, मयट् नहीं ।[3] दैवदारवस्य विकारोऽवयवो वा दैवदारवम् । पालाशस्य पालाशम् । शामीलस्य शामीलम् । कापोतस्य कापोतम् । इत्यादि ।

परिमाणवाची शब्दों से जो 'क्रीत' अर्थ में ठञ् आदि प्रत्यय विधान किये गये हैं वे विकार में भी होते हैं[4] । परिमाण से संख्या का भी ग्रहण है, रूढि-परिमाण का ही नहीं—जैसे, निष्केण क्रीतं नैष्किकम्, यहाँ ठञ् होता है, वैसे ही निष्कस्य विकारो नैष्किकः, यहाँ भी । शतेन क्रीतं शत्यम्, शतिकम् । शतस्य विकारः शत्यः, शतिकः ।

वुञ्—उष्ट्रस्य विकारोऽवयवो वा औष्ट्रकः[5] ।

---

१ जातरूपेभ्यः परिमाणे (४।३।१५३) ।
२ प्राणि-रजतादिभ्योऽञ् (४।३।१५४) ।
३ ञितश्च तत्प्रत्ययात् (४।३।१५५) ।
४ क्रीतवत् परिमाणात् (४।३।१५६) ।
५ उष्ट्राद् वुञ् (४।३।१५७) ।

उमा (सन), ऊर्णा (ऊन) से विकल्प से वुञ्[1]—उमाया विकारोऽवयवो वा औमकम् । औमम् (अण्) । ऊर्णाया विकारोऽवयवो वा और्णकम् । और्णम् (अञ्) । ययोर्णकानि वासांस्युष्णानि भवन्ति न तथौमकानि ।

ढञ्—एणी=मृगी । एण्या विकारोऽवयवो वा ऐणेयम् मांसम्[2] । अञ् का अपवाद । पुंल्लिंग 'एण' से अञ् ही होगा—ऐणं मांसम् ।

यत्—गो, पयस् से विकार, अवयव में[3]—गोर्विकारोऽवयवो वा गव्य । पयसो विकारोऽवयवो वा पयस्य । यत् प्रत्यय परे होने पर 'गो' के 'ओ' को वान्तो यि प्रत्यये(६।१।७९)से अवादेश हुआ । किसी भी अर्थ में अजादि प्रत्यय की प्राप्ति होने पर 'गो' से यत् ही होता है[4] । पर मयट् तो अजादि नहीं, अतः उसके विषय में भी यत् ही हो, इसलिए इस सूत्र का आरम्भ हुआ है ।

द्रु (=वृक्ष) से विकार या अवयव में[5]—द्रोर्विकारोऽवयवो वा द्रव्यम् । ओर्गुणः (६।४।१४६) । वान्तो यि प्रत्यये (६।१।७९) से ओ को अवादेश यादि प्रत्यय परे होने पर ।

प्रत्यय लुक्—विकार अथवा अवयव यदि फल हो तो प्रत्यय का लुक् हो जाता है[6]—आमलकी=आमला (वृक्ष) । आमलक्या फलम् आमलकम् । बदरी=बेर (वृक्ष) । बदर्या फलम् बदरम् । तद्धित-प्रत्यय का लुक् होने से स्त्रीप्रत्यय ङीप् का भी लुक् हो जाता है । लुक् तद्धितलुकि (१।२।४९) । फल (नपुं०) वाच्य होने से आमलक आदि का नपुंसकलिङ्ग में ही प्रयोग होता है ।

अण्—प्लक्ष आदि शब्दों से फल रूप विकार अथवा अवयव-अर्थ में अण् होता है और उसका विधान-सामर्थ्य से पूर्वसूत्र से लुक् नहीं होता[7]—प्लक्षस्य फलमवयवो विकारो वा प्लाक्षम् । न्यग्रोधस्य फलमवयवो विकारो वा

---

१ उमोर्णयोर्वा (४।३।१५८) ।
२ एण्या ढञ् (४।३।१५९) ।
३ गोपयसोर्यत् (४।३।१६०) ।
४ गोरपत्य गव्य (यत्) । गोरिद गव्यम् । गवि भव गव्यम् । गौर्देवताऽस्य गव्यो चरु ।
५ द्रोश्च (४।३।१६१) ।
६ फले लुक् (४।३।१६३) ।
७ प्लक्षादिभ्योऽण् (४।३।१६४) ।

नैयग्रोधम्। 'न्यग्रोध' मे 'य' पदान्त है अत: उससे पूर्व ऐच्-आगम हुआ, आदि अच् को वृद्धि नही हुई। इङ्गुदी (गोंदी)। इङ्गुद्या फलम् ऐङ्गुदम्।

अण्, प्रत्यय का लुक्—जम्ब्वा फलम्। जाम्बवम् (जम्बू=जामुन का फल)। प्रत्यय का लुक् करने पर जम्ब्वा फल जम्बु। जम्ब्वा फलानि जम्बूनि।[1] नपुसक होने से ह्रस्व हो जाता है। यहाँ 'ओरञ्' से जो अञ् हुआ है उसका फल-विवक्षा मे लुक् हो जाता है न कि अण् का, अन्यथा अण्-विधान व्यर्थ हो जाए।

लुप्—फल वाच्य होने पर 'जम्बू' (स्त्री०) से विकार व अवयव अर्थ मे आये हुए प्रत्यय का विकल्प से लुप् हो जाता है।[2] 'लुप्' होने पर प्रकृति के लिङ्ग-वचन लुबन्त के होते हैं—जम्ब्वा फल जम्बू (स्त्री०) फलम्। जम्बु फलम् (लुक्)। जाम्बव फलम्। अण्।

व्रीहि, यव, माष, मुद्ग आदि ओषधियो से भी फल मे आए हुए प्रत्यय (अण्) का विकार अवयव मे फलत्व से विवक्षित होने पर लुप् होता है।[3] व्रीहीणा फलानि व्रीहय। यवाना फलानि यवा। माषा। मुद्गा।

पुष्प तथा मूल वाच्य होने पर बहुलतया प्रत्यय का लुप् होता है[4]—मल्लिकाया पुष्प मल्लिका। नवमल्लिकाया पुष्प नवमल्लिका। विदार्या मूल विदारी। बृहत्या मूल बृहती। कही नही भी होता—पाटलाया पुष्पाणि पाटलानि। बिल्वादि होने से अण् और उसका लुप् नहीं हुआ। बहुल कहने से कदम्बस्य पुष्प कदम्बम्। अशोकस्य पुष्पम् अशोकम्। यहाँ अनुदात्तादेरञ् से हुए अञ् का लुक्। बैल्वानि फलानि—यहाँ बिल्वाद्यण् का न लुक् हुआ और न लुप्।

प्रत्यय-लुक्—हरीतकी आदि शब्दो से फल मे आये हुए प्रत्यय का लुप् होता है।[5] लुप् की प्रकृति का जो लिङ्ग वही लुबन्त का, पर वचन अभिधेय

---

१ जम्ब्वा वा (४।३।१६५)।
२ लुप् च (४।३।१६६)।
३ फल-पाक-शुषामुपसख्यानम् (वा०)। फलपाकशुष =फलपाकान्ता व्रीह्यादय ओषध्य।
४ पुष्पमूलेषु बहुलम् (वा०)।
५ हरीतक्यादिभ्यश्च (४।३।१६८)।

फल के अनुसार होता है—हरीतक्या फल हरीतकी। हरीतक्या फलानि हरीतक्य ।

यञ्, अञ्—कसीय (कस—छ), परशव्य (परशु—यत्) से विकार अर्थ में क्रम से यञ् तथा अञ् प्रत्यय होते हैं और इनके संनियोग से कसीय के 'छ' और परशव्य के यत् का लुक् हो जाता है[1]। कसाय पानपात्राय हित कसीयम्, प्याला बनाने के लिए अच्छी कांसी। कसीयस्य विकार =कांस्यम्। 'छ' का लुक्। परशवे हितम् परशव्यम्, कुल्हाड़ा बनाने के लिए अच्छा लोहा। परशव्यस्य विकार =पारशव। यत् का लुक्।

विकारावयवार्थक तद्धित समाप्त।

ठगधिकारः (चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः पाद)

तद्वहति रथयुगप्रासङ्गम् (४।४।७६)। इस सूत्र तक ठक् प्रत्यय अधिकृत है, ऐसा जानना चाहिए।

ठक् प्रकरण में मा शब्द आदि से तदाह (उसे कहता है) अर्थ में भी ठक् का विधान करना चाहिए, ऐसा वार्तिककार कहते हैं।[2] यह वाक्य से प्रत्यय-विधि है—मा शब्द कार्षि इत्याह (और मत करो, यह कहता है) =माशब्दिक। नित्य शब्द इत्याह=नैत्यशब्दिक (जो शब्द नित्य है यह कहता है अर्थात् वैयाकरण)। कार्यं शब्द इत्याह=कार्यशब्दिक (जो शब्द कार्य=अनित्य है ऐसा कहता है, अर्थात् नैयायिक)। स्वागतमित्याह स्वागतिक। स्वागतादीना च (७।३।७) से ऐजागम नहीं हुआ, आदिवृद्धि ही हुई।

प्रभूत आदि क्रियाविशेषणो से 'आह' इस अर्थ मे ठक् कहना चाहिए[3]—प्रभूत (यथा स्यात् तथा) आह=प्राभूतिक, जो बहुत बोलता है। पर्याप्तमाह =पार्याप्तिक, जो पर्याप्त बोलता है।

सुस्नात आदि द्वितीयान्त प्रातिपदिक से 'पृच्छति' अर्थ में[4]—सुस्नात पृच्छति सौस्नातिक, जो पूछता है कि क्या स्नान हो चुका? सुखशयन पृच्छतीति सौखशायनिक, जो पूछता है कि शयन सुखपूर्वक तो हुआ है न?

१　कसीय-परशव्ययोर्यञञौ लुक् च (४।३।१६८)।
२　ठक्प्रकरणे तदाहेति माशब्दादिभ्य उपसंख्यानम् (वा०)।
३　आहौ प्रभूतादिभ्य (वा०)।
४　पृच्छतौ सुस्नातादिभ्य (वा०)।

यहाँ अनुशतिकादि होने से उभयपद-वृद्धि हुई। परदार आदि द्वितीयान्त प्रातिपदिक से 'गच्छति' अर्थ में[1]—परदारान् गच्छतीति पारदारिक, जो परस्त्रीगमन करता है। गुरुतल्प गच्छतीति गौरुतल्पिक। तल्प शय्याट्टदारेषु—अमर। यहाँ तल्प=स्त्री।

तृतीयान्त प्रातिपदिक से दीव्यति=खेलता है, खनति=खोदता है, जयति=जीतता और जितम्=जीता गया—इन अर्थों मे ठक्-प्रत्यय होता है[2]—अक्षैर्दीव्यति आक्षिक, जो पासों से खेलता है। शलाकाभिर्दीव्यति=शालाकिक। अभ्रया खनति=आभ्रिक। अभ्रि (स्त्री०)=काष्ठकुद्दाल, कुद्दालमात्र वा। कुद्दालेन खनति=कौद्दालिक। अक्षैर्जितम् आक्षिकम्, जो धनादि पासों से जीता गया वह आक्षिक है। सभी उदाहरणों मे 'करण' में तृतीया विभक्ति जाननी चाहिए। देवदत्तेन जितम्—यहाँ प्रत्यय नही होता, कारण कि इस अर्थ को शिष्ट व्यवहार मे प्रत्यय से नहीं कहा जाता।

तृतीयान्त प्रातिपदिक से 'संस्कृतम्' (उत्कृष्ट बनाया गया) अर्थ मे[3]—दध्ना संस्कृत ओदन=दाधिक। मरिचैः संस्कृत दधि=मारिचिकम्, काली मिरच से संस्कार किया हुआ दही। शृङ्गवेरेण=आर्द्रकेण संस्कृत शाक=शाङ्गवेरिक।

अण्—कुलत्थ तथा कोपध (क उपधावाले) तृतीयान्त से[4]—कुलत्थेन=चक्षुष्येण संस्कृत गोधूमचूर्णम्=कौलत्थम्। ककारोपध—तिन्तिडीकेन संस्कृता शर्करा=तैन्तिडीकी। यह ठक् का अपवाद है।

ठक्—तृतीयान्त से तरति (तैरता है) अर्थ मे[5]—काण्डप्लवेन तरति काण्डप्लविक (वृक्ष स्कन्ध-रूप नौका से तैरता है)। उडुपेन तरति औडुपिक। उडुप=नौका। तितीर्षुर्दुस्तर मोहादुडुपेनास्मि सागरम् (रघु०)।

ठञ्—गोपुच्छेन तरति गौपुच्छिक[6], गौ की पूंछ का अवलम्बन कर जो तैरता है। प्रत्ययान्तर स्वर-भेद के लिए किया है।

---

१ गच्छतौ परदारादिभ्य (वा०)।
२ तेन दीव्यति खनति जयति जितम् (४।४।२)।
३ संस्कृतम् (४।४।३)।
४ कुलत्थ-कोपधादण् (४।४।४)।
५ तरति (४।४।५)।
६ गोपुच्छाट्ठञ् (४।४।६)।

ठन्—'नौ' तथा द्व्यच् (द्व्यक्षर) प्रातिपदिक से 'तरति' अर्थ में[1]—नावा तरति नाविकः । द्व्यच्—घटेन तरति घटिकः । प्लवेन तरति प्लविकः । बाहुभ्यां तरति बाहुकः । उगन्त होने से 'ठ' को 'क' आदेश । स्त्रीत्व में बाहुका । टाप् । न नदीं बाहुकस्तरेत् (नदी को बाहुओं से तैर कर पार न करे) बौधा० धर्म सूत्र २।३।२६ ॥ सूत्र में 'न्' माहितिक है (महिता से बना है, प्रत्यय का अनुबन्ध नहीं) ।

आकर्षात् पर्पादेर्भस्त्रादिभ्यः कुसीदसूत्राच्च ।
आवसथात्किसरादेः षितः षडेते ठगधिकारे ॥

अर्थात्, आकर्ष से जो प्रत्यय विधान किया है, जो पर्पादि से, जो भस्त्रादि से, जो कुसीददशैकादशात् सूत्र में, जो आवसथ से और जो किसरादि प्रातिपदिकों से विधान किया है वही इस ठगधिकार में षित् है दूसरा कोई नहीं ।

ठक्—तृतीयान्त से चरति (=भक्षयति, गच्छति) अर्थ में[2]—दध्ना चरति भक्षयति दाधिकः । दध्ना चरन्ति तण्डुलान् इति दाधिका प्रायेण दाक्षिणात्याः । हस्तिना चरति गच्छतीति हास्तिकः । हास्तिका राजस्थानराजन्याः । शकटेन चरन्ति गच्छन्तीति शाकटिकाः कृषाणाः । विमानेन चरतीति वैमानिकः । वैमानिका देवाः । वीतंसो बन्धनोपायः, तेन चरति वैतंसिकः=व्याधः । वागुरया=जालेन चरति वागुरिकः=जालिकः ।

ष्ठल्—आकर्षेण निकषोपलेन चरति व्यवहरति इत्याकर्षिकः[3] । स्त्रीत्व में आकर्षिकी । षित् होने से ङीष् । ठक् का अपवाद है ।

ष्ठन्—पर्पादि प्रातिपदिकों से[4]—पर्पेण चरति पर्पिकः । येन पीठेन पङ्गवश्चरन्ति स पर्पः, जिस पीठ (पङ्गु पीठ) का सहारा लेकर लंगड़े चलते हैं उसे 'पर्प' कहते हैं । सूत्र में 'ष्' स्त्रीत्व विवक्षा में ङीष् के लिए है—पर्पिकी । 'न्' स्वर के लिए है । पर्पिकः आद्युदात्त होगा । अश्वेन चरति अश्विकः, जो घुड़सवारी करता है । रथेन चरति रथिकः । जालेन चरति जालिकः, जो जाल से काम लेता है । पादाभ्यां चरति पदिकः, जो पैदल

1 नौ द्व्यचष्ठन् (४।४।७) ।
2 चरति (४।४।८) ।
3 आकर्षात्ष्ठल् (४।४।९) ।
4 पर्पादिभ्यः ष्ठन् (४।४।१०) ।

चलता है। यहां 'पाद' को 'पद्' आदेश भी होता है। ठक् का अपवाद।

ठञ्, ष्ठन्—श्वगणेन चरतीति श्वागणिक।[1] श्वागणिकी (ङीप्)।

ष्ठन्—श्वगणिक। श्वगणिकी(ङीप्)। जो कुत्तों के गण को साथ लेकर चलता है, व्याध, शिकारी। ठञ् प्रत्यय परे होने पर द्वारादि होने पर भी ऐजागम नहीं होता, श्वादेरिञि (७।३।८) सूत्र पर 'इकारादि ग्रहणं च कर्तव्य श्वागणिकाद्यर्थम्' यह निषेध-वार्तिक पढ़ा है। 'एकीभूय यदेकत्र सामन्तैः सामवायिकैः। शक्तिशौचयुतैर्यानं सम्भूयगमनं हि तत्' (का० नी० ११।६)। समवायेन प्रत्यग्रग्रहणेन चरन्तीति सामवायिकाः। (उपाध्यायनिरपेक्षा टीका)।

ठक्—वेतनादि तृतीयान्त शब्दों से 'जीवति' अर्थ में[2]—वेतनेन जीवति वैतनिक। वेतन (=भृति=निर्वेश) से जो निर्वाह करता है वह 'वैतनिक' कहाता है। जालेन जीवति जालिक। धनुषा जीवति धानुष्क। 'ठ' को 'क' आदेश। आदि-वृद्धि। दण्डेन जीवति दाण्डिक। शक्त्या जीवति शाक्तिक, बर्छी चलाने से जो जीविका सम्पन्न करता है। उपनिषद्—उपनिषदा जीवति औपनिषदक। सङ्ग—सङ्गेन सजा सङ्ग्रथनेन जीवति साङ्गिक। नैकग्रामीणम-तिथिं विप्र साङ्गतिक तथा (मनु० ३।१०३), सङ्गत्या वृत्त्यर्थिनम् (कुल्लूक)।

ष्ठन्—वस्न, क्रय, विक्रय से 'जीवति' अर्थ में[3]—वस्नेन(=मूल्येन)जीवति वस्निक। क्रयेण जीवति क्रयिक, वस्तुओं के खरीदने से जीविका बनाता है, बनिया। विक्रयेण जीवति विक्रयिक, चीजों की बिक्री करके जीविका सम्पन्न करता है। क्रयविक्रयाभ्यां जीवति क्रयविक्रयिक, जो क्रय-विक्रय से जीता है, वणिक्। सूत्र में क्रय-विक्रय का सघात (इकट्ठा) तथा विगृहीत (जुदा-जुदा) ग्रहण विवक्षित है। ऐसे ही उदाहरण दिए हैं।

छ, ठञ्—आयुधेन जीवति आयुधीय। आयुधिक। ठन्।[4] शस्त्राजीव, सिपाही, सैनिक।

ठक्—उत्सङ्ग आदि तृतीयान्त प्रातिपदिक से 'हरति=प्रापयति=ले जाता है' अर्थ में[5]—उत्सङ्गेन हरति=औत्सङ्गिक, गोद में रखकर ले जाता

---

१ श्वगणाट् ठञ् च (४।४।११)।
२ वेतनादिभ्यो जीवति (४।४।१२)।
३ वस्न-क्रय-विक्रयाट्ठन् (४।४।१३)।
४ आयुधाच्छ च (४।४।१४)।
५ हरत्युत्सङ्गादिभ्य (४।४।१५)।

है। उडुपेन हरति=औडुपिक। छोटी नाव से ले जाता है। तद्धित स्वभाव से सत्त्वप्रधान होते हैं अतः औडुपिक उडुप से देशान्तर (दूसरी जगह) पहुँचाने वाले को कहते हैं। ऐसा ही अन्यत्र समझो। पिटकेन हरतीति पैटकिक, जो पिटारी में रखकर ले जाता है।

ष्ठन्—भस्त्रा आदि तृतीयान्त से 'हरति' अर्थ में[1]—भस्त्रया हरति भस्त्रिक। स्त्रीत्व में भस्त्रिकी (ङीष्)। भस्त्रा=चर्ममय जलपात्र, मशक।

ष्ठन्, ठक्—विवध तथा वीवध शब्द से 'हरति' अर्थ में[2]—विवधेन हरति विवधिक। स्त्री विवधिकी (ङीष्)। वीवधेन हरति वीवधिक। स्त्री वीवधिकी (ङीष्)। ठक्—विवधेन वीवधेन वा हरतीति वैवधिक। स्त्री वैवधिकी (ङीप्)। विवध, वीवध बँहगी को कहते हैं। पर्याहारश्च मार्गश्च विवधौ वीवधौ च तौ—अमर। इस अमर वचन के अनुसार इन दोनों का 'मार्ग' अर्थ भी है।

अण्—कुटिलिका=वक्रगति अथवा लोहार की भट्ठी में से शस्त्र को खींचने के लिए प्रयुक्त लोहे की टेढ़ी यष्टिका। कुटिलिकया हरति मृगो व्याधम्=कौटिलिको मृगः[3], जो मृग व्याध को अपनी वक्रगति से दूर ले जाता है उसे 'कौटिलिक' कहते हैं। टेढ़ी लोहयष्टि द्वारा जो लोहार भट्ठी से अंगारों अथवा शस्त्र को बाहर खींचता है उसे भी 'कौटिलिक' यह उपाधि देते हैं। कुटिलिकया हरत्यङ्गारान् शस्त्रं वा कौटिलिकः कर्मारः।

ठक्—आक्षद्यूत आदि प्रातिपदिकों से 'तेन निर्वृत्तम्' (उससे बनाया गया) इस अर्थ में[4]—आक्षद्यूतेन निर्वृत्तं वैरम् आक्षद्यूतिकम्। पासों से जुआ खेलने से जो वैर उत्पन्न हुआ उसे 'आक्षद्यूतिक' कहेंगे। जङ्घाप्रहृतेन (=जङ्घाप्रहारेण) निर्वृत्तं वैरं जाङ्घाप्रहृतिकम्। जानुप्रहृतेन निर्वृत्तं वैरं जानुप्रहृतिकम्। गतागताभ्यां निर्वृत्तं संश्रयं गातागतिकम्। यातोपयाताभ्यां निर्वृत्तं परिचयो यातोपयातिक। कालेन निर्वृत्तं ऋणं कालिक। विशेषः कालिकोऽवस्था—अमर। कार्मिके रोमबद्धे च (याज्ञ० २।१८०)। यत्र निष्पन्ने पटे

१ भस्त्रादिभ्यः ष्ठन् (४।४।१६)।
२ विभाषा विवधात् (४।४।१७)। वीवधादपि वक्तव्यम् (वा०)।
३ अण् कुटिलिकायाः (४।४।१८)।
४ निर्वृत्तेऽक्षद्यूतादिभ्यः (४।४।१९)।

चक्रस्वस्तिकादिक सूत्रैः क्रियते तत्कार्मिकमुच्यते। कर्मणा चित्रेण निर्मितमिति कार्मिकमुच्यते—मिताक्षरा। कालिक तथा कार्मिक तभी सिद्ध होते हैं जब अक्षद्यूतादि को आकृतिगण माना जाए।

मप्—कृत् प्रत्यय 'क्त्रि' जो ड्वित् क्त्रि (३।३।८८) से विहित किया गया है उससे मप् (म) तद्धित-प्रत्यय नित्य आता है।[1] अर्थात् क्त्रि-प्रत्ययान्त का स्वतन्त्र प्रयोग नहीं होता किन्तु मप्प्रत्ययान्त होकर ही होता है—डुपचष् पाके। पच् ड्वित् है इससे क्त्रिप्रत्यय होकर मप् होगा—पाकेन निर्वृत्त पक्त्रिमम्। इमानि पक्त्रिमाणि फलानि, इमानि शलाटूनि, ये पके हुए फल हैं और ये कच्चे। टुवप्—उप्त्रिमम्। इमे उप्त्रिमा व्रीहय, इमे चारण्या अकृष्टपच्या श्यामाकाः, ये बोने से निर्वृत्त (सिद्ध) चावल हैं और ये बिना बोये उगे हुए जंगली स्वांक हैं।

इमप्—भावप्रत्ययान्त से इमप् होता है[2]—पाकेन निर्वृत्तम् पाकिमम् (=पक्त्रिमम्)। त्यागेन निर्वृत्त त्यागिमम्। त्यागिमोऽस्य महिमा मुनेः, इस मुनि की महिमा का आधार त्याग है। सेकेन निर्वृत्त सेकिमम्। सेकिम शैत्यमस्यागारस्य, इस कमरे मे जल छिड़कने से शीतलता आई है। कुट्टेन निर्वृत्त कुट्टिमम्। कुट्टिमोऽस्त्री निबद्धा भूः (अमर), पक्का फर्श।

कक्, ठन्—'अपमित्य' (मेङ् से ल्यबन्त) तथा 'याचित' से 'तेन निर्वृत्तम्' इस अर्थ में क्रम से कक्, ठन् होते हैं[3]—अपमित्य (=अपमाय) निर्वृत्तम् आपमित्यकम्, जो विनिमय से सिद्ध, प्राप्त हुआ। देवदत्तस्यैतत् क्षेत्रं यज्ञदत्तस्य त्वापमित्यकम्, यह खेत पहले देवदत्त का था, पर (अब यह) बदले में दिए जाने से यज्ञदत्त का हो गया। याचितेन याञ्चया निर्वृत्त याचितकम्। विष्णुमित्रस्य याचितकमिद द्रव्य न तु तेनेदमर्जितम्।

ठक्—'तेन संसृष्टम्' अर्थ मे तृतीयान्त से[4]—दध्ना संसृष्ट दाधिकम्। यहाँ संस्कार की अविवक्षा मे संसर्गमात्र की विवक्षा मे प्रत्यय विधि है। दाधिकोऽयोदनो न स्वदते, पर्युषितत्वाद् दध्नः, दही-मिश्रित भात भी स्वादु नहीं है, कारण कि दही बासा है। पिप्पलीभिः संसृष्ट पयः पैप्पलिकं गुणाय

---

१ क्त्रेर्मम्नित्यम् (४।४।२०)।

२ भावप्रत्ययान्ताद् इमप् वक्तव्य (वा०)।

३ अपमित्य-याचिताभ्यां कक् कनौ (४।४।२१)।

४ संसृष्टे (४।४।२२)।

भवति। शृङ्गवेरम्=मार्द्रकम्। शृङ्गवेरेण संसृष्टं शाङ्गवेरिकं शाकम्। शाङ्गवेरिकं शाकं वार्तिकं न भवति।

इनि—चूर्णैः संसृष्टाश्चूर्णिनोऽपूपाः।[1]

ठक्-लुक्—लवणेन संसृष्टः सूपः=लवणः[2], सूप जिसमें नमक मिलाया गया है। इसी प्रकार लवणं शाकम्। लवणा यवागूः। यहाँ लवण शब्द द्रव्यवाची है, गुणवाची नहीं। गुणवाची होने पर तो द्रव्य सूपादि के साथ अभेदोपचार से इष्ट सिद्धि हो जाती।

अण्—मुद्गैः संसृष्ट ओदनः=मौद्गः[3], मूंग से मिला हुआ भात, खिचड़ी।

ठक्—तृतीयान्त व्यञ्जनवाची शब्दों से 'उपसिक्त' अर्थ में[4]—दध्ना उपसिक्त ओदनो दाधिकः। सूपेनोपसिक्तं शाकं सौपिकं। दही का छौंक दिया गया है जिस ओदन में, वह दाधिक कहलाता है। उपसेचन तरल द्रव्य का द्रव्यान्तर पर गिराने का नाम है।

तृतीयान्त ओजस्, सहस्, अम्भस् से 'वर्तते' (प्रवृत्त होता है) अर्थ में[5]—ओजसा वर्तते औजसिकः शूरः। ओजो बलम्। सहसा वर्तते साहसिकश्चौरः। अम्भसा वर्तते आम्भसिको मत्स्यः। 'अम्भसा' में सहाय में तृतीया है।

ठक्—प्रति व अनु पूर्वक द्वितीयान्त ईप, लोम, कूल से 'वर्तते' इस अर्थ में[6]—प्रति—प्रतीपं (यथा स्यात् तथा) वर्तते इति प्रातीपिकः। अनु—अन्वीपं वर्तते इत्यान्वीपिकः। प्रतिलोमं (यथा स्यात्तथा) वर्तते प्रातिलोमिकः। अनुलोमं वर्तते=आनुलोमिकः। (अनुकूल व्यवहार करने वाला)। प्रतिकूलं (यथा स्यात्तथा) वर्तते इति प्रातिकूलिकः। अनुकूलं वर्तते इत्यानुकूलिकः। क्रियाविशेषण भी धातुओं का कर्म होते हैं, अतः प्रतीप आदि से द्वितीया होती है।

---

१ चूर्णादिनिः (४।४।२३)।
२ लवणाल्लुक् (४।४।२४)।
३ मुद्गादण् (४।४।२५)।
४ व्यञ्जनैरुपसिक्ते (४।४।२६)।
५ ओजःसहोऽम्भसा वर्तते (४।४।२७)।
६ तत्प्रत्यनुपूर्वमीपलोमकूलम् (४।४।२८)।

परिमुख (अव्ययीभाव) से 'वर्तते' इस अर्थ में[1]—परिमुखं वर्तते पारिमुखिकः। 'परि' वर्जन-अर्थ में है। स्वामिमुखं वर्जयित्वा यः सेवको वर्तते स पारिमुखिकः। जो सेवक कामचोर होने से स्वामी के सामने नहीं आता, वह 'पारिमुखिक' है। अथवा 'परि' शब्द सर्वतोभाव में है और परिमुख प्रादि समास है। परिगतो मुखं परिमुखम्। यतो यतः स्वामिनो मुखं वर्तते ततस्ततो यः सेवको वर्तते स पारिमुखिकः। सूत्र में 'च' अनुक्त समुच्चय के लिए है। परिपार्श्वं (=पार्श्वे, विभक्त्यर्थ में अव्ययीभाव) वर्तते पारिपार्श्विकः। नाटकों में सूत्रधार का सहायक। एवमुक्त्वा तु तान्सर्वान् राक्षसान् पारिपार्श्विकान् (रा० ६।२१।१७)। यहाँ पारिपार्श्विक=सहायक, अनुग।

गर्ह्य (=निन्द्य) वाची द्वितीयान्त से 'प्रयच्छति' अर्थ में[2]—द्विगुणार्थं धनं द्विगुणम्। तादर्थ्यात् ताच्छब्द्यम्, जो जिसके लिए होता है उसे उसी शब्द से कहने की रीति है। द्विगुणं प्रयच्छति द्वैगुणिकः। त्रिगुणं प्रयच्छति त्रैगुणिकः। जो धनिक धन को द्विगुण या त्रिगुण करने के लिए ऋण-रूप में दूसरे को देता है उसे द्वैगुणिक एवं त्रैगुणिक कहते हैं। वृद्धि (सूद) के लिए जो धन का प्रयोग करता है उसे 'वार्द्धुषिक' कहते हैं—वृद्ध्यर्थं धनं वृद्धिः। तां प्रयच्छति। यहाँ 'वृद्धि' को 'वृधुषि' आदेश होता है। वृद्धि अर्थ में 'वृधुषि' एक स्वतन्त्र शब्द है, ऐसा भी मत है।

ष्ठन्, ष्ठच्—द्वितीयान्त कुसीद, दशैकादशन् शब्दों से 'प्रयच्छति' अर्थ में क्रम से[3]—कुसीदं वृद्धिः। तदर्थं द्रव्यमपि कुसीदम्। कुसीदं प्रयच्छति—कुसीदिकः। स्त्रीत्व में कुसीदिकी (ब्याज पर धन देने वाली स्त्री)। अन्यत्र 'कुसीद' का अर्थ 'वृद्धि के हेतु धन का प्रयोग' भी है—कुसीदवृद्धिर्द्वैगुण्यम् (मनु० ८।१५१) पर टीकाकार कुल्लूक का वचन है—वृद्ध्या धनप्रयोगः कुसीदम्। दशैकादश शब्द से ष्ठच्—एकादशार्था दश दशैकादशशब्देनोच्यन्ते (काशिका)। एकादशार्थत्वादेकादश, ते च वस्तुतो दश चेति समासः। छोटी संख्या का समास में पूर्वनिपात होता है अतः 'दशन्' को पूर्व पढ़ा है। दस देकर ग्यारह जो लिये जाते हैं उन्हें 'दशैकादश' कहा है। दशैकादश प्रयच्छति दाशैकादशिकः। स्त्रीत्व में दाशैकादशिकी (ङीप्)।

---

१ परिमुखं च (४।४।२९)।
२ प्रयच्छति गर्ह्यम् (४।४।३०)।
३ कुसीद-दशैकादशात् ष्ठन्ष्ठचौ (४।४।३१)।

ठक्—द्वितीयान्त से 'उञ्छति' (कण-कण चुनता है) अर्थ में[1]—बदराणि (एकैकश) उञ्छति=बादरिक । श्यामाकानुञ्छति श्यामाकिक । यति लोग शिलोञ्छ-वृत्ति होते हैं । उन्हें ही बादरिक व श्यामाकिक कहा है ।

द्वितीयान्त से रक्षति अर्थ में[2]—समाज रक्षति सामाजिक । समाज ब्राह्मणादि के समुदाय का नाम है । सन्निवेश रक्षति सान्निवेशिक । सन्निवेश नानार्थक है । सन्निवेश=समुदाय, निवासस्थान (झोपड़ी), नगरसमीपवर्ती विहारार्थ मैदान, जिसे निवर्तन भी कहते हैं ।

शब्द और दर्दुर से 'करोति' अर्थ में[3]—शब्द करोति=व्याकरोति शाब्दिको वैयाकरण, जो शब्दों का प्रकृतिप्रत्ययादि विभाग द्वारा व्याख्यान करता है वह शाब्दिक (वैयाकरण) होता है । कवि तो सामान्य रूप से शब्द (ध्वनि) करने वाले को भी 'शाब्दिक' मानकर प्रयोग करते हैं, यह उनकी निरङ्कुशता है—शाब्दिकाग्वीक्षणात् पश्यन् दिशो दश सविस्मय । यहाँ शाब्दिक =शब्दकार । 'दर्दुर' वाद्यभाण्ड को कहते हैं, जिसे गाते समय बजाया जाता है । दर्दुरान् करोति दार्दुरिको कुम्भकार ।

ठक्—पक्षिन्, मत्स्य, मृग—इन द्वितीयान्तों से 'हन्ति' अर्थ में[4] । यहाँ सूत्र में स्वरूप, पर्याय और पक्ष्यादि के विशेषों का ग्रहण इष्ट है—पक्षिणो हन्ति पाक्षिक । पर्याय—शकुनान् हन्ति शाकुनिक । पक्षिविशेष—मयूरान् हन्ति मायूरिक । तित्तिरान् हन्ति तैत्तिरिक । मत्स्य—मत्स्यान् हन्ति मात्स्यिक । पर्याय—मीनान् हन्ति मैनिक । तद्विशेष—शफरान् हन्ति शाफरिक । शकुलान् हन्ति शाकुलिक । मृग—मृगान् हन्ति मार्गिक । पर्याय —हरिणान् हन्ति हारिणिक । तद्विशेष—सूकरान् हन्ति सौकरिक । सूकर हरिण-विशेष का भी नाम है । सारङ्गान् हन्ति सारङ्गिक । सारङ्ग बारा-सिंगा को कहते हैं । यद्यपि अजिह्म तथा अनिमिष मत्स्य-पर्याय ही हैं तो भी अजिह्मान् हन्ति, अनिमिषान् हन्ति यहाँ वाक्य ही रहेगा, प्रत्यय करके आजिह्मिक तथा आनिमिषिक नहीं कह सकते ।

---

१ उञ्छति (४।४।३२) ।
२ रक्षति (४।४।३३) ।
३ शब्द-दर्दुरं करोति (४।४।३४) ।
४ पक्षि-मत्स्य-मृगान् हन्ति (४।४।३५) ।

द्वितीयान्त 'परिपन्थ' शब्द से 'तिष्ठति' अर्थ में[1]—परिपन्थं तिष्ठति पारिपन्थिकश्चौरः, लुटेरा जो मार्ग घेर कर खड़ा हो जाता है। 'परिपन्थ' शब्द जब अव्ययीभाव है तब 'परि' वर्जन अर्थ में है। जब तत्पुरुष, तब परि=परितः। अव्ययीभाव पक्ष में क्रियाविशेषण होने से द्वितीया समर्थ-विभक्ति उत्पन्न होती है। तत्पुरुष पक्ष में 'कालभावाध्वगन्तव्याः कर्मसंज्ञा ह्यकर्मणाम्' इस वचन से कर्मत्व होने से। 'परिपन्थ' शब्द 'परिपथ' के अर्थ में स्वतन्त्र प्रकृति है, 'परिपथ' का आदेश नहीं। अतः विषयान्तर में भी इसका प्रयोग हो सकता है। सूत्र में 'च' पूर्वसूत्र के प्रत्ययार्थ को समुच्चित करने के लिए है, अतः परिपन्थं हन्ति पारिपन्थिकः ऐसा भी प्रयोग शास्त्र-सम्मत होगा।

माथ (=पथिन्) उत्तरपद वाले प्रातिपदिक से, पदवी तथा अनुपदम् (=पश्चात्) (पश्चात् अर्थ में अव्ययीभाव) से धावति (दौड़ता है) अर्थ में[2]—दण्डमाथं धावति=दाण्डमाथिकः, जो सीधा रास्ता दौड़ता है। 'पदवी' मार्ग का नाम है—'पदं पदव्या सगरस्य सन्तते' (रघु० ३।५०)। पदवीं (=मार्गम्) धावति पादविकः। अनुपदं धावति=आनुपदिकः। देवदत्तो जङ्घालत्वात् पूर्वसरः, यज्ञदत्तस्त्वानुपदिकः।

ठक्, ठञ्—द्वितीयान्त आक्रन्द से धावति अर्थ में ठञ् भी[3]—आक्रन्दं धावति आक्रन्दिकः। 'आक्रन्द' यहाँ आर्तायन=शरण अर्थ में है। आक्रन्द्यत आहूयत इत्याक्रन्दः, जिसे पुकारा जाता है, अर्थात् शरण=रक्षक। आक्रन्द्यतेऽत्रेति वाऽऽक्रन्दः। इस व्युत्पत्ति के अनुसार आक्रन्द युद्ध का नाम है। आक्रन्दो दारुणे रणे—विश्व। प्रक्रियासर्वस्वकार 'आर्तायन' का 'दुःखिनां रोदनस्थानम्' ऐसा अर्थ समझते हैं—

आक्रन्द-देशमाधावन् पार्थ आक्रन्दिकोऽभवत्।
तं रक्षितारं धावन्त आसन्नाक्रन्दिका द्विजाः॥

ठक्—'पद' शब्द उत्तरपद वाले प्रातिपदिक से 'गृह्णाति' अर्थ में[4]—

---

१ परिपन्थं च तिष्ठति (४।४।३६)।
२ माथोत्तरपदपदव्यनुपदं धावति (४।४।३७)।
३ आक्रन्दाट्ठञ् च (४।४।३८)।
४ पदोत्तरपदं गृह्णाति (४।४।३९)।

पूर्वपद गृह्णाति पौर्वपदिक । उत्तरपद गृह्णाति औत्तरपदिक ।

प्रतिकण्ठ (अव्ययीभाव), अर्थ, ललाम (नपु०, पुच्छ)— इनसे 'गृह्णाति' अर्थ मे[1]—प्रतिकण्ठ (कण्ठ कण्ठ प्रति) गृह्णाति प्रातिकण्ठिक, आभिमुख्येन वा कण्ठ गृह्णाति प्रातिकण्ठिक । अर्थं गृह्णाति आर्थिक धनिक, बुद्धिमान् । ललाम गृह्णाति लालामिक, पुच्छग्राही ।

धर्मं चरतीति धार्मिक ।[2]—यहाँ चर् आसेवा (परिशीलन, अभ्यास, बार-बार करना) अर्थ मे है अनुष्ठानमात्र मे नही । वार्तिककार के अनुसार 'अधर्म' से भी इसी अर्थ मे प्रत्यय होता है[3]—अधर्मं चरतीति आधर्मिक (—पाप)। अधर्म=पाप । तद्धन्मिहन्मि मनुजान् यदि वृत्तिहेतोराधर्मिक किल ततोऽस्मि न ते मृगघ्ना (गुतसोमजातक, ५०) । धार्मिक का नञ् के साथ समास होकर जो 'अधार्मिक' शब्द सिद्ध होता है उसका 'जो धर्म नही करता' ऐसा अर्थ है, 'पाप करता है' ऐसा नही ।

द्वितीयान्त 'प्रतिपथ' से 'एति' (जाता है) अर्थ मे ठक् होता है, ठन् भी[4]—प्रतिपथमेति प्रातिपथिक (ठक्) । प्रतिपथिक (ठन्), जो आवृत्तिपथ (लौटने के मार्ग) का आश्रयण करता है ।

समवाय (—समूह) वाची द्वितीयान्त से 'समवैति' (मिल जाता है, अङ्ग बन जाता है) इस अर्थ मे[5]—समवाय समवैति सामवायिक । समाज समवैति सामाजिक । सन्निवेश(=समुदाय)समवैति सान्निवेशिक । सूत्र मे 'समवायान्' इस द्वितीया-प्रयोग पर पदमञ्जरीकार का कहना है—'गुणभूतसमागमापेक्षया समवायान् इति द्वितीयानिर्देश । लोके तु प्रायेण सप्तमी प्रयुज्यते द्रव्ये गुणा समवयन्तीति', अर्थात् सूत्र मे 'समवायान्' मे जो द्वितीया का प्रयोग हुआ है वह गुणीभूत सम्पर्क को दृष्टि मे रखकर किया गया है, लोक मे तो प्राय सप्तमी का प्रयोग देखा जाता है जैसे,'द्रव्ये गुणा समवयन्ति' इस वाक्य मे । तात्पर्य यह है कि अयुत-सिद्धता (अपृथग्भाव) मे सप्तमी होती है, अन्यत्र द्वितीया ।

---

१ प्रतिकण्ठार्थ ललाम च (४।४।४०) ।
२ धर्मं चरति (४।४।४१) ।
३ अधर्माच्चेति वक्तव्यम् (वा०) ।
४ प्रतिपथमेति ठंश्च (४।४।४२) ।
५ समवायान् समवैति (४।४।४३) ।

ण्य—परिषद् समवैति पारिषद्य[1]=सदस्य=मेम्बर। ठक् का अपवाद।

ठक्, ण्य—'सेना' से विकल्प से ण्य—सेना समवैति सैनिक (ठक्)। सैन्य (ण्य), जो सेना में भरती होता है।

ठक्—ललाट, कुक्कुटी—इन द्वितीयान्तों से 'पश्यति' (देखता है) अर्थ में ठक् होता है जब प्रत्ययान्त संज्ञा हो[3]—ललाटं पश्यति लालाटिको भृत्य, 'लालाटिक' ऐसे भृत्य को कहते हैं जो दूर से स्वामी के ललाट (मस्तक) को देखकर कार्य में उपस्थित नहीं होता वरन् परे टल जाता है। यह वृत्ति, पदमञ्जरी, न्यास, कौमुदी आदि के अनुसार अर्थ है। कोषकार 'लालाटिक प्रभोर्भालदर्शी कार्याक्षमश्च यः' (अमर) (यहाँ पाठान्तर भावदर्शी भी है।) लालाटिकः सदालस्यप्रभुभावनिदर्शिनि (अजय) ऐसा पढ़ते हैं। उनके अनुसार लालाटिक उस सेवक को भी कहते हैं जो स्वामी के भाव को एकदम जानकर कार्य में प्रवृत्त हो जाता है। 'कुक्कुटी' शब्द से कुक्कुटीपात लक्षित होता है। जितनी-थोड़ी सी जगह में कुक्कड़ी उड़ती है वह 'कुक्कुटी-पात' है। प्रकृत में अल्पदेश से अभिप्राय है। कुक्कुटीं पश्यति कौक्कुटिको भिक्षुः, जो भिक्षु अपने चरण-विक्षेप-स्थल में आँखों को जमाकर चलता है, इधर-उधर नहीं देखता, उसे 'कौक्कुटिक' कहते हैं। कुछ लोग 'कुक्कुटी दाम्भिकी चेष्टा' ऐसा मानकर 'कौक्कुटिक' का 'दाम्भिक' अर्थ समझते हैं। अमर का पाठ भी है—स्याद् दाम्भिकः कौक्कुटिको यश्चादूरेरितेक्षणः।'

षष्ठ्यन्त से 'धर्म्यम्' इस अर्थ में[4]—शुल्कशालाया धर्म्यम्=शौल्क-शालिकम्। 'धर्म्य' नाम 'परम्परा-प्राप्त जो आचार उससे युक्त' का है। आकरस्य धर्म्यम् आकरिकम्, जो खान के लिए आचार (रिवाज) से प्राप्य है।

अण्—महिषी आदियों से 'तस्य धर्म्यम्' अर्थ में अण्[5]। ठक् का अपवाद है। महिष्या धर्म्यम् माहिषम्—जो द्रव्यादि महिषी रानी को धर्म के अनुसार मिलना चाहिए। प्रजावती=भ्रातृजाया=भाभी। प्रजावत्या

---

१. परिषदो ण्यः (४।४।४४)।

२ सेनाया वा (४।४।४५)।

३ संज्ञायां ललाटकुक्कुट्यौ पश्यति (४।४।४६)।

४ तस्य धर्म्यम् (४।४।४७)।

५ अण् महिष्यादिभ्यः (४।४।४८)।

धर्म्यम् प्राजावतम्। पुरोहितस्य धर्म्यम् पौरोहितम्, जो प्रथा के अनुसार पुरोहित को मिलना चाहिए।

अञ्—ऋकारान्त प्रातिपदिक से 'तस्य धर्म्यम्' अर्थ में[1]—पोतुर्धर्म्यं= पौत्रम्। पोतृ ऋत्विग्विशेष का नाम है। उद्गातुर्धर्म्यम् औद्गात्रम्। उद्गातृ =सामग पुरोहित।

'नर' शब्द से भी इस अर्थ में[2]—नरस्य धर्म्या नारी, मनुष्य को धर्म के अनुसार प्राप्य है।

ठक्—षष्ठ्यन्त से अवक्रय (चुंगी, महसूल) अर्थ में[3]—शुल्कशालाया अवक्रय =शौल्कशालिक। आकरस्यावक्रय =आकरिक। अवक्रय में 'अव' शब्द क्रय की अवमता, निकृष्टता, न्यूनता को कहता है। तैल-धान्यादि को जो वनिया व्यापार के लिए देशान्तर से जा रहा है उसे शुल्कशाला में जो अपना द्रव्य (द्रव्यांश) देना होता है, उसे अवक्रय कहते हैं। यहाँ अपने द्रव्य (द्रव्यांश) को देकर अपना ही द्रव्य अपने अधिकार में करता है, यही यहाँ क्रय की अवमता है, इसी से उसे अवक्रय कहते हैं। अन्यत्र 'अवक्रय' किराये को कहते हैं, वहाँ न्यून (अपूर्ण) क्रय ऐसा अर्थ होता है। अवक्रीणीतेऽनेने-त्यवक्रय।

प्रथमान्त से 'तदस्य पण्यम्' (वह=प्रथमान्त वाच्य इसका पण्य है) इस अर्थ में[4]—अपूपा पण्यमस्य आपूपिक, पूए वेचने वाला। शष्कुलय पण्यमस्य शाष्कुलिक, कचौडियाँ वेचने वाला। मोदका पण्यमस्य मौदकिक, लड्डू वेचने वाला। मांसं पण्यमस्य मांसिक।

ठञ्—लवण से।[5] लवणं पण्यमस्य लावणिक। प्रत्ययान्तर स्वर के लिए किया है। ठञ् होने पर 'लावणिक' आद्युदात्त होगा और ठक् होने पर कित (६।१।१६५) से अन्तोदात्त।

---

१ ऋतोऽञ् (४।४।४६)।
२ नराच्चेति वक्तव्यम् (वा०)।
३ अवक्रय (४।४।५०)।
४ तदस्य पण्यम् (४।४।५१)।
५ लवणाट् ठञ् च (४।४।५२)।

ष्ठन्—किशर आदि से 'तदस्य पण्यम्' इस अर्थ में।[1] किशर पु० गन्ध-द्रव्य विशेष। किशरा पण्यमस्य किशरिकः। किशरिकी (ङीष्)। नलदा पण्यमस्य नलदिकः। तगरा पण्यमस्य तगरिकः। हरिद्रा पण्यमस्य हरिद्रिक, हल्दी बेचने वाला।

ठक्—प्रथमान्त से तदस्य शिल्पम् (प्रथमान्तवाच्य इसका शिल्प=हुनर है) इस अर्थ में[2]—मृदङ्गवादन शिल्पमस्य मार्दङ्गिक। मार्दङ्गिकी कन्या। पणववादन शिल्पमस्य पाणविक। पणव=छोटा ढोल। वीणावादन शिल्प-मस्य वैणिक, वीणा बजाने वाला। इन उदाहरणों में मृदङ्गादि शब्द मृदङ्गादिवादन में उपचरित हुए हैं। घण्टा=घण्टावादन शिल्पमस्येति घाण्टिक, घड़ियाल बजाने वाला। राज्ञः प्रबोधसमये घण्टाशिल्पास्तु घाण्टिकाः। शिल्प अर्थ तद्धितवृत्ति के अन्तर्भूत होने से पृथक् शब्द से नहीं कहा जाता।

प्रथमान्त से 'तदस्य प्रहरणम्' (प्रथमान्त-वाच्य इसका प्रहरण=शस्त्र है) अर्थ में[3]—असि प्रहरणमस्य आसिक, तलवार चलाने वाला। प्रास प्रहरणमस्य प्रासिक, भाला चलाने वाला। कुन्त—कौन्तिक। चक्र—चाक्रिक। चाक्रिको भगवान् विष्णु। धनु प्रहरणमस्य धानुष्क। धानुष्को अर्जुन।

'परश्वध' (परशु=फरसा) से ठञ् भी[4]। स्वर में भेद होता है। परश्वध प्रहरणमस्य पारश्वधिको राम।

ईकक्—शक्ति (बर्छी) तथा यष्टि से ईकक् (ईक)[5]—शक्ति प्रहरणमस्य शाक्तीक। प्रत्यय के कित् होने से आदि वृद्धि। यष्टि प्रहरणमस्य याष्टीक। याष्टीकोऽयं पेलवतनु कुमार, न दाण्डिको न चासिक।

ठक्—अस्ति (निपात) नास्ति (निपात) तथा दिष्ट—इन प्रथमा-समर्थों से 'मतिर्यस्य' इस अर्थ में[6]—अस्ति मतिर्यस्य स आस्तिक। नास्ति मतिर्यस्य स नास्तिक। मति-सत्ता-मात्र को कहने में प्रत्यय-विधि नहीं है, किन्तर्हि

---

१ किशरादिभ्य ष्ठन् (४।४।५३)।
२ शिल्पम् (४।४।५५)।
३ प्रहरणम् (४।४।५७)।
४ परश्वधाद् ठञ् च (४।४।५८)।
५ शक्ति-यष्ट्योरीकक् (४।४।५९)।
६ अस्ति-नास्ति-दिष्टं मति (४।४।६०)।

विषय विशेष परलोक (=जन्मान्तर) में मति है जिसकी उसे आस्तिक कहेंगे—परलोकोऽस्तीति यस्य मतिः स आस्तिकः, तद्विपरीतो नास्तिकः। नास्तिक=प्रेत्यभावापवादी—ऐसा गौ० ध० सू० (२।६।१५) पर हरदत्त का वचन है। जो अस्ति नास्ति को निपात नहीं मानते उनके मत में आख्यात और वाक्य से प्रत्यय विधि हुई है। दिष्ट (=दैवम्) मतिर्यस्य स दैष्टिकः। दैवप्रामाण्यवादी। वृत्तिकार 'प्रमाणानुपातिनी मतिर्यस्य' ऐसा विग्रह करते हैं जिसका पदमञ्जरीकार दैववित् अर्थ समझते हैं, पर दैष्टिक दैवज्ञ अर्थ में अत्यन्त अप्रसिद्ध है। माघ कवि तो दैवप्रामाण्यवादी अर्थ में दैष्टिक शब्द का प्रयोग करता है—नालम्बते दैष्टिकतां न सीदति पौरुषे। शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वय विद्वानपेक्षते (२।८६)॥

प्रथमान्त से 'तदस्य शीलम्' (प्रथमान्तवाच्य इसका शील=स्वभाव) है) अर्थ में[1]—अपूपभक्षणं शीलमस्य आपूपिको देवदत्तः। पयोभक्षणं शीलमस्य पायसिको ब्राह्मणबटुः। परस्ववचनं शीलमस्य पारविकः। करुणाशीलमस्य कारुणिकः। आक्रोशः शीलमस्य आक्रोशिकः।

ण—छत्रादि शब्दों से '१तदस्य शिल्पम्' अर्थ में 'ण'।[2] ठक् का अपवाद। छत्रं शीलमस्य छात्रः। छादनादावरणाच्छत्रम्। गुरु कार्य में यत्नहित और गुरु के छिद्रों को छिपाने की प्रवृत्ति वाला 'छात्र' कहलाता है। क्षुरा शीलमस्य क्षौरः। णेऽपि क्वचिदण् कार्यं भवति—इस वचन से स्त्रीत्व में ङीप् होगा—चौरी। तपः शीलमस्य तापसः। कर्म शीलमस्य कार्मः। कार्मस्ताच्छील्ये (६।४।१७२) से ण प्रत्यय परे होने पर टि-लोप का निपातन।

ठक्—प्रथमान्त से षष्ठ्यर्थ में ठक् होता है जब प्रथमान्त का वाच्य कर्म (स्खलन रूप) हो जो अध्ययनविषय में हुआ।[3] एकमन्यद् अध्ययने कर्म वृत्तमस्य ऐकान्यिकः, जिससे परीक्षा समय पढ़ते हुए (उच्चारण करते हुए) एक स्खलन हो गया उसे ऐकान्यिक कहा जाएगा। इसी प्रकार दो स्खलन करने वाले को द्वैयन्यिक, तीन स्खलन करने वाले को त्रैयन्यिक कहेंगे। एकम् अन्यद् ऐसा विग्रह करके तद्धितार्थ में समास है। फिर ठक् प्रत्यय होता है। अध्ययने कर्म वृत्तम्—यह सब तद्धित वृत्ति में अन्तर्भूत हो जाता है।

---

१ शीलम् (४।४।६१)।
२ छत्रादिभ्यो णः (४।४।६२)।
३ कर्माध्ययने वृत्तम् (४।४।६३)।

ठच्—यदि पूर्वपद बह्वच् हो तो 'तदस्य कर्माध्ययने वृत्तम्' इस अर्थ मे ठच् होता है[1]। ठक् का अपवाद। द्वादशान्यानि कर्माण्यध्ययने वृत्तान्यस्य= द्वादशान्यिक।

ठक्—प्रथमासमर्थ से ठक् हो 'इसके लिए' इस अर्थ मे जब प्रथमासमर्थ का वाच्य हितकर भक्ष्य हो[2]। हित के योग मे चतुर्थी होती है अत पूर्वानुवृत्त 'अस्य' इस षष्ठी को 'अस्मै' इस चतुर्थी मे बदल दिया जाता है—अपूपभक्षणं हितमस्मै आपूपिक। मौदकिक। शाष्कुलिकः। हितार्थ और क्रिया (भवति) तद्धितवृत्ति मे ही अन्तर्भूत हो जाती हैं। शब्द से पृथक् नही कही जाती।

प्रथमासमर्थ से अस्मै (इसे) इस अर्थ मे ठक् होता है जब प्रथमासमर्थ का वाच्यार्थ नियमेन अथवा नित्य दिया जाता है[3]—अग्रेभोजनमस्मै नियुक्त दीयते इत्याग्रभोजनिक, जिसे नियम से सबसे पहले खिलाया जाता है (ऐसा कभी नही होता कि उसका अग्रेभोजन न हो) उसे आग्रेभोजनिक कहते हैं। अथवा जिसे नित्य (प्रतिदिन) अग्रभोजन दिया जाता है उसे आग्रेभोजनिक कहते हैं।

ठिठन्—श्राणा (=यवागू), मास, ओदन, मासौदन 'तदस्मै दीयते नियुक्तम्' इस अर्थ मे[4]—श्राणा दीयतेऽस्मै नियुक्तम्=श्राणिक। मासिक। ओदनिक। मासौदनिक। टिठन् मे इकार उच्चारणार्थ है। ट् ङीप् के लिए। श्राणिकी स्त्री। नकार स्वर के लिए है।

अण, ठक्—भक्तमस्मै दीयते नियुक्तम् इति भाक्त[5]। भाक्तिक। ठक्। भाक्ता (भाक्तिका वा) एते कृषाणाः साधु बीजा कुर्वन्ति क्षेत्राणि क्षेत्रिण, ये किसान जिन्हे नित्य भात दिया जाता है क्षेत्र स्वामी के खेतो मे बीज डालने के साथ-साथ अच्छी तरह हल चला रहे हैं।

ठक्—सप्तमीसमर्थ से नियुक्त इस अर्थ मे[6]—शुल्कशालायां नियुक्तः

---

१ बह्वच्-पूर्वपदात् ठच् (४।४।६४)।
२ हित भक्षा (४।४।६५)।
३ तदस्मै दीयते नियुक्तम् (४।४।६६)।
४ श्राणामासौदनात् टिठन् (४।४।६७)।
५ भक्तादणन्यतरस्याम् (४।४।६८)।
६ तत्र नियुक्त (४।४।६९)।

(अधिकृत, व्यापारित)=शौल्कशालिक। आकरे नियुक्तः=आकरिक। गुल्मे नियुक्त=गौल्मिक, थानेदार। द्वारे नियुक्त=दौवारिक। आदि वृद्धि न होकर द्वारादीनां च (७ ३।४) से ऐजागम होता है। व्यर्पनिषु सुदुःखार्ता कौसल्यां व्यावहारिका (रा० २।६६।१३)। व्यवहारे नियुक्ता – व्यावहारिका (अमात्यादय)।

ठञ्—अगारान्त से 'नियुक्त' इस अर्थ में[1]—देवागारे नियुक्तः=देवागारिक। देवमन्दिर में नियुक्त देवलक आदि। कोष्ठागारे नियुक्त कोष्ठागारिक, संग्रहागार अथवा भाण्डागार में अधिकृत। भाण्डागारिक। एकदेश विकृतमनन्यवद् इस न्याय से 'अभ्यागार' से भी ठन् हो आएगा—अभ्यागारे नियुक्तोऽभ्यागारिक, कुटुम्ब के पालनपोषण में लगा हुआ। कुटुम्बव्यापृतस्तु यः स्यादभ्यागारिक – अमर।

ठक्—सप्तम्यन्त, प्रतिषिद्ध देश और काल वाची प्रातिपदिकों से 'अध्यायी' (पढ़ने वाला) इस अर्थ में[2]—श्मशानेऽधीते श्माशानिक। शास्त्र श्मशान में पढ़ने का निषेध करता है। चतुष्पथेऽधीते चातुष्पथिक, चौराहे में पढ़ने वाला। चौराहे में पढ़ना निषिद्ध है। चतुर्दश्यामधीते चातुर्दशिक। अमावास्यायामधीते आमावास्यिक। चतुर्दशी में तथा अमावास्या में पढ़ने का निषेध है। चतुर्दशी गुरु हन्ति इत्यादि वचन निषेध-परक प्रसिद्ध हैं।

कठिनशब्दान्त प्रातिपदिक, प्रस्तार, संस्थान—इन सप्तम्यन्तों से 'व्यवहरति' इस अर्थ में[3]—कठिना (कड़े) वंशा अस्मिन्देश इति वंशकठिनो देश। आहिताग्न्यादि होने से विशेषण का परनिपात। प्रस्तार और संस्थान दोनों मैदान अर्थ के वाचक हैं। सन्निवेशे च संस्थानम् (अमर)। 'व्यवहरति' यथायोग्य व्यवहार करता है, जो जहाँ युक्त है वैसा वहाँ आचरण करता है। इसी को काशिका में 'क्रियातत्त्व' कहा है। अनुष्ठेय कार्य को शास्त्रानुकूल अविगीत (अनिन्दित) रूप से करता है। वंशकठिने (देशे) व्यवहरति= वांशकठिनिक। वर्ध (=वर्ध्री=चर्मविकार) कठिनो यस्मिन् देशे स वर्ध्रकठिन। तत्र व्यवहरति वार्ध्रकठिनिक। प्रस्तारे व्यवहरति प्रास्तारिक। संस्थाने व्यवहरति सांस्थानिक।

---

१ अगारान्ताट्ठन् (४।४।७०)।
२ अध्यायिन्य-देश-कालात् (४।४।७१)।
३ कठिनान्त प्रस्तार-संस्थानेषु व्यवहरति (४।४।७२)।

सप्तम्यन्त निकट शब्द से वसति (रहता है) इस अर्थ में[1]—निकटे वसति नैकटिको भिक्षुः। जिस आरण्यक भिक्षु को शास्त्र के अनुसार ग्राम से एक कोस की दूरी पर रहना होता है उसकी उपाधि 'नैकटिक' है।

ष्ठल्—सप्तम्यन्त 'आवसथ' से 'वसति' अर्थ में ष्ठल् (ठ) होता है[2]। यह ठक् का अपवाद है। आवसन्त्येतम् आवसथः। एत्य वा वसन्त्यत्रेत्यावसथ, यात्रियों का विश्रामगृह, ब्रह्मचारियों तथा यतियों का मठ। आवसथे वसति= आवसथिक। आवसथिक गृही का भी नाम है।

यहाँ ठक् अधिकार समाप्त हुआ।

प्राग्घितीय प्रत्यय (यत् का अधिकार)

तस्मै हितम् (५।१।५) से पूर्व यत् प्रत्यय अधिकृत जानना चाहिए। जो प्रत्यय इस अधिकार में विधान किए जायेंगे वे प्राग्घितीय कहलाते हैं।

यत्—द्वितीयान्त रथ, युग, प्रासङ्ग से वहति (खींचता है) उठाता है अर्थ में यत् प्रत्यय होता है[3]—रथं वहति रथ्योऽश्वः। युगं वहति युग्यो बलीवर्दः। प्रासङ्गं वहति प्रासङ्ग्यो गौः। भार ढोने वाला बैल। आधुनिक कोषकार युग और प्रासङ्ग में कुछ भेद नहीं करते। अमर का पाठ है—प्रासङ्गो ना युगान्तरम्। युगान्तर=द्वितीय युग। जो रथ का अंग नहीं। हेम चन्द्राचार्य इसका उत्कण्ठ वत्साना वमनकाले स्कन्ध आसज्यते ऐसा अर्थ समझते हैं।

यत्, ढक्—धुरं वहति धुर्यः (यत्)। धौरेयः। ढक्[3]। धुर् (स्त्री०) युग का पर्याय है। उपचार से धुर्, भार, कृत्य भार, अग्रभाग आदि अर्थों में भी प्रयुक्त होता है। अतः जहाँ धुर्यो धौरेयो वा अश्वः (वृषो वा) ऐसा कहते हैं वहाँ पुरुष श्रेष्ठ, अगुआ, कृत्यभार को उठाने वाला, मुख्य आदि अर्थ में भी धुर्य (और धौरेय) का प्रयोग होता है—तस्य अवानपरधुर्यपदावलम्बी (रघु० ५।६६)। न हि सति कुलधुर्ये सूर्यवंश्या गृहाय (रघु० ७।७१)।

ख—सर्वधुरा शब्द से वहति अर्थ में ख[4]—सर्वधुरां वहति सर्वधुरीणः।

१ निकटे वसति (४।४।७३)।
२ आवसथात् ष्ठल् (४।४।७४)।
३ तद् वहति रथ-युग-प्रासङ्गम् (४।४।७६)।
४ धुरो यड्ढकौ (४।४।७७)।
५ ख सर्वधुरात् (४।४।७८)।

यहाँ 'ख' यह योगविभाग किया जाता है ताकि उत्तरधुरीण, दक्षिणधुरीण आदि इष्ट रूपों का संग्रह हो सके।

ख, अलुक्—एकधुरां वहति एकधुरीण। एकधुर। लुक्।[1]

अण्—शकटं वहति शाकटो गौः[2], छकड़े को खींचने वाला बैल।

ठक्—हलं वहति हालिकः[3]। सीरं वहति सैरिकः। सीर=हल। हालिको गौः। जब हालिक का अर्थ कृषक हो तो हलेन खनति ऐसा विग्रह होगा। तेन दीव्यति खनति जयति जितम् (४।४।२) से ठक्। इद नामाऽऽमूलपादहालिकासर्वस्य विदितम्।

यत्—जनी (=वधू) से वहति अर्थ में, जब प्रत्ययान्त संज्ञा हो[4]—जनीं वहति प्रापयति जन्या, जामाता की सखी, जो विहारादि में (नव) वधू को उसके पास पहुँचाती है। कालिदास तो यातेति जन्यानवदत् कुमारी (रघु) में जन्य (पु०) का प्रयोग वधू बन्धु अथवा वधू-भृत्य अर्थ में करता है। विश्व और केशव इन अर्थों का समर्थन करते हैं—जन्यो वरवधूज्ञातिप्रियतुल्यहितेऽपि च—विश्व। भृत्यादचापि नवोढाया (केशव)। अमर—'जन्या स्निग्धा वरस्य ये' ऐसा पढ़ता है, अर्थात् वर के प्रिय मित्र अथवा ज्ञाति। धरणिकोष के अनुसार जन्या (स्त्री०) माता की सखी, वर की सहेली, जननी तथा जनक (इस अर्थ में पु०) का नाम है—जन्या मातृवयस्या स्याज्जन्या जनीवरप्रिया। जननी जनयित्रोश्च। रघुवंश में याहीति जन्यामवदत्कुमारी ऐसा पाठान्तर भी है।

द्वितीयासमर्थ से विध्यति (बींधता है) अर्थ में जब वेधन का करण धनुष् न हो[5]—पादौ (द्वितीयान्त) विध्यन्ति शर्करा पद्याः, जो कङ्कड़ पाओं को छलनी कर देते हैं वे 'पद्या' कहलाते हैं। ऊरू (द्वितीया द्वि०) विध्यन्ति ऊरव्या कण्टकाः। यत् प्रत्यय परे होने पर गुण से प्राप्त जो ओकार उसे वान्तादेश। धनुष् प्रतिषेध से जहाँ (जिस व्यधन क्रिया में) धनुष् की करणता

१ एकधुराल्लुक् च (४।४।७९)।
२ शकटादण् (४।४।८०)।
३ हलसीराट्ठक् (४।४।८१)।
४ संज्ञायां जन्याः (४।४।८२)।
५ विध्यत्यधनुषा (४।४।८३)।

की सम्भावना नहीं, वहीं प्रत्यय होता है। अतः चौरं विध्यति, शत्रुं विध्यति आदि में प्रत्यय नहीं होता, वाक्य ही रहता है। धनुष्प्रतिषेध से धनुष् की करणता के प्रतिषेध में तात्पर्य नहीं किन्तु व्यधन विशेष की उपलक्षणता में, अतः शर्करया पादौ विध्यति इत्यादि में भी प्रत्यय नहीं होगा।

द्वितीयान्त धन, गण से 'लब्धा' (लभ से तृन्प्रत्यय, प्र० ए०) अर्थात् प्राप्त करने के स्वभाव वाला अर्थ में[1]—धनं लब्धा=धन्य =धन-प्राप्ति-शील। लब्धा के तृन्नन्त होने से द्वितीया हुई, षष्ठी नहीं। धन्य शब्द का यह मूलार्थ है। भाग्यवान् अर्थ तो गौण व्यवहार निमित्तक है—धन्य इव धन्य। गण—गणं लब्धा=गण्य। पदानुक्रमात्मक पादानुक्रमात्मक इति वा। इला येषा गण्या माहिना गीः (ऋ० ३।७।५)।

ण—अन्नं लब्धा=आन्न। अन्नं लभत इत्येवंशील।[2]

वश्—वशं गत =वश्य।[3] विधेय इत्यर्थ। वश=इच्छा। प्रकृत में परेच्छा से तात्पर्य है। वश्य =परेच्छानुगामी।

प्रथमान्त पद (लक्ष्म, पाद-चिह्न) से 'अस्मिन् दृश्यम्' इसमें देखा जा सकता है, अर्थ में[4]—पदमस्मिन्दृश्यं नाऽतिद्रवं नाऽतिशुष्कमिति पद्य पङ्कः, कीचड़ जिसमें पाँवों का निशान देखा जा सकता है अर्थात् जो न बहुत तरल है और न बहुत सूखा। पद्या पांसव, रेत जिसमें पाँवों का चिह्न देखा जा सकता है जो न तो अत्यल्प है और न बहुत अधिक। जो प्रतिमुद्रा उत्पादन के योग्य है। कीचड़ और रेत की अवस्था विशेष को कहा जा रहा है।

प्रथमान्त मूल शब्द से षष्ठ्यर्थ में यत्, जब मूल आवर्ह्य (उत्पाटन-योग्य) हो[5]—वृह् तुदा० उद्यमन ऊपर को खींचना, उखाड़ना अर्थ में पढ़ो है। आङ् उपसर्ग इसी अर्थ का द्योतक है, अन्यत्र इसी अर्थ में प्राय उद् देखा जाता है। आवर्ह (घञन्त)=आवर्हणम् उद्बर्हणम् उत्पाटनम् अस्यास्तीति आवर्हि (नपु०, मूल का विशेषण)। मूल्या मुद्गा, मूँग जो इतने पक गए हैं कि बिना

---

१ धन-गणं लब्धा (४।४।८४)।
२ अन्नाण्ण (४।४।८५)।
३ वशं गत (४।४।८६)।
४ पदमस्मिन् दृश्यम् (४।४।८७)।
५ मूलमस्यावर्हि (४।४।८८)।

मूल (जड) को उखाड़े सगृहीत नहीं किए जा सकते, मध्य में काटने से कोदास्य भी गिर जाएँगे ऐसी शङ्का होती है।

'धेनुष्या' यह यत्प्रत्ययान्त संज्ञाविषय में निपातन किया है।[1] जो गौ उत्तमर्णों को ऋण चुकाने के हेतु दुग्ध दोहन के लिए दी जाती है उसे 'धेनुष्या' कहते हैं। यहाँ षुक् आगम निपातित है और अन्तोदात्तता भी। प्रत्यय तो अविकृत ही है। इसकी 'दुग्धदोहा' इस नाम से भी प्रसिद्धि है।

ञ्य—तृतीयान्त 'गृहपति' से, संयुक्त इस अर्थ में[2]—गृहपतिना संयुक्तोऽग्निर् गार्हपत्य। संज्ञाविषय में ही प्रत्यय विधि है। अग्नि को ही गार्हपत्य कहते हैं और कोई पदार्थ गृहपति से भले ही संयुक्त हो उसे 'गार्हपत्य' नहीं कहेंगे।

यत्—तृतीयान्त नौ, वयस्, धर्म, विष, मूल, मूल, सीता, तुला से क्रम से तार्य (=तरीतु शक्यम्), तुल्य, प्राप्य, वध्य, आनाम्य (अभिभवनीय, दोषीकरणीय), सम, समित (=सगत), सम्मित (=तुल्य) अर्थों में[3]—नावा तार्या नदी नाव्या, जिस नदी को नौ से पार कर सकते हैं। वयसा तुल्य = वयस्य सखा। सखाधिकार होने से वयसा तुल्य शत्रु यहाँ प्रत्यय नहीं होगा। धर्मेण प्राप्य धर्म्यम्। धर्म्य स्वर्गादि। फल की सिद्धि होने पर धर्म किया हुआ नष्ट (क्षीण) हो जाता है, अत 'धर्मादनपेत' इस अर्थ में यहाँ यत् नहीं किया जा सकता। इसी कारण 'प्राप्य' अर्थ में यहाँ यत् का विधान उपपन्न होता है। विषेण वध्य=विष्य, जो विष देकर मारने योग्य है। मूलेनानाम्य मूल्यम्। वणिक् लोग पट आदि के बनवाने में जितना द्रव्य खर्च करते हैं वह 'मूल' है वह प्रधान अर्थ है। उससे जो द्रव्य (विक्रय करने पर मूल से अतिरिक्त प्राप्य होता है वह उपकारक होने से अप्रधान हो जाता है यही उसका अभिभव है। वह मूल से मिलकर मूल को बढ़ा देता है यही उसकी उपकारकता है। शास्त्र में ऐसा व्यवहार है कि जो उपकारक हो वह शेष (गौण, अप्रधान) होता है और जो उपकार्य, वह शेषी (प्रधान) माना जाता है। यहाँ 'मूल्य' लाभ का पर्याय है। लोक में मूल और लाभ के

१　संज्ञाया धेनुष्या (४।४।८६)।

२　गृहपतिना संयुक्ते ञ्य (४।४।९०)।

३　नौ-वयो धर्म-विष-मूल-मूल-सीता-तुलाभ्यस्तार्य-तुल्य प्राप्य-वध्या नाम्य-सम-समित-सम्मितेषु (४।४।९१)।

समुदाय को 'मूल्य' (कीमत) कहते हैं। 'मूल' से सम (समान) अर्थ में भी यत् होता है—मूलेन समो मूल्य पट । जिसकी खरीदने की कीमत के बराबर लाभ हो (उपादानेन समानफल) । सीतया समित (=सङ्गतम्) सीत्य क्षेत्रम् । रथसीताहलेभ्यो यद्विधौ—इस वचन के अनुसार सीतान्त से भी यत् प्रत्यय होगा—द्वाभ्यां सीताभ्यां समितं द्विसीत्यम् । सीता=हलाग्र । तुला—तुलया सम्मित (समान)=तुल्य । जैसे तुला पदार्थ का परिच्छेद (तोलमाप) करती है वैसे ही जो तुल्य है वह दूसरे पदार्थ का परिच्छेद करता है।

धर्म, पथिन्, अर्थ, न्याय—इन पञ्चम्यन्त प्रातिपदिकों से अनपेत (=अवियुक्त, अपृथग्भूत) अर्थ में[1]—धर्मादनपेत आचारो धर्म्य । शाठे शाठ्यवाचरण धर्म्यमिति केचित्, नेत्यपरे। पथिन्—पथोऽनपेत पथ्य भोजनम् । आयुर्वेदोक्त मार्ग से जो परे नहीं गया । अर्थ—अर्थादनपेतम् अर्थ्यम् । अर्थ्यं वच । अर्थ्या वाक् (अर्थवती) । न्याय—न्यायाद् अनपेतम्=न्याय्यम् । न्याय्यात्पथ प्रविचलन्ति पद न धीरा ।

तृतीयान्त छन्दस् (=इच्छा) शब्द से निर्मित (उत्पादित) अर्थ में[2]—छन्दसा निर्मितम् छन्दस्य । इच्छया कृत । यहाँ सकारान्त छन्दस्=इच्छा । अन्यत्र छन्द (अदन्त) इच्छा का पर्याय होता है।

यत्, अण्—उरसा निर्मित औरस पुत्र । उरस्य पुत्र ।[3] संज्ञाधिकार होने से पुत्र को ही औरस कहते हैं। जिसे माता ने अपनी छाती का दूध पिलाकर पाला है वह औरस है, कृतक, दत्तक आदि से भिन्न।

यत्—हृदयस्य प्रिय हृद्यम् ।[4] हृदय को यत् प्रत्यय परे रहते हृद् आदेश हुआ करता है। हृद्यो देश । हृद्य वनम् । संज्ञाधिकार होने से हृद्य पुत्र नहीं कह सकते।

हृदयस्य बन्धनमृषि =हृद्य[5] । वेदमन्त्र जिससे दूसरे के हृदय को बांधा

१ धर्म-पथ्यर्थ-न्यायादनपेते (४।४।९२)।
२ छन्दसो निर्मिते (४।४।९३)
३ उरसोऽण् च (४।४।९४)।
४ हृदयस्य प्रिय (४।४।९५)।
५ बन्धने चर्षौ (४।४।९६)।

जाता है। ऋषि=वेद। ऋषि मन्त्र द्रष्टा हैं (ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः)। उन ऋषियों से देखे हुए मन्त्र को भी उपचार से ऋषि कहते हैं। बन्धन शब्द करण में ल्युडन्त है—बध्यतेऽनेनेति बन्धनम्।

मत, जन, हल से करण, जल्प, कर्ष अर्थों में[1]—मत ज्ञान तस्य करण मत्यम्। ज्ञान का भाव अथवा साधन। जनस्य जल्प =जन्य =जनवाद, निर्वाद। अमर इसे पुंल्लिङ्ग में पढता है, दूसरे कोषकार नपुंसकलिङ्ग में पढते हैं—जन्य निर्वादयुद्धयो —धरणि। हलस्य कर्ष कर्षणम्=हल्य, हल का चलाना।

सप्तम्यन्त से साधु (प्रवीण, योग्य) अर्थ में[2]—सामसु साधु सामन्य। सामवेद में चतुर। ये चाभावकर्मणोः (६।४।१६८) से अन् को प्रकृतिभाव। भाष्य नियमों बहुधा सामान्य अपि स्युरिति। वेमनि (वेम्नि) साधु = वेमन्य, खड्डी में चतुर। कर्मन्—कर्मण्य, कर्मणि कुशल। कर्मण्य एव कर्मकर स्वामिन प्रिय, यह नौकर कर्म में निपुण है अतः स्वामी को प्यारा है। शरणे श्राणे साधु =शरण्य। शरण का प्रसिद्ध अर्थ श्राता और गृह है —शरणं गृहरक्षित्रो (अमर)। इसका त्राण (रक्षण, रक्षा) भी अर्थ है— शरणं ते प्रपद्यामि मा मैषीर्नृपपुङ्गव (रा० ११६६।२)। मालाया साधूनि योग्यानि कुसुमानि माल्यानि। वध्रे साधु =वध्य। पृष्ठे साधु पृष्ठ्य स्थौरी, बोझा ढोने वाला घोडा, टट्टू।

खञ्—प्रतिजन आदि शब्दों से 'तत्र साधु' अर्थ में[3]—प्रतिजन जने जने साधु =प्रातिजनीन। सर्वजनेभ्य साधु (=हित, उपकारक) स सार्वजनीन। सार्वजनीनमुद्यानम्। विश्वजन—वैश्वजनीन विद्यालयम्। यहाँ भी साधु= हित, उपकारक के अर्थ में है। इदयुगे साधवो हिता ऐदंयुगीना आचारा। चत्वारो वर्णा, निषाद पञ्चमो वर्ण, ते इमे पञ्चजना, तेषु साधु =हित पाञ्चजन्य। पाञ्चजन्यो न्याय। पाञ्चजन्यो विधि। संयुगे=रणे साधु कुशल सांयुगीन। अमर का पाठ भी है—सांयुगीनो रणे साधु।

---

१ मत-जन-हलात् करण-जल्प कर्षेषु (४।४।९७)।
२ तत्र साधु (४।४।९८)।
३ प्रतिजनादिभ्य खञ् (४।४।९९)।

ण—भक्ते साधवो योग्यास्तण्डुला भाक्ता ।[१] भात बनाने के योग्य चावल । भाक्त शालि ।

ण्य—परिषदि साधु पारिषद्य[२], सभा में बैठने योग्य । 'ण' प्रत्यय भी इष्ट है—परिषदि साधु, पारिषद ।

ठक्—कथादि शब्दों से 'तत्र साधु' अर्थ में[3]—कथायां साधु कुशल काथिक, बात करने में कुशल । व्यर्था कथाऽप्रासङ्गिकी वा कथा=विकथा । विकथायां साधु कुशल =वैकथिक । पलशून्यो जल्पो वितण्डा । वितण्डायां साधु कुशलो वैतण्डिक । जनवादे साधु कुशल =जानवादिक । जनवाद प्रवाद । वृत्तौ साधु कुशल =वार्त्तिक । वृत्तिर्व्याख्यानम् । आयुर्वेदे कुशल आयुर्वेदिक ।

ठञ्—गुड आदि शब्दों से[४]—गुडे साधुर्योग्य समर्थ इक्षु=गौडिक । कुल्माषे साधु कौल्माषिको मुद्ग । सक्तुषु साधुर्योग्यो यव =साक्तुक । उगन्त होने से ठक् को 'क' आदेश । सङ्ग्रामे साधु कुशल साङ्ग्रामिक ।

ढञ्—पथिन्, अतिथि, वसति, स्वपति से 'तत्र साधु' अर्थ में[५]—यहाँ साधु=हित, उपकारक । पथि साधु=पाथेयम् । पथिक पाथेयवान्स्यादितीष्यते । पाथेय=पथ (मार्ग) मे उपकारक खाद्य आदि सामग्री । अतिथिषु साधुर् आतिथेय । पाञ्चनदा आतिथेया इति प्रथन्ते, पजाब के लोग आतिथ्य के लिए प्रसिद्ध हैं । वासे साधु वास्तेयम्, रहने के योग्य गृहादि । वासतेयी रात्रि को कहते हैं । स्वपतौ साधु=स्वापतेय धनम् । धन स्वामी धनवान् का उपकारक होता है अत उसे 'स्वापतेय' कहते हैं ।

य—सभायां साधु सभ्य ।[६] सभा के योग्य, सभासद् ।

यत्—समानतीर्थ से 'वासी' (रहता है, रहने वाला) अर्थ में[७]—तीर्थं गुरु । तरत्यनेन । यथा मद्यास्तीर्थम् । समाने तीर्थे गुरौ वसतीति सतीर्थ्य , एक

---

१ भक्ताण्ण (४।४।१००) ।

२ परिषदो [illegible] (४।४।१०१) । ण-प्रत्ययोऽप्यनेष्यते ।

३ कथादिभ्यष्ठक् (४।४।१०२) ।

४ गुडादिभ्यष्ठञ् (४।४।१०३) ।

५ पथ्यतिथि-वसति स्वपतेर्ढञ् (४।४।१०४) ।

६ सभाया य (४।४।१०५) ।

[illegible] समानतीर्थे वासी (४।४।१०७) ।

ही गुरु के समीप रहने वाला। जो ब्रह्मचारी एक ही गुरु के पास रहकर उससे पढते हैं वे सतीर्थ्य कहलाते हैं। 'समान' को 'स' आदेश होता है।

सप्तम्यन्त समानोदर शब्द से शयित (=स्थित) अर्थ में[1]—समानोदरे शयित =समानोदर्यो भ्राता, भाई जो एक ही माँ के पेट से उत्पन्न हुआ।

य—'सोदर' शब्द से 'शयित' अर्थ में[2]—सोदरे शयितः सोदर्यः। विभाषोदरे (६।३।८८) सूत्र से यकारादि प्रत्यय की विवक्षा होने ही (प्रत्यय आने से पहले ही) समान को 'स' आदेश हो जाता है।

इससे आगे पाद की समाप्ति तक छान्दस सूत्र हैं। वे इस पुस्तक का विषय नहीं हैं। अतः उनका व्याख्यान नहीं किया जा रहा।

चतुर्थ अध्याय का चतुर्थ पाद समाप्त हुआ।

प्राक्क्रीतीयाः प्रत्ययाः। छ प्रत्ययाधिकार

तेन क्रीतम् (५।१।३७) इस अर्थ-निर्देश से पहले-पहले जो हितादि अर्थ कहे हैं उनमें 'छ' प्रत्यय अधिकृत जानना। समान अर्थ में प्रकृति विशेष से उत्पन्न हुआ यत् आदि प्रत्यय अधिकृत 'छ' का अपवाद होगा।

यत्—उवर्णान्त प्रातिपदिक से तथा गो आदि प्रातिपदिकों से प्राक्क्रीतीय अर्थों में यत् होगा[3]—शङ्कु (खूँटा)। शङ्कवे हितं शङ्कव्यं दारु, लकड़ी जो खूँटा बनाने के लिए अच्छी है। 'शङ्कु' के 'उ' को गुण होकर अवादेश हुआ। पिचु=तूल। रुई। पिचवे हितः कार्पासः पिचव्यः, कपास जिसकी बढ़िया रुई बनेगी। कमण्डलु। कमण्डलवे हिता मृत्तिका, कमण्डलु बनाने के लिए अच्छी मिट्टी। कमण्डलु विकृति है। मृत्तिका प्रकृति है और वह विकृति कमण्डलु के लिए है। गो—गवे हितं गव्यम्। गव्यानि शष्पाणि। चरु—चरव्यास्तण्डुलाः चरु बनाने में उपकारक चावल। अनवस्रावितान्तरूष्मपाक ओदनश्चरुरिति याज्ञिकाः, याज्ञिक लोग ऐसे भात को 'चरु' कहते हैं जिसमें माँड नहीं निकाली गई और जो भीतरी भाप से पका है। कैयट का कथन है—स्थालीवाची चरुशब्दस्तात्स्थ्यादोदने भाक्त इति। कैयट 'चरु' का मुख्यार्थ पाक-पात्र समझता है और उसमें होने से ओदन को भी 'चरु' कहते हैं ऐसा मानता

---

१ समानोदरे शयित ओ चोदात्तः (४।४।१०८)।

२ सोदराद्यः (४।४।१०९)।

३ उगवादिभ्यो यत् (५।१।२)।

है। क्षीरस्वामी इसके विपरीत चरु को पक्व हविस् समझता है और उसके पाकाधिकरण स्थाली को भी गौण रूप से चरु शब्दार्थ मानता है-पक्व होतव्य चरु। चर्यते रध्यत इति। स्थाल्यपि चरु, होतव्यस्य पाकोऽत्रेति। सक्तव्या धाना, सत्तु बनाने में उपकारक भुने हुए जौ। नाभये हितोऽक्षो नभ्य। चक्र की नाभि के लिए अच्छा अक्ष (धुरा)। 'नाभि' को 'नभ' आदेश होता है। यहीं यह आदेश होता है। जो शरीरावयव नाभि है उसे नहीं। हविस्—हविषे हित हविष्यम् आज्यम्। श्वन् से यत् होने पर सम्प्रसारण और सम्प्रसारण को विकल्प से दीर्घ—शुने हित शुन्यम्। शून्यम्। सूनी जगह जो कुत्तों के लेटने आदि के लिए अच्छी है। ऊधस् को अनङादेश भी होता है। अनङ् (अन्) ङित् होने से अन्त्य 'स्' को होगा—ऊधसे हित कूप ऊधन्य। ऊधस् के अन् को प्रकृतिभाव। ये चाभावकर्मणो (६।४।१६८)।

'कम्बल' से प्राक्क्रीतीय अर्थों में, जब प्रत्ययान्त संज्ञा हो[1]—कम्बलाय हित कम्बल्यम्=ऊर्णापलशतम्।

छ आदि यथाविहित—'तस्मै हितम्' अर्थ में[2]—वत्सेभ्यो हितो गोधुक्=वत्सीय, बछड़ों का हिती गोप। पटवे हित पटव्यम् (उकारान्त से यत्)। गवे हित गव्यम्।

यत्—हविर्विशेषवाची प्रातिपदिकों से तथा अपूपादि से प्राक्-क्रीतीय अर्थों में विभाषा[3]—आमिक्षा—आमिक्षायै हित दधि=आमिक्ष्यम् (यत्)। आमिक्षीयम् (छ)। आमिक्षा बनाने में उपकारक दही। उबाले हुए ठंडे दूध में दही मिलाने से जो दूध फट जाता है उसे आमिक्षा कहते हैं—आमिक्षा सा शृतोष्णे या क्षीरे स्याद् दधियोगत (अमर)। यहाँ अमर ने फटे हुए दूध को आमिक्षा कह दिया है। याज्ञिक लोग तो फटे हुए दूध के द्रव भाग को आमिक्षा कहते हैं और स्थूल भाग को वाजिन (लघु०) कहते हैं। पुरोडाश्यास्तण्डुला। पुरोडाशीयास्तण्डुला। अपूप—अपूप्यम् (यत्)। अपूपीयम्। यवचूर्णितो गोधूमो न तथापूप्यो यथा सचूर्णित, मोटा-मोटा पीसा गेहूँ का आटा पूए बनाने के लिए इतना अच्छा नहीं होता जितना

१ कम्बलाच्च संज्ञायाम्। (५।१।३)।
२ तस्मै हितम् (५।१।५)।
३ विभाषा हविरपूपादिभ्य (५।१।४)।

बारीक पीसा हुआ। पृथुक (पु०) चिउडे। पृथुकया इमे तण्डुला (पृथुकीया था)। सूप—सूप्या सूपीया वा मुद्गा भवन्ति। अन्न-विकारवाचियों से भी—सुरायै हितास्तण्डुला सुर्या। सुरीया। 'सुर्या' में न भकुर्छुराम् (८।२।७९) से उपधा उ को दीर्घ निषेध हो गया।

शरीर=प्राणिकाय। शरीरावयव वाची प्रातिपदिक से प्राक् क्रीतीय अर्थों में[1]—दन्त्यम् भञ्जनम्। कण्ठ्य कषाय, काढा जो गले के लिए अच्छा है। ओष्ठ्यो राग। नाभये हित तैलम्=नाभ्यम्। यहाँ 'नाभि' को 'नभ' आदेश नही होता। मूर्धन्—मूर्धन्यश्चन्दनलेप। नासिकाभ्यां हित नस्यम् (नुसवार)। नस् नासिकायाः यत्तस्क्षुद्रेषु—इस वचन से यहाँ नासिका को 'नस्' आदेश हुआ। (५।१।२०) में 'असमासे' ग्रहण करने से पूर्वत्र तदन्तविधि इष्ट है यह ज्ञापित होता है। अत सुगन्ध्यम्, यवापूप्यम्, यवापूपीयम्, राजदन्त्यम् इत्यादि सिद्ध होते हैं।

खल, यव, माष, तिल, वृष, ब्रह्मन् से भी[2]—खलाय हिता भू खल्या, खलिहान के योग्य भूमि। यवेभ्यो हिता भू =यव्या। माष्या। तिल्या। वृषाय हितो घास =वृष्य। वृषन् (नकारान्त) से प्रत्यय नही होता—वृष्णे हिताम् वाक्य ही रहेगा। ब्रह्म=ब्राह्मण जाति। ब्रह्मणे हितो राजा ब्रह्मण्य। ब्राह्मणेभ्यो हित। यहाँ 'छ' प्रत्यय भी नही होगा, वाक्य ही रहेगा। सूत्र मे 'च' अनुक्त संग्रह के लिए पढा है। रथ से भी यत् होता है—रथाय हिता रथ्या, खुला मार्ग जिस पर रथ चल सकता है। तदन्त विधि भी होती है—द्विरथाय हिता=द्विरथ्या।

ष्यन्—अज, अजा, अवि (भेड)—से ष्यन् (य)[3]—अजेभ्योऽजाभ्यो वा हिता =अजथ्या विटपा गुल्मा वा। स्त्रीलिङ्ग 'अजा' से प्रत्यय होने पर तसिलादियों मे ष्यन् का परिगणन होने से पुंवद्भाव हो गया। सूत्र मे प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम् इस परिभाषा से अज और अजा दोनों का ग्रहण है।

ख—आत्मन्, विश्वजन, तथा भोगोत्तर पद वाले प्रातिपदिक से प्राक् क्रीतीय अर्थों में[4]—आत्मने हित = आत्मनीन। आत्माध्वानौ से

१ शरीरावयवाद्यत् (५।१।६)।
२ खल-यव-माष तिल-वृष-ब्रह्मणश्च (५।१।७)।
३ अजाविभ्या ष्यन् (५।१।८)।
४ आत्मन्-विश्वजन-भोगोत्तर-पदात् ख (५।१।९)।

(६।४।१६९) से प्रकृतिभाव। कस्यायमात्मनीन कितवो हताश । आत्मा हि सर्वस्य प्रिय । यो ह्यनात्मनीनानि कार्याणि कुरुते सोऽधन्य । विश्वो जन = विश्वजन (कर्मधारय)। विश्वजनाय हित = विश्वजनीन । यो ह्यात्मनीन कर्म समाचरन् विश्वजनीनमपि चरति स धन्य । भोग = शरीरम्। मातृभोगाय हित = मातृभोगीण । पितृभोगीण । माता के शरीर के लिए अच्छा । पिता के शरीर के लिए अच्छा । आचार्यभोगीन । यहाँ णत्व नहीं होता । पञ्चजना । दिक्संख्ये संज्ञायाम् (२।१।५०) से संज्ञा में समास है। ब्राह्मणादयश्चत्वारो निषादश्च पञ्चम , ते पञ्चजना । पञ्चजनेभ्यो हितम् = पञ्चजनीनम् । सन्ति नाम कानिचित्पञ्चजनीनानि कर्माणि कूपारामतडागादि-निर्माणानि ।

ठञ्, ख—'सर्वजन' (कर्मधारय) से ठञ् तथा ख[1]—सार्वजनिकम् । (सर्वजनाय हितम्)। सर्वजनीनम् (ख)। राजा सार्वजनिकीं (सर्वजनीनां) सभामचीकरत्, राजा ने सबके हित के लिए सभा बुलाई ।

ठञ्—महाजन से नित्य ठञ् होता है[2]—महाजनाय हित माहाजनिकम् ।

ण, ढञ्—'सर्व' से ण, 'पुरुष' से ढञ्[3]—सर्वस्मै हित सार्व शर्व, भगवान् शिव सबके हितकारी हैं। सार्व्यनुतिष्ठन्विधिना सार्वगामी भवति (आप० ध० १।२३।१४)। सर्वस्मै हित सार्व आत्मा । पुरुषाय हितम् पौरुषेयम् (ढञ्)। विधिकृता सर्वा व्यवस्था पौरुषेयी भवतीति शब्दप्रमाणका प्रतिपन्ना , वेदमानी लोग ऐसा मानते हैं कि विधाता से की गई सभी व्यवस्था पुरुष के लिए हितकारी है।

'सर्व' से 'ण' विकल्प से हो, पक्ष में अधिकार-प्राप्त छ हो ऐसा वार्तिककार का वचन है[4]—सार्वम् (ण)। सर्वीयम् (छ)।

'पुरुष' से वध, विकार, समूह, तेन कृतम् इन अर्थों में भी ढञ् होता है[5]—पुरुषस्य वध पौरुषेयो वध = नरहत्या । लुप्टाकैर्न केवल धनमपहृत

---

१ सर्वजनाट्ठञ् खश्च (वा०)।

२ महाजनान्नित्यं ठञ् वक्तव्य (वा०)।

३ सर्व-पुरुषाभ्यां णढञौ (५।१।१०)।

४ सर्वाण्णस्य वा वचनम् (वा०)।

५ पुरुषाद् वध विकार-समूह-तेनकृतेष्विति वक्तव्यम् (वा०)।

पौरुषेयो वधोऽपि कृतो नृशंसं । पौरुषेयो विकार एव यदनृतिकत्वम्, मिथ्याभाषित्व मनुष्य की विकृति है (प्रकृति नहीं)। पुरुषाणां समूह पौरुषेय । किङ्कृतोऽयं पौरुषेय समूहो विशिखायाम्, यह मुहल्ले में पुरुषों का जमघट किस कारण से है ? पुरुषेण कृत पौरुषेयम् । वेदा अपौरुषेया इति मीमांसका, वेद पुरुष ने नहीं बनाये ऐसा मीमांसक कहते हैं। समय पौरुषेया व्यवस्था, पुरुषकृत व्यवस्था को 'समय' कहते हैं। (गौ० ध० १।८।११ पर हरदत्त का वचन)। नाराशंस्य पौरुषेय्यो यज्ञगाथा (याज्ञ० १।४५ पर विश्वरूप का वचन)।

खञ्—माणव, चरक से खञ्[1]—माणवाय हित व्याकरणाध्ययनम् माणवीनम्। चरका भिषज इति प्रक्रियासर्वस्वम्। चरकेभ्यो हितो रोगविसर्पं = चारकीणं ।

छ—चतुर्थ्यन्त विकृतिवाचक प्रातिपदिक से यथाविहित 'छ' प्रत्यय होता है जब उस विकृति की प्रकृति वाच्य हो[2]—अङ्गारेभ्य इमानि काष्ठानि अङ्गारीयाणि, ये लकड़ियां कोयला बनाने के लिए हैं। अङ्गार विकृति हैं और काष्ठ (लकड़ियां) उस विकृति की प्रकृति हैं। कुछ लोग 'तस्मै हितम्' की यहां अनुवृत्ति करते हैं—अङ्गारेभ्यो हितानि काष्ठानि अङ्गारीयाणि। वस्तुत प्रकृति विकृतिभाव होने पर योग्यता, हितार्थता की प्रतीति होती ही है। हर प्रकार की लकड़ी के तो कोयले बनेंगे नहीं। जब लकड़ी कोयले बनाने के लिए है ऐसा कहा जाता है तब कोयले बनाने में उपकारक लकड़ी ही ली जाती है। प्राकारीया इष्टका, ईंटें जिनसे दीवार बनेगी, अर्थात् दीवार बनाने में उपकारक। शङ्कु—शङ्कव्य दारु। पिचव्य कार्पास।

उदकार्थ कूप। कूप उदक की प्रकृति है। उदक के क्षारत्वादि गुणों की उत्पत्ति का आधार होने से। उपादान कारण नहीं। सूत्र में विकृति ग्रहण से तदर्थं प्रकृति (उपादान) ही ली जाती है। उदक कूप की विकृति नहीं है, कूप और उदक का अत्यन्त भेद होने से। अत यहां उदक से प्रत्यय नहीं होगा।

ढञ्—छदिस्, उपधि, बलि से तदर्थं विकृते प्रकृतौ (विकाराय प्रकृति के वाच्य होने पर)[3]—छदिस्=छत। छदिष इमानि तृणानि छादिषेयाणि।

---

१ माणव-चरकाभ्या खञ् (५।१।११)।

२ तदर्थं विकृते प्रकृतौ (५।१।१२)।

३ छदिरुपधि-बलेर्ढञ् (५।१।१३)।

उपधि शब्द से स्वार्थ में प्रत्यय इष्ट है—उपधिरेव औपधेयम्=रथाङ्गम्=चक्रम्। बलिभ्यस्तण्डुला=बालेया।

ञ्य—ऋषभ, उपानह् से विकारार्थक प्रकृति के वाच्य होने पर[1]—विकार दो प्रकार का होता है, (१) जहाँ प्रकृति का उच्छेद हो जाता है (२) जहाँ प्रकृति का रूपान्तर हो जाता है। दूसरे अर्थ में ऋषभ एक ऐसे वत्स (बछड़े) की विकृति=अवस्थान्तर रूपान्तरप्राप्ति) है जो महाप्राण, सुडौल शरीर वाला है जिसे ऋषभ बनाने के लिए पाला जाता है। अत 'ऋषभ' से प्रत्यय होगा—आर्षभ्यो वत्स। उपानह (जूता) स्त्री। उपानहे मुञ्ज=औपानह्यो मुञ्ज। यदि चर्म भी प्रकृति होगी तो भी पूर्वविप्रतिषेध (पूर्वविधि को बलवत्तर मानने) से उपानह् से 'ञ्य' ही होगा, परसूत्र से प्राप्त अञ् नहीं—औपानह्य चर्म।

अञ्—वर्ध्र्यं चर्म वार्ध्र चर्म[2]। वरत्रार्थं चर्म=वारत्र चर्म। वर्ध्री नद्धी वरत्रा स्यात्—अमर। वर्ध्री, वरत्रा चाम की पेटी का नाम है जो रथादियुक्त पशुओं की छाती के नीचे बाँधी जाती है।

छ—प्रथमान्त से यथाविहित 'छ' प्रत्यय होता है जब प्रथमान्त का वाच्यार्थ 'इसका अथवा इसमें सम्भावित है' ऐसा अर्थ कहने की इच्छा हो।[3] यहाँ प्रकृति-विकृतिभाव तथा तादर्थ्य की विवक्षा नहीं, केवल योग्यता विवक्षित है। सूत्र में 'स्यात्' सभावना में लिङ् है। प्राकार आसाम् इष्टकाना स्यात् प्राकारीया इष्टका=प्राकार (दीवार) निर्माण के योग्य ईंटें। सभावना है इन ईंटों से प्राकार बन जाएगा। अर्थात् ये प्राकार के लिए पर्याप्त होंगी। प्रासादोऽस्य दारुण स्यादिति प्रासादीय दारु (काष्ठ)। प्राकारोऽस्मिन् देशे स्यात् इति प्राकारीयो देश, देश=स्थान (वास्तु) को देख यह कहा जा सकता है कि यहाँ प्राकार बन सकेगा। प्रासादोऽत्र स्यादिति प्रासादीया भूमि, यह भूमि इस योग्य है कि इस पर प्रासाद बनाया जा सकेगा।

ढञ्—परिखाऽस्या अस्या वा स्यादिति पारिखेयी[4] भूमि।

यहाँ छ और यत् की अवधि पूर्ण हुई।

---

१ ऋषभोपानहोर्ञ्य (५।१।१४)।
२ चर्मणोऽञ् (५।१।१५)।
३ तदस्य तदस्मिन्स्यादिति (५।१।१६)।
४ परिखाया ढञ् (५।१।१७)।

आर्हीय ठगाद्यधिकार

प्राग्वतेष्ठञ् । तेन तुल्य क्रिया चेद् वति (५।१।११५) सूत्र तक ठञ् प्रत्यय का अधिकार है। इस अधिकार के अन्तर्गत तदर्हति (५।१।६३) सूत्र के अर्थ में प्रत्यय-विधायक सूत्रों को अभिव्याप्त करके ठक् का अधिकार है[1] अर्थात् यज्ञर्त्विग्भ्यां घखञौ (५।१।७१) सूत्र तक यह अधिकार चलता है। सूत्र में आङ् अभिविधि में है। पर आर्हीय अर्थों में भी गोपुच्छ, सख्यावचन, परिमाण विशेषवाची से तो ठञ् ही आता है—गोपुच्छेन क्रीत गौपुच्छिकम्। सख्या—षष्ट्या क्रीतम्=षाष्टिकम्। षाष्टिकी कौशेयबृहतिका, साठ (रुपये) से खरीदी हुई रेशमी चादर। परिमाण—प्रस्थेन क्रीत प्रास्थिकम्। भेद की गणना एक, द्वि, त्रि आदि सख्या है। भार (वजन) जिससे मापा जाता है वह पल आदि 'उन्मान' है। आयाम (लम्बाई) का मानसाधन वितस्ति (बालिश्त) आदि 'प्रमाण' है। आरोह (ऊँचाई) तथा परिणाह (घेरा) जिससे मापा जाता है वह प्रस्थ आदि 'परिमाण' है।

ऊर्ध्वमान किलोन्मान परिमाण तु सर्वत ।
आयामस्तु प्रमाण स्यात्सख्या बाह्या तु सर्वत ॥

ठञ्—असमासान्त निष्क आदि से आर्हीय अर्थों में[2]—निष्केण क्रीत नैष्किकम्। निष्क सुवर्ण का सिक्का है जो सुवर्ण, भार, १६ माशे के बराबर है। यह प्रायिक है। समास म तो परमनैष्किकम्। उत्तमनैष्किकम्—यहाँ ठञ् ही होगा। यहाँ परिमाणान्तस्यासञ्ज्ञाशाणयो (७।३।१७) से उत्तर-पद को वृद्धि होती है। पाप—पापिकम्। पाद—पादिकम्।

ठन्, यत्—शत' से आर्हीय अर्थों में जब शत अभिधेय न हो[3]—शतेन क्रीत शत्यम्। शतिकम् (ठन्)। शत्य शतिक वैवमर्णीतकम्=यह सौ (रुपये) से खरीदा हुआ लहगा है। जब 'शत' अभिधेय (प्रत्ययार्थ) होगा तो प्रत्यय नही होगा—शतम् अध्याया परिमाणमस्य निदानाख्यस्य ग्रन्थस्येति शतक निदानम्। यहाँ (५।१।५८) से कन् हुआ, ठन्, यत् नहीं हो सकते थे, कारण कि यहाँ प्रकृत्यर्थ 'शत' से प्रत्ययार्थ 'सङ्घ' अभिन्न है, अर्थात् शत ही है।

---

१ आर्हादगोपुच्छ-सख्या परिमाणाट् ठक् (५।१।१९)।
२ असमासे निष्कादिभ्य (५।१।२०)
३ शताच्च ठयतावशते (५।१।२१)।

शत के प्रतिषेध में भी अन्यसम्बन्धी शत का प्रतिषेध नहीं ऐसा वार्तिक है*—शत्य शाटकशतम्। शतिक शाटकशतम्। यहाँ यत् और ठन् का प्रतिषेध नहीं हुआ। इत ऊर्ध्वं तु सख्यापूर्वपदाना तदन्तग्रहण प्राग्वतेरिष्यते तच्चालुकि ऐसा वार्तिक पढ़ा है। 'इत ऊर्ध्वम्' का अर्थ है—असमासे निष्कादिभ्य (५।१।२०) से अगले सूत्रों में। यह अप्राप्त तदन्तविधि का अभ्यनुज्ञान करता है, पर द्वौ च शत च द्विशतम् (१०२)। द्विशतेन क्रीत द्विशतकम्। त्रिशतकम्—यहाँ (५।१। २) से कन् होता है, ठन्, यत् नहीं होते कारण कि पूर्व से 'असमासे' इसे खींचने के लिए इस सूत्र में 'च' पढ़ा है।

कन्—जो सख्यावचन ति अन्तवाला तथा शत् अन्तवाला न हो उससे आर्हीय अर्थों में[1]—पञ्चभि क्रीत पञ्चक। पञ्चन् न त्यन्त है और न शदन्त है। बहु—बहुक। गण—गणक। शास्त्र में 'बहु' और 'गण' की सख्या सज्ञा की है।

सप्तति त्यन्त है अत इससे यथाप्राप्त ठञ् होगा—सप्तत्या क्रीत साप्ततिकम्। चत्वारिंशत् शदन्त है अत इससे भी ठञ् होगा—चत्वारिंशता क्रीत चात्वारिंशत्कम्। प्रकृति के तान्त होने 'ठ' को 'क'। आदि वृद्धि। यथावत् जो 'ति' शब्द तदन्त से कन् का निषेध है, अनर्थक 'ति' होने पर नहीं होगा—कतिभि क्रीत कतिकम्। कन्। 'कति' डतिप्रत्ययान्त है। यहाँ डति सार्थक है उसका अवयव 'ति' अनर्थक है।

कन्, इडागम—वत्वन्त की शास्त्र में सख्या सज्ञा विधान की है[2], अत आर्हीय अर्थों में इससे कन् तो सिद्ध है, इट् का विकल्प से विधान किया जाता है[3]—तावद्भि क्रीतस्तावतिक। यावद्भि क्रीतो यावतिक। यावतिकस्ते पटस्तावतिको ममापि, तथापि वै विशिष्यते गुणै, जितने मोल से तूने पट खरीदा है उतने से मैंने भी, तो भी तेरा बढ़िया है। इट् विकल्प होने से इडभाव में तावत्क यावत्क रूप भी होंगे।

डवुन्—विंशति, त्रिंशत् से आर्हीय अर्थों में डवुन् होता है जब प्रत्ययान्त सज्ञा न हो।[4] डवुन् (=वु=अक) डित् है अत इसके परे होने पर भ-सज्ञक

*शतप्रतिषेधेऽन्यशतत्वेऽप्रतिषेध (वा०)।

१ सख्याया अति-शदन्ताया कन् (५।१।२२)।

२ बहु-गण-वतु-डति सख्या (१।१।२८)।

३ वतोरिड् वा (५।१।२३)।

४ विंशति-त्रिंशद्भ्या ड्वुनसज्ञायाम् (५।१।२४)।

की 'टि' का लोप होगा। विंशति के तो 'ति' भाग का लोप होता है। ति विंशतेर्डिति—विंशतिर्वर्षाणि वय परिमाणमस्य=विंशक। त्रिंशद् वर्षाणि वय परिमाणमस्य त्रिंशक। बीस बरस, तीस बरस की वय वाला। संज्ञा में तो विंशतिक, त्रिंशत्क, यहाँ कन् होगा। त्यन्त और शदन्त होने से कन् की प्राप्ति ही नहीं, तो कन् कैसे हुआ। इसका समाधान यही है कि योग-विभाग कर लिया जाएगा—विंशतित्रिंशद्भ्यां कन्। दूसरा सूत्र होगा—ड्वुनसंज्ञायाम्।

टिठन्—कंसेन क्रीतम्—कंसिकम्। क्रीता—कंसिकी।[1] प्रत्यय में ट् ङीप् के लिए है। न् स्वर के लिए, ताकि प्रत्ययान्त आद्युदात्त हो। कंस परिमाण-वाची शब्द है इसे ठञ् प्राप्त था। कंस परिमाणमस्य सोमस्य कंसिक सोम। कंसिकी सुरा।

अञ्—शूर्प (परिमाणवाची) से आर्हीय अर्थों में विकल्प से। ठञ् का अपवाद है। पक्ष में ठञ् भी होगा[2]—शूर्पेण क्रीत शौर्पम् (अञ्)। शौर्पिकम् (ठञ्)। द्वाभ्यां शूर्पाभ्यां क्रीत द्विशूर्पम्। त्रिभि शूर्पै क्रीत त्रिशूर्पम्। यहाँ तदन्तविधि होने से विकल्प से अञ् हुआ उसका अध्यर्ध-पूर्व-द्विगोर्लुग् असंज्ञा-याम् (५।१।२८) से लुक् हो गया। तद्धितार्थ में द्विगु है, तद्धित उसका निमित्त है। अञ् आर्हीय प्रत्यय है। पर जब 'द्विशूर्प' सुबन्त की प्रकृति होगा तो इस सूत्र में तदन्त विधि का प्रतिषेध[3] हो जाने से अञ् न हो सकेगा, सामान्य विहित ठञ् होगा—द्विशूर्पेण क्रीत द्वैशौर्पिकम्। यहाँ द्विशूर्पम्=द्वाभ्यां शूर्पाभ्यां क्रीतम् अर्थ में द्विगु है और अञ् का लुक् होने से लुगन्त की प्रकृति है। ठञ् का लुक् इसलिए नहीं हुआ क्योंकि ठञ् द्विगु के प्रति निमित्त नहीं। द्विगु पहले ही अवस्थित है।

अण्—शतमान (परिमाण-विशेष), विंशतिक (संज्ञाशब्द), सहस्र, वसन से आर्हीय अर्थों में[4]—शतमानेन क्रीत शातमान शतम्। ठञ् का अपवाद।

---

१ कंसाट् टिठन् (५।१।२५)।

२ शूर्पादञन्यतरस्याम् (५।१।२६)।

३ इत उत्तरं संख्यापूर्वपदानां तदन्तविधिरिष्यते। लुगन्तायास्तु प्रकृतेर्नेष्यते (का०)।

४ शतमान विंशतिक-सहस्र वसनादण् (५।१।२७)।

विंशत्या क्रीतं विंशतिकम् (संज्ञा)। विंशतिकेन क्रीतं वैंशतिकम्। सहस्रेण क्रीतं साहस्रम्। वसनेन क्रीतम्=वासनम्। ठक् का अपवाद।

आर्हीय प्रत्यय का लुक्—अध्यर्धपूर्व प्रातिपदिक से तथा द्विगु से आर्हीय प्रत्यय का लुक्[1]—अध्यारूढमर्धम् अस्मिन् इत्यध्यर्धम् (बहुव्रीहि)। अध्यर्धकंसेन क्रीतम् अध्यर्धकंसम्। डेढ़ कंस से खरीदा हुआ। यहाँ टिठन् प्रत्यय का लुक् हुआ है। द्वाभ्यां शूर्पाभ्यां क्रीतं द्विशूर्पम्। त्रिभिः शूर्पैः क्रीतम्=त्रिशूर्पम्। यहाँ तद्धितार्थ में समास होकर अञ् तद्धित हुआ। वह द्विगु का निमित्त है। उसका लुक् हो गया। प्रत्ययान्त यदि संज्ञा होगा तो लुक् नहीं होगा—पञ्च लोहित्यः परिमाणमस्य, पञ्च कलापाः परिमाणमस्य—तद्धितार्थ में समास होकर तदस्य परिमाणम् (५।१।५७) से ठञ् हुआ, जिसका लुक् न हुआ—पाञ्चलोहितिकम्। पाञ्चकलापिकम्। यहाँ भस्याढे तद्धिते (भसंज्ञक को पुंवद्भाव होता है ढ-भिन्न तद्धित परे होने पर) से पुंवद्भाव हुआ, जिससे लोहिनी के ई तथा न् की निवृत्ति होती है। सूत्र में अध्यर्ध शब्द का पृथक् उपादान इसलिए किया है कि यद्यपि अध्यर्ध शब्द (डेढ़ का वाचक) संख्या ही है तो भी इसे सभी संख्यानिमित्तक कार्य नहीं होते। जैसे इसमें कृत्वसुच् (जो संख्या शब्दों से क्रिया की अभ्यावृत्ति की गणना में होता है) नहीं होता —अध्यर्धं करोति। जब एक बार फल देने वाली क्रिया को करके दूसरी बार आधी ही करके लौट जाता है तब कृत्वसुच् का प्रसङ्ग होने पर वह नहीं होता।

अर्धपूर्वपद पूरणप्रत्ययान्त की संख्या संज्ञा होती है समास और कन् प्रत्यय के लिए ऐसा वार्तिक पढ़ा है।[2] अर्धपञ्चमैः शूर्पैः क्रीतं=अर्धपञ्चमशूर्पं। अञ् तथा ठञ् का लुक्। अर्धपञ्चमक। कन् प्रत्यय।

अध्यर्ध पूर्व तथा द्विगु से जो कार्षापणान्त हो अथवा सहस्रान्त हो, प्रत्यय का लुक् विकल्प से होता है[3]—अध्यर्धकार्षापणेन क्रीतम्, अध्यर्धकार्षापणं परिमाणमस्येति वा अध्यर्धकार्षापणम् (ठञ्लुक्)। अध्यर्धकार्षापणिकम् (ठञ्)। द्विकार्षापणम् (द्विगु)। द्विकार्षापणिकम् (ठञ् का अलुक्)।

तेन क्रीतम् (५।१।३७) इत्यादि सूत्रों से उक्त ठञादि (१३) प्रत्ययों के

---

१ अध्यर्धपूर्व-द्विगोर्लुगसंज्ञायाम् (५।१।२८)।

२ अर्धपूर्वपदश्च पूरणप्रत्ययान्तः संख्यासंज्ञो भवतीति वक्तव्यं समास-कन्विध्यर्थम् (वा०)।

३ विभाषा कार्षापण-सहस्राभ्याम् (५।१।२९)।

अर्थ कहे हैं। तेन क्रीतम् के विषय में विशेष वक्तव्य यह है कि 'तेन' यहाँ मूल्य से करण में तृतीया समझनी चाहिए। अतः देवदत्तेन क्रीतं पाणिना क्रीतम्—यहाँ प्रत्यय नहीं होगा, वाक्य ही रहेगा। यह भी ध्यान देने योग्य है द्विवचनान्त वा बहुवचनान्त प्रकृति से प्रत्यय नहीं होगा—प्रस्थाभ्यां प्रस्थैर्वा क्रीतम्—यहाँ वाक्य ही रहेगा। कारण कि 'प्रास्थिकम्' कहने से प्रस्थाभ्यां क्रीतम्, प्रस्थैः क्रीतम्, ऐसी प्रतीति नहीं होती। अनभिधान ही इसमें हेतु है। जहाँ संख्याभेद की प्रतीति होती है वहाँ द्विवचनान्त अथवा बहुवचनान्त से भी प्रत्यय होगा—द्वाभ्यां क्रीतं द्विकम्। त्रिभिः क्रीतं त्रिकम्। पञ्चकम्। यथाविहित कन्। तथा मुद्गैः क्रीतं मौद्गिकम् (ठञ्)। एक मुद्ग से क्रय-संभव नहीं। अतः बहुवचनान्त प्रकृति से प्रत्यय हुआ है।

षष्ठ्यन्त से तस्य निमित्तम्, उसका निमित्त, इस अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है यदि वह निमित्त संयोग अथवा उत्पात हो।[1] सम्बन्ध यहाँ संयोग शब्द का वाच्यार्थ है। महाभूतों के शुभाशुभ सूचक परिणाम (विकार) को 'उत्पात' कहा है—शतस्य निमित्तं धनपतिना संयोग शत्य, शतिक (यत्, ठन्)। सहस्रस्य निमित्तं साहस्रम् (अण्)। 'निमित्त' शब्द यहाँ कारक हेतु लिया जाता है। शतस्य निमित्तमुत्पातो दक्षिणाक्षिस्पन्दनम्, दाईं आँख का फड़कना रूप उत्पात इस बात का सूचक है कि सौ (रुपयों) का लाभ होगा। पाञ्चभौतिक शरीर में द्रव्य ही क्रियारूप से परिणत होता है। अतः दक्षिणाक्षिस्पन्दन महाभूतपरिणाम है। इस उदाहरण में निमित्त ज्ञापकहेतु लिया जाता है।

तस्य निमित्तम् इस प्रकरण में वात, पित्त, श्लेष्मन् से शमन, कोपन अर्थ में ठञ् प्रत्यय हो ऐसा वार्तिककार चाहते हैं[2]—वातस्य शमनं कोपनो वा शाको वातिकः। पैत्तिक। श्लैष्मिक। श्लेष्मणः शमनं श्लैष्मिकं मधु। पित्तस्य शमनं पैत्तिकं घृतम्। 'संनिपात' से भी प्रत्यय इष्ट है—संनिपातस्य शमनं कोपनं औषधम्=सान्निपातिकम्। वात आदि तीनों का एक साथ उद्भव संनिपात होता है।

यत्—तस्य निमित्तं संयोगोत्पातौ—इस अर्थ में गो शब्द से और द्व्यच्

१ तस्य निमित्तं संयोगोत्पातौ (५।१।३८)।

२ तस्य निमित्तप्रकरणे वात-पित्त-श्लेष्मभ्यः शमनकोपनयोरुपसंख्यानम् (वा०)।

प्रातिपदिक से यत् हो।[1] ठञ् आदि का अपवाद है। गोर्निमित्त संयोग उत्पातो वा गव्य, ऐसा संयोग अथवा उत्पात जो गोलाभ का सूचक है। द्व्यच्—धनस्य निमित्त संयोगो धन्य। धन्या षड्ग्रही, धनविनाशसूचिका। पण्णां ग्रहाणां गुरुवर्जितानामेकत्र यदी निर्धनता प्रयाति। लग्ने चतुर्ग्रही धन्या (धनवृद्धिकरी)। स्वर्ग्य। स्वर्गस्य निमित्त संयोग। स्वर्ग्यं सद्मपि सद्म कथमपि पुण्येन भवति। आयुष्य संयोग उत्पातो वा। यशस्य। पर सख्या, परिमाण, तथा अश्व आदि से यत् नहीं होता—सख्या—पञ्चानां निमित्त संयोग उत्पातो वा पञ्चक। सप्तक। अष्टक। कन्। परिमाण—प्रास्थिक। ठञ्। अश्व—आश्विक (ठक्)। ऊर्णा—और्णिक। उमा—औमिक।

ब्रह्मवर्चस से भी[2]—ब्रह्मवर्चसस्य निमित्त संयोग = ब्रह्मवर्चस्य। ब्रह्मणो वर्चो ब्रह्मवर्चसम्। स्याद् ब्रह्मवर्चसं वृत्ताध्ययनर्द्धि—अमर।

छ, यत्—पुत्रस्य निमित्तमुत्पात पुत्रीय (छ)। पुत्र्य (यत्)[3]। द्व्यच् होने से नित्य यत् प्राप्त था।

अण्, अञ्—'सर्वभूमि', तथा 'पृथिवी' से 'तस्य निमित्त संयोगोत्पातौ' इस अर्थ में क्रम से[4]—सर्वभूम्या निमित्त संयोग उत्पातो वा सार्वभौम। (अण्)। अनुशतिकादि होने से उभयपद वृद्धि। पृथिव्या निमित्त संयोग उत्पातो वा पार्थिव।

षष्ठ्यन्त से तस्येश्वर, उसका ईश्वर, इस अर्थ में[5]—सर्वभूमेरीश्वर सार्वभौम (अण्)। पृथिव्या ईश्वर पार्थिव (राजा)। अञ्। स्त्रीत्व में पार्थिवी।

सर्वभूमि तथा पृथिवी से तत्र विदित इस अर्थ में[6]—सर्वभूमौ विदित सार्वभौम। इह केचित्सार्वभौमाश्शासितारोऽभूवन् मुनयश्चापि। पृथिव्यां विदित पार्थिव। पार्थिवोऽयमयं पाणिनिमुपाश्ये वैयाकरण इति, यह बात भूमण्डल में प्रसिद्ध है दूसरे वैयाकरण पाणिनि से उतरकर हैं।

---

१ गो-द्व्यचोऽसख्या-परिमाणाश्वादेर्यत् (५।१।३९)।
२ ब्रह्मवर्चसादुपसख्यानम् (वा०)।
३ पुत्राच्छ च (५।१।४०)।
४ सर्वभूमि पृथिवीभ्यामणञौ (५।१।४१)।
५ तस्येश्वर (५।१।४२)।
६ तत्र विदित इति च (५।१।४३)।

ठञ्—'तत्र विदित' इस अर्थ में लोक, सर्वलोक से[1]—लोके विदित = लौकिक । सर्वलोके विदित सार्वलौकिक । उभयपद वृद्धि । सत्यानृते अर्थौ लौकिकौ सार्वलौकिकौ वेति शास्त्रनिरपेक्षौ ।

षष्ठ्यन्त से 'तस्य वाप' (उप्यतेऽस्मिन्निति वाप क्षेत्रम्) अर्थ में यथा विहित ठञ् आदि प्रत्यय होते हैं[2]—प्रस्थस्य वाप क्षेत्रम् प्रास्थिकम् (ठञ्) । द्रौणिकम् ।

ष्ठन्—पात्र शब्द से 'तस्य वाप' अर्थ में[3]—पात्रस्य वाप क्षेत्रम् पात्रिकम् । पात्र परिमाणवाची शब्द है । ठञ् का अपवाद ।

कन् आदि—प्रथमान्त से तत्र दीयते, उसमें दिया जाता है, इस अर्थ में यथाविहित कन् आदि प्रत्यय होते हैं जब प्रथमा त का वाच्य वृद्धि, आय, लाभ, शुल्क अथवा उपदा (=उत्कोच=रिश्वत) हो—पञ्च अस्मिन्ग्रामे वृद्धिर्वाऽऽयो वा लाभो वा, शुल्को वा उपदा वा दीयत इति पञ्चको ग्राम । वृद्धि —इसे प्रचलित भाषा में सूद कहते हैं जो अधमर्ण (ऋणी) उत्तमर्ण (धनिक, प्रयोक्ता को देता है । आय=ग्रामादि में स्वामि ग्राह्य भाग । शुल्क=रक्षा के निमित्त जो राजद्वारा कर लिया जाता है । इन अर्थों में शत्य । यत् । शतिक (ठन्) । साहस्र (अण्) इत्यादि प्रयोग भी निष्पन्न होंगे ।

यथाविहित प्रत्यय वृद्ध्यादि उसको दिए जाते हैं इस अर्थ में भी होते हैं[4]—पञ्चाऽस्मै वृद्ध्यादिर्दीयत इति पञ्चको देवदत्तादि ।

ठन्—पूरणवाची प्रातिपदिक से तथा अर्ध से 'वृद्ध्यादि उसमें अथवा उसको दिए जाते हैं' इस अर्थ में ठन् होता है[5]—द्वितीयोवृद्ध्यादिर् अस्मिन् अस्मै वा दीयत इति द्वितीयिक । तृतीयिक । पञ्चमिक । सप्तमिक । अर्धिक । सूत्र में 'पूरण' से अर्थ का ग्रहण है, पूर्यते येन स पूरण, प्रत्यय का नहीं । प्रत्यय ग्रहण होने पर 'तस्य पूरणे डट्' इस अधिकार में विहित

---

१ लोक-सर्वलोकाट् ठञ् (५।१।४४) ।
२ तस्य वाप (५।१।४५) ।
३ पात्रात्ष्ठन् (५।१।४६) ।
४ तदस्मिन्वृद्ध्याय-लाभशुल्कोपदा दीयते (५।१।४७) ।
५ चतुर्थ्यर्थे उपसंख्यानम् (वा०) ।
६ पूरणार्धाट् ठन् (५।१।४८) ।

प्रत्ययों का ही ग्रहण होता, जिससे पूरणाद् भागे तीयादन् (५।३।४८) से स्वार्थिक अन्नन्त से प्रत्यय (ठन्) न हो सकता। अर्थ=रूपकार्य।

ठन्-यत्—भाग (=रूपकार्य) से 'वृद्धयादि उसमे दिए जाते हैं, इस अर्थ मे[1]—भागो वृद्धयादिर्दीयतेऽस्मिञ्शते इति भागिकं शतम्। भाग्य शतम्, शत जिसमे (जिसके प्रति) भाग (रूपकार्य) वृद्धि आदि के रूप मे दिया जाता है। भाग्या भागिका वा विंशति, बीस जिसके प्रति रूपकार्य वृद्धि आदि के रूप मे दिया जाता है।

ठञ्—द्वितीयान्त से उसे स्थानान्तर को ले जाता है (अथवा चुराता है) (हरति) उठाता है (वहति), उत्पन्न करता है (आवहति) अर्थों में भारान्त वंश आदि से अथवा भारभूत (बोझल) बांस आदि के वाचक वंशादि से[2]—वंशभारं हरति वहत्यावहति वांशभारिकः। भारभूतान् वंशान् हरति वहत्या-वहति वांशिकः। कुटजभार—कौटजभारिकः। कुटज—कौटजिकः। बल्वज-भार—बाल्वजभारिकः। बल्वज—बाल्वजिकः। इक्षुभार—ऐक्षुभारिकः। इक्षु—ऐक्षुकः। 'ठ' को 'क' आदेश।

ठन्-कन्—वस्न तथा द्रव्य से हरत्यादि अर्थों मे[3]—वस्निकः। ठन्। द्रव्यकः। कन्। ठन् और कन् यथासंख्य होते हैं, पहले से पहला, दूसरे से दूसरा।

ठञ्—द्वितीयान्त से सम्भवति, अवहरति, पचति अर्थों मे यथाविहित प्रत्यय[4]—प्रस्थं सम्भवत्यवहरति पचति वा स्थाली प्रास्थिकी, जिस पाक भाजन मे एक प्रस्थ परिमित चावल आदि पूरी तरह समा जाते हैं, जिसमे समाने पर रिक्त अवकाश रहता है, और जिसमे एक प्रस्थ चावल पकते हैं उसे प्रास्थिकी कहते हैं। सूत्र मे आधेय (चावल आदि) का आधार स्थाली से प्रमाण मे अधिक न होना 'सम्भवति' का अर्थ है। प्रमाणानतिरेकपूर्वक धारण अर्थ मे सम्भवति का प्रयोग है अतः यह यहाँ सकर्मक है। आधार से आधेय का न्यून होना अवहरण (=उपसंहरण) है। सौकर्यविवक्षया स्थाली (जो वस्तुतः अधिकरण है) पाकक्रिया की कर्त्री मानी गई है। प्रस्थं पचति ब्राह्मणी ऐसा भी प्रयोग है। यहाँ अनुपचरित कर्तृत्व है।

---

१ भागाद्यच्च (५।१।४९)।

२ तद्धरति वहत्यावहति भाराद् वंशादिभ्यः (५।१।५०)।

३ वस्न द्रव्याभ्यां ठन्कनौ (५।१।५१)।

४ सम्भवत्यवहरति पचति (५।१।५२)।

अण्—द्रोण पचतीति द्रौणी स्थाली (अण्)। यथाप्राप्त ठञ् भी होता है[1]—द्रौणिकी।

ख—आढक, आचित, पात्र से सम्भवति आदि अर्थों में विकल्प से[2]—*आढकं सम्भवत्यवहरति पचति वा स्थाली आढकीना। आचितीना। पात्रीणा।* पक्ष में यथाप्राप्त ठञ्—आढकिकी। आचितिकी। पात्रिकी।

ष्ठन्—आढकाद्यन्त द्विगु से ख और ष्ठन् विकल्प से[3]। पक्ष में यथाप्राप्त ठञ् होगा, पर उसका अध्यर्धपूर्व—से लुक् हो जायगा—द्वे आढके सम्भवत्यवहरति पचति वा स्थाली द्व्याढकिकी। द्व्याचितिकी। द्विपात्रिकी। ष्ठन्। द्व्याढकीना। द्व्याचितीना। द्विपात्रीणा। ठञ् का लुक् होने पर द्व्याढकी। द्व्याचिता। यहाँ जो द्विगोः (४।१।२१) से ङीप् प्राप्त हुआ उसका अपरिमाणबिस्ताचित—(४।१।२२) से निषेध हो जाने पर टाप् हुआ। द्विपात्री। ङीप्।

कन् आदि—प्रथमान्त से षष्ठ्यर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है यदि प्रथमान्त का वाच्य अंश, वस्न, भृति में से कोई हो[4]—*पञ्च अंशो वस्नो भृतिर्वाऽस्य पञ्चकः पुरुषः*। वस्न=मूल। भृति=वेतन।

ठञ् आदि—प्रथमान्त से षष्ठ्यर्थ में यथाविहित ठञ् आदि प्रत्यय होते हैं जब प्रथमान्त परिमाणवाची हो[5]। परिमाण से यहाँ प्रमाणमात्र (=परिच्छेदक मात्र) लिया जाता है। सङ्ख्या भी परिच्छेदिका है, वह भी परिमाण शब्द से गृहीत होगी—प्रस्थः परिमाणमस्य प्रास्थिको राशिः। कुडवः परिमाणमस्य कौडविकः। द्रौणिकः। वर्षशतं परिमाणमस्य वार्षशतिकं सत्रम्। वर्षसहस्रं परिमाणमस्य वार्षसहस्रिकं सत्रम्। सङ्ख्या होने से ठञ्। वर्षशतम् वर्षसहस्रम् षष्ठीतत्पुरुष है। शतं परिमाणमस्य द्रव्यराशेः =शत्यः। शतिकः। यत्। ठन्। सहस्रं परिमाणमस्य द्रव्यराशेः साहस्रः। (अण्)। पञ्चविंशतिसाहस्रीं चक्रे भारतसंहिताम् (भा० आदि०)। पञ्चविंशति सहस्राणि

---

१ तत्पचतीति द्रोणादण् च (वा०)।
२ आढकाचित-पात्रात्खोऽन्यतरस्याम् (५।१।५३)।
३ द्विगोष्ठंश्च (५।१।५४)।
४ सोऽस्यांश-वस्न भृतयः (५।१।५६)।
५ तदस्य परिमाणम् (५।१।५७)।

परिमाणमस्याः सा पञ्चविंशतिसाहस्री । द्वे षष्टी जीवितपरिमाणमस्य द्विषाष्टिकः । द्विसाप्ततिकः । ठञ् । पञ्चविंशतिसाहस्री तथा द्विषाष्टिक आदि में ठञ् तथा अण् का अध्यर्धपूर्वद्विगो—से लुक् क्यों नहीं हुआ । पुनर्विधान सामर्थ्य से । अर्थात् पूर्वसूत्र से समर्थविभक्ति और प्रत्ययार्थ की अनुवृत्ति आने से प्रथम बार जो प्रत्यय विहित हुआ उसका लुक् तो हो गया, पर दुबारा समर्थविभक्ति (प्रथमा) और प्रत्ययार्थ (अस्येति षष्ठ्यर्थ) के उपादान से जो प्रत्यय का पुनर्विधान हुआ उसका लुक् नहीं होता । यदि उसका भी लुक् हो जाए तो पुनर्विधान व्यर्थ हो जाय । संख्यायाः संवत्सरसंख्यस्य च (७।३।१५) से पञ्चविंशतिसाहस्री आदि में उत्तरपद वृद्धि हुई ।

परिमाणोपाधिक प्रथमान्त प्रातिपदिक से अस्यार्थ (षष्ठ्यर्थ) में यथाविहित कन् आदि प्रत्यय होते हैं जब प्रत्ययार्थ (षष्ठ्यर्थ) के संज्ञा, सङ्घ, सूत्र, अध्ययन विशेषण हों[1]—संज्ञा में स्वार्थ में प्रत्यय होता है—पञ्चैव पञ्चकाः शकुनयः । पञ्च परिमाणमस्य सङ्घस्य=पञ्चकः सङ्घः । अष्टकः । सङ्घ शब्द प्राणिसमूह में रूढ है । एकादश मनो ज्ञेयं स्वगुणेनोभयात्मकम् । यस्मिञ्जिते जितावेतौ भवतः पञ्चकौ गणौ ॥ (मनु० २।९२) । अष्टाध्यायाः परिमाणमस्य सूत्रस्य अष्टकं पाणिनीयम् । दशकं वैयाघ्रपदीयम् । व्याघ्रपादो गोत्रापत्यं वैयाघ्रपद्यः (यञ्) । तस्येदं वैयाघ्रपदीयम् (छ) । त्रिकं काशकृत्स्नम् । पञ्चकोऽधीतः पाठः । सप्तकोऽधीतः । अष्टकोऽधीतः । अध्ययन=अधीति । उसका संख्या-परिमाण (प्रकृत में) पाँच आवृत्तियाँ हैं । पञ्च कृत्वोऽस्याध्ययनस्य पञ्चकमध्ययनम् ।

ड—स्तोम (मन्त्र-समूह) अभिधेय हो तो 'तदस्य परिमाणम्' अर्थ में 'ड' होता है[2]—पञ्चदश मन्त्राः परिमाणमस्येति पञ्चदशः स्तोमः । सप्तदशः । एकविंशः । पङ्क्ति, विंशति, त्रिंशत्, चत्वारिंशत्, षष्टि, सप्तति, अशीति, नवति, शत—ये निपातन किए हैं[3] । जो भी कार्य लक्षण (सूत्र) से अनुपपन्न है वह सब निपातन से उपपन्न जानना चाहिए । पञ्च परिमाणमस्य पङ्क्तिश्छन्दः, पाँचों पादों का एक वैदिक छन्द । द्वौ दशतौ परिमाणमस्य सङ्घस्य

---

१ संख्यायाः संज्ञा-सङ्घ-सूत्राध्ययनेषु (५।१।५८) ।

२ स्तोमे डविधिः पञ्चदशाद्यर्थम् (वा०) ।

३ पङ्क्ति-विंशति-त्रिंशच्चत्वारिंशत्पञ्चाशत्षष्टि-सप्तत्यशीति-नवति-शतम् (५।१।५९) ।

=विंशति । त्रयो दशतः परिमाणमस्य त्रिंशत्। ऐसे ही चत्वारिंशत् आदि में जानो।

पञ्चत्, दशत् तदस्य परिमाणम् अर्थ में वर्ग अभिधेय होने पर निपातित किए हैं।

डण्—त्रिंशत्, चत्वारिंशत् शब्दों से 'तदस्य परिमाणम्' अर्थ में डण् हो जब प्रत्ययान्त ब्राह्मण (=वेद व्याख्यान ग्रन्थ) का नाम हो।[1] सूत्र में 'ब्राह्मणे' यह अभिधेय में सप्तमी है विषय में नहीं। अतः इस सूत्र की प्रवृत्ति वेद और लोक में भी निर्बाध होगी—त्रिंशद् अध्यायाः परिमाणमस्य ब्राह्मणस्येति त्रैंशम् ऐतरेयम्। चत्वारिंशद् अध्यायाः परिमाणमस्य ब्राह्मणस्येति चात्वारिंशं कौषीतकिब्राह्मणम्।

ठक् आदि—द्वितीयासमर्थ से अर्हति (इसके योग्य है) अर्थ में यथाविहित ठक् आदि प्रत्यय होते हैं[2]—श्वेतच्छत्रमर्हति श्वैतच्छत्रिकः। वस्त्रयुग्मम् अर्हति वास्त्रयुग्मिको वरः। विवाहे हि वराय उद्गमनीय(धौतयोर्वस्त्रयोर्युगम्) दीयते। अभिगममर्हति इत्याभिगामिक आचार्य, जिससे मिलने के लिए आगे बढ़ना चाहिए, जो अभिगम्य है। शतमर्हति शत्य। शतिक। शत्या धनिका वैसे ये सम्प्रश्नमेतमुक्तवन्तः।

जो नित्य (=बार-बार) छेदन आदि क्रिया के योग्य है उसे कहने के लिए छेद आदि द्वितीयान्त प्रातिपदिकों से यथाविहित ठञ् आदि प्रत्यय होते हैं[3]—छेदं नित्यमर्हति वस्त्रादि =छैदिकः। भेदं नित्यमर्हति भैदिकः शात्रवगणः। द्रोहं नित्यमर्हति द्रौहिकः आततायिनः। सम्प्रयोग (=संसर्ग) नित्यमर्हति साम्प्रयोगिकाः सन्तः। वैप्रयोगिका वैप्रकर्षिका वाऽसन्तः।

ठक्, यत्—शीर्षच्छेद से 'नित्यमर्हति' अर्थ में[4]—शीर्षच्छेदं नित्यमर्हति शैर्षच्छेदिकः। शीर्षच्छेद्य (यत्)। प्रत्यय-सन्नियोग से शिरस् को 'शीर्ष' आदेश। शीर्षच्छेद्यस्ते राम त हत्वा जीवय द्विजम् (उत्तर० रा०)।

---

१ त्रिंशच्चत्वारिंशतोर्ब्राह्मणे संज्ञायां डण् (५।१।६२)।
२ तदर्हति (५।१।६३)।
३ छेदादिभ्यो नित्यम् (५।१।६४)।
४ शीर्षच्छेदाद्यच्च (५।१।६५)।

यत्—दण्ड आदि द्वितीयान्त से अर्हति अर्थ में[1]—दण्डमर्हति दण्ड्यः । कशाम् अर्हति कशयोऽश्वः । अर्घमर्हति अर्घ्यं, मानुनादि । मधुपर्कमर्हति मधुपर्क्यं, वगादि । वधमर्हति वध्य । वध्यस्तस्कर इति स्मृति. ।

छ, यत्—कडङ्कर (बुस, माष मुद्ग आदि का काण्ठ) और दक्षिणा से[2]—कडङ्करमर्हति कडङ्करीय. (गोमहिष्यादि) । कडङ्कर्यं । दक्षिणामर्हति दक्षिण्यो ब्राह्मण. । दक्षिणीय । (छ) ।

घ, खञ्—यज्ञ, ऋत्विज् (द्वितीयान्त) से यथाक्रम[3]—यज्ञमर्हति यज्ञियो ब्राह्मण, जो यज्ञ का अधिकारी है । ऋत्विज्—ऋत्विजमर्हति आर्त्विजीनो ब्राह्मण, (खन्=ईन) जिसे याग कर्म के लिए ऋत्विक् (याजक) मिल सकता है । यह यज्ञिय है अत आर्त्विजीन भी है । आर्त्विजीन में प्रत्यय के ञित् होने से आदि वृद्धि हुई है ।

यज्ञ तथा ऋत्विज् से तत्कर्म (=यज्ञ-कर्म, ऋत्विक् कर्म) अर्हति—इस अर्थ में भी उक्त प्रत्यय होते हैं[4]—यज्ञ यज्ञकर्म अर्हति यज्ञियो देश, जो भूमि यागानुष्ठान के योग्य है । ऋत्विक् कर्म अर्हति आर्त्विजीनो ब्राह्मण., जो ऋत्विक् बनाने के योग्य है ।

आर्हीय ठक् अधिकार समाप्त हुआ ।

ठञ्—पारायण, तुरायण, चान्द्रायण—इन द्वितीयान्त प्रातिपदिकों से वर्तयति (निर्वर्तयति=अनुतिष्ठति=साधयति) अर्थ में अधिकृत ठञ् प्रत्यय होता है[5]—पारायण निर्वर्तयति पारायणिकश्छात्र । आदि से अन्त तक निरन्तर वेदाध्ययन को पारायण (नपु॰) कहते हैं । उसे यद्यपि गुरु और शिष्य दोनों साधते हैं तो भी प्रत्यय छात्र विषय में ही इष्ट है । तुरायण निर्वर्तयति तौरायणिको द्विज । तुरायण एक वर्ष में साध्य एक हविर्यज्ञ का नाम है । चान्द्रायण निर्वर्तयति चान्द्रायणिकस्तपस्वी ।

द्वितीयान्त संशय से आपन्न (प्राप्त) अर्थ में[6]—संशयमापन्न सांशयिक

१　दण्डादिभ्यः (५।१।६६) ।
२　कडङ्कर-दक्षिणाच्छ च (५।१।६९) ।
३　यज्ञर्त्विग्भ्यां घ-खञौ (५।१।७१) ।
४　यज्ञर्त्विग्भ्यां तत्कर्मार्हतीत्युपसंख्यानम् (वा॰) ।
५　पारायण-तुरायण-चान्द्रायणं वर्तयति (५।१।७२) ।
६　संशयमापन्न (५।१।७३) ।

स्थाणु । सांशयिकस्तृतीय पाद (निरुक्त)। सांशयिक=संशयास्पद । अमर तो संशयिता (संशय करने वाला) अर्थ मे प्रत्यय समझता है क्योंकि उसका पाठ है—सांशयिक संशयापन्नमानस ।

द्वितीयान्त 'योजन' शब्द से 'गच्छति' अर्थ मे[1]—योजन गच्छति= यौजनिक । वार्तिककार क्रोशशत, योजनशत से भी प्रत्यय चाहते हैं—क्रोशशत गच्छति क्रौशशतिक । यौजनशतिक । योजन=चार क्रोश, कोस । वार्तिककार क्रोशशत तथा योजनशत से इतनी दूरी से जो अभिगम्य है अर्थात् जो इतना आगे बढ़कर मिलने के योग्य है, इस अर्थ मे भी प्रत्यय चाहते हैं— क्रोशशताद् अभिगमनमर्हति क्रौशशतिको जननायक । योजनशताद् अभिगमनमर्हति यौजनशतिको महात्मा । यौजनशतिक आचार्य ।

ष्कन्—द्वितीयासमर्थ पथिन् से 'गच्छति' अर्थ मे[2]—पन्थान गच्छति पथिक । स्त्रीत्व विवक्षा मे षित् होने से ङीष् होकर 'पथिकी' ।

ण—पन्थान नित्य गच्छतीति पान्थ ।[3] जो नित्य यात्रा करता रहता है वह पान्थ है जैसे सूर्य । अथवा जैसे यायावर (याति याहीति याति), जिसका घर-घाट कुछ नही अत जो एक स्थान से दूसरे स्थान को जाता रहता है ।

ठञ्—तृतीयान्त उत्तरपथ से आहृत (लाया गया) अर्थ में अथवा 'गच्छति' अर्थ मे अविकृत प्रत्यय (ठञ्) होता है[4]—उत्तरपथेनाहृत पण्यम् औत्तरपथिकम् । उत्तरपथेन गच्छति=औत्तरपथिक । वार्तिककार के अनुसार ठञ् वारिपथ, जङ्गलपथ, स्थलपथ, कान्तारपथ से भी इसी अर्थ मे आता है— वारिपथेनाहृत केशरराशि =वारिपथिक । वारिपथेन गच्छति वारिपथिक । जाङ्गलपथिक । स्थालपथिक । कान्तारपथिक । सूनी, अथवा हरियालीरहित भूमि को 'जङ्गल' कहा है । कान्तार (पु० नपु०) महारण्य और दुर्गपथ का नाम है ।

---

१ योजन गच्छति (५।१।७४) ।
२ पथ ष्कन् (५।१।७५) ।
३ पन्थो ण नित्यम् (५।१।७६) ।
४ उत्तरपथेनाहृत च (५।१।७७) ।

अण्—स्थलपूर्वपद पथिन् से आहृत अर्थ में अण् होता है यदि जो आहृत हो वह मधुक (महोवा) अथवा मरिच हो[1]—स्थालपथिक मधुकं मरिचं वा।

ठञ् अधिकार में कालाधिकार—

कालात् (५।१।७८)। यहाँ से व्युष्टादिभ्योऽण् (५।१।९७) तक कालाधिकार है। इसमें भी ठञ् का अधिकार जानना।

ठञ्—तृतीयान्त कालवाची शब्द से तेन निर्वृत्तम्, उस काल में बनाया गया, (साधा गया, समाप्त किया गया) अर्थ में[2]—अह्ना निर्वृत्तम् आह्निकम् जितना कार्य एक दिन में समाप्त हुआ उसे 'आह्निक' कहा जाता है। जैसे व्याकरण महाभाष्य में आह्निक हैं। अर्धमासेन निर्वृत्तम् आर्धमासिकम्। संवत्सरेण निर्वृत्त सांवत्सरिकम्। सांवत्सरिक विश्वविद्यालयस्यैव महोत्सवम्।

द्वितीयान्त कालवाची प्रातिपदिक से अधीष्ट (सत्कारपूर्व व्यापारित), भृत (वेतनादिना नियुक्त), भूत (स्वसत्तया व्याप्तकाल), भावी (तादृश एवानागत) अर्थों में।[3] यहाँ कालाध्वनो—(२।३।५) से अत्यन्त संयोग में द्वितीया है। मासमधीष्टोऽध्यापकः=मासिकोऽध्यापकः, जो सत्कारपूर्वक प्रार्थना किया हुआ एक मास तक पढ़ाता है। मासं भृतः कर्मकरः=मासिकः कर्मकरः, जो मजदूर एक मास के लिए नौकर रखा गया है। यद्यपि अध्येषण (=प्रार्थना) और भरण (भृति देना) सविषय क्रियाएँ हैं, तो भी इनकी फलभूत क्रिया व्यापार है उसमें मास की व्याप्ति होती है, उसी से द्वितीया उपपन्न होती है। मासं भूतो मासिको व्याधिः, जो रोग एक मास तक रहा। मासं भावी उत्सवः=मासिक उत्सवः, जो उत्सव एक मास तक मनाया जायगा।

यत्, खञ्—वय के वाच्य (विशेष्य) होने पर द्वितीयान्त मास से[4]—मासं भूत=मास्यः शिशु। मासीनः शिशु (खञ्), जो बच्चा अभी एक महीने का हुआ है।

यप्—मासान्त द्विगु से वय के वाच्य (विशेष्य) होने पर[5]—द्वौ मासौ

---

१ मधुक-मरिचयोरण् स्थलात् (वा०)।
२ तेन निर्वृत्तम् (५।१।७९)।
३ तमधीष्टो भृतो भूतो भावी (५।१।८०)।
४ मासाद् वयसि यत्खञौ (५।१।८१)।
५ द्विगोर्यप् (५।१।८२)।

भूत = द्विमास्य शिशु । तद्धितार्थ में समास होकर यप् प्रत्यय होता है। त्रीन् मासान् भूत त्रिमास्य ।

यप्, ण्यत्, ठञ्—षण् मासान् भूत षण्मास्य (यप्)। षाण्मास्य (ण्यत्)। षाण्मासिक[1]। ये सभी प्रत्यय 'वय' में होते हैं।

ण्यत्, ठन्—जब वय वाच्य न हो तो षण्मास से पूर्वसूत्र से इस सूत्र में चकार द्वारा समुच्चित ण्यत् होता है और ठन् भी[2]—षण्मासात् भूत षाण्मास्यो रोग (छ महीनों का पुराना रोग)। ण्यत्। षण्मासिको रोग। ठन्।

ख—'तमधीष्ट' इत्यादि अर्थों में समा (=वर्ष) से ख (ईन)[3]—समाम् अधीष्टो भृतो भूतो भावी वा समीन आचार्यादि।

ख, ठञ्—समान्त द्विगु से विकल्प से ख।[4] पूर्व सूत्र से नित्य प्राप्त था, कारण कि तेन तुल्यम्—(५।१।११५) तक ठञ् के अधिकार में तदन्त विधि अभ्यनुज्ञात है—द्विसमीन। द्वैसमिक (ठञ्)। 'समा' शब्द का एकवचन और द्विवचन में भी प्रयोग होता है।

रात्र्यन्त, अहर् अन्त, संवत्सरान्त द्विगु से 'तेन निर्वृत्तम्' इत्यादि अर्थों में ख और ठञ् होते हैं[5]—द्वाभ्यां रात्रिभ्यां निर्वृत्त द्विरात्रीणम्। द्वैरात्रिकम्। द्विरात्रीणो निबन्ध। द्वैरात्रिको निबन्ध, जो निबन्ध दो रातों में लिखा गया है। द्वे रात्री अधीष्टो भृतो भूतो भावी वा आचार्यादि = द्विरात्रीण। द्वैरात्रिक। द्वाभ्याम् अहोभ्यां निर्वृत्त द्व्यहीनम्। 'अह्नष्टखोरेव' (६।४।१४५) से ख परे होने पर 'टि' लोप। यह नियम है अत ठञ् परे होने पर टि (अन्) का लोप नहीं होगा—द्वाभ्याम् अहोभ्यां निर्वृत्त द्वैयह्निकम्, जो कार्य दो दिन में किया गया। द्वैयह्निक में अल्लोपोऽन (६।४।१३४) से अन् के 'अ' का लोप होता है। आदि वृद्धि के स्थान में ऐच् आगम हुआ है। त्र्यहीण। त्रैयह्निक। द्विसंवत्सरीण। द्विसांवत्सरिक। त्रिसांवत्सरिक। 'संख्यायाः संवत्सर-संख्यस्य च' (७।३।१५) से उत्तरपदवृद्धि।

---

१ षण्मासाण्ण्यच्च (५।१।८३)।
२ अवयसि ठंश्च (५।१।८४)।
३ समायाः [redacted] (५।१।८५)।
४ द्विगोर्वा (५।१।८६)।
५ रात्र्यहःसंवत्सराच्च (५।१।८७)।

ख, ठञ्, लुक्—वर्षान्त द्विगु से निर्वृत्त आदि अर्थों में ख, ठञ् होते हैं। पक्ष में इनका लुक् भी हो जाता है[1]—द्विवर्षीणो व्याधि । द्विवार्षिक । द्विवर्ष । त्रिवर्षीण । त्रिवार्षिक । त्रिवर्ष । द्विवार्षिक, त्रिवार्षिक में उत्तर-पद-वृद्धि हुई। भावी रोगादि में तो पूर्वपद में ही वृद्धि होगी—

यस्य त्रैवार्षिकं धान्यं निहितं भृत्यवृत्तये ।
अधिकं वापि विद्येत स सोमं पातुमर्हति ॥ (मनु० ११।६)

लुक्—चित्तवान् (=सेन्द्रिय) पदार्थ के अभिधेय होने पर वर्षान्त द्विगु से निर्वृत्त आदि अर्थों में आए हुए प्रत्यय का नित्य लुक् हो जाता है। पूर्वसूत्र से वैकल्पिक लुक् प्राप्त था[2]—द्विवर्षो दारक । द्वे वर्षे भूत =द्विवर्ष, जो दो वर्ष का हो गया है। अशीतिवर्षो जरठ, अस्सी वर्ष का बूढ़ा। वय च त्व दशवर्षीय वय चैतद् दारुण तप (विष्णु पु० ५।१२।१७)। यहाँ 'दशवर्षीय' निश्चित ही अपाणिनीय है। छ प्रत्यय का प्रसङ्ग ही नहीं। प्राप्त ठञ्, ख का नित्य लुक् विहित है। त्रिंशद्वर्षो वहेत्कन्या हृद्या द्वादशवार्षिकीम् (मनु० ९।९४)। यहाँ द्वादशवार्षिकी भी नि सन्देह अपाणिनीय है। लुक् के नित्य होने से।

निपातन—'षष्टिका' यह 'षष्टिरात्रेण पच्यन्ते' इस अर्थ में निपातन किया है।[3] कन् प्रत्यय। रात्र शब्द का लोप। षष्टिरात्रेण पच्यन्ते षष्टिका। यह धान्य विशेष की सज्ञा है, जिसे लोक में आजकल साठी के चावल कहते हैं।

ठञ्—तृतीयासमर्थ से परिजय्य (जीता जा सकता है), लभ्य (प्राप्त किया जा सकता है), कार्य (किया जा सकता है), सुकर (आसानी से किया जा सकता है) इन अर्थों में यथाविहित प्रत्यय होता है[4]—मासेन परिजय्यो जेतु शक्यो व्याधि =मासिको व्याधि ऐसा रोग जिसपर एक महीने में वश पाया जा सकता है। सावत्सरिक। मासेन लभ्य पटो मासिक। मासेन कार्यं मासिक चान्द्रायणम्, जो चान्द्रायण व्रत एक मास में सम्पन्न किया जा सकता है वह 'मासिक' है। मासेन सुकर गेहकम्, एक महीने में जो छोटा सा घर आसानी से बनाया जा सकता है।

---

१ वर्षाल्लुक् च (५।१।८८)।
२ चित्तवति नित्यम् (५।१।८९)।
३ षष्टिका षष्टिरात्रेण पच्यन्ते (५।१।९०)।
४ तेन परिजय्य लभ्य-कार्य-सुकरम् (५।१।९३)।

कालवाची द्वितीया समर्थ प्रातिपदिक से 'इसका' (ब्रह्मचारी का) इस अर्थ में ठञ्, यदि काल व्यापी ब्रह्मचर्य हो।[1] 'ब्रह्मचर्य' काल का व्यापक होने से उसमें सम्बद्ध है और प्रत्ययार्थ=ब्रह्मचारी का तो स्व ही है-मास ब्रह्मचर्यमस्य मासिको ब्रह्मचारी, जिसका एक महीना भर ब्रह्मचर्य है, मैथुन परिहार है वह मासिक ब्रह्मचारी होता है। इसी प्रकार आर्धमासिक, सांवत्सरिक इत्यादि।

इस सूत्र की प्रकारान्तर से भी व्याख्या की जाती है—कालवाची प्रथमान्त से इसका (ब्रह्मचर्य का) इस अर्थ में ठञ्—मासोऽस्य ब्रह्मचर्यस्य, मासिक ब्रह्मचर्यम्, एक मास भर का ब्रह्मचर्य। आर्धमासिकम्। सांवत्सरिकम्। दोनों व्याख्याएँ प्रमाण हैं।

महानाम्नी नामक ऋचाएँ (जो ऐ० आ० ४।१ में) 'विदा मघवन्' से प्रारम्भ होती हैं, तत्सम्बन्धी व्रत (ब्रह्मचर्य) को जो धारण करता है उसे कहने के लिए 'महानाम्नी' शब्द से ठञ् होता है।[2] महानाम्नी ऋचाओं के साथ सम्बन्ध रखने वाले व्रत को भी 'महानाम्न्य' नाम से कह दिया है। ताश्चरति माहानामिक। भस्याढ तद्धिते से पुंवद्भाव होकर 'टि' का लोप। आदित्यव्रत चरति आदित्यव्रतिक।

अष्टाचत्वारिंशत् शब्द से व्रत चरति अर्थ में ड्वुन् (अक) तथा डिनि (इन्) प्रत्यय होते हैं।[3] प्रत्यय के डित् होने से 'टि' का लोप। अष्टाचत्वारिंशत वर्षाणि व्रत चरति अष्टाचत्वारिंशक (ड्वुन्)। अष्टाचत्वारिंशी (डिनि)। बहुवचनान्त 'चातुर्मास्य' शब्द से चरति अर्थ में ड्वुन् तथा डिनि प्रत्यय होते हैं, चातुर्मास्य शब्द के 'य' का लोप भी होता है[4]—चातुर्मास्यानि चरति चातुर्मासक। चातुर्मासी।

चतुर्मास से ण्य प्रत्यय, चतुर्मास में होने वाले यज्ञ के अभिधेय होने पर[5]—चतुर्मासे भवो यज्ञ चातुर्मास्य।

---

१ तदस्य ब्रह्मचर्यम् (५।१।९४)।

२ महानाम्न्यादिभ्य षष्ठीसमर्थेभ्य उपसंख्यानम् (वा०)।

३ अष्टाचत्वारिंशतो ड्वुश्च डिनिश्च वक्तव्य (वा०)।

४ चातुर्मास्यानां यलोपश्च ड्वुश्च डिनिश्च वक्तव्य (वा०)।

५ चतुर्मासाण्ण्यो यज्ञे तत्रभवे (वा०)।

'चतुर्मास' से 'तत्र भव' में अण् होना है संज्ञा विषय में[1]—**चतुर्षु मासेषु भवा चातुर्मासी पूर्णिमा ।**

ठञ्—वाजपेय आदि 'यज्ञविशेषों की दक्षिणा' इस अर्थ में वाजपेयादि से[2]–**वाजपेयस्य वाजपेयिकी दक्षिणा । अग्निष्टोमस्य दक्षिणाऽऽग्निष्टोमिकी । राजसूयिकी ।** सूत्र में आख्या (नाम) ग्रहण इस लिए किया है कि अकाल (जो कालवाची नहीं) यज्ञ से भी प्रत्यय हो जाए अन्यथा कालाधिकार में एकाह, द्वादशाह आदि कालवाची यज्ञविशेषों से ही प्रत्यय हो सकता । तदन्तविधि होती है ऐसा पूर्व कह आए हैं यत कालाधिकार में भी द्वादश आदि से प्राप्ति है हि ।

ठञ् आदि—सप्तमी समर्थ से तत्र दीयते (उसमें दिया जाता है), तत्र कार्यम् (उसमें कार्य किया जाता है) इन अर्थों में जिन-जिन प्रकृति से जो-जो प्रत्यय 'तत्र भव' अर्थ में शैषिक प्रकरण में विधान किए गए हैं, वे-वे होते हैं[3]—**मासे भवम् मासिकम्** (ठञ्) । **संवत्सरे भवं सांवत्सरिकम्** (ठञ्) । इसी प्रकार मासे दीयते, मासान्त में दिया जाता है, **मासिकं वेतनम्** । **संवत्सरे देयं सांवत्सरिकम् । एवं मासे कार्यमपि मासिकम् । संवत्सरे कार्यमपि सांवत्सरिकम् । प्रावृषि भवं प्रावृषेण्यम्** (एण्य)। **प्रावृषि दीयते कार्यं वा प्रावृषेण्यम् । वासन्तिकम् ।** (ठञ्) । **वासन्तम्** (ऋत्वण्) । **हैमनम् । हैमन्तम् । हैमन्तिकम् । हेमन्ते भवं हैमनं वासः** (वस्त्रम्) । अण्, तलोप । तत्र दीयते तत्र कार्यम् इन अर्थों में भी हेमन्त से ये ही प्रत्यय होंगे और अण् के सन्नियोग से तलोप भी होगा । **अग्निष्टोमे यज्ञे दीयते इत्याग्निष्टोमिकम्** (ठञ्) **वस्त्रम् । राजसूयिकम् ।** यहाँ तत्र कार्यम् इस अर्थ में प्रत्यय नहीं होता ।

यहाँ कालाधिकार समाप्त हुआ ।

अण्—तत्र दीयते, तत्र भव इन अर्थों में व्युष्टादि प्रातिपदिकों से[4]—**व्युष्टे दीयते कार्यं वा वैयुष्टम्** । व्युष्टम्=प्रभातम् । विपूर्वक उच्छी विवासे इस धातु से क्त । आदि वृद्धि न होकर ऐच् आगम हुआ । नित्य—**नैत्यम्** ।

---

१ संज्ञायामण् वक्तव्य (वा०) ।

२ तस्य च दक्षिणा यज्ञाख्येभ्य (५।१।९५) ।

३ तत्र च दीयते कार्यं भववत् (५।१।९६) ।

४ व्युष्टादिभ्योऽण् (५।१।९७) ।

प्रपां समीपे नियतो नैत्यक (स्वार्थे कन्) विधिमास्थित (मनु० २।१०४)। तीर्थे दीयते कार्यं वा तैर्थम्। सङ्घाते दीयते साङ्घातमन्नम्, गणान्नम्। उपवासे यद् दीयते तत्र कार्यं वा औपवासम्।

ख, यत्—तृतीया समर्थ यथाकथाच और हस्त शब्द से दीयते कार्यम् इन अर्थों मे क्रम से ख तथा यत् प्रत्यय होते हैं।[1] 'यथाकथाच' यह अव्यय समुदाय है और इसका अर्थ अनादर है। तृतीया का यहाँ अर्थमात्र ही सभव है, तृतीया समर्थ विभक्ति नहीं—यथाकथाच दीयते कार्यं व याथाकथाचम्। न हि याथाकथाच दानमश्रद्धस्य फलाय भवति। न वा याथाकथाच कार्यं कर्तुरवश्यति मानम्। श्रद्धाहीन का जैसे तैसे दिया हुआ दान फल नहीं देता और अनादर (लापरवाही) से किया हुआ कम कर्ता के मान को नहीं बढ़ाता है। हस्तेन दीयते हस्तेन कार्यं वा हस्त्यम। हस्त्य वान यान्त्रिकाद् वरीय, हाथ की बुनाई मशीन की बुनाई से अच्छी है।

ठञ्—तृतीया-समर्थ से 'सम्पादि', अवश्य शोभा पाता है, इस अर्थ में[2]—कर्णवेष्टकाभ्या सम्पादि मुख कार्णवेष्टकिकम। कर्णवेष्टक=कुण्डल। सूत्र म 'सम्पादि' पद मे आवश्यक अथ में णिनि है। सम्पद्यतेऽवश्य शोभत इति सम्पादि।

यत्—कर्मन् (शारीर व्यायाम) तथा वेष (भेस, कृत्रिम आकार) से सम्पादि अथ मे यत् प्रत्यय होना है[3]—कर्मणा व्यायामेन सम्पद्यते, कर्मण्य शरीरम्। कर्मण्य शरीरमिति प्रायेण प्रस्मरन्ति शास्त्रशीलिनश्छात्रा, व्यायाम से शरीर सुदर (सुडौल) बनता है इस बात को शास्त्राभ्यास मे लगे हुए छात्र प्राय भूल जाते हैं। वेषेण सम्पद्यते वेष्यो नट, नट की शोभा वेष से होती है। न खलु नटैरिव वेष्यत्व कामनीय विद्याकामै कुमारै, विद्या को चाहने वाले कुमारो को नटो की तरह वेष से उत्पन्न होने वाली शोभा की कामना नहीं करनी चाहिये।

ठञ्—चतुर्थ्यन्त सन्ताप आदि प्रातिपदिकों से तस्मै प्रभवति (उसके लिए समर्थ है) इस अर्थ म ठञ् प्रत्यय होता है।[4] यहाँ अन्वय मे चतुर्थी है—सन्तापाय प्रभवति सान्तापिक। सान्तापिका विप्रयोगा मनुजानाम्। सान्ता-

---

१ तेन यथाकथाच हस्ताभ्या णयतौ (५।१।९८)।
२ सम्पादिनि (५।१।९९)।
३ कर्म-वेषाद्यत् (५।१।१००)।
४ तस्मै प्रभवति सन्तापादिभ्य (५।१।१०१)।

हिक क्षत्रियकुमार, जो क्षत्रियकुमार सन्नाह (=कवच) धारण करने को समर्थ है। सङ्ग्रामाय प्रभवति साङ्ग्रामिको योध। उपसर्ग उपद्रव, रोग-जनित रोगान्तरम्, तस्मै प्रभवति औपसर्गिक खलसम्पर्क। मासाय प्रभवति मासिक। औदनिक। मासौदनिक।

यत्, ठञ्—योगाय प्रभवति योग्य। यौगिक।[1]

उकञ्—कर्मणे प्रभवति कार्मुकम्[2]। धनुष् से अन्यत्र इसका प्रयोग नहीं होता, ऐसा वृत्तिकार का वचन है। पर चरक (सूत्रस्थान में) न तु गुण-प्रभावादेव कार्मुकाणि भवन्ति (द्रव्याणि) में कर्म में समर्थ, शक्त अर्थ में 'कार्मुक' शब्द का प्रयोग मिलता है। वस्तुत क्रमुक-नामक वृक्ष की लकड़ी से बना हुआ होने से धनुष् को कार्मुक कहते थे—क्रमुकस्य विकार कार्मुकम्। ऐसे ही वेद भाष्य में सायणाचार्य कार्मुक की व्युत्पत्ति करते हैं।

ठञ्—प्रथमान्त समय शब्द से अस्य (इसका) अर्थ में ठञ् होता है जब समय प्राप्त=आ गया है ऐसा कहना हो[3]—समय प्राप्तोऽस्य कार्यस्य सामयिक कार्यम्। उपनतकालमित्यर्थ। सामयिकी वृष्टिरुपस्कुरुते सस्यस्य, समय पर आई हुई वृष्टि खेती की उपकारक होती है। देवि सामयिका भवाम, मालविकाग्निमित्र नाटक में सामयिका यह अपपाठ है, कारण कि सामयिक का अर्थ 'समय पर (बिना समय का अतिक्रम किए) कार्य करने वाला' नहीं। अण्—ऋतुरस्य प्राप्त आर्तवम्।[4] आर्तव पुष्पम्। अनार्तव वर्षम्= अकालवृष्टि। उपवस्ता प्राप्तोऽस्य औपवस्त्रम्=उपवास। उपवस्तृ= उपवास करने वाला। प्राशिता प्राप्तोऽस्य प्राशित्रम्=ब्रह्मभाग, यज्ञ में हवि का ब्राह्मण का भाग। प्राशितृ=खाने वाला।

यत्—काल शब्द से यत् 'तदस्य प्राप्तम्' इस विषय में[5]—काल प्राप्तो-ऽस्य काल्यस्ताप, समय पर आई गरमी। काल्य शीतम्। सूत्रकार का अपना प्रयोग भी है—उपसर्या काल्या प्रजने (३।१।१०४)। काल्या=प्राप्तकाला।

१ योगाद्यच्च (५।१।१०२)।
२ कर्मण उकञ् (५।१।१०३)।
३ समयस्तदस्य प्राप्तम् (५।१।१०४)।
४ ऋतोरण् (५।१।१०५)।
५ कालाद्यत् (५।१।१०७)।

ठञ्—जब कालशब्द प्रकृष्टकाल (दीर्घकाल) को कहे तो अस्य (इसका) इस अर्थ में ठञ् होता है[1]—प्रकृष्टः कालोऽस्येति कालिकमृणम्, चिरकाल से लिया हुआ ऋण। कालिकं वैरम्, पुराना वैर। कालिको रोगः, पुराना रोग।

प्रथमासमर्थ से अस्य (षष्ठ्यर्थ) में ठञ् होता है यदि प्रथमान्त प्रयोजन हो[2]—सूत्र में 'प्रयोजन' में हेतु और फल दोनों का ग्रहण है। हेतु—विवाह प्रयोजनमस्य वैवाहिक उत्सवः, विवाह के कारण जो उत्सव मनाया जा रहा है। यहाँ प्रयोजन=प्रयोजक। ऐन्द्रमहिका (इन्द्रमह इन्द्रोत्सव प्रयोजन-मेषाम्) प्रवृत्ता महान्तः समारम्भाः, इन्द्रोत्सव के लिए बड़ी तैयारियाँ की जा रही हैं। यच्च द्वितीयविवाहार्थिना पूर्वस्त्रियै पारितोषिकं धनं दत्तं तदा-धिवेदनिकम् (विष्णुस्मृति)। परितोषः प्रयोजनं फलमस्य पारितोषिकम्। अधिवेदनमिति प्रयोजनमस्य आधिवेदनिकम्। यस्य ते धार्मिकी बुद्धिरियं पुरस्तार्यमागता (रा० १।८।१३)। धार्मिकी=धर्मप्रयोजना। प्रत्यक्षानुमाना-भ्यामीक्षितस्य पश्चादीक्षणमन्वीक्षा। अन्वीक्षा प्रयोजनमस्या आन्वीक्षिकी न्यायविद्या। अत्ययः प्रयोजनं फलमस्य आत्ययिकं कार्यम्, अत्यावश्यक कर्म जिसके न किए जाने से अत्यय (विनाश, अनिष्ट, हानि) होगा। आत्ययिके च (गौ० ध० २।४।३०)। हृदकारी प्रारब्धस्य समापयिता न प्राक्रमिकः (प्रक्रमस्य प्रयोजको जनकः कारकः)। (गौ० ध० १।६।७३) पर हरदत्त का वचन। सान्तानिकं यक्ष्यमाणमध्वगं सर्ववेदसम् (मनु० ११।१)। सान्तानिकः सन्तान-प्रयोजनो विवाहार्थी, विवाहस्य सन्तानप्रयोजनत्वात्। सन्तान के लिए विवाह होता है, इसलिए सान्तानिक से विवाहार्थी लिया जाता है। अभिगम (आगे बढ़कर मिलना, सत्कार करना) प्रयोजनं फलमेषां गुणानां ते आभिगामिका गुणाः (का० नी० सा०)। हैतुकान् बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् (मनु० ४।३०)। हेतुः प्रयोजनं प्रयोजकं एषां ते हैतुकाः। 'ठ' को 'क' आदेश। प्रायौगिकं मात्सरिकं माध्यस्थ्यं पाक्षपातिकम् (वचः) (का० नी० सा० ८।१३।८३)। मत्सरः प्रयोजनं प्रयोजकोऽस्य तद् मात्सरिकं वचः। पक्षपातः प्रयोजनं प्रयोजकोऽस्य पाक्षपातिकं वचः, जो पक्षपात को आश्रित करके कहा गया।

---

१ प्रकृष्टे ठञ् (५।१।१०८)।
२ प्रयोजनम् (५।१।१०९)।

साहित्य में 'आत्ययिक' शब्द ऐसे प्रयुक्त हुआ है—कृत्यमात्ययिकं त्वया (रा० २।७०।३)। यहाँ आत्ययिकम्=असह्यकालातिपातम्, जिसमें कालात्यय=विलम्ब किया नहीं जा सकता। किंचिदात्ययिकं कार्यं तेषां त्वं दर्शनं कुरु (रा० ६।३२।३७)। कार्यगौरवाद् आत्ययिकवशेन वा (कौटि० अ० १।१६)। सा हत्वा पुनरेवाह कृत्यमात्ययिकं स्मरन् (रा० ५।५८।४६)।

अण्—विशाखा और आषाढा से क्रम से मन्थ और दण्ड अभिधेय होने पर[1]—वैशाखो मन्थः। आषाढो व्रतिना दण्डः। वैशाख तथा आषाढ रूढि शब्द हैं इन की ज्यों त्यों व्युत्पत्ति की जा रही है ऐसा पदमञ्जरीकार हरदत्त मानता है। 'मन्थ' से कोई लोग मन्थ दण्ड लेते हैं, कोई उसके अवक्षार-नामक अधोभाग को और कोई दोनों को एकसाथ। भाषावृत्ति के टीकाकार सृष्टिधर का कहना है कि पूर्वाषाढा (नक्षत्र) में यति लोग दण्ड ग्रहण करते हैं अतः पूर्वाषाढा उसका प्रयोजन है। चूडा प्रयोजनमस्य चौडं (चौल) कर्म। श्रद्धा प्रयोजन कारणमस्य श्राद्धं कर्म।

छ—अनुप्रवचन आदि प्रातिपदिकों से तस्य प्रयोजनम् इस विषय में[2]—अनुप्रवचन प्रयोजनमस्यानुप्रवचनीयम्, पश्चात् व्याख्यान जिसका प्रयोजन है। अनुप्रवचनीय उत्तरार्धं स्य मन्त्रस्तोमस्य सन्निवेशः। उत्थापनं प्रयोजनमेषां वैतालिकश्लोकानाम् इति उत्थापनीया वैतालिकश्लोकाः।

सपूर्वपद ल्युडन्त विश्, पूरि, पद्, रुह् से तदस्य प्रयोजनम् इस विषय में[3]—गृहप्रवेशनं प्रयोजनमस्य संस्कारस्येति गृहप्रवेशनीयः संस्कारः। प्रपा-प्रपूरणं प्रयोजनमस्येति प्रपाप्रपूरणीयं कूपादुदकोदञ्चनम्। अश्वप्रपदनम् अश्वारोहणं प्रयोजनं नोऽनेन मार्गेण प्रस्थानस्येत्यश्वप्रपदनीयं प्रस्थानम्। प्रासादारोहणीया निःश्रेणिः, प्रासाद पर चढ़ने के लिए सीढ़ी।

यत्—स्वर्ग आदि शब्दों से 'तदस्य प्रयोजनम्' इस विषय में[4]—स्वर्गः प्रयोजनमस्य स्वर्ग्यम्। यशः प्रयोजनमस्य यशस्यम्। धनं प्रयोजनमस्य धन्यम्। स एष मुलगवो धन्यो लोक्यः पुरुष्यः पद्यश्च आयुष्यो यशस्यः (आश्व० गृ० ४।१०।३१)। धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं चातिथिपूजनम् (मनु० ३।१०६)।

---

१ विशाखाषाढादण् दण्ड-मन्थयोः (५।१।११०)।
२ अनुप्रवचनादिभ्यश्छः (५।१।१११)।
३ विशि-पूरि-पदि-रुहि प्रकृतेरनात्सपूर्वपदादुपसंख्यानम् (वा०)।
४ स्वर्गादिभ्यो यद् वक्तव्यः (वा०)।

गृहे पारावता यस्या (भा० १३।५०६८)। (रा० १।१५।१३)।

प्रत्यय लुक्—'पुण्याह्वाचन' आदि शब्दों से प्राप्त ठञ् प्रत्यय का लुक् होता है[1]—पुण्याहवाचन प्रयोजनमस्य मन्त्रजातस्य पुण्याहवाचनम्, मन्त्रजातम्। स्वस्तिवाचन प्रयोजनमस्येति स्वस्तिवाचन कर्म।

छ—समापन शब्द से जिससे पहले पूर्वपद (समास का प्रथम अवयव) हो, तदस्य प्रयोजनम् इस विषय में[2]—छन्द समापन प्रयोजनमस्य रात्रिजागरणस्येति छन्द समापनीय रात्रिजागरणम्। व्याकरणसमापन प्रयोजनमस्यानन्तरायस्याध्ययनस्येति व्याकरणसमापनीयमध्ययनम।

ठञ्— ऐकागारिकट्' यह चोर अर्थ में ठञन्त निपातन किया है।[3] ट अनुबन्ध है। 'चोर' में ही इसका प्रयोग हो इसलिए निपातन किया है, अन्यथा 'प्रयोजनम्' से ठञ् सिद्ध ही था। इस नियम से ऐकागारिकश्चौर (एकमागार प्रयोजनमस्य, जो एक घर में ही चोरी करता है) ऐसा कहेंगे, पर एकमागार प्रयोजनमस्य भिक्षो (जो भिक्षु एक घर से ही भिक्षा लेता है, दो या तीन से नहीं) यहाँ ठञ् करके ऐकागारिक नहीं कह सकते। कोई लोग इकट् प्रत्यय और वृद्धि निपातन करके ऐकागारिक शब्द की सिद्धि मानते हैं।

आकालिकट शब्द निपातन किया जाता है।[4] ट् अनुबन्ध है। इकट् प्रत्यय निपातन किया है। समानकाल शब्द को 'आकाल' आदेश भी निपातन किया है। यह 'आद्यन्त' का विशेषण है। समानकालावाद्यन्तावस्य आकालिक स्तनयित्नु, उत्पन्नमात्रविनाशी। कल जिस समय (मध्याह्न आदि) में गर्जन करने वाले मेघ का उदय हुआ, आज उसी समय उसका अन्त हुआ, उसे भी आकालिक कहेंगे। आकालिकमनध्यायमेतेषु मनुरब्रवीत् (४।१०३)। निमित्तकालादारभ्यापरेद्युर्यावत् कालस्तावत्पर्यन्तम् (कुल्लूक) अर्थात् कल जिस निमित्त से अनध्ययन प्रारम्भ हुआ, उसके समय से आज उसी समय तक जो अनध्ययन रहेगा उसे 'आकालिक' कहेंगे। परन्तु आकालिकी विद्युत् यहाँ ऐसा अर्थ सगत नहीं होता। यहाँ काशिकाकार ने समानकालावाद्यन्तावस्या आकालिकी, जन्मना तुल्यकालविनाशा, उत्पन्न होते ही जो नष्ट हो गई, यही

१ पुण्याह्वाचनादिभ्यो लुग्वक्तव्य (वा०)।
२ समापनात्सपूर्वपदात् (५।१।११२)।
३ ऐकागारिकट् चौरे (५।१।११३)।
४ आकालिकडाद्यन्तवचन (५।१।११४)।

एक अर्थ दिया है। वैजयन्ती कोष मे आवालिकी शतावर्त्ता जलदा जल-पालिका—ये विद्युत् के पर्याय पढे हैं।

यहाँ ठञ् की अवधि पूर्ण हुई।

वति—तृतीयासमर्थ से तुल्य इस अर्थ मे वति (वत्) प्रत्यय आता है, यदि जो तुल्य है वह क्रिया हो[1]—ब्राह्मणेन तुल्य वर्तते, ब्राह्मणवद् वर्तते, ब्राह्मण-जैसा व्यवहार करता है। ब्राह्मणवदधीते क्षत्रिय, क्षत्रिय ब्राह्मण की तरह पढता है। यहाँ ब्राह्मण के व्यवहार और अध्ययन के साथ क्षत्रिय के व्यवहार और अध्ययन को तुल्य कहा है। यहाँ क्रिया की तुल्यता क्रिया के ही साथ हो सकती है। ब्राह्मणवदधीते यहाँ ब्राह्मणकर्तृकाध्ययनक्रिया-वृत्ति ब्राह्मणशब्दाद् वति, अर्थात् ब्राह्मण से किए गए अध्ययन मे 'ब्राह्मण' शब्द का प्रयोग हो रहा है और उससे वति-प्रत्यय हुआ है, ऐसा समझना चाहिए। ब्राह्मणवदधीते का अर्थ है ब्राह्मणेन तुल्य ब्राह्मणकर्तृकाध्ययनेन तुल्य यथा स्यात्तथाऽधीते। इसी प्रकार पुत्र मित्रवदाचरेत् का अर्थ है मित्रकर्मकाचरणक्रियया तुल्य यथा स्यात्तथा पुत्रमाचरेत्। गुरुवद् गुरुपुत्रे वर्तितव्यम्—यहाँ भी गुरुरूप वैषयिकाधिकरण मे जो वर्तन (व्यवहार) है वही गुरुपुत्र के विषय मे भी करना चाहिए ऐसा अर्थ है। पूर्ववत्सन (१।३।६२) इस सूत्र का अर्थ है सन् से पूर्व जो धातु उससे जो निमित्त-विशेषानुरोध से आत्मनेपद का होना वैसे ही सन्नन्त से भी आत्मनेपद हो। यहाँ भी उभयत्र आत्मनेपद-भवन-क्रिया तुल्य है। न ह्यकूपारवत् कूपा वर्धन्ते विधुकान्तिभि (हितोपदेश)। समुद्र की तरह चन्द्र-किरणो से कुएँ नही बढते (उछलते)। वतिप्रत्ययान्त अव्यय होता है। गुण वा द्रव्य तुल्य हो तो वति नही होगा—पुत्रेण सह स्थूल। पुत्रेण तुल्य पिङ्गल (गुण)। पुत्रेण तुल्यो गोमान् (द्रव्य)।

सप्तमीसमर्थ से तथा षष्ठीसमर्थ से इवार्थ मे[2]—मथुरायामिव स्रुघ्ने प्राकार मथुरावत् स्रुघ्ने प्राकार, मथुरा मे जैसे प्राकार है वैसे स्रुघ्न मे। पाटलिपुत्रवत्साकेते परिखा, पाटलिपुत्र मे जैसे खाई है वैसे अयोध्या मे। देवदत्तस्येव देवदत्तवद् यज्ञदत्तस्य दन्ता, देवदत्त की तरह यज्ञदत्त के दात

१ तेन तुल्य क्रिया चेद्वति (५।१।११५)।
२ तत्र तस्येव (५।१।११६)।

हैं। देवदत्तस्येव देवदत्तवद् यज्ञदत्तस्य गाव, जैसे देवदत्त के पास गौएं हैं वैसे यज्ञदत्त के पास। पावकस्य महिमा स गण्यते कक्षवज्ज्वलति सागरेऽपि य (रघु० ११।७५)। कक्षवत्=कक्षे इव। प्रचस्तास्वरयत्यनिटो नित्यम् (७।२।६१) इस सूत्र में तास्वत्=तासाविव। सप्तम्यन्त से वति प्रत्यय हुआ है।

द्वितीयासमर्थ से अर्हम् (अर्हतीति) अर्थ मे। यहाँ 'क्रिया' इसकी अनुवृत्ति है। राजानमर्हति राजवत् पालन प्रजानाम्। राजवदस्य समादर क्रियता कारागृहीतस्यापि राज्ञ, बन्दी किए हुए इस राजा का वह सम्मान किया जाए जो राजा के योग्य है। ऋषिवच्चेष्टते कण्वो दुष्यन्ताय सन्दिशन्, दुष्यन्त को सन्देश भेजते हुए कण्व ऋषि ऋषि के योग्य व्यवहार करते हैं। पाण्डोर्विदुर सर्वाणि प्रेतकार्याणि कारय। राजवद्राजसिंहस्य (भा० आ० १२७।१)॥

यथावत्—यहाँ यथा शब्द के असत्त्ववचन होने से द्वितीय का प्रसङ्ग नहीं, तो वति कैसे हुआ। उत्तर—वृत्तिविषय मे यथाशब्द सत्त्ववचन भी देखा जाता है, अत 'यथात्व' इत्यादि मे भाव वाचक 'त्व' सगत होता है।

भाव-कर्म-वाचक तद्धित

जिस गुण के कारण किसी द्रव्य (सत्त्वपदार्थ) मे किसी शब्द का प्रयोग होता है उसे भाव कहते हैं। अथवा शब्द के प्रवृत्तिनिमित्त को भाव कहते हैं। कर्म क्रिया का नाम है। इन दो अर्थों को कहने के लिए शास्त्र मे कुछ तद्धित प्रत्यय विधान किए हैं।

त्व, तल्—ये भाव मे प्रातिपदिक मात्र से होते हैं[1]। त्व प्रत्ययान्त नपुसकलिंग होता है और तल्प्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्ग। तल् मे ल् इत्सज्ञ (अनुबन्ध) है। इसका लोप होने पर अकारान्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व मे टाप् प्रत्यय आता है—गोर्भाव =गोत्वम्। गोता। पुरुषत्वम्। पुरुषता। पञ्चाना भाव =पञ्चत्वम्। पञ्चता=मृत्यु। यह देह पाँच महाभूतो से बना है। इसका मरण यही है जो प्रत्येक भूत का अपने अश मे जा मिलना। नाति-क्रामति पञ्चताम्(मनु०८।१५१)।(कुसीदवृद्धि) पञ्चगुणता को नही लाँघती। तस्य भावस्त्वतलौ(५।१।११९)यह अधिकार सूत्र है। जहाँ अपवाद रूप मे दूसरे

---

१ तस्य भावस्त्वतलौ (५।१।११९)। आ च त्वात् (५।१।१२०)। ब्रह्मणस्त्व (५।१।१३६) सूत्र तक यह अधिकार है।

प्रत्यय विधान किये जायेंगे वहाँ भी ये औत्सर्गिक प्रत्यय होंगे, अर्थात् उनके साथ इनका समावेश होगा। इतना ही नहीं। भाव में विधान किए हुए ये कर्म अर्थ में भी आ जाते हैं—कवेर्भावः कवित्वम्। कविता। कवेः कर्म=कवित्वम्। कविता=काव्य। सहायस्य कर्म सहायता। सहस्राणामपि मूर्खाणां यद्युपास्ते महीपतिः। अथवाप्ययुतान्येव नास्ति तेषु सहायता॥ (रा० २।१००।२३)। अर्थिता ते करिष्यामि (भा० उद्योग०)। अर्थिनः कर्म=अर्थिता=अभ्यर्थना। स्त्री, पुम्स् शब्दों से विशेष-विहित नञ्, स्नञ् प्रत्ययों के साथ भी इनका समावेश इष्ट है—स्त्रियाः भावः स्त्रैणम्। स्त्रीत्वम्। स्त्रीता। पुंसो भावः पौंस्नम्। पुंस्त्वम्। पुंस्ता।

और भी ध्यान देने योग्य बात है—यत्यन्त आदि प्रकृतियों से विशेष-विहित यक् आदि प्रत्ययों का उस-उस प्रकृति के नञ् पूर्वपद होकर तत्पुरुष समास होने पर जो निषेध किया है[1] उस निषेध के विषय में भी ये त्व, तल् निर्बाध प्रवृत्त होते हैं—अपतेर्भावः=अपतित्वम्। अपतिता। अपति नञ्-पूर्वपद तत्पुरुष है। यहाँ पत्यन्त से विहित यक् का निषेध हो गया। (पत्यन्त अपति से यक् नहीं हुआ), पर त्व, तल् हो गये। अपटोर्भावः=अपटुत्वम्। अपटुता। यहाँ लघुपूर्व इगन्त प्रकृति से प्राप्त अण् का निषेध हो गया, पर त्व, तल् नहीं रुके। अरमणीयस्य भावः=अरमणीयत्वम्। अरमणीयता। यहाँ योपध गुरूपोत्तम होने से 'अरमणीय' से जो वुञ् प्राप्त था, उसका निषेध हो गया पर सामान्य विहित त्व, तल् का बाध नहीं हुआ।

इमनिच्—पृथु आदि शब्दों से भाव में विकल्प से इमनिच् (इमन्) प्रत्यय होता है।[2] पक्ष में यथाप्राप्त अण् आदि भी होंगे—पृथोर्भावः प्रथिमा। मृदोर्भावः=म्रदिमा। भृशस्य भावः=भ्रशिमा (=बहुत्व)। दृढस्य भावः=द्रढिमा। परिवृढस्य भावः परिव्रढिमा (=स्वामित्व)। कृशस्य भावः क्रशिमा (दुबलापन)। इन पृथु आदि शब्दों के 'ऋ' को 'र्' हो जाता है इष्ठ, इमनिच् और ईयस् परे होने पर—

पृथुं मृदुं भृशं चैव कृशं च दृढमेव च।
परिपूर्वं वृढं चैव षडेतान् रविधौ स्मरेत्॥

---

१ न नञ्पूर्वात्तत्पुरुषादचतुर-सगत-लवण-वट-युध-कत-रस-लसेभ्यः (५।१।१२१)।

२. पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा (५।१।१२२)।

इस रविधि के लिए सूत्रकार र ऋतो हलादेर्लघोः (६।४।१६१) ऐसा सूत्र पढ़ते हैं। इसकी प्रवृत्ति के लिए अङ्ग हलादि होना चाहिए और 'ऋ' लघु होना चाहिए। अत ऋजोर्भाव = ऋजिमा। यहाँ हलादि न होने से 'र्' नहीं हुआ। कृष्णस्य भाव = कृष्णिमा। यहाँ 'ऋ' के गुरु होने से 'र्' नहीं हुआ। महतो भाव = महिमा। यहाँ 'टि' (अत्) का लोप हुआ है। टि लोप इष्ठ, इमनिच्, ईयस् प्रत्ययो के परे रहते होता है।[1] पटोर्भाव पटिमा (चतुराई)। तनोर्भाव तनिमा (कार्श्य, दुबलापन)। लघोर्भाव = लघिमा (लाघव, छोटाई)। बहु—बहोर्भाव भूमा। यहाँ बहु को 'भू' आदेश और इमनिच् के 'इ' का लोप होता है।[2] ह्रस्वस्य भाव = ह्रसिमा। ह्रस्व को ह्रस् आदेश होता है।[3] दीर्घस्य भाव = द्राघिमा (लम्बाई)। दीर्घ को द्राघ् आदेश होता है। गुरोर्भाव = गरिमा। गुरु को गर् आदेश होता है। प्रियस्य भाव = प्रेमा। प्रिय को 'प्र' आदेश होता है और वह एकाच् होने से प्रकृत्या (अपने स्वरूप में) अवस्थित रहता है अर्थात् 'टि' लोप नहीं होता। प्रेमन् (नपु०) तो प्रीञ् से औणादिक मनिन् प्रत्यय से व्युत्पन्न होता है। उरोर्भाव = वरिमा (चौडाई)। उरु को 'वर्' आदेश होता है। स्थिरस्य भाव = स्थेमा (= स्थिरता)। यहाँ स्थिर को 'स्थ' आदेश होता है। ह्रस्व आदि को ये आदेश ईयस्, इष्ठ प्रत्ययो के परे रहते भी होते हैं। त्व, तल् सवत्र निर्बाध होंगे—पृथुत्वम्। पृथुता। मृदुत्वम्। मृदुता। महत्—महत्त्वम्। महत्ता। इत्यादि।

स्मरण रहे सभी इमनिच्प्रत्ययान्त पुंल्लिङ्ग होते हैं। इनके प्रथिमा। प्रथिमानौ। प्रथिमान। महिमा। महिमानौ। महिमान ऐसे रूप चलते हैं। एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायाश्च पूरुष (ऋ० १०।९०।३)।

अण्—लघु-पूर्व जो इक् तदन्त से भाव में अण्[4]—पृथोर्भाव पार्थवम्। मृदोर्भाव = मार्दवम् (मृदुता)। गुरोर्भाव = गौरवम्। लघोर्भाव = लाघवम्।

---

१ टे (६।४।१५५)।

२ बहोर्लोपो भू च बहो (६।४।१५८)।

३ स्थूल दूर-युव ह्रस्व० (६।४।१५६)। प्रिय-स्थिर-स्फिरोरु-बहुल-गुरु-वृद्ध-तृप्र दीर्घ-वृन्दारकाणाम्० (६।४।१५७)।

४ इगन्ताच्च लघुपूर्वात् (५।१।१३१)।

पटोर्भाव पाटवम् । तनोर्भाव=तानवम् । ऋजोर्भाव=आर्जवम् (सरलता) । सर्वं जिह्मं मृत्युपदमार्जवं ब्रह्मणः पदम् । एतावान् ज्ञानविषयः किं प्रलापः करिष्यति (भा० आश्वमे० ११।४) ॥ अण् प्रत्ययान्त नियम से नपुंसकलिङ्ग होते हैं। गौरव आदि सभी उदाहरणों में आदि वृद्धि और अङ्ग के 'भ' संज्ञक होने से 'उ' को गुण होकर अवादेश हुआ है। सामान्य-विहित त्व, तल् भी होंगे—पृथुत्वम् । पृथुता । मृदुत्वम् । मृदुता । महत्त्वम् । महत्ता ।

ष्यञ्—वर्ण-वाची प्रातिपदिकों में तथा दृढ आदि प्रातिपदिकों से 'भाव' में ष्यञ् (य) प्रत्यय होता है और इमनिच् भी[1]—शुक्लस्य भाव शौक्ल्यम् । शुक्लिमा । कृष्णस्य भाव=कार्ष्ण्यम् (कालापन) । कृष्णिमा (इमनिच्) । श्वेतस्य भाव श्वैत्यम् । श्वेतिमा (इमनिच्) । दृढ आदि शब्दों से—दृढस्य भाव=दार्ढ्यम् । द्रढिमा (इमनिच्) । शीतस्य भाव शैत्यम् । शीतिमा । उष्णस्य भाव=औष्ण्यम् । उष्णिमा । जडस्य भाव=जाड्यम् । जडिमा । (मूर्खता, अचेतनता) । मधुरस्य भाव=माधुर्यम् । मधुरिमा । बधिरस्य भाव=बाधिर्यम् । बधिरिमा (बहरापन) । वियातस्य भाव=वैयात्यम् । वियातिमा (धृष्टता) । विमतेर्भाव=वैमत्यम् । विमतिमा (विप्रतिपत्ति, मतविरोध) । विमनसो भाव=वैमनस्यम् । विमनिमा । सुमनसो भाव=सौमनस्यम् । सुमनिमा (टि=अस् का लोप) । विशारदस्य भाव=वैशारद्यम् । विशारदिमा (चातुर्य) । पण्डितस्य भाव पाण्डित्यम् । पण्डितिमा । माधुर्य से स्त्रीत्वविवक्षा में माधुरी (मिठास) तथा वैशारद्य से वैशारदी रूप होंगे। प्रत्यय के षित् होने से ङीष् होकर हलस्तद्धितस्य (६।४।१५०) में तद्धित 'य' का लोप होगा।

सामान्य-विहित त्व, तल् तो सर्वत्र निर्बाध होंगे—शुक्लत्वम् । शुक्लता । दृढत्वम् । दृढता । शीतत्वम् । शीतता । मधुरत्वम् । मधुरता । वियातत्वम् । वियातता ।

गुणवचन तथा ब्राह्मण आदि शब्दों से भाव तथा कर्म में ष्यञ् होता है[2]—जडस्य भाव कर्म वा जाड्यम् (मूर्खता अथवा मूर्ख की चेष्टा) । अलसस्य भाव कर्म वा आलस्यम् (सुस्ती) । निपुणस्य भाव कर्म वा नैपुण्यम् (चतुराई, चतुर की क्रिया) । चपलस्य भाव कर्म वा चापल्यम् । उचितस्य भाव कर्म वा

---

१ वर्ण-दृढादिभ्य ष्यञ् च (५।१।१२३) ।

२. गुणवचन ब्राह्मणादिभ्य कर्मणि च (५।१।१२४) ।

श्रौचित्यम्। अर्हतो भाव कर्म वा आर्हन्त्यम्। अर्हत् को नुम् आगम भी होता है। आर्हन्त्यम्=योग्यता। दीर्घस्य भाव =दैर्घ्यम्। मन्दस्य भाव = मान्द्यम्। स्थिरस्य भाव =स्थैर्यम्। बहुलस्य भाव =बाहुल्यम्। ब्राह्मणस्य भाव कर्म वा ब्राह्मण्यम्। ऋत्विजो भाव कर्म वा आर्त्विज्यम्। राजपुरुषस्य भाव=राजपौरुष्यम्। अनुशतिकादि होने से उभयपद-वृद्धि। कुमारान् बिभर्तीति कुमारभृत्, तस्य कर्म कौमारभृत्यम्, बच्चों का पालन-पोषण चिकित्सादि कर्म। आस्तिकस्य भाव आस्तिक्यम्। नास्तिकस्य भाव =नास्तिक्यम्। मारणवस्य भाव कर्म वा माणव्यम्। कुत्सितो मूढो वा मानव = माणव। अधिराजस्य भाव कर्म वा आधिराज्यम्। गणपति—गाणपत्यम्। अधिपति—आधिपत्यम्। नरपति—नारपत्यम्। धनपति—धानपत्यम्। दायाद—दायाद्यम् (पितृ ऋक्थ का भागी होना)। तस्करस्य भाव कर्म वा तास्कर्यम् (चोरी)। प्रत्यक्षमेतत्तास्कर्यं यद्वेवन-समाह्वयौ (मनु० ६।२२२)। प्राणि और अप्राणिद्यूत साक्षात् चोरी है। ईश्वरस्य भाव कर्म वा ऐश्वर्यम्। सर्वासामैश्वर्यं कुरु जानकि (रा० ५।२०।३१)। ऐश्वर्यम्=ईश्वरस्य कर्म= शासन। विधुर—वैधुर्यम्। विवर्ण=वैवर्ण्यम् (पीलापन)। विधवा— वैधव्यम्। कुनख—कौनख्यम्। पूतिनासिक=पौतिनासिक्यम् (सड़े हुए नाक वाला होना)। (मनु० ११।४६, ५०)। दुश्चर्मन्—दौश्चर्म्यम् (कुष्ठ)। स्व स्व लक्षणम् असाधारणी वृत्तिर्येषां ते स्वलक्षणाः, तेषां भाव स्वा-लक्षण्यम्। स्वतन्त्रस्य भाव स्वातन्त्र्यम्। स्वशब्द का द्वारादिगण (७।३।४) में पाठ होने से ऐजागम होकर सौवतन्त्र्यम् ऐसा बनना चाहिए। इस आपत्ति के वारण के लिए 'स्वतन्त्र' शब्द को स्वागतादिगण (७।३।७) में पढ़ना चाहिए। स्वागतादि आकृतिगण है ऐसा गणरत्नमहोदधिकार का मत है। द्वौ राजानावस्येति द्विराजो देशः। तस्य भाव =द्वैराज्यम्। तत्रभवतोर्यत-सेनमाधवसेनयोर्द्वैराज्यमवस्थापयितुकामोऽस्मि (मालविका)। सुहृदय— सौहृदय्यम्। सौहार्द्यम्। यहाँ भी लोक व्यञ्जनेषु (६।३।५१) से 'हृदय' को विकल्प से 'हृद' आदेश होता है। आदेश होने पर उभयपद वृद्धि होती है। सहितस्य भाव कर्म वा साहित्यम्। सहित=सहित। सहभाव =साह्यम्। (माघ, सहायता)। एकस्य भाव =ऐक्यम्। तत्परस्य भाव तात्पर्यम्। इदम्परस्य भाव =ऐदम्पर्यम् (=अभिप्राय)। पुनः पुनर्भव =पौन पुन्यम्। अव्ययानां भ मात्रे टिलोपः। प्रकामस्य भाव =प्राकाम्यम्। प्राकाम्य च विभूतिषु। पूर्वापरस्य भाव =पौर्वापर्यम्। उत्तराधरस्य भाव =औत्तरा-

पर्यंय् (उलट-पुलट) । इतिह-भाव=ऐतिह्यम् । युगपद्भाव=यौगपद्यम् । प्रतिभू (=जामिन) । प्रतिभुवो भाव प्रातिभाव्यम् । आदि वृद्धि । गुण । वान्तादेश । सुहित (=तृप्त) । सुहितस्य भाव सौहित्यम् । (तृप्ति) । यथाकामभाव=याथाकाम्यम् । अयथातथभाव=आयथातथ्यम् । अयाथातथ्यम् (ठीक-ठीक न होना) ।

ष्यञ्प्रत्ययान्त नपुंसकलिङ्ग होते हैं पर कुछेक से स्त्रीत्व विवक्षा भी होती है (सभी से नहीं) । तब प्रत्यय के षित् होने से ङीष् (स्त्रीप्रत्यय) आता है । तद्धित 'य' का हलस्तद्धितस्य (६।४।१५०) से लोप हो जाता है—उचितस्य भाव=औचित्यम् । औचिती । अर्हतो भाव=आर्हन्त्यम् । आर्हन्ती । निपुणस्य भाव=नैपुण्यम् । नैपुणी । चतुरस्य भाव=चातुर्यम् । चातुरी । यथाकाम भाव=याथाकाम्यम् । याथाकामी । आचार्याधीनत्वाद् ब्रह्मचारिणो याथाकामी बाध्यते । आचार्य के अधीन होने से ब्रह्मचारी की मनमानी चेष्टा रुक जाती है । पर ब्राह्मणस्य भाव कर्म वा ब्राह्मण्यम् । यहाँ ङीष् करके 'ब्राह्मणी' नहीं कह सकते । व्यवहार न होने से । ब्राह्मणादि आकृतिगण है । गण पाठ प्रदर्शनार्थ है ।

चातुर्वर्ण्य आदि शब्दों में ष्यञ् स्वार्थिक है[1]—चतुर्णां वर्णानां समाहार. चतुर्वर्णम् । तदेव चातुर्वर्ण्यम् । चतुर्णाम् आश्रमाणां समाहार=चतुराश्रमम् । तदेव चातुराश्रम्यम् । त्रयो रूपयो समाहार=त्रिरूपम् । तदेव त्रैरूप्यम् । त्रैस्वर्यम् । चातूरूप्यम् । त्रयाणां लोकानां समाहार=त्रिलोकी । सैव त्रैलोक्यम् । भ-संज्ञा होने से 'ईकार' का लोप । षण्णां गुणानां समाहार=षड्गुणम् । तदेव षाड्गुण्यम् । सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव, समाश्रय—ये नीतिशास्त्र में प्रसिद्ध छ गुण हैं । चत्वार एव वर्णाश्चातुर्वर्ण्यम्, चत्वार्येव रूपाणि चातूरूप्यम् । षड् एव गुणा षाड्गुण्यम्—इत्यादि विग्रह-वाक्य नहीं हैं, व्याख्यान मात्र हैं । ष्यञ् की प्रकृति चतुर्वर्ण आदि है न कि वाक्य । समीपमेव सामीप्यम् । सन्निधिरेव सान्निध्यम् (निकटता) । उपमा एव औपम्यम् । सुखमेव सौख्यम् । स्वभाव एव स्वाभाव्यम् । इह वस्तुस्वाभाव्यं यदग्निरदहत्यापश्च शमयन्ति । समानो धर्म सामान्यम् । सेना एव सैन्यम् । मत्सर एव मात्सर्यम् । विशेष एव वैशेष्यम् । समीपप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात्

[1] चातुर्वर्ण्यादीनां स्वार्थ उपसंख्यानम् (वा०) ।

(अ० सू० १।७।८) । अन्यभाव एव आन्यभाव्यम् । चर्चिका एव चार्चिक्यम् (चन्दनादिलेप) । चर्चा तु चार्चिक्यम्—अमर । विशतीति विट् (विश्) । स्वार्थ में ष्यञ् होने पर 'वैश्य' ऐसा रूप होता है । विडेव वैश्य । अतिरेक एव आतिरैक्यम् । आतिरैक्य तु मिथक (मनु० ११।५०) । कुलमेव कौल्यम् । षष्टौ गुणा पुरुष दीपयन्ति प्रज्ञा च कौल्य च (भा० ५।१२३३) । सहितौ शब्दार्थौ साहित्यम् । निर्दोषौ गुणसम्पन्नौ सालङ्कारौ रसान्वितौ । शब्दार्थौ सहितौ काव्यमत साहित्यमुच्यते ॥ आप्लाव एव आप्लाव्यम् । वाड् आप्लाव्ये (धातुपाठ) । मङ्गलमेव माङ्गल्यम् । पिषृ शास्त्रे माङ्गल्ये च (धातुपाठ) ।

यत्—स्तेनस्य भाव कर्म वा स्तेयम् (चोरी)[1] । यहाँ 'न' का लोप भी होता है । कुछ वैयाकरण 'स्तेन' से ष्यञ् करके 'स्तैन्य' रूप भी इष्ट मानते हैं ।

य—सख्युर्भाव कर्म वा सख्यम्[2] । भ सञ्ज्ञा होने से इकार का लोप ।

दूतस्य भाव कर्म वा दूत्यम् । वणिजो भाव कर्म वा वणिज्या[3] (बनियापन, बनिये का व्यापार) । 'वणिज्या' स्वभाव से स्त्रीलिङ्ग है ।

ढक्—कपेर्भाव कर्म वा कापेयम्[4] । 'ढ' को एय आदेश । आदि वृद्धि । ज्ञाति=बन्धु । ज्ञातेर्भाव कर्म वा ज्ञातेयम् (बन्धुता) । एतदस्यस्य कापेय यदर्कमुपतिष्ठति (महाभाष्य) । यह इसका कपिभाव (अनुकरणशीलता) है जो यह सूर्योपस्थान मा कर रहा है ।

यक्—पत्यन्त शब्दों से तथा पुरोहित आदियों से[5]—सेनापतेर्भाव कर्म वा सैनापत्यम् । गृहपतेर्भाव कर्म वा गार्हपत्यम् (गृहस्थता) । प्रजापते र्भाव कर्म वा प्राजापत्यम् । पुरोहितस्य भाव कर्म वा पौरोहित्यम् (पुरोहिताई, पुरोहित का कर्म) । राज्ञो भाव कर्म वा राज्यम् । राजत्व अथवा राजकर्म=प्रशासन) ।

अञ्=प्राणिजातिवाची शब्दों से, वयोवाचकों से, उद्गातृ आदि शब्दों से अञ्[6]—अश्वस्य भाव कर्म वा आश्वम् । उष्ट्र—औष्ट्रम् । वयोवाचक—

१ स्तेनाद्यन्नलोपश्च (५।१।१२५) ।
२ सख्युर्य (५।१।१२६) ।
३ दूतवणिग्भ्यां चेति वक्तव्यम् (वा०) ।
४ कपिज्ञात्योर्ढक् (५।१।१२७) ।
५ पत्यन्त पुरोहितादिभ्यो यक् (५।१।१२८) ।
६ प्राणभृज्जाति वयोवचनोद्गात्रादिभ्योऽञ्(५।१।१२९) ।

किशोरस्य भावः कर्म वा कैशोरम् (बाल्य, बालक्रीडा)। कुमारस्य भावः कर्म वा कौमारम् (लडकपन, लडके की चेष्टा)। उद्गातुर्भावः कर्म वा औद्गात्रम्। उद्गाता=सामग। अध्वर्योर्भावः कर्म वा आध्वर्यवम् (यजुर्वेदी ऋत्विक् का भाव व कर्म)। सुष्ठुभावः=सौष्ठवम्। दुष्ठुभावः=दौष्ठवम्। औमुंण।

अण्—हायनान्त तथा युवन् आदि शब्दों से[1]—द्वे हायने वयसः प्रमाणमस्य=द्विहायन। तस्य भावः कर्म वा द्वैहायनम्। त्रिहायण—त्रैहायणम्। युवन्—यूनो भावः कर्म वा यौवनम्। श्व युव-मघोनामतद्धिते (६।४।१३३) सूत्र में तद्धित-पर्युदास होने से सम्प्रसारण नहीं हुआ। स्थविरस्य भावः कर्म वा स्थाविरम् (वृद्धावस्था)। होतृ—होतुर्भावः कर्म वा हौत्रम् (ऋग्वेद सम्बन्धी ऋत्विक् का भाव व कर्म)। पुरुषस्य भावः कर्म वा पौरुषम् (पुरुषत्व, उद्योग)। सुहृद् (मित्र)—सौहार्दम् (मित्रता)। दुर्हृद्—दौहार्दम् (शत्रुता)। यहाँ हृद्भग-सिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च (७।३।१९) से उभयपद वृद्धि हुई। सुहृदय—सौहृदम्। दुर्हृदय—दौर्हृदम्। यहाँ हृदयस्य हृल्लेख-यद् अण्-लासेषु (६।३।५०) से 'हृदय' को अण् परे रहते 'हृद्' आदेश हुआ। यहाँ उभयपद वृद्धि नहीं होती, उसके लिए प्रतिपदोक्त हृद् शब्द चाहिए, लक्षण से निष्पन्न नहीं। सुहृदय=अच्छे हृदय वाला, प्रीतिमान्। केवल 'हृदय' से भी अण् होता है—हृदयस्य कर्म=हार्दम् (प्रेम)। शोभनो भ्राताऽस्य सुभ्राता। सुभ्रातुर्भावः कर्म वा सौभ्रात्रम्। सौभ्रात्रमेषां हि कुलानुसारि (रघु० १६।१)। इनका शोभन भ्रातृ-सम्बन्ध कुल से आ रहा है। कुशल—कौशलम् (चातुर्य)। श्रोत्रिय=वेदपाठी। श्रोत्रियस्य भावः कर्म वा श्रौत्रम्। श्रोत्रिय के 'य' का लोप हो जाता है। 'य' का लोप होने पर भसंज्ञक अङ्ग के 'इ' का लोप हो जाता है। चपल—चापलम् (चञ्चलता)। पिशुन—पैशुनम् (चुगलखोरी)। निपुण—नैपुणम्।

लघुपूर्व इगन्त अङ्ग से भी—शुचि—शुचेर्भावः कर्म वा शौचम् (पवित्रता)। मुनि—मुनेर्भावः कर्म वा मौनम् (चुप्पी)। मुनिर्मन्ता भवति, मुनि विचारशील होता है, अतः स्वभाव से ही बहुत कम बोलता है, मौनी रहता है।

---

१ हायनान्त युवादिभ्योऽण् (५।१।१३०)। श्रोत्रियस्य यलोपश्च वक्तव्यः (वा०)।

२ इगन्ताच्च लघुपूर्वात् (५।१।१३१)।

वुञ्—योपध शब्दों से जिनके अन्त्य अक्षर से पूर्व गुरु हो[1]—रमणीयस्य भाव =रामणीयकम् (सौन्दय)। कमनीयस्य भाव =कामनीयकम् (कमनीयता, प्रियता, सुभगता)। आचार्यस्य भाव कर्म वा आचार्यकम् (आचाय का भाव वा कर्म=अनुशासन)। आचार्यक विजयि मा मयमाविरासीत् (मालती २।२६)। उपाध्यायस्य भाव कम वा औपाध्यायकम्। औपाध्यायक शीलयद्भ्य कुलेभ्य उपाध्याया सङ्ग्राह्या। दर्शनीयस्य भाव =दार्शनीयकम्। अभिधानीयस्य भाव =आभिधानीयकम् (अभिधेयता, वाच्यता)। 'सहाय' से वुञ विकल्प से होता है[2]—साहायकम्। साहाय्यम् (ष्यञ्)।

द्वन्द्व से तथा मनोज्ञ आदि शब्दो (जो योपध नहीं है) से भी[3]—शिष्यश्च उपाध्यायश्च शिष्योपाध्यायौ। तयो र्भाव कम वा शैष्योपाध्यायिका (शिष्य व गुरु का सम्बन्ध)। कृत्तद्धितसमासेभ्य सम्बन्धाभिधान भावप्रत्ययेन इस वचन के अनुसार समास से विहित भाव-प्रत्यय सम्बन्ध को कह रहा है। कुमारसम्भव के बलाहकच्छेदविभक्तरागा धातुमत्ता शिखरैर्बिभर्ति— इस पद्यांश मे धातुमत्ता=धातुसम्बन्ध =सम्बद्धधातव। यहाँ तद्धितान्त धातुमत् से तल् भाव प्रत्यय हुआ है। गोपालपशुपालानां भाव कम वा गौपालपशुपालिका (गोपालो और पशुपालो का सम्बन्ध)। द्वन्द्व से वुञन्त स्वभावत स्त्रीलिङ्ग होते हैं। मनोज्ञस्य भाव कर्म वा मानोज्ञकम् (मनोहरता)। अभिरूप—आभिरूपकम् (सौन्दय, विद्वत्ता)। बहुलस्य भाव =बाहुलकम्। कल्याणस्य भाव कम वा काल्याणकम्। वृद्धस्य भाव =वार्द्धकम्। वाधकम् (बुढापा)। वाधके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम् (रघु० १।८)। अवश्य भाव =आवश्यकम्। आवश्यकाधमर्ण्ययोर्णिनि (३।३।१७०) सूत्र मे आवश्यक शब्द भाव में वुञ्प्रत्ययान्त है। आवश्यक कृत्वा स्नायात्—यहाँ कम मे वुञ् प्रत्यय है। आवश्यकम्=मलोत्सर्ग। आवश्यक मे अवश्यम् के टि (अम्) का लोप हुआ है—अव्ययानां भमात्रे टिलोप। मूल म यह शब्द भाव-वाचक था (और कम वाचक भी), पर कालान्तर मे इसका विशेषण रूप स प्रयोग होने लगा। 'आवश्यक' से अर्श आदि अच् करके आवश्यकमस्यास्तीत्यावश्यकम् इस प्रकार विशेषण बनाकर प्रयोग होने लगा। विशेषण रूप स प्रयुक्त हुए

---

१ योपधाद् गुरूपोत्तमाद् वुञ् (५।१।१३२)।
२ सहायाद्वेति वक्तव्यम् (वा०)।
३ द्वन्द्व-मनोज्ञादिभ्यश्च (५।१।१३३)।

इसका स्त्रीलिङ्ग क्या है इस विषय में विद्वानों का मत-भेद है। नागेश 'आवश्यकी' गौरादि ङीषन्त बनाकर प्रयोग करते हैं और दूसरे टाप् करके 'आवश्यिका' ऐसा रूप स्वीकार करते हैं। चोरस्य भाव कर्म वा चौरिका (चोरी)। यह स्वभाव से स्त्रीलिङ्ग है। आहोपुरुषिका (दर्प से अपने प्रति आदर)। मिथुनस्य भाव कर्म वा=मैथुनिका (विवाह सम्बन्ध)।

वुञ्—गोत्रवाची तथा चरण-वाची प्रातिपदिक से भाव व कर्म में वुञ् होता है जब श्लाघा (=विकत्थन, डींग मारना), अत्याकार (=पराधिक्षेप =पर तिरस्कार) और तदवेत (=तत्प्राप्त अथवा सज्ञ=उसको जानने वाला) के विषय में वुञ्प्रत्ययान्त का प्रयोग हो[1]—गार्ग्यस्य भाव कर्म वा गार्गिका। गार्गिकया श्लाघते=गार्ग्य होने से (गर्ग गोत्रज होने से) डींग मारता है। काठिकया श्लाघते=कठ=कठशाखाध्यायी होने से डींग मारता है। वेदशाखाध्यायी को 'चरण' कहते हैं। गार्गिकयाऽत्याकुरुते=गार्ग्य होने से दूसरों का तिरस्कार करता है। काठिकयाऽत्याकुरुते=कठशाखाध्यायी होने से दूसरों का अपमान करता है। गार्गिकाम् अवैत। काठिकाम् अवैत। गार्ग्यत्व, कठत्व को प्राप्त अथवा जो उसे जान गया है। श्लाघादि विषयभूत न होंगे तो वुञ् नहीं होगा—गार्ग्यत्वम्। कठत्वम्। 'गार्गिका' में 'आपत्यस्य'—(६।४।१५१) से आपत्य 'य' का लोप हुआ है।

छ—होत्रा (स्त्री०) ऋत्विग्विशेषवाची प्रातिपदिक से भाव, व कर्म में[2]—अच्छावाकस्य भाव कर्म वा अच्छावाकीयम्। मित्रावरुणस्य भाव कर्म वा मित्रावरुणीयम्। ब्राह्मणाच्छंसिनो भाव कर्म वा ब्राह्मणाच्छंसीयम्। अग्नीध्रस्य भाव कर्म वा आग्नीध्रीयम्। पोतुर्भाव कर्म वा पोत्रीयम्।

त्व—ब्रह्मा ऋत्विग्विशेष, तस्य भाव कर्म वा ब्रह्मत्वम्।[3] अथ केन ब्रह्मत्वं क्रियते (गोपथ)। यहाँ दूसरा कोई प्रत्यय नहीं होता।

कृत्तद्धितसमासेभ्य सम्बन्धाभिधानं भावप्रत्ययेन, अर्थात् कृत्प्रत्ययान्त, तद्धितप्रत्ययान्त तथा समस्त पदों से जो भाव प्रत्यय होता है वह सम्बन्ध का अभिधायक होता है। तस्मा इद तदर्थम्। तस्य भाव तादर्थ्यम्। यहाँ उपकार्योपकारक-भाव-सम्बन्ध अभिधेय है। यच्चाप्सरोविभ्रममण्डनानां

---

१ गोत्र-चरणाच्छ्लाघाऽत्याकारतदवेतेषु (५।१।१३४)।
२ होत्राभ्यश्छ (५।१।१३५)।
३ ब्रह्मणस्त्व (५।१।१३६)।

सम्पादयित्रीं शिखरैर्बिभर्ति । बलाहकच्छेदविभक्तरागामकालसन्ध्यामिव धातुमत्ताम् ॥ (कुमार० १४)। यहाँ 'धातुमत्ता' पद तद्धितान्त 'धातुमत्' से भाववाचक तल् प्रत्यय करके निष्पन्न हुआ है। धातुमत्ता=धातुओं का आधाराधेयभाव सम्बन्ध । धातुसम्बन्ध= सम्बद्धधातु । भाव यह है कि हिमालय अपने शिखरों पर बहुत से धातुओं को धारण कर रहा है जो इसके साथ नित्य सम्बद्ध हैं।

इति भाव कर्मणोस्तद्धिता ।

अथ तद्धितेषु पाञ्चमिका ।

यहाँ उन तद्धितों को संगृहीत किया है जिनका अधिकार के बिना प्रतिपद विधान हुआ है।

षष्ठीसमर्थ धान्यविशेषवाचियों से भवन अर्थ में खञ् प्रत्यय होता है जब भवन क्षेत्र हो।[1] भवत्यस्मिन्निति भवनम् । अधिकरणे में ल्युट् । मुद्गानां भवनं क्षेत्रं मौद्गीनम् । कुलत्थ—कौलत्थीनम् । गोधूम—गौधूमीनम् । कोद्रव—कौद्रवीणम् । उमा=अतसी=अलसी । उमा—औमीनम । स्कन्दपुराण में ये अठारह धान्य गिनाए गए हैं—

यवगोधूमधान्यानि तिलाः कङ्गु कुलत्थकः ।
माषा मुद्गा मसूराश्च निष्पावाः श्यामसर्षपाः ॥१॥
गवेधुकाश्च नीवारा आढक्यश्च सतीनकाः ।
चणकाश्चीणकाश्चैव धान्यान्यष्टादशैव तु ॥२॥

सूत्र में धान्यग्रहण से तृणानां भवनं क्षेत्रम्—यहाँ प्रत्यय नहीं होगा।

ढक्—व्रीहि, शालि से 'भवने क्षेत्रे' अर्थ में[2]—व्रीहीणां भवनं क्षेत्रं व्रैहेयम् । शालेयम् ।

यत्—यव, यवक, षष्टिक से भवने क्षेत्रे अर्थ में[3]—यवानां भवनं क्षेत्रं यव्यम । यवक्यम् । षष्टिक्यम् ।

यत्, खञ्—तिल, माष, उमा, भङ्गा, अणु से विकल्प से यत्, पक्ष में खञ्[4]—तिलानां भवनं क्षेत्रं तिल्यम् । तैलीनम् । माष—माष्यम् । माषीणम् । उमा—उम्यम् । औमीनम् । भङ्गा (भंग, कार्पास)—भङ्ग्यम् । भाङ्गीनम् । अणु—(चीणक=चीणा) अणव्यम् । आणवीनम् (गुण, आदि वृद्धि)।

---

१ धान्यानां भवने क्षेत्रे खञ् (५।२।१)।
२ *व्रीहि-शाल्योर्ढक्* (५।२।२)।
३ यव-यवक-षष्टिकाद्यत् (५।२।३)।
४ विभाषा तिल-माषोमा भङ्गाणुभ्यः (५।२।४)।

ख, खञ्—तृतीयासमर्थ सर्वचर्मन् शब्द से 'कृत' अर्थ में।[1] सूत्र में सर्वचर्मण —यह असमर्थ समास है। 'सर्व' का कृत के साथ सम्बन्ध है—सर्वश्चर्मणा कृत =सर्वचर्मीण। सार्वचर्मीण। सार्वचर्मीणोऽयं समुद्गक इति मिथ्या प्रतिजानीते वाणिजः, यह सन्दूक सारा चाम का ही बना हुआ है, यह बनिये की मिथ्या प्रतिज्ञा है। 96646

ख—यथामुख सम्मुख इन षष्ठीसमर्थ शब्दों से 'दर्शन' अर्थ में[2]। यथामुखम्। यह सादृश्य अर्थ में अव्ययीभाव निपातन किया है। मुखस्य सदृश यथामुख प्रतिबिम्बम्। दृश्यतेऽस्मिन्निति दर्शन। अधिकरण में ल्युट्। यथामुख दर्शन आदर्शादि =यथामुखीन, शीशा (दर्पण) जिसमें मुख का प्रतिबिम्ब दीखता है। सम्मुखस्य (=सर्वस्य मुखस्य) दर्शन आदर्शादि =सम्मुखीन। यहाँ सम =सर्व। प्रत्ययसन्नियोग से इसके अन्त्य 'म' का लोप हो जाता है। भट्टि काव्य में यथामुखीन सीतायाः पुप्लुवे बहु लोमयन् (५।४८) इस पद्य में यथा शब्द का पदार्थानतिवृत्ति अर्थ में समास मानकर 'ख' प्रत्यय किया है। यह वृत्ति, न्यास, पदमञ्जरी आदि के विरुद्ध है। इस अर्थ में 'दर्शन' पद की सगति भी नहीं। इसी प्रकार सयुगे सम्मुखीन तमुदग्र प्रसहेत क'—यहाँ भी सम्मुखीन का 'प्रत्यक्ष, सामने आया हुआ' अर्थ में प्रयोग उच्छृङ्खलता का निदर्शन मात्र है।

द्वितीया-समर्थ सर्वादि पथिन्-अङ्ग-कर्म-पत्र-पात्रान्त प्रातिपदिक से व्याप्नोति (व्यापता है) अर्थ में[3]—सर्वपथान् व्याप्नोति सर्वपथीनो रथ, जो रथ सभी रास्तों पर चलता है। सर्वपथीना धिषणा बुद्धि जो सभी मार्गों (विषयों) पर चलती है। सर्वाङ्गीणोऽस्य तापोऽभवत्दो ज्वर इति कथयति। ह्रीनिषेवाभि कुलाङ्गनाभि सर्वाङ्गीण वासो वसनीय विशेषतो निर्गृहाभि, लज्जाशील कुलीन स्त्रियों को सारे शरीर को ढाँपने वाला वस्त्र पहनना चाहिए, विशेषकर जब वे घर से बाहर हो। सर्वकर्मीणोऽय पुरुष। अमतेऽस्य बुद्धि सम सर्वेषु कृत्येषु। कमते=अप्रतिबन्धेन प्रवर्तते। पत्त्रम्=वाहनम्। सर्वपत्त्र व्याप्नोति सर्वपत्त्रीण सारथि, सारथि जो सभी वाहनों को चला

१ सर्वचर्मण कृत खखञौ (५।२।५)।
२ यथामुख-सम्मुखस्य दर्शन ख (५।२।६)।
३ तत्सर्वादि पथ्यङ्ग-कर्म-पत्त्र-पात्र व्याप्नोति (५।२।७)।

सकना है। सर्वपात्रीण ओदन, भात जो सारे बर्तन को व्याप्त करता है।

द्वितीयासमर्थ आप्रपद शब्द से प्राप्नोति (पहुँचता है) अर्थ में।[1] आप्रपदम् यहाँ अभिविधि में आङ् का 'प्रपद' के साथ अव्ययीभाव समास हुआ है। पदस्याग्र प्रपदम्। प्रारम्भ पदस्य (प्रादितत्पु०)। क्रियाविशेषण रूप कर्म में द्वितीयासमर्थ विभक्ति सुलभ है। आप्रपद यथा स्यात्तथा सवशरीर प्राप्नोति आप्रपदीन पट। जो वस्त्र शरीर पर धारण नहीं भी किया हुआ है उसे भी प्रपद(पादाग्र)तक पहुँचने योग्य होने से 'आप्रपदीन' कह सकते हैं।

ख—अनुपद, सर्वान्न, अयानय—इन द्वितीयासमर्थ प्रातिपदिकों से बद्धा (बाँधी हुई), भक्षयति (खाता है), नेय (जो चलाया जाना है) अर्थों में[2]—अनुपदम्—यहाँ 'अनु' आयाम अर्थ में है अथवा सादृश्य में। यस्य चायाम (२।१।१६) से अव्ययीभाव है अथवा यथार्थ में जो अव्यय (यथा भिन्न) उसका अव्यय विभक्ति-समीप—(२।१।६) से 'पद' के साथ अव्ययीभाव है—अनुपद बद्धाऽनुपदीना उपानत्=पादप्रमाणा, पाओं के माप का जूता। पर पादुकाऽनुपदीना स्यात् (वैजयन्ती)। यहाँ पादुका (खड़ाऊँ) और अनुपदीना पर्याय पढ़े हैं। सर्वान्न—सर्वाणि अन्नानि भक्षयति इति सर्वान्नीनो भिक्षु, भिक्षु जो सब अन्न को खा लेता है, जिसके लिए कुछ भी निषिद्ध नहीं। अथवा सरस, विरस, शीत उष्ण जैसा भी अन्न मिले उसे जो खाता है उसे सर्वान्नीन कहते हैं। पासों की दक्षिण की ओर गति 'अय' है। बाईं ओर गति अनय है। 'अयानय' यह कर्मधारय समास है—अयश्चासा-वनयश्च अयानय। पाशा (पासा) का एक के प्रति जो प्रदक्षिण गमन (दाईं ओर जाना) है वही दूसरे के प्रति प्रसव्य गमन है। जब अपने पासे दक्षिण की ओर चलते हैं और दूसरे के बाईं ओर, तब ऐसे चलते हुए इनके जो स्थान उनका जिस गति विशेष में दूसरे के पासों से अनाक्रमण रहता है उसे 'अयानय' कहते हैं यह परमार्थ है। अयानय नेय =अयानयीन शार, फलक-शिरसि स्थित इत्यर्थ। द्यूतारम्भकाल में फलक पर जहाँ शार स्थापित किये जाते हैं उसे 'शिरस्' कहते हैं।

द्वितीयान्त परोवर, परम्पर, पुत्रपौत्र से 'अनुभवति' अर्थ में[3]। परावर

१ आप्रपद प्राप्नोति (५।२।८)।

२ अनुपद सर्वान्नायानय बद्धा भक्षयति-नेयेषु (५।२।९)।

३ परोवर परम्पर पुत्र पौत्रमनुभवति (५।२।१०)।

के स्थान मे परोवर पृषोदरादि होने से साधु है। श्रोत्व निपातन से है। 'परम्पर' यह 'पर परतर' के स्थान मे शिष्ट सम्मत प्रयोग है। ये दोनो प्रत्यय सनियोग से ही साधु हैं। प्रवाह (अनुक्रम, सातत्य) अर्थ मे 'परम्परा' स्वतन्त्र अव्युत्पन्न प्रकृत्यन्तर है। परानवराश्चानुभवन्ती स्त्री परोवरीणा, वह स्त्री जिसने दूर भूत मे हुए वन्धुओ को देखा है और अवरकाल मे हुए बन्धुओ को भी। परांश्च परतरांश्चानुभवन्तो परम्पराण्, जिसने पूर्व राजाओं को देखा है और उनसे पूर्वतर राजाओं को भी। लक्ष्मी परम्परीणा त्व पुत्रपौत्रीणता नय—भट्टि (५।१५)।

अवारपार, अवार, पार, पारावार, अत्यन्त, अनुकाम—इन द्वितीयासमर्थ प्रातिपदिको से 'गामी' अर्थ मे¹—अवारस्य पारम् अवारपारम्। अवारपार गामी=अवारपारीण। गमिष्यतीति गामी। आवश्यकार्थ मे भविष्यत् मे णिनि। बाहुलकात् आट् के बिना भी णिनि। भविष्यदर्थ मे कृत्प्रत्यय णिनि के योग मे षष्ठी का निषेध होने से द्वितीया समर्थ विभक्ति हुई। अवार गामी अवारीण। पार गामी पारीण। पारावारीण। अवारपारीण तथा पारावारीण मे द्वन्द्व से भी प्रत्यय होता है। अवारपारे पारावारे गामी। अत्यन्त गामी अत्यन्तीन=भृश गन्ता, बहुत जाने वाला। अनुकाम गामी=अनुकामीन =यथेष्ट गन्ता। अनुकामम्—यह यथार्थ मे जो अव्यय अनु उसका 'काम' के साथ समास है। यथार्थ यहाँ सादृश्य लिया जाता है।

सूत्र मे समा समाम यह वीप्सा मे द्विरुक्ति है। सुबन्त समुदाय से प्रत्यय विधान किया है। विपूर्व जन् यहाँ गर्भधारण अर्थ मे है, अत समाम् यह अत्यन्त सयोग मे द्वितीया है। पूर्वपद मे सुप का अलुक् होता है। समा समां विजायत इति समासमीना गौ², गौ जो प्रतिवर्ष गर्भ धारण करती है अर्थात् बच्चा जनती है। दूसरे लोग यहाँ समाया समायाम् सप्तम्यन्त की द्विरुक्ति मानते हैं। उनके विचार मे विपूर्व जन् का अर्थ गर्भ विमोचन अर्थात् प्रसव है। वे केवल पूर्वपद के 'य' का लोप करते हैं—समाया समाया विजायते प्रसूत इति समासमीना गौ। हमारे विचार मे विपूर्वक जन् का गर्भ धारण अर्थ अप्रसिद्ध है, गर्भविमोचन अर्थ अतिप्रसिद्ध है—मातिजनितो समजायेति स्त्रीणाभिद्रदत्तो वर। हिन्दी में इसे ब्याना

---

१ अवार पाराऽत्यन्ताऽनुकाम गामी (५।२।११)।

२ समा समा विजायते (५।२।१२)।

कहते हैं इससे भी इसी अर्थ की समर्थना होती है। पर हमें 'य' का लोप क्लिष्ट कल्पना मालूम देता है। आचार्य युक्त सशय रूप से द्विरुक्त समा को द्वितीयान्त पढ़ते हैं। यहाँ वाक्य में (तद्धित आने से पूर्व) भी दोनों पदों में 'य' लोप विकल्प से होता है जिससे समां समां विजायते, समायां समायां विजायते दोनों तरह का वाक्य बन जाता है। यह वार्तिककार की कल्पना भी व्यर्थ है। वस्तुत यहां विजन् गर्भधारणपूर्वक गर्भविमोचन अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। समां समां गर्भं धृत्वा विजायते ऐसी विवक्षा है।

'अद्यश्वीना' यह खप्रत्ययान्त निपातन किया जाता है जब आसन्न (समीपवर्ती) प्रसव अभिधेय हो।[1] 'विजायते' यह पूर्व सूत्र से अनुवृत्त है। अवष्टब्ध=अविदूर, समीप। अद्यश्वीना गौ। अद्यश्वीना वडवा, जो गौ, जो घोड़ी आजकल ब्याने वाली है। कोई लोग इस सूत्र में 'विजायते' की अनुवृत्ति नहीं करते हैं अद्यश्वीन को अविभक्तिक निर्देश मानते हैं—अद्यश्वीन मरणम्। अद्यश्वीनो वियोग, जो वियोग आजकल (निकट भविष्यत् में) होने वाला है। अद्य वा श्वो वा=अद्यश्व।

ख—'आगवीन' यह ख प्रत्ययान्त निपातन किया है[2]। आङ्पूर्वक 'गो' से ख प्रत्यय उस नौकर को कहने के लिए निपातित किया है जिसे काम करने के बदले (भृति रूप में) गो दी गई है और जिसे गौ के लौटाने तक अवश्य स्वामी का कार्य करना है—आगवीन कर्मकर।

'अनुगु' शब्द से 'अलगामी' इस अर्थ में ख प्रत्यय होता है[3]—अनुगु अलं=पर्याप्त गच्छतीत्यनुगवीनो गोपालक, जो गोप गौ के पीछे पीछे पर्याप्त जाता है उसे 'अनुगवीन' कहेंगे। 'अनुगु' यथार्थ (=पश्चात् के अर्थ) में अव्ययीभाव समास है। गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य (१।२।४८) से ह्रस्व हुआ।

यत्, ख—द्वितीयासमर्थ अध्वन् शब्द से 'अलगामी' अर्थ में यत्, ख[4]—अध्वानमलं गच्छति=अध्वन्य। ये चाभावकर्मणो (६।४।१६८) से प्रकृतिभाव। अध्वनीन। आत्माध्वानौ खे (६।४।१६९) से प्रकृतिभाव।

---

१ अद्यश्वीनाऽवष्टब्धे (५।२।१३)।
२ आगवीन (५।२।१४)।
३ अनुग्वलगामी (५।२।१५)।
४ अध्वनो यत्खौ ((५।२।१६)।

यत्, ख, छ—अभ्यमित्र शब्द से 'अलगामी' अर्थ में[१]—अभ्यमित्रम् अमित्राभिमुखं सुष्ठु गच्छति अभ्यमित्र्य । अभ्यमित्रीण । अभ्यमित्रीय, जो शत्रु का डटकर सामना करता है। अभ्यमित्रम्—अव्ययीभाव है। लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये (२।१।१४) से समास हुआ।

खञ्—गोष्ठ शब्द से भूतपूर्व गोष्ठ को कहने के लिए खञ्।[२] गो समूह जहाँ ठहरता है उस स्थान को गोष्ठ कहते। जो स्थान पहले गोष्ठ रहा, अब नहीं उसे "गौष्ठीन' कहते हैं—गौष्ठीनो देशः। 'भूतपूर्व' अर्थ द्वारा गोष्ठ का विशेषण है।

षष्ठीसमर्थ अश्व शब्द से 'एकाहगम' जो एक दिन में चला जाता है अर्थ में[३]—अश्वस्यैकाहगमोऽध्वा, जो रास्ता घोड़ा एक दिन में चलता है उसे आश्वीनोऽध्वा कहेंगे। 'अश्वस्य' यह कर्ता में षष्ठी है। एक च तदहश्च= एकाह (पु०)। एकाहेन गम्यते इत्येकाहगम। परिमाणाख्यायां सर्वेभ्य (३।३।२०) से घञ् प्राप्त हुआ। निपातन से अप्। 'एकाहेन' में तृतीया अपवर्ग में है, अतः एकाहगम यह सुप्सुपा समास है। कर्तृकरणे कृता बहुलम् से तृतीया समास है ऐसा न्यासकार का मत है। पर यह ग्राह्य नहीं कारण कि 'एकाहेन' में करण में तृतीया नहीं। सहस्राश्वीने वा इतः स्वर्गो लोकः (ऐ० ब्रा० २।२।७)। आश्वीनानि शतं पतित्वा (=धावा)—काशिका।

शालीन और कौपीन खञ् प्रत्ययान्त निपातन किए हैं, शालीन अधृष्ट अर्थ में और कौपीन अकार्य (पाप) अर्थ में।[४] शालाप्रवेशमर्हति, कूपपातमर्हति इन अर्थों में खञ् प्रत्यय और उत्तरपद-लोप निपातित किए हैं। शालीनो जडः। शालीना कुलवधूः। अप्रगल्भ होने से अन्यत्र जाने में असमर्थ, शाला में ही प्रवेश करने के योग्य। कूपावतरणं कूपपातम् (=कूपे पातम्) अर्हति= कौपीनम् अकार्यम्=पापम्। पाप का साधन अथवा पाप की तरह गोप्य होने से प्रजनन (लिङ्ग) को भी 'कौपीन' कहते हैं। महाभारत में प्रयोग भी है—मयूर इव कौपीनं नृत्य सन्दर्शयन्निव (शा० ११४।१०)। लिङ्ग सम्बन्धी

१　अभ्यमित्राच्छ च (५।२।१७)।
२　गोष्ठात् खञ् भूतपूर्वे (५।२।१८)।
३　अश्वस्यैकाहगमः (५।२।१९)।
४　शालीनकौपीने अधृष्टाकार्ययोः (५।२।२०)।

आच्छादन को भी 'कौपीन' कहते हैं—कौपीन शतखण्डजर्जरतरं कन्था पुनस्तादृशी (भर्तृ० ३।१०१)।

तृतीयासमर्थ व्रात शब्द से 'जीवति' अर्थ में।[1] शरीर को आयास देकर भार-वहनादि करके जो जीविका बनाते हैं ऐसे नाना जाति वाले अनियतवृत्ति वाले (=कभी एक व्यवसाय करने वाले कभी दूसरा) सङ्घ व्रात कहलाते हैं। उनके कर्म को भी 'व्रात' कहा है। उस व्रातकर्म द्वारा जो कोई (उन्हीं सङ्घों में से एक) जीता है उसे व्रातीन कहते हैं—व्रातेन जीवति व्रातीनः।

साप्तपदीन यह सख्य अर्थ में निपातन किया है।[2] तृतीयासमर्थ विभक्ति ही निपातित की है। सप्तभिः पदैरवाप्यते साप्तपदीनं सख्यम्। 'पद' से यहाँ सुप्तिङन्त-लक्षण पद भी लिया जाता है और पाद क्रम भी। सख्य जना साप्तपदीनमाहुः (काशिका)। उपचार से साप्तपदीन सखा, साप्तपदीन मित्रम् ऐसा भी प्रयोग होता है।

'हैयङ्गवीन' यह खञ्प्रत्ययान्त निपातन किया है।[3] ह्योगोदोह (कल का गोदुग्ध) को 'हियङ्गु' यह आदेश भी निपातन से है। विकार में प्रत्यय है—ह्योगोदोहस्य विकारः=हैयङ्गवीनम्। यह ताजे मक्खन का नाम है, जिसे 'नवनीत' भी कहते हैं। कल के गोदुग्ध से बनी हुई उदश्वित् (छाछ) को हैयङ्गवीन नहीं कहते। हैयङ्गवीनमादाय घोषवृद्धानुपस्थितान् (रघु० १।४५)।

कुणप्, जाहच्—षष्ठीसमर्थ पील्वादि (पीलु आदि) तथा कर्णादि (कर्ण आदि) से क्रम से 'उसका पाक', 'उसका मूल' इन अर्थों में कुणप् (कुण) तथा जाहच् (जाह) प्रत्यय होते हैं[4]—पीलूनां पाकः=पीलुकुणः। कर्कन्धूनां पाकः कर्कन्धुकुणः। कर्णस्य मूलं कर्णजाहम्। अपि कर्णजाहविनिवेशितानन (मालती० ५।८)। पील्वादि गण में शमी, करीर, कुवल, बदर, अश्वत्थ, खदिर पढ़े हैं। कर्णादिगण में अक्षि, नख, मुख, केश, पाद, गुल्फ, भ्रूभङ्ग, दन्त, ओष्ठ, अङ्गुष्ठ पढ़े हैं।

ति—मूल अर्थ में 'पक्ष' से[5]—पक्षस्य मूलं पक्षतिः। पक्षतिः प्रतिपत्।

१ व्रातेन जीवति (५।२।२१)।
२ साप्तपदीनं सख्यम् (५।२।२२)।
३ हैयङ्गवीनं संज्ञायाम् (५।२।२३)।
४ तस्य पाकमूले पील्वादि-कर्णादिभ्यः कुणब्जाहचौ (५।२।२४)।
५ पक्षात्तिः (५।२।२५)।

चुञ्चुप् चणप्—तृतीयासमर्थ से 'वित्त' (प्रसिद्ध) अर्थ में चुञ्चु, चण प्रत्यय होते हैं[1]—विद्यया वित्त = विद्याचुञ्चु । विद्याचण । अक्षरचुञ्चु । अक्षरचण । अक्षरों के कारण प्रसिद्ध, सुन्दर लेख के निमित्त विश्रुत ।

ना, नाञ्—वि, नञ् से 'ना', 'नाञ्' (ना) प्रत्यय पृथग्भाव में होते हैं[2]—विना । नाना । नाना नारी निष्फला लोकयात्रा ।

शालच्, शङ्कटच्—क्रियाविशिष्ट साधनवाची वि उपसर्ग से स्वार्थ में[3]—विगते शृङ्गे = विशाले शृङ्गे । विशङ्कटे शृङ्गे । विगते = उठे हुए, बढ़े हुए। ऐसे शृङ्गों के योग से गौ का भी विशालो गौ (ऊँचे कद का बैल)। विशङ्कटो गौ । परमार्थतः ये गुण शब्द हैं ज्यों त्यों व्युत्पत्ति की जाती है। प्रकृति और प्रत्ययार्थ कुछ भी नहीं ।

सम्प्रोदश्च कटच् (५।२।२९) से लेकर इनच् पिटच् चिक चि च (५।२।३३) तक के सूत्रों तथा तत्सम्बद्ध वार्तिकों द्वारा व्युत्पत्ति मात्र में यत्न है । समुदाय ही अर्थवान् है । अवयव अनर्थक हैं । अतः इनका विवरण हमने नहीं किया है। किं च गोष्ठच् गोयुगच् षड्गवच्च आदि प्रत्ययों की कल्पना भाषा के औपचारिक प्रयोगों की अवहेलना पर आश्रित है, इसलिए भी अरुचिकर है ।

त्यकन्—क्रम से आसन्न (समीप), आरूढ अर्थ में वर्तमान उप और अधि उपसर्गों से स्वार्थ में[4]—पर्वतस्यासन्नमुपत्यका । पर्वत के समीप की भूमि उपत्यका कहलाती है । तस्यैवारूढम् अधित्यका, उसी (पर्वत) की ऊपर की भूमि को अधित्यका कहते हैं । उपत्यकाद्रेरासन्ना भूमिरूर्ध्वमधित्यका—अमर। संज्ञाधिकार होने से आसन्न और आरूढ नियत विषय अर्थात् विषय-विशेष, पर्वत में नियत लिये जाते हैं । 'त्यकन्नश्च' इस निषेध से उपत्यका अधित्यका में 'क' से पूर्व 'अ' को इकार नहीं हुआ ।

अठच्—सप्तमीसमर्थ 'कर्मन्' से 'घट' (घटते चेष्टत इति) अर्थ में[5]—कर्मणि घट इति कर्मठ । टिलोप । कर्मठ पुरुष कार्य में दक्ष अथवा श्रमी ।

इतच्—प्रथमा समर्थ तारका आदियों से 'अस्य' (षष्ठी) अर्थ में इतच्

---

१ तेन वित्तश्चुञ्चुप्चणपौ (५।२।२६) ।
२ विनञ्भ्यां नानाञौ न सह (५।२।२७) ।
३ वेः शालच्छङ्कटचौ (५।२।२८) ।
४ उपाधिभ्यां त्यकन्नासन्नारूढयोः (५।२।३४) ।
५ कर्मणि घटोऽठच् (५।२।३५) ।

(इत) प्रत्यय होता है जब तारकादियों का 'सजात' विशेषण हो[1]—तारका सजाता अस्य नभस तारकित नभ, आकाश जिसमे तारे निकल आए हैं। पुष्पाणि सजातान्यस्य वृक्षस्य इति पुष्पितो वृक्ष। कुसुमित। कोरकित। मुकुलित। रोमाञ्चा सञ्जाता अस्य रोमाञ्चित। स प्रहर्षेण रोमाञ्चित-कलेवरोऽभूत्। एव पुलका रोमोद्गमा सञ्जाता अस्य पुलकित। कण्टकित-गात्र =कण्टका रोमोद्गमा सजाता अस्येति कण्टकितम्। कण्टकित गात्र यस्य स कण्टकितगात्र। प्रत्ययो विश्वास सञ्जातोऽस्येति प्रत्ययित। आप्त प्रत्ययितस्त्रिषु (अमर)। योग सञ्जातोऽस्येति योगित। शुनको भयक स्वा स्यादलर्कस्तु स योगित (अमर)। योग=विषयोग। अभ्राणि सजातान्यस्येति अभ्रितमाकाशम्। पण्डा=बुद्धि सञ्जाताऽस्य पण्डित। व्याधि सजातोऽस्य व्याधित (रुग्ण)। बुभुक्षा सजातास्य बुभुक्षित। पिपासा सजाताऽस्य पिपासित (प्यासा)। यद्यपि सन्नन्त भुज् तथा पा से निष्ठा (क्त) मे रूप-सिद्धि सुलभ है, पर निष्ठा के कर्मवाची होने से कर्ता मे बुभुक्षित व पिपासित का प्रयोग न हो सकेगा। बुभुक्षित ओदन, पिपासितमुदकम्—कर्म मे ही प्रयोग होगा। बुभुक्षितो देवदत्त। पिपासितो देवदत्त—कर्ता में न हो सकेगा। तारकादि आकृतिगण है।

द्वयसच्, दघ्नच्, मात्रच्—प्रथमा-समर्थ से 'अस्य' (इसका) इस अर्थ मे द्वयसच् आदि प्रत्यय होते हैं जब प्रथमा-समर्थ प्रमाणवाची हो[2]—ऊरु प्रमाणमस्य ऊरुद्वयसम्। ऊरुदघ्नम्। जानुद्वयसम्। जानुदघ्नम्। जानुदघ्न जल विप्र न स्वयातीव वृत्तरम्। प्रथमश्च द्वितीयश्च ऊर्ध्वमाने मतौ मम। इस भाष्य वचन के अनुसार जिससे ऊर्ध्वावस्थित (सीधे खडे होकर) मापा जाता है, उस ऊरु, जानु आदि को ऊर्ध्वमान कहते हैं उसमे द्वयसच् और दघ्नच् होते हैं। मात्रच् तो प्रमाणमात्र मे इष्ट है।

जानुमात्रम्। यहाँ भी। प्रस्थमात्रम्—यहाँ परिमाण मे भी।

प्रत्ययलुक्—जो शब्द प्रमाण अर्थ मे रूढ हैं उनसे उत्पन्न हुए मात्रच् का लुक् हो जाता है[3]—शम (=दाय =हाथ) प्रमाणमस्य शम, हाथ भर लम्बा। दिष्टि प्रमाणमस्य दिष्टि। वितस्ति प्रमाणमस्य वितस्ति (बारह

---

१ तदस्य सजात तारकादिभ्य इतच् (५।२।३६)।

२ प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच (५।२।३७)।

३ प्रमाणे लो वक्तव्य (वा०)।

उगल लम्बाई वाला)। फैलाए हुए हाथ के अंगूठे से लेकर कन्नो उंगली तक वितस्ति माप होता है। द्विगु से उत्पन्न हुए मात्रच् का नित्य लुक् होता है[1]—द्विशम। त्रिशम। द्विवितस्ति। वार्तिक में 'नित्य' इसलिए ग्रहण किया है ताकि वक्ष्यमाण संशय विषयक मात्रच् जिसका श्रवण रहता है अर्थात् लुक् नहीं होता, उसका भी द्विगु से लुक् हो जाए। द्वे दिष्टी स्याता वा न वा, द्विदिष्टि।

डट्—पञ्चदश मन्त्रा परिमाणमस्य स्तोमस्य पञ्चदश स्तोम।[2] पञ्चदशी स्तुति। टित् होने से ङीप्।

डिनि—शन् अन्त, शत् अन्त सख्यावाचक प्रातिपदिका से[3]—पञ्चदश दिवसा परिमाणमेवाम् इति पञ्चदशिनोऽर्धमासा। त्रिशत्—त्रिंशिनो मासा तीस दिन है परिमाण जिनका। प्रत्यय के डित् होने से टि का लोप।

विंशति से भी[4]—विंशिनोऽङ्गिरस, अङ्गिरस् गोत्रज सख्या में बीस हैं। ति विंशतेर्डिति से 'ति' का लोप। फिर 'यस्येति च' से 'अ' का लोप।

मात्रच्—प्रमाण, परिमाण, तथा सख्या से परिच्छेद के संशयित होने पर मात्रच् प्रत्यय आता है और उसका लुक् नहीं होता।[5] शम प्रमाणमस्य स्याद्वा न वा, शममात्रम्, इसकी हाथ भर लम्बाई हो अथवा न हो, निश्चित नहीं। दिष्टिमात्रम्। परिमाण—प्रस्थमात्रम्। सख्या—पञ्चमात्रम्। दशमात्रा गाव, गिनती में दस गौएँ हो या न हो।

द्वयसच्, मात्रच्—वतुप्प्रत्ययान्त से बहुलतया स्वार्थ में[6]—तावदेव तावन्मात्रम्। यावदेव=यावन्मात्रम्। तावदेव=तावद्द्वयसम्। यावदेव यावद्द्वयसम्।

अण्, द्वयसच् आदि—प्रथमान्त पुरुष, हस्तिन् से 'इसका' अर्थ में जब प्रमाण प्रथमान्त का विशेषण हो[7]—पुरुष प्रमाणमस्य खातस्य पौरुषम्

---

१ द्विगोर्नित्यम् (वा०)।
२ डट् स्तोमे वक्तव्य (वा०)।
३ शन् शतोर्डिनिर्वक्तव्य (वा०)।
४ विंशतेश्चेति वक्तव्यम् (वा०)।
५ प्रमाणपरिमाणाभ्या सख्यायाश्चापि संशये मात्रच् वक्तव्य (वा०)।
६ वत्वन्तात् स्वार्थे द्वयसज्-मात्रचौ बहुलम् (वा०)।
७ पुरुष-हस्तिभ्यामण् च (५।२।३८)।

(अण्)। पुरुषद्वयसम्। पुरुषदघ्नम्। हस्ती प्रमाणमस्य खातस्य हास्तिन खातम्। इनण्यनपत्ये (६।४।१६४) से प्रकृतिभाव हुआ (अर्थात् नस्तद्धिते से टि लोप नहीं हुआ)। हस्तिद्वयसम्। हस्तिदघ्नम्। द्विगु से तो प्रत्यय का नित्य लुक् होगा—द्वौ पुरुषौ प्रमाणमस्य द्विपुरुषमुदकम्। यहाँ द्वयसच् तथा दघ्नच् का लुक् जानना चाहिए। ग्रहणवता प्रातिपदिकेन—से तद् तदविधि का निषेध होने से अण् की प्राप्ति ही नहीं। द्विपुरुषा परिखा। द्विपुरुषी परिखा। पुरुषात्प्रमाणेऽन्यतरस्याम् (४।१।२४) से विकल्प से ङीप्। द्वौ हस्तिनौ प्रमाणमस्या परिखाया द्विहस्तिनी परिखा। त्रिहस्तिनी। प्रत्यय का लुक् होने पर नान्त होने से ङीप्।

वतुप—प्रथमान्त यद्, तद्, एतद् से 'इसका' इस अर्थ में वतुप् (वत्) प्रत्यय होता है यदि प्रथमान्त का परिमाण उपाधि (=विशेषण) हो[1]—तत् परिमाणमस्य तावत्। यत्परिमाणमस्य यावत्। एतत् परिमाणमस्य एतावत्। प्रमाण की अनुवृत्ति आ रही थी, फिर परिमाण ग्रहण क्यों किया? प्रमाण और परिमाण में भेद होने से। प्रमाण=आयाम। परिमाण=चारों ओर का माप।

घ—किम्, इदम् से वतुप् होता है और वतुप् के 'व' को घ (इय) आदेश होता है[2]—कियत् (किंपरिमाणमस्य)। इदं परिमाणमस्य इयत्। इदंकिमोरीश्की (६।३।९०) से किम् को कि आदेश होता है और इदम् को ईश् (=ई)। 'कि' के 'इ' का तथा ई (श्) का 'यस्येति च' से लोप हो जाता है। इयत् शब्द प्रकृति का लोप हो जाने से प्रत्ययमात्र ही अवशिष्ट रहता है। इस प्रकृतिलय और प्रत्ययमात्र की अवशिष्टता के सादृश्य को लेकर तत्त्ववेत्ता लोग एक अति विच्छित्तिकारी पद्य पढ़ते हैं। उसे हम यहाँ देते हैं—

> उदितवति परस्मिन्प्रत्यये शास्त्रयोनौ
> गतवति विलयं च प्राकृतेऽपि प्रपञ्चे।
> सपदि पदमुदीतं केवलं प्रत्ययो यत्
> तदियदिति मिमीते को हृदा पण्डितोऽपि॥

---

१ यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप् (५।२।३९)।
२ किमिदम्भ्यां वो घः (५।२।४०)।

अर्थात् जब परा कोटि के प्रत्यय(ज्ञान, प्रकृति से परे होने वाला शब्द) का उदय हो जाता है और प्रकृति (माया, प्रत्यय से पूर्व रखा हुआ शब्द) का यह सारा प्रपञ्च (विस्तार) विलीन (नष्ट) हो जाता है, तब झपदि (एकदम) ऐसा पद (वस्तु, सुप्तिङ्लक्षण शब्द) उत्पन्न होता है जो केवल (शुद्ध) प्रत्यय (ज्ञान, प्रकृति से परे शब्द) होता है, वह पद (इतना, इयद्) है इसे कौन विद्वान् हृदय से माप (जान) सकता है ?

डति, वतुप्—संख्या के परिच्छेद मे वर्तमान प्रथमान्त किम् शब्द से 'इसका' इस अर्थ मे डति (अति) और अनुवृत्त वतुप् होते हैं[1]—**का संख्या परिमाणमेषां ब्राह्मणानां कति ब्राह्मणाः**, कितने ब्राह्मण। डत्यन्त की पद संज्ञा है और पद-संज्ञको से जस् और शस् का लुक् हो जाता है। **कियन्तो ब्राह्मणाः** कितने ब्राह्मण। वतुप्। 'व' को घ (इय)।

तयप्—अवयव अर्थ मे वर्तमान संख्यावाची प्रथमान्त प्रातिपदिक से 'इसका' इस अर्थ मे। अवयव अवयवी के सम्बन्धी होते हैं अतः अवयवी प्रत्ययार्थ है[2]—**पञ्च अवयवा अस्य** (अवयविन) **पञ्चतयम्**। **चत्वारो-ऽवयवा अस्य चतुष्टयम्**। चतुर के रेफ को विसर्जनीय होकर स् होने पर ह्रस्वात्तादौ तद्धिते (८।३।१०१) से षत्व। स्त्रीत्व विवक्षा मे टिड्ढाणञ् सूत्र मे तयप् ग्रहण करने से ङीप्—**चतुष्टयी**। **दश अवयवा अस्य दशतयम्**। **दशतयी**। दशतय ऋग्वेद।

अयच्—द्वि, त्रि से परे तयप् को विकल्प से अयच् (अय) आदेश होता है[3]—**द्वयम्**। **द्वितयम्**। द्वयम् मे यस्येति च से 'द्वि' के इकार का लोप। **त्रयम्**। **त्रितयम्**। धर्मवृत्ति तयप्प्रत्ययान्त (अयच् प्रत्ययान्त भी) नपुंसकलिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग मे प्रयुक्त होता है—**वर्णानां चतुष्टयम्**। **वर्णानां चतुष्टयी**। **वेदानां त्रयम्**। **वेदानां त्रयी**। **वेदानां त्रितयम्**। **वेदानां त्रितयी**। **पुरुषयो द्वयम्**। **पुरुषयो द्वयी**। समास से भी कह सकते हैं—**वर्णचतुष्टयम्**। **वर्णचतुष्टयी** इत्यादि। धर्मिवृत्ति तयप्प्रत्ययान्त (अयच्प्रत्ययान्त भी) वाच्य (अभिधेय) के लिङ्ग को लेते हैं—**त्रय स्त्रितय**। **त्रये लोकाः**। **त्रयाणि जगन्ति**। **द्वये प्राजापत्याः**

---

१ किम संख्यापरिमाणे डति च (५।२।४१)।
२ संख्याया अवयवे तयप् (५।२।४२)।
३ द्वि त्रिभ्यां तयस्यायज्वा (५।२।४३)।

देवाश्चासुराश्च—दोनो प्रजापति की सन्तान हैं, देवता तथा असुर। 'द्वये' यह प्रथमा बहु० मे जस् परे रहते वैकल्पिक सर्वनाम सज्ञा होने से रूप है। पक्ष में द्वया होगा। अन्यत्र सर्वनाम सज्ञा न होने से द्वयानाम् (षष्ठी बहु०) रूप होगा।

उभ शब्द से परे आए हुए तयप् को नित्य अयच् आदेश होता है और वह आद्युदात्त होता है।[1] उभयो मणि। उभौ पीतलोहितावयवौ यस्य स, जिसके लाल और पीले दो अवयव हैं। उभये देवमनुष्या, दोनो देवता और मनुष्य।

ड—दशान्त (दशन् शब्दान्त) प्रथमासमर्थ से अस्मिन् (इसमे) इस अर्थ में 'ड' प्रत्यय होता है, जब प्रथमासमर्थ के अर्थ को 'अधिक' कहने की विवक्षा हो[2]—एकादश अधिका अस्मिञ्छते=एकादश शतम्=एक सौ ग्यारह। द्वादश शतम्=एक सौ बारह। द्वादश अधिका अस्मिन्सहस्रे द्वादश सहस्रम् =एक हजार बारह। जब प्रत्ययार्थ के साथ प्रकृत्यर्थ समानजातीय हो तभी यह (ड) प्रत्यय होता है। एकादश कार्षापणा अधिका अस्मिन्कार्षापणशते एकादश कार्षापणशतम्। पर एकादश माषा अधिका अस्मिन्कार्षापणशते—यहाँ प्रत्यय नहीं होगा। स ह षोडश वर्षशतमजीवत् (छा० उप० ५।१६।७), वह एक सौ सोलह वर्ष जीया। प्रत्ययार्थ शत, सहस्र हो तभी यह प्रत्यय होता है। अत एकादश अधिका अस्या त्रिंशति—यहाँ प्रत्यय नहीं होगा। इस सारे विवरण को एक सङ्ग्रहश्लोक मे सगृहीत किया है—

> अधिके समानजातावि‌ष्ट शतसहस्रयो।
> यस्य सख्या तदाधिक्ये ड कर्तव्यो मतो मम॥

ड—शदन्त और विंशति से 'तदस्मिन्नधिकम्' इस विषय मे[3]—त्रिंशद् अधिका अस्मिञ्छते=त्रिंश शतम्। एक सौ तीस। एकत्रिंश शतम्। चत्वारिंश शतम्। एक सौ चालीस। एकचत्वारिंश शतम्। विंश शतम्=एक सौ बीस। एकविंश शतम्, एक सौ इक्कीस। प्रत्यय के डित् होने से 'ति' का लोप। तब यस्येति च से 'अ' का लोप।

---

१ उभादुदात्तो नित्यम् (५।२।४४)।
२ तदस्मिन्नधिकमिति दशान्ताड् ड (५।२।४५)।
३ शदन्त विंशतेश्च (५।२।४६)।

मयट्—संख्यावाची प्रथमासमर्थ से 'इस (निमेय) का' इस अर्थ में मयट् प्रत्यय होता है जब प्रथमासमर्थ गुण (भाग) के निमान (मूल्य) को कहता हो।[1] भाग का विनिमय जिस मूल्य से होता है वह मूल्य भी भागरूप ही लिया जाता है। भाग में विधीयमान प्रत्यय प्रधानता के कारण भागवत् (भागवाले उदश्वित् आदि)को कहता है। अतः द्विमयमुदश्वित् यहाँ समानाधिकरणता होती है। यवाना द्वौ भागौ निमानम् (मूल्यम्) अस्योदश्विद्भागस्य =द्विमयमुदश्विद् यवानाम्।'यवानाम्'यह भागापेक्षया षष्ठी है। भागविशेष के बोध के लिए प्रकृत्यर्थ-विशेषण यवादि का प्रयोग किया जाता है। एक उदश्वित् भाग का यवों के दो भाग मूल्य हैं। सूत्र में 'गुणस्य' यहाँ एकत्व विवक्षित है, अतः द्वौ भागौ यवानां त्रय उदश्वितः यहाँ प्रत्यय नहीं होगा। प्रत्ययार्थ से प्रकृत्यर्थ की अधिकता होने पर प्रत्यय इष्ट है। ऐसा ही उदाहरण दिया है। त्रिमयी द्राक्षा गुडस्य, गुड के तीन भाग द्राक्षा के एक भाग का मूल्य हैं। 'गुडस्य' यह भागापेक्षया षष्ठी है।

निमेय (क्रेय) में मयट् देखा जाता है अर्थात्—निमेय में वर्तमान संख्या से भी निमान में प्रत्यय देखा जाता है—उदश्वितो द्वौ भागौ निमेयमस्य निमान-भूतस्य यवभागस्य=द्विमया यवा उदश्वितः, उदश्वित् के दो भाग जिन यवों से क्रेतव्य हैं उनके मूल्य को द्विमया यवा उदश्वितः ऐसे कहेंगे।

डट्—संख्यावाची षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक से 'पूरण' (पूर्यतेऽनेन पूरण) अर्थ में।[2] जिससे संख्या गिनती पूरी हो जाती है वह उस संख्या का 'पूरण' है। एकादशानां पूरण एकादश, ग्यारहवाँ। द्वादश। त्रयोदश। देवदत्तश्च एते दश भवन्ति। यज्ञदत्तस्त्वेकादशः। डट् डित् प्रत्यय है अतः 'टि' (अन्) का लोप हुआ। जिसके जुड़ जाने से दूसरी संख्या बन जाती है वह प्रत्ययार्थ है। इसलिए पञ्चानामुष्ट्रिकाणां पूरणो घटः—यहाँ प्रत्यय नहीं हो सकता। यह ठीक है कि पाँच उष्ट्रिकाओं का घट (घड़ा) 'पूरण' है उन्हें पूरा करता है, भरता है पर वह संख्या नहीं। घट के जुड़ने से उष्ट्रिकाओं की पञ्चत्व संख्या नहीं सम्पन्न होती, वे पहले से ही पाँच हैं।

संख्यावाची नकारान्त प्रातिपदिक जिससे पूर्व संख्यावाची पद न हो, से

१ संख्याया गुणस्य निमाने मयट् (५।२।४७)।
२ तस्य पूरणे डट् (५।२।४८)।

परे आए हुए डट् को मट् (म्) आगम होता है[1]—पञ्चानां पूरणः = पञ्चमः। सप्तानां पूरणः सप्तमः। 'संख्या का पूरण' ऐसी विवक्षा होने पर भी संख्येयवाची से विग्रह किया जाता है। पर विंशतेः पूरणः = विंशः (बीसवां) यहाँ मट् आगम नहीं हुआ। संख्यादि होने से एकादशानां पूरणः एकादशः, यहां संख्यावाची एक शब्द पूर्वपद है, अतः डट् को मट् आगम नहीं हुआ।

षट्, कति, कतिपय, चतुर्—इनको डट् परे रहते थुक् (थ्) आगम होता है।[2] षष्ठः। षण्णां पूरणः षष्ठः। कतिथः। कतिपयथः। चतुर्थः। 'कतिपय' संख्या नहीं है अतः डट् की प्राप्ति नहीं थी। इस आगमविधान से डट् होता है यह ज्ञापित होता है।

छ, यत्—चतुर् से 'तस्य पूरणः' अर्थ में छ, यत् प्रत्यय होते हैं और साथ ही चतुर् के आदि अक्षर (च) का लोप हो जाता है[3]—तुरीयः (= चतुर्थः)। छ। तुर्यः (= चतुर्थः)। यत्।

बहु, पूग, गण, सङ्घ—इनसे डट् परे रहते इन्हें तिथुक् (तिथ्) आगम होता है।[4] पूग तथा सङ्घ संख्यावाचक नहीं। इनसे डट् होना है इसमें यही आगमविधान ज्ञापक है। बहूनां पूरणो बहुतिथः कालः। बहुगणवतुडति संख्या (१।१।२३) से बहु और गण की 'संख्या' संज्ञा विधान की है। पूगतिथः। गणतिथः। सङ्घतिथः। रामायण में 'बहुतिथ' 'बहुबार' के अर्थ में आया है—प्रसादितश्च वै पूर्वं त्वं मे बहुतिथं प्रभो (२।२६।१४)। वतुप् प्रत्ययान्त से डट् को इथुक् (इथ्) आगम होता है—तावतां पूरणः = तावतिथः।

तीय—'द्वि' से 'तस्य पूरणः' अर्थ में 'तीय' प्रत्यय होता है।[5] डट् का अपवाद। द्वयोः पूरणः = द्वितीयः।

'त्रि' से भी 'तीय' प्रत्यय और साथ ही 'त्रि' को सम्प्रसारण[6]—त्रयाणां

---

१ नान्तादसंख्यादेर्मट् (५।२।४९)।
२ षट्कतिकतिपयचतुरां थुक् (५।२।५१)।
३ चतुरश्छयतावाद्यक्षर-लोपश्च (वा०)।
४ बहुपूग-गण-सङ्घस्य तिथुक् (५।२।५२)। वतोरिथुक् (५।२।५३)।
५ द्वेस्तीयः (५।२।५४)।
६ त्रेः सम्प्रसारणं च (५।२।५५)।

पूरण तृतीय । यहाँ 'र्' को सम्प्रसारण ऋ और 'इ' को पूर्वरूप होने पर भङ्गावयव हल् 'त' से परे सम्प्रसारण को दीघत्व की शङ्का होती है । पर दीर्घ विधि में 'अण्' की अनुवृत्ति है और अण् पूर्व णकार तक लिया जाता जाता है, उसमें 'ऋ' नहीं आता । अत दीर्घ न हुआ ।

डट्—विंशति (२०) आदि लोकप्रसिद्ध सख्यावचनों से 'तस्य पूरण' अर्थ में आए हुए डट् को (तमट्=तम्) आगम विकल्प से होता है[1]—विंशते पूरण =विंशतितम । तमट् आगम । विंश (बीसवाँ) । डट् । एकविंशते पूरण एकविंशतितम । एकविंश (इक्कीसवा) । त्रिंशत पूरण =त्रिंशत्तम । त्रिंश । तीसवाँ । एकत्रिंशत पूरण =एकत्रिंशत्तम । एकत्रिंश । पञ्चाशत् —पञ्चाशत्तम । पञ्चाश (पचासवाँ) । प्रत्यय के डित् होने से टि (अत्) का लोप । एकपञ्चाशत्तम । एकपञ्चाश ।

शत आदि लौकिक सख्याओ से तथा मास, अर्धमास, सवत्सर—इनसे आये हुए डट् को नित्य तमट् (तम्) आगम होता है।[2] मास आदि सख्यावाची नही हैं इनसे इसी तमटविधान से डट होता है यह ज्ञापित होता है। शतस्य पूरण शततम । सहस्रतम । शतस्य रात्रीणा पूरणी रात्रि शततमी । सहस्रतमी । लक्षस्य पूरण =लक्षतम । पौत्रप्रभृति लक्षतमम-पत्यस्य गोत्र भवति । मासस्य पूरणो दिवस =मासतम । अर्धमासस्य (पक्षस्य) पूरणो दिवसोऽर्धमासतम । सवत्सरस्य पूरणो दिवस सवत्सरतम, वर्ष का अन्तिम दिन ।

षष्टि(६०)से लेकर अगली (शत से पूर्व) सख्यायें जिनका सख्यावाचक पूर्वपद न हो, से परे आये हुए डट् को तमट् (तम्) आगम नित्य होता है [3]—षष्टे पूरण =षष्टितम । पर एकषष्टितम । एकषष्ट । सप्तते पूरण सप्ततितम । एकसप्ततितम । एकसप्तत । नवते पूरण = नवति-तम । पर नवनवतितम । नवनवत ।

छ—प्रातिपदिक से मत्वर्थ में छ (ईय) प्रत्यय होता है सूक्त अथवा सामन् अभिधेय होने पर ।[4] मत्वर्थ ग्रहण से प्रथमा समर्थ विभक्ति, प्रकृत्यर्थ विशेषण

---

१ विंशत्यादिभ्यस्तमडन्यतरस्याम् (५।२।५६) ।
२ नित्य शतादि मासार्द्ध-मास-सवत्सराच्च (५।२।५७)।
३ षष्ट्यादेश्चासख्यादे (५।२।५८) ।
४ मतौ छ सूक्त-साम्नो (५।२।५६)।

'अस्ति' तथा प्रत्ययार्थ 'अस्मिन्' का आक्षेप हो जाता है—अच्छावाक-शब्दोऽस्मिन्सूक्तेऽस्ति अच्छावाकीय सूक्तम्। मित्रावरुणशब्दोऽस्मि सूक्तेऽस्ति मित्रावरुणीय सूक्तम्। यज्ञायज्ञशब्दोऽस्मिन्सामन्यस्ति यज्ञायज्ञीय साम (यज्ञा-यज्ञा वो अग्नये ऋ० ६।४८।१। साम० १।३५)। अच्छावाक आदि अनुकरण-शब्द हैं, इन का अनुकार्य स्वरूप ही अर्थ है, बाह्य कुछ अर्थ नहीं। अत अनेक पदो से प्रत्यय आता है—अस्यवामीय सूक्तम्। 'अस्य वामस्य' ये पद जिसमे हैं (ऋ० १।१६४)। कयाशुभीय सूक्तम्। कया शुभा—ये पद जिसमे हैं (ऋ० १।१६५)। नासदीयम्। नासद् ये पद जिसमें हैं (ऋ० १०।१२९)।

छ लुक्—मत्वर्थ मे आये हुए छ' प्रत्यय का विकल्प से लुक् हो जाता है, अध्याय अथवा अनुवाक अभिधेय होने पर।[1] यही लुक् विधान छ प्रत्यय विधि का ज्ञापक है, अध्याय व अनुवाक अर्थों मे शास्त्रान्तर से विधान न होने से—गर्दभाण्डशब्दोऽस्मिन्नस्ति गर्दभाण्डोऽध्यायोऽनुवाको वा। गर्दभाण्डीय इति वा। दीर्घजीवितशब्दोऽस्मिन्नध्यायेऽस्ति दीर्घजीवितीय। दीर्घजीवि-तीयमध्याय व्याख्यास्याम इत्यादि वैद्यक ग्रन्था मे पढा जाता है। अनुवाक साहचर्य से कई लोग 'अध्याय' से वैदिक अध्याय का ही ग्रहण करते हैं।

अण्—विमुक्त आदि प्रातिपदको से मत्वर्थ मे अध्याय, अनुवाक अभिधेय होने पर[2]—विमुक्तशब्दोऽस्मिन्नध्याये अनुवाके वा वैमुक्त। देवासुरशब्दो ऽस्मिन्नध्यायेऽनुवाके वा दैवासुर। इडाशब्दोऽस्मिन्नध्यायेऽनुवाके वा ऐड।

वुन्—गोषद आदि प्रातिपदिको से[3]—गोषदशब्दोऽस्मिन्नध्यायेऽनुवाके वा गोषदक। इषेत्वशब्दोऽस्मिन्नध्याये अनुवाके वा इषेत्वक। मातरिश्वन् शब्द जिसमे है वह 'मातरिश्वक' होता है। देवस्य त्वा—यह शब्द जिस अध्याय व अनुवाक मे हैं वह 'देवस्यत्वक' कहलाता है।

सप्तमी समर्थ पथिन् शब्द से 'कुशल' अर्थ में[4]—पथि कुशल पथक। पथक एव पथिक, यह यात्री मार्ग को खूब जानता है। अथवा मार्ग चलने मे चतुर है।

कन्—आकष (पाठान्तर आकर्ष) आदि सप्तम्यन्त प्रातिपदिको से कुशल

---

१ अध्यायाऽनुवाकयोर्लुक् (५।२।६०)। विकल्पेन लुगयमिष्यते।
२. विमुक्तादिभ्योऽण् (५।२।६१)।
३ गोषदादिभ्यो वुन् (५।२।६२)।
४ तत्र कुशल पथ (५।२।६३)।

अर्थ में[1]—आकर्षे कुशल =आकर्षक । आकर्ष कुशल =आकर्षक । कस लगाने में चतुर । जो सुवर्ण आदि को कपोपल पर कस कर परीक्षा करने में कुशल है । त्सरु =खड्गमुष्टि । त्सरुग्रहणे कुशल त्सरुक, त्सरु के ग्रहण करने में कुशल । जये कुशल =जयक । विचये गवेषणाया कुशल =विचयक । नये नीत्या कुशल =नयक । शकुनिषु शकुनिग्रहणे कुशल शाकुनिक ।

कन्—सप्तमीसमर्थ धन, हिरण्य से 'काम' (इच्छा, लोभ) इस अर्थ में[2]—धने काम =धनक । सर्वस्य धनको भवति न च सर्वे धनिका भवन्ति । देहेऽपि नि स्पृहस्यास्य मुमुक्षोर्धनक कुत, देह में भी इच्छारहित इस मुमुक्षु को धन की इच्छा कहाँ । हिरण्ये काम =हिरण्यक । अहो हिरण्यको देवदत्तस्य वाणिजस्य ।

सप्तमीसमर्थ स्वाङ्गवाची शब्दों से 'प्रसित' (बँधा हुआ, लगा हुआ) इस अर्थ में[3]—केशेषु प्रसित केशक =केशादिरचनाया प्रसक्त, जो केशादि सवारने में लगा रहता है । सम्प्रति वटवोऽपि नटवत् केशका भवन्ति । स्वाङ्ग-समुदाय से भी यह प्रत्यय होता है—केशनखक । दन्तौष्ठक ।

ठक्—सप्तमीसमर्थ उदर से 'प्रसित' अर्थ में[4]—उदरे प्रसित = औदरिक, जो खाने-पीने में लगा रहता है, पेटू । इसे 'आद्यून' भी कहते हैं । आद्यून स्याद् औदरिक—अमर ।

तृतीयासमर्थ 'सस्य' में 'परिजात' इस अर्थ में[5]—'सस्य' शब्द गुण का पर्याय है । 'परिजात' में परि शब्द सर्वतोभाव का वाचक है । जो गुणों से युक्त हुआ उत्पन्न होता है जिसमें कुछ भी दोष नहीं उसे 'सस्यक' कहते हैं । सस्येन परिजात सस्यको मणि । आकरशुद्ध इत्यर्थ । सस्यक शालि । सस्यक साधु ।

द्वितीयासमर्थ अंश शब्द से 'हारी' (अवश्य हरति) अर्थ में[6]—अंशक-

---

१ आकर्षादिभ्य कन् (५।२।६४) ।
२ धन-हिरण्यात् कामे (५।२।६५) ।
३ स्वाङ्गेभ्य प्रसिते (५।२।६६) ।
४ उदराट्ठगाद्यूने (५।२।६७) ।
५ सस्येन परिजात (५।२।६८) ।
६ अंश हारी (५।२।६९) ।

वंश्य हरति अंशको दायाद । पित्रादि के ऋक्थ में भागी । अंशक सुत ।

पञ्चमीसमर्थ 'तन्त्र' से अचिरापहृतम् (अचिरमपहृतस्याऽस्य) जिसे खड्डी से उतारे थोड़ा ही समय हुआ है, इस अर्थ में[1]—तन्त्रादचिरापहृत पट तन्त्रक । तन्त्रक प्रावार । नव, प्रत्यग्र को 'तन्त्रक' कहते हैं। तन्त्र=तन्तुवाय की बुनने की शलाका। अनाहत निष्प्रवाणि तन्त्रकं च नवाम्बरे—अमर।

ब्राह्मणक और उष्णिका कन्प्रत्ययान्त निपातन किए जाते हैं संज्ञा विषय में[2]—ब्राह्मणको देश, उस देश का नाम है जहाँ शस्त्रजीवी ब्राह्मण रहते हैं। उष्णिका यवागू । अल्प अन्न वाली यवागू को उष्णिका कहते हैं। यवागूरुष्णिका श्राणा विलेपी तरला च सा—इस वचन से अमर उष्णिका को यवागू-सामान्य का पर्याय समझता है।

द्वितीयासमर्थ क्रियाविशेषण शीत तथा उष्ण से 'कारी' (अवश्य करोति) 'करने वाला' अर्थ में[3]—शीत यथा स्यात्तथा करोति शीतक, अलस, जड। उष्णं करोति उष्णक, शीघ्रकारी, दक्ष। मन्दस्तुन्दपरिमृज आलस्य शीतकोऽनुष्ण —अमर।

'अधिक'—यह कन् प्रत्ययान्त निपातन किया है।[4] अध्यारूढ के उत्तरपद (आरूढ) का लोप और कन् प्रत्यय का निपातन किया है—अधिको द्रोण खार्याः। यहाँ कर्ता में 'अध्यारूढ' शब्द है। अधिक के योग में 'यस्मादधिकम्—' से पञ्चमी तदस्मिन्नधिकम्—से सप्तमी होती है। यहाँ सप्तमी हुई। अधिका खारी द्रोणेन। यहाँ अध्यारूढ शब्द कर्म में प्रयुक्त हुआ है। अधिका =अध्यारूढा। द्रोण खारी में अधिक है। यही पहले वाक्य का अर्थ है।

अनुक, अभिक और अभीक—ये कमिता (चाहने वाला, प्यार करने वाला) अर्थ में कन्प्रत्ययान्त निपातन किए हैं।[5] अनु आदि साधन (कारक) सहित क्रिया को कहते हैं। कन् कर्ता में है। अनुकामयते अनुक। अभिकामयते अभिक। अभीक यहाँ दीर्घ भी होता है। तद्धित प्रत्यय से कर्तृ-

१ तन्त्रादचिरापहृते (५।२।७०)।
२ ब्राह्मणकोष्णिके संज्ञायाम् (५।२।७१)।
३ शीतोष्णाभ्यां कारिणि (५।२।७२)।
४ अधिकम् (५।२।७३)।
५ अनुकाभिकाभीक कमिता (५।२।७४)।

वाचक होने से कर्म अनुक्त रहा, अतः कर्म में द्वितीया होगी—अनुको भार्याम्। अभिको दासीम्।

तृतीयासमर्थ पार्श्व शब्द से अन्विच्छति (ढूंढता है, प्राप्त करना चाहता है) अर्थ में कन् (क) प्रत्यय होता है[1]। पार्श्व शब्द का अर्थ अनृजु, कुटिल उपाय है। पार्श्वेनानृजुनोपायेन अर्थानन्विच्छति पार्श्वकः। पार्श्वक कपटी को कहते हैं। धनसङ्ग्रहे सत्वरः पार्श्वको भवति प्रायेण।

तृतीया-समर्थ अय शूल, दण्डाजिन शब्दों से अन्विच्छति अर्थ में क्रम से ठक् व ठञ् प्रत्यय होते हैं[2]। अय शूल तीक्ष्ण उपाय, क्रूर व्यवहार को कहते हैं और दण्डाजिन दम्भ का नाम है। जब ढोंग के लिए दण्ड और अजिन (मृगचर्म) पहरकर ब्रह्मचारी का वेष बना लिया जाता है, तब दण्डाजिन दम्भार्थक होने से दम्भ का ही नाम हो जाता है। दम्भार्थ में उपचरित हो जाता है। अयःशूलेन अन्विच्छत्यर्थान् आयःशूलिकः, साहसी। दण्डाजिने-नान्विच्छति दाण्डाजिनिकः, दम्भी।

कन्—पूरणप्रत्ययान्त जो ग्रहण (ग्रहण का साधन) उससे स्वार्थ में[3]—द्वितीयेन रूपेण ग्रन्थग्रहणं द्वितीयकम्। पूरणप्रत्यय का विकल्प से लुक् होता है—द्वितीयेन रूपेण ग्रन्थग्रहणं द्विकम्। चतुर्थेन रूपेण ग्रन्थग्रहणं चतुर्थकम्। चतुष्कम्। ग्रन्थ की चौथी आवृत्ति। यहाँ पक्ष में युक् आगम सहित डट् का लुप होता है। ग्रहण करने वाले देवदत्त आदि को कहने के लिए भी प्रत्यय होता है—पञ्चको देवदत्तः। इस अर्थ में पूरण प्रत्यय का नित्य लुक् होता है। देवदत्त पाँच आवृत्तियों से ग्रन्थ ग्रहण करता है।

प्रथमासमर्थ से 'इसका' इस अर्थ में कन् प्रत्यय होता है जब प्रथमा-समर्थ ग्रामणी (श्रेष्ठ, मुख्य) हो[4]—देवदत्तो ग्रामणीरेषां ते देवदत्तकाः। अहं ग्रामणीरेषां ते मत्काः। त्वं ग्रामणीरेषां ते त्वत्काः।

प्रथमासमर्थ 'शृङ्खल' शब्द से इस करभ का (करभ=उष्ट्र बालक) इस अर्थ में कन् प्रत्यय होता है जब प्रथमासमर्थ बन्धन हो[5]—शृङ्खलं बन्धनमस्य

१ पार्श्वेनान्विच्छति (५।२।७५)।
२ अयःशूल-दण्डाजिनाभ्यां ठक्-ठञौ (५।२।७६)।
३ तावतिथं ग्रहणमिति लुग्वा (५।२।७७)।
४ स एषां ग्रामणीः (५।२।७८)।
५ शृङ्खलमस्य बन्धनं करभे (५।२।७९)।

करभस्य शृङ्खलक करभ । शृङ्खल=काष्ठमय निगड जो ऊँट के बच्चे के पाओं में रस्सी से बाँधा जाता है।

'उत्क' यह उन्मनस् (उत्सुक) अर्थ में कन् प्रत्ययान्त निपातन किया जाता है[1]। येनात्तजलचारिभिर्जलचरैरप्युत्कमुत्कूजितम् (अमरोद्घाटन में क्षीरस्वामी)। ससाधन क्रियावचन जो उद् शब्द, उससे कन् प्रत्यय निपातित किया है। उद्गत मनोऽस्य उत्क । मनस् साधन (कारक) है और गमन क्रिया है।

पूरणप्रत्ययान्त कालवाची सप्तमीसमर्थ से तथा प्रयोजन (कारण)-वाची तृतीयासमर्थ से और प्रयोजन (फल) वाची प्रथमासमर्थ से रोग अभिधेय होने पर[2]—द्वितीयेऽह्नि भवो द्वितीयको ज्वर दूसरे दिन होने वाला ज्वर। द्वितीय शब्द यद्यपि सामान्यवाची है जिस किसी दूसरे पदार्थ को कहता है तो भी अर्थ, प्रकरणादिवश तद्धितवृत्ति में वह कालपरक हो जाता है। तृतीयेऽह्नि भवो ज्वर =तृतीयक । चतुर्थेऽह्नि भवो ज्वर =चतुर्थक । प्रयोजन—विषपुष्पैर्जनितो विषपुष्पको ज्वर । प्रयोजन (फल, कार्य)—उष्ण कार्यमस्य उष्णको ज्वर, जिस ज्वर से उष्णता गर्मी उत्पन्न होती है। शीत कार्यमस्य शीतको ज्वर, जिस ज्वर से ठड लगती है, ज्वरित पुरुष काँपने लगता है, जैसे मलेरिया बुखार में होता है। उत्तरसूत्र से यहाँ सज्ञा का अपकर्ष (पीछे को खींचना) किया जाता है, जिससे प्रत्ययान्त सज्ञा होता है।

प्रथमासमर्थ से 'इसमें' इस अर्थ में कन् होता है सज्ञाविषय में जब प्रथमासमर्थ जो 'अन्न' वह प्राय (बहुत, अधिक) होता है[3]—गुडापूपा प्रायेणान्नमस्यां पौर्णमास्या गुडापूपिका पौर्णमासी । तिलापूपिका पौर्णमासी।

इनि—वटका प्रायेणान्नमस्यां पौर्णमास्या वटकिनी पौर्णमासी।[4]

अन्—कुल्माषा प्रायेणान्नमस्यां पौर्णमास्या कौल्माषी पौर्णमासी।[5]

घन्—छन्दोऽधीते श्रोत्रिय ।[6] छन्दस् को श्रोत्र आदेश। अथवा 'छन्दोऽधीते' इस वाक्य के अर्थ में 'श्रोत्रिय' यह पद निपातन किया है।

---

१ उत्क उन्मना (५।२।८०)।
२ काल-प्रयोजनाद्रोगे (५।२।८१)।
३ तस्मिन्नन्न प्राये सज्ञायाम् (५।२।८२)।
४ वटकेभ्य इनिर्वक्तव्य (वा०)।
५ कुल्माषादन् (५।२।८३)।
६ श्रोत्रियश्छन्दोऽधीते (५।२।८४)।

इनि, ठन्—भुक्तोपाधिक द्वितीयान्त श्राद्ध शब्द से 'इसने' इस अर्थ में[1]—**श्राद्धम् अनेन भुक्तम् इति श्राद्धी (इनि)। श्राद्धिक।** श्राद्ध शब्द एक शास्त्र-विहित कर्म का नाम है। जब वह उस कर्म के साधन भोज्य द्रव्य को कहता है तब उससे यह प्रत्यय उत्पन्न होते हैं। **यथाऽश्रोत्रिय श्राद्ध न सता भोक्तु-महति** (बौ० धर्म० १।१५।११)। जिस दिन किसी ने श्राद्ध खाया हो उस दिन के लिए वह श्राद्धी अथवा श्राद्धिक है, दूसरे दिन उसका यह व्यपदेश नहीं होगा।

इनि—क्रियाविशेषण 'पूर्व' से 'अनेन' (इसने) इस अर्थ में[2]। 'अनेन' यह कर्ता को कहता है। पर कर्ता क्रिया के बिना होता नहीं, अतः जिस किसी क्रिया का अध्याहार करके प्रत्यय विधान किया जाता है—**पूर्वं गतमनेन उक्तं श्रुतं पीतं भुक्तं वा पूर्वी। पूर्विणौ। पूर्विणः। कुशलोपाह्वा श्रीराम-चन्द्रशास्त्रिणोऽथ शास्त्रार्थे पूर्विणः। अथ समासेन तत्समर्थनं करिष्यामः।** कुशल उपनामक श्री रामचन्द्र शास्त्री यहाँ शास्त्रार्थ के विषय में पूर्व कह चुके हैं हम संक्षेप से उसका समर्थन करेंगे। **अपूर्वो नार्यमा चार्यो** (रा० ३।१८।४)। **पूर्वमुक्तमनेन पूर्वी। न पूर्वी=अपूर्वी।**

इनि—पूर्वशब्दान्त प्रातिपदिक से भी अनेन (इसने) इस अर्थ में[3]—**पूर्वं कृतमनेन कृतपूर्वी कटम्।** जिस ने पहले चटाई बनाई है। कट कर्म के तद्धित प्रत्यय से अनुक्त होने से द्वितीया हुई।

इष्ट आदि प्रातिपदिकों से अनेन (इसने) इस अर्थ में[4]—**इष्टम् अनेन इति इष्टी,** जिसने यज्ञ किया है। **इष्टिनौ। इष्टिनः। इष्टी सवमखेषु। पूर्तम् अनेनेति पूर्ती श्राद्धे।** 'क्तस्येन्विषयस्य' से कर्म में सप्तमी। **पठिती शास्त्रे। आम्नाती वेदे,** जिसने वेद का अभ्यास किया है। **अधीतम् अनेनेति अधीती व्याकरणे। परिगणिती ज्योतिषि। सङ्कलिती कल्पे। अर्चिती गोविन्दे। मित्रेषूपकृती। नैवेच्छति न चानिच्छो यात्रामात्राव्यवस्थित। अलोलुपोऽव्यथो दान्तो न कृती न निराकृती** (भा० १२। ८६८६)॥

वेद में परिपन्थिन् तथा परिपरिन् शब्द इनि प्रत्ययान्त निपातन किये

---

१ श्राद्धमनेन भुक्तमिनिठनौ (५।२।८५)।

२ पूर्वादिनिः (५।२।८६)।

३ सपूर्वाच्च (५।२।८७)।

४ इष्टादिभ्यश्च (५।२।८८)।

हैं।[1] दोनों का अर्थ पर्यवस्याता=विरोधी होता है। लोक में परिपन्थिन् शब्द का प्रयोग जो कवि लोग करते हैं वह असाधु ही है। परिपरिन् का प्रयोग तो लोक में नहीं देखा गया।

अनुपदिन्—यह अन्वेष्टा (ढूंढने वाला) इस अर्थ में निपातन किया है।[2] अनुपदम्=पदस्य पश्चात्। अव्ययीभाव। अनुपदी गवाम्। अनुपदी उष्ट्राणाम्, गौ के पद चिह्न के पीछे जाता हुआ गौओं को ढूंढने वाला। ऊँटों के पद चिह्न के पीछे जाता हुआ ऊंटों को ढूंढने वाला।

साक्षात् (अव्यय) से इनि प्रत्यय होता है जब द्रष्टा वाच्य हो[3]। सूत्र में इनि (इन्) प्रत्यय आने पर अव्ययानां भमात्रे टिलोपः इस वचन से टि—लोप (आत् का लोप)। साक्षाद् द्रष्टा=साक्षी। साक्षिणौ। साक्षिणः। संज्ञा ग्रहण अभिप्रेत नियम के लिए है। सभी द्रष्टा को साक्षी नहीं कहते। तीन प्रत्यक्ष द्रष्टा होते हैं—जो ऋणादि देता है, जो ऋणादि लेता है और जो तीसरा उनके पास तटस्थ उनकी क्रिया को देखता है। यह जो तीसरा धनिक और अधमर्ण आदि से भिन्न है वह साक्षी कहलाता है, दूसरे दो नहीं।

घच्—'क्षेत्रिय' यह निपातन किया जाता है परक्षेत्रे चिकित्स्य इस वाक्यार्थ में घच् प्रत्यय तथा पर शब्द का लोप निपातन किया है। परक्षेत्र शब्द से 'चिकित्स्य' इस अर्थ में—ऐसा भी कह सकते हैं[4]—परक्षेत्रं जन्मान्तरशरीरम्। परं च तत् क्षेत्रं चेति कर्मधारय। तत्र चिकित्स्यो व्याधि क्षेत्रियः। क्षेत्रियः कुष्ठम्। क्षेत्रियं विषम्, जो विष दूसरे के शरीर में संक्रान्त कर के ही दूर किया जा सकता है। यहाँ परक्षेत्रम्=यह षष्ठी समास है। कृत्य प्रत्यय अर्हार्थ में है। क्षेत्रियाणि तृणानि, जो घास सस्य के खेत में उगा हुआ नाश करने (उखाड़ने) योग्य है। क्षेत्रियः पारदारिकः। परक्षेत्रम्=परदारा। तत्र चिकित्स्यो निग्रहीतव्यः, जो पर स्त्री पर आसक्त हुआ दण्ड से नष्ट किये जाने के योग्य है। यहाँ अर्हार्थ में कृत्य प्रत्यय है।

'इन्द्रिय' शब्द इन्द्र लिङ्ग आदि अर्थों में घच् प्रत्ययान्त निपातन किया

---

१ छन्दसि परिपन्थि परिपरिणौ पर्यवस्थातरि (५।२।८९)।
२ अनुपद्यन्वेष्टा (५।२।९०)।
३ साक्षाद् द्रष्टरि संज्ञायाम् (५।२।९१)।
४. क्षेत्रियच् परक्षेत्रे चिकित्स्य (५।२।९२)।

जाता है। 'इन्द्रिय' यह चक्षुस् आदि की रूढि (प्रसिद्ध संज्ञा) है[1]। अत व्युत्पत्ति का कोई नियम नही। इन्द्र आत्मा तस्य लिङ्गम् इन्द्रियम्। आत्मा का चक्षुस् आदि करणो से अनुमान होता है, कारण कि करण बिना कर्ता के नहीं होता। इन्द्रेण आत्मना दृष्टम् इन्द्रियम्। यहाँ दृष्टम्=ज्ञातम्। कार्यकारण-सङ्घात को प्रस्तुत करके कहा गया है—'स एतमेव पुरुष ब्रह्म ततमपश्यत्'। 'इदमदर्शम्' ऐसा कहा गया है। इन्द्रेण आत्मना सृष्टम्=इन्द्रियम्। आत्मा ने अपने शुभ अशुभ कर्मों के उपभोग के साधन रूप म इन का सर्जन किया, अर्थात् शुभाशुभ कर्मद्वारा इन्द्रियो की उत्पत्ति हुई। इन्द्रेण आत्मना जुष्ट सेवितम् इन्द्रियम्। आत्मा इन्द्रियों के साथ सयुक्त होता है तत्तद्रूपादिज्ञान की प्राप्ति के लिये। इन्द्रेण आत्मना विषयेभ्यो दत्तम् इन्द्रियम्। सूत्र मे 'इति' शब्द प्रकारपरक है। निर्दिष्ट प्रकारो के अतिरिक्त और भी प्रकार हो सकता है। इन्द्रेण आत्मना दुर्जयम् इन्द्रियम् (प्रक्रिया सर्वस्व)।

मत्वर्थीय प्रत्यय

भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने।
संसर्गेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादय ॥ (श्लोकवार्तिक)

प्रातिपदिक से तद् अस्ति अस्य अस्मिन् वा (=वह इसके पास है अथवा इसमे है) इस अर्थ मे मतुप्(मत्)आदि प्रत्यय आते हैं[2]। इन्हे मतुवर्थीय अथवा मत्वर्थीय कहते हैं। मतुप् आदि प्रत्यय 'वह धन आदि है जिसके पास' इस अर्थ मे होते हैं, अर्थात् तच्छब्द-वाच्य धनादि की वर्तमान मे सत्ता होने पर आते हैं, धनादि जिसके पास था अथवा जिसके पास होगा इस अर्थ मे नही। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि मतुप् आदि प्रत्यय भूमन्[1] (बहुत्व), निन्दा[2], प्रशंसा[3] (स्तुति), नित्ययोग[4] (=अविनाभाव, नित्यसम्बन्ध), अतिशायन[5] (=अधिकता, प्रकर्ष), संसर्ग[6] (=सयोग)—इनमे से एक न एक के विषय मे ही प्राय आते हैं। क्रमश उदाहरण—१ गोमान् (बहुगो

१ इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा (५।२।९३)।

२ तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप् (५।२।९४)

गाव सन्त्यस्य)। जिसके पास एक गौ है उसे गोमान् नहीं कह सकते। द्वारवती पुरी (द्वारिका), बहुत से दरवाजों वाली। यह सार्थक नाम है। अस्तिमान्=धनवान्। यहाँ 'अस्ति' तिङन्त प्रतिरूपक प्रातिपदिक है। २ कुष्ठी (कोढ़ी)। यहां इनि (इन्) प्रत्यय हुआ है। ३ रूपवती कन्या (=प्रशस्त रूपम् अस्या अस्ति)। रुक्मपुङ्खा प्रसन्नाग्रा मुक्ता हस्तवता त्वया (भा० विराट० ३५।१८)। हस्तवता=दृढहस्तेन। प्रशस्त अर्थात् स्तुत्य, योग्य, दृढ हाथ वाले तूने। ४ क्षीरिणो* वृक्षाः (=नित्यं क्षीरमेषाम् अस्ति)। ५ उदरिणी सीमन्तिनी (=अतिशयितम् उदरम् अस्या अस्ति)=बढ़े हुए उदर वाली स्त्री। ६ कुण्डली (कान में कुण्डल पहने हुए)। दण्डी (=दण्ड संयोगोऽस्यास्ति)=हाथ में दण्ड लिए हुए। छत्री=सिर पर छाता धारण किए हुए। जिसके घर पर कुण्डल दण्ड और छाते पड़े हैं उसे दण्डी अथवा छत्री नहीं कह सकते। नित्योदकी नित्ययज्ञोपवीती (नित्ययज्ञोपवीत पहने हुए) बौ० ध० २।२।१॥ कभी कभी ये प्रत्यय केवल अस्ति विवक्षा (भूमादि की प्रतीति न होने पर भी) में भी आते हैं—अस्तिमानथ तथाऽपि न प्रतिददाति (इसके पास धन है तो भी ऋण चुकाता नहीं)। यवमतीभिरद्भिर्यूपं प्रोक्षति (जौ वाले जल से यूप पर छींटे देता है)। गन्धवती पृथिवी। गन्ध की सत्तामात्र की विवक्षा है।

यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि—

> तद्धिताः मत्वर्थीयान्नैवेक्ते मतुबादयः।
> सरूपः प्रत्ययो नेष्टः सन्नन्तान्न सनिष्यते॥

समानरूप मत्वर्थीय मत्वर्थीय प्रत्यय से परे नहीं आता है। विरूप तो आता है—दण्डिमती शाला। यहाँ मत्वर्थीय इनि से परे विरूप मतुप् आया है सरूप इनि नहीं। अर्थ है अनेक दण्डियों वाली शाला।

गुणवचनों से मतुप् का लुक् हो जाता है।[1] शुक्लो गुणोऽस्यास्ति शुक्ल। कृष्णो गुणोऽस्यास्ति कृष्ण।

मतुप् के विषय में यह स्मरण रखना चाहिए कि मतुप् (मत्) के म् को व् हो जाता है[2] यदि प्रातिपदिक मकारान्त वा अकारान्त हो, अथवा यदि

---

* न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थपारिशप्लक्षपादपाः। पञ्चैते क्षीरिणो वृक्षाः॥ कोई पारिश के स्थान पर शिरीष पढ़ते हैं और कोई वेतस।

१ गुणवचनेभ्यो मतुपो लुगिष्टः।

२ मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः (८।२।९)।

उपधा में म् वा अकार हो। उदाहरण—किवान्। ज्ञानवान्। धनवान्। विद्यावान्। लक्ष्मीवान्। भास्वान् (सूर्य)। परन्तु भूमिमान्। यवमान्—यहां म् को व् नहीं होता।

रस आदि शब्दों से मतुप् ही प्रायः आता है, अन्य मत्वर्थीय नहीं आते।[1] रसवान् भक्षः। रूपवान् अग्निः। स्पर्शवान् वायुः। गन्धवती पृथिवी। स्नेहवत्य आपः। कहीं-कहीं दूसरे मत्वर्थीय प्रत्यय भी आ जाते हैं—उर्वशी वै रूपिण्यप्सरसाम्। यहां इनि प्रत्यय आता है। रूपिको दारकः। यहां ठन् हुआ है। स्पर्शिको वायुः (भाष्य) यहां भी ठन् हुआ है।

इनि, ठन्—अदन्त प्रातिपदिक से मत्वर्थ में इनि (इन्) और ठन् (=इक) प्रत्यय आते हैं[2]—दण्डी। दण्डिकः। छत्री। छत्रिकः। गतानुगतिको लोकः। गतस्यानुगतम् अनुगमनम् अस्त्यस्य इति गतानुगतिकः। लकीर का फकीर। ग्रीष्मे पञ्चतपास्तु स्याद् वर्षास्वभ्रावकाशिकः (मनु० ६।२३)। बरसात में जहां मेह बरस रहा है वहां आवरण-रहित होकर रहे। आकारान्त से तो यह प्रत्यय नहीं होंगे। मतुप् ही होगा—खट्वावान्। इनि ठन् के विषय में मतुप् भी आता है—दण्डवान्।

यदिकचेदं प्राणि जङ्गमं च पतत्रि च यच्च स्थावरम् (ऐ० आ० ५।३)। प्राणाः सन्त्यस्येति प्राणि। पतत्रे स्तोऽस्येति पतत्रि। राजबीजी=राजवंश्य।

एकाक्षरात्कृतो जाते सप्तम्यां च न तौ स्मृतौ।

एकाच् प्रातिपदिक[1] से, कृदन्तप्रातिपदिक[2] से, जातिवाचक[3] से और सप्तमी विभक्ति के अर्थ में इनि और ठन् नहीं होते, मतुप् होता है—स्वम् (धनम्) अस्यास्ति=स्ववान्। कारकवान्। व्याघ्रवद् वनम्। दण्डा अस्यां सन्तीति दण्डवती शाला। कहीं-कहीं इन से इनि ठन् होते भी हैं—कार्यी (कार्यमस्यास्ति)। कार्यिकः। हार्यी (हार्यं वाहः नेय प्राप्य वाऽस्यास्ति)। तण्डुली। तण्डुलिकः।

व्रीहि आदि शब्दों से इनि और ठन् प्रत्यय आते हैं[3]। व्रीहि आदि गणपठित हैं। इनसे अदन्त न होने से प्राप्ति नहीं थी। व्रीही (व्रीहयः सन्त्यस्य), जिसके पास धान्य है। मायी (=मायाऽस्यास्ति) छली, कपटी। शिखी

१ रसादिभ्यश्च (५।२।६५)।
२ अत इनिठनौ (५।२।११५)।
३ व्रीह्यादिभ्यश्च (५।२।११६)।

(=शिखा चूडाऽस्यास्ति)मयूर । शिखा ज्वालाऽस्यास्ति शिखी=अग्नि । केकाऽस्त्यस्य केकी (मयूर) । सञ्ज्ञाऽस्यास्ति सञ्ज्ञी)। मेखली(=मेखलाऽस्यास्ति) मेखला तडागी पहने हुए। जटी (=जटा अस्य सन्ति), जटावान् । योगिनो गायका । बलाकिनो बलाहका । वर्म अस्यास्ति इति वर्मी । चर्म अस्यास्ति इति चर्मी । दश (ग्रामा) सन्त्यस्येति दशी । दशी कुलं तु भुञ्जीत विंशी पञ्च कुलानि च (मनु० ७।११६) ।

ठन्—(=इक)—व्रीहिक । मायिक । केशिक । नाविक (=नौरस्यास्ति) । भिन्न भिन्न प्रत्यय-विधियों के साथ साथ मतुप् का भी विधान समझना चाहिये जब तक इसे प्रत्यय नियम द्वारा रोका न जाय। अत व्रीही, व्रीहिक के साथ व्रीहिमान् रूप भी सुतराम् इष्ट है।

अदन्त प्रातिपदिक से इनि, ठन् के अन्य उदाहरण—

प्राचार्यव्यतिरिक्ता पुरुषोऽस्वकस्थानिन ( )। प्रत्यक् पाश्चात्य स्थानमस्ति एषाम् इति प्रत्यक्-स्थानिन । क्वचिधौ सर्वत्र प्रसारणिभ्यो ड, क प्रत्यय की प्राप्ति के विषय में सर्वत्र सम्प्रसारण वाली धातुओं से 'ड' प्रत्यय होता है ('क' नहीं), (ब्रह्म जिनातीति ब्रह्मज्य) । खड्गी बाणी शरासनी । खड्गवाला, बाणों वाला, तथा धनुष् वाला । सास्त्रम चैव यत्कर्म सत्त्व मिश्रमकालिकम् । (भा० विराट० २७।७) । नास्ति कालो विलम्बोऽस्येत्यकालिकम् । अकालिक=अविलम्बित, विलम्बरहित, जिसमें विलम्ब होने से बिगाड होगा। यहाँ 'ठन' हुआ है। ईक्षणिका, विप्रश्निका=दैवज्ञा । यहाँ भी ईक्षण, तथा विप्रश्न (=नाना प्रश्न) से ठन् हुआ है और स्त्री प्रत्यय टाप् । प्रात्मनाऽऽषाढी कृष्णाजिनी, वल्कली, अक्षवलयी मेखली, जटी च भूत्वा तपस्यतो जनयितुरेव जगामान्तिकम् (हर्षचरित उच्छ्वास, पृ० १३८) । यहाँ सर्वत्र मत्वर्थ विषय में इनि हुआ है। आषाढ दण्ड अर्थात् ढाक के डंडे वाला (आषाढी), कृष्णमृगचर्म ओढे हुए, वल्कल पहने हुए, रुद्राक्षमाला धारण किए हुए, अपना अधिकार और जटा धारण कर वह तपस्या करते हुए अपने पिता के पास चला गया। मलिनी=स्त्रीधर्मिणी=रजस्वला । यहाँ मल से मत्वर्थीय इनि होकर स्त्री प्रत्यय ङीप् हुआ है। धवलयज्ञोपवीतिनौ तनुमुद्वहन् । यहाँ प्रशंसा अथवा नित्ययोग में इनि हुआ है। पूर्वापरदिने पक्षाविव स्तो यस्या सा पक्षिणी रात्रि । पक्ष—इनि । विरमेत् पक्षिणीं रात्रिम् (मनु० ४।९७) नाराजके जनपदे बद्धघण्टा विषाणिन । अटन्ति राज०

मार्गेषु कुञ्जरा षष्टिहायना (रा० २।६७।२०)॥ यहाँ विषाणिन में प्राशस्त्य में इनि हुआ है। विषाण हाथी दांत को कहते हैं। विषाणिन = प्रशस्त दाँतो वाले। कर्मान्तिक, समाप्ति पर्यन्त कर्म करने वाला सेवक। कर्मान्तोऽस्यास्ति। ठन्। कालाक्षराणि वेद्यानि यस्य सन्ति स कालाक्षरिक। ठन्। जो लिखना पढना सीख रहा है।

व्रीह्यादि होने से इनि (कहीं कहीं ठन्) के उदाहरण—

गुर्विणी=गुरु गर्भोऽस्या। गुरु से इनि। पादुके अस्य स्त इति पादुकी, खडाऊँ वाला। सन्धिनी=वृषभेणाक्रान्ता गौ, गौ जिस पर बैल चढा हुआ है। सन्धाऽस्त्यस्या इति सन्धिनी। यत्नेन भोजयेच्छ्राद्धे''' छन्दोग तु समाप्तिकम्। (मनु० ३।१४५)॥ समाप्तिर् अस्यास्तीति समाप्तिक। जिसने वेदाध्ययन समाप्त कर लिया है। उपानही, पादुकी। आप० ध० १।२।७।२॥ सभिक=सभाऽस्यास्तीति, द्यूतघर का मालिक जूआ करवाने वाला। यहाँ सभा से ठन् हुआ है। मात्रिक=मात्राऽस्यास्तीति। ठन्। कामली, कामला =पीतरोग। अन्तर्धिने वा शूद्राय (आप० ध० १।१।३।४१)। अन्तर्धिर् अन्तर्धानमस्यास्तीति अन्तर्धी। वनमाली—वनमालाऽस्यास्तीति, कृष्ण। जराऽस्यास्ति जरी। नोपभोक्तुं न च त्यक्तुं शक्नोति विषयाञ्जरी (हितोप० १।११३)।

द्वन्द्वसमास विषयक, उपताप (=रोग) विषयक, निन्द्यविषयक प्राणिस्थ-अर्थ-वाचक प्रातिपदिक से मत्वर्थ मे इनि प्रत्यय आता है मतुप् नहीं[1]। द्वन्द्व—चीरजटाजिनी भरत। यस्मात्त्वमागतो देशमिमं चीरजटाजिनी (रा० २।१०१।२)। क्षतवृत्तिर्वने नित्यं फालकुद्दाललाङ्गली (रा० २।३२।२९)। आगमापायिनोऽनित्या (गीता)। सकोचविकासिन कूर्मस्यावयवा। कटक-वलयिनी। शङ्खनूपुरिणी। उपताप—कुष्ठी। किलासी (किलास=सिध्म= झाईं)। शूली कदन्नाशनात्। कुष्ठी श्वासी तमी कासी प्रमेही वातकुण्डली। भ्रमी प्लीह्यर्शसो गुल्मी मक्षयेयुर्विनाऽम्मसा॥ काश्यप संहिता, कल्पस्थान, लशुन कल्प, श्लोक ६६)। कामला पाण्डुरोगोऽस्यास्ति कामली। गर्ह्य— ककुदावर्ती (कन्धे पर चक्र (भौंरी) वाला)। काकतालुकी (कौए की तरह तालु वाला)। परन्तु प्राणिस्थ न होने से पुष्पफलवान् वृक्ष यहाँ द्वन्द्व से इनि नहीं हुआ। प्राणिस्थ होने पर भी प्राण्यङ्ग से नहीं होता—पाणिपाद-

---

१ द्वन्द्वोपतापगर्ह्यात्प्राणिस्थादिनिः (५।२।१२८)।

धनी। प्रशस्त में ही यह 'इनि' का नियम है। तिलकललाटिकावती (तिलक तथा ललाटस्थ भूषण वाली)। यहाँ मतुप् हुआ।

वर्ण से मत्वर्थ में इनि प्रत्यय आता है जब प्रकृति प्रत्यय-समुदाय का अर्थ ब्रह्मचारी हो[1]—वर्णी। इस अर्थ में मतुप् नहीं होता। अर्थान्तर में तो होता ही है—वर्णवान् ब्राह्मणादि। शूद्रस्त्ववर्ण। किरातार्जुनीय में प्रयोग भी है—स वर्णिलिङ्गी विदित समाययौ।

वात और अतिसार (रोगवाचक)—इनसे मत्वर्थ में इनि प्रत्यय होता है और साथ ही इन्हें कुक् (क्) आगम होता है जो कित् होने से इनके अन्त में होता है[2]। यहाँ भी इनि प्रत्यय का नियम है, दूसरा मतुप् आदि प्रत्यय नहीं होता—वातोऽस्यास्ति इति वातकी (जिसे वायु-रोग है)। अतिसारकी (=अतिसारोऽस्यास्ति) जिसे दस्त रोग है)। रोग-वाचक वात से इनि प्रत्यय का नियम है अन्यत्र मतुप् निर्बाध रूप से होगा—वातवती गुहा।

पूरण-प्रत्ययान्त से मत्वर्थ में इनि प्रत्यय आता है वय (अवस्था) की प्रतीति होने पर[3]—पञ्चमो मास संवत्सरो वाऽस्य पञ्चमी उष्ट्र। दशमी। पाँच महीने अथवा पाँच वर्ष की उम्र वाला ऊँट। यहाँ भी मतुप् नहीं होता।

धर्म, शील, वर्ण—अन्तवाले प्रातिपदिक से मत्वर्थ इनि प्रत्यय आता है।[4] ब्राह्मणानां धर्म = ब्राह्मणधर्म, सोऽस्यास्ति ब्राह्मणधर्मी। ब्राह्मणशीली। ब्राह्मणवर्णी।

सुख, दुःख, कृच्छ्र, हल, प्रणय—इनसे मत्वर्थ में इनि प्रत्यय आता है, मतुप नहीं और ठन् भी नहीं।[5] सुखी। दुःखी। कृच्छ्री (कृच्छ्रं कष्टमस्यास्ति इति)। हली (हलोऽस्यास्ति इति)। प्रणयी। जात सखे प्रणयवान् मृगतृष्णिकायाम्—यहाँ कालिदास का प्रणयवान् प्रयोग चिन्त्य है।

हस्त शब्द से मत्वर्थ में इनि प्रत्यय आता है, मतुप् नहीं, जब प्रकृति-

---

१ वर्णाद् ब्रह्मचारिणि (५।२।१३४)।
२ वातातीसाराभ्यां कुक् च (५।२।१२९)।
३ वयसि पूरणात् (५।२।१३०)।
४ धर्मशीलवर्णान्ताच्च (५।२।१३२)।
५ सुखादिभ्यश्च (५।२।१३१)।

प्रत्यय समुदाय से जाति का बोध हो[1]—हस्ती (=कर· शुण्डाऽस्यास्ति इति हस्ती गजः। अन्यत्र हस्तवान् रहेगा।

पुष्कर आदि गण-पठित प्रातिपदिकों से मत्वर्थ में इनि प्रत्यय होता है यदि समुदाय से देश का बोध हो[2]—पुष्कराणि कमलानि सन्ति अस्याम् इति पुष्करिणी (वापी)। पद्मिनी। कुमुदिनी। उत्पलिनी।

इनि प्रकरण में बाहुपूर्वक बलान्त प्रातिपदिक तथा ऊरुपूर्वक बलान्त-प्रातिपदिक से मत्वर्थ में इनि प्रत्यय का उपसंख्यान करना चाहिए ऐसा वार्तिककार कहते हैं[3]—बाह्वोर्बलं बाहुबलम्, तदस्यास्ति बाहुबली। ऊर्वो-र्बलम् ऊरुबलम्, तदस्यास्ति ऊरुबली (जंघा बल वाला)।

सर्व पूर्वपद होने पर धनाद्यन्त प्रातिपदिक से मत्वर्थ में इनि प्रत्यय होता है[4]—सर्वाणि च तानि धनानि च=सर्वधनानि, तान्यस्य सन्ति=सर्वधनी। इसी प्रकार सर्वबीजी। सर्वकेशी नटः। न कर्मधारयान्मत्वर्थीयो बहुव्रीहिश्चेत्तदर्थ-प्रतिपत्तिकरः इस वामन-वचन का यह वार्तिक अपवाद है। इसका अर्थ है—कर्मधारय समास करके उससे परे मत्वर्थीय नहीं करना चाहिए यदि ऐसा करने से जिस अर्थ का बोध होता है उसका बहुव्रीहि समास रूप एक वृत्ति से ही बोध हो सके। सर्वा शक्तयोऽस्मिन् स सर्वशक्तिः ऐसा कहना ही उचित है। सर्वा शक्तयः=सर्वशक्तयः (कर्मधारय)। ता सन्त्यस्मिन् स सर्वशक्ति-मान् ऐसा कहना उचित नहीं।

अर्थ शब्द से जब इसका अर्थ असंनिहित(=अविद्यमान, पास में न होता हुआ) अर्थ हो तो इनि प्रत्यय होता है।[5] असंनिहितार्थोऽस्यास्ति=अर्थी। अन्यत्र मतुप् होगा—अर्थवान्=धनवान्, प्रयोजनवान्।

अर्थशब्दान्त प्रातिपदिक से भी इनि प्रत्यय का नियम है[6]—हिरण्येनार्थः =हिरण्यार्थः, सोऽस्यास्ति=हिरण्यार्थी, जिसे हिरण्य (सुवर्ण) चाहिए। इसी प्रकार धान्यार्थी।

---

१ हस्ताज्जातौ (५।२।१३३)।
२ पुष्करादिभ्यो देशे (५।२।१३५)।
३ इनिप्रकरणे बलाद्बाहूरुपूर्वपदादुपसंख्यानम्।
४. सर्वादेश्च (वा०)।
५ अर्थाच्चासंनिहिते (वा०)।
६ तदन्ताच्चेति वक्तव्यम्।

बल आदि प्रातिपदिकों से इनि प्रत्यय आता है, पक्ष में मतुप् भी आता है[1]—बली । बलवान् । उत्साही । उत्साहवान् । आयामी । आयामवान् (लम्बा) । व्यायामी । व्यायामवान् । इनसे ठन् नहीं होता ।

केश शब्द से मत्वर्थ में विकल्प से 'व' प्रत्यय आता है[2]—केशा सन्त्यस्य केशव । केशी । केशिक । केशवान्—ये रूप भी इनि, ठन्, मतुप् प्रत्ययों से बनेंगे ।

गाण्डी और अजग से मत्वर्थ में 'व' प्रत्यय होता है संज्ञा विषय में[3] गाण्डीव नामार्जुनस्य धनुः । अजगव चापस्य । व प्रत्यय अन्यत्र भी देखने में आता है[4]—अर्णांसि जलानि सन्त्यस्मिन्=अर्णव (समुद्र) । यहाँ अर्णस् के 'स्' का लोप भी होता है । राज्य केसरपङ्क्तय सन्त्यस्य=राजीव (कमल) । मालम् उन्नतभूप्रदेशोऽस्यास्ति=मालव (देशविशेष का नाम) । मणिव । हिरण्यव ।

रजस्, कृषि, आसुति, परिषद्—इनसे मत्वर्थ में वलच् (वल) प्रत्यय आता है[5] और वल परे रहते प्रातिपदिक के अन्त्य अण् (=अ इ उ) को दीर्घ हो जाता है[6]—रजस्वला (=ऋतुमती) । रजोऽस्मिन्ग्रामे विद्यत इस अर्थ में रजस्वलो ग्राम—ऐसा नहीं कह सकते ऐसा काशिकाकार का कहना है । पर मनु० (६।७७) में 'रजस्वल' देह का विशेषण पढ़ा है । आपस्तम्ब धर्मसूत्र (१।७।११) में भी रजस्वलो रक्तदन् सत्यवादी स्यादिति हि ब्राह्मणम् ऐसा पाठ है । जहाँ रजस्वल=मलिनगात्र । महाभारत (७।१४५४, ३। १३७०) में भी 'रजस्वल', रजोवकीर्ण, धूलिधूसरित अर्थ में आया है । कृषीवल (किसान) । आसुतीवल (कलाल) । आसुति=शराब निकालना । परिषद्वलो राजा । सभा वाला, सभा का स्वामी ।

दन्त तथा शिखा शब्द से मत्वर्थ में 'वलच्' प्रत्यय संज्ञा विषय में आता है[7]—दन्तावलो नाम कश्चित् । दन्तावलो=हस्ती । शिखावल नाम नगरम् ।

---

१ बलादिभ्यो मतुबन्यतरस्याम् (५।२।१३६) ।
२ केशाद्वोऽन्यतरस्याम् (५।२।१०६) ।
३ गाण्ड्यजगात्संज्ञायाम् (५।२।११०) ।
४ वप्रकरणेऽन्येभ्योऽपि दृश्यत इति वक्तव्यम् । अर्णसो लोपश्च (वा०)।
५ रजःकृष्यासुतिपरिषदो वलच् (५।२।११२) ।
६ वले (६।३।११८) ।
७ दन्तशिखात्संज्ञायाम् (५।२।११३) ।

वलच् प्रत्यय अन्यत्र भी होता है—भ्रातृवल । पुत्रवल । उत्साहवल । परन्तु इनमे दीर्घ नही होता ।

द्यु और द्रु (शाखा) से मत्वर्थ मे 'म' प्रत्यय होता है[1]—द्युम । द्रुम । ये रूढि शब्द हैं । इनमें विकल्प से मतुप् नही होता ।

ज्योत्स्ना, तमिस्रा, शृङ्गिण, ऊर्जस्वल, गोमिन्, मलिन, मलीमस—ये मत्वर्थ मे निपातन किए हैं ।[2] ज्योत्स्ना=चन्द्रप्रभा । तमिस्रा=तामसी रात्रि =अन्धेरी रात । स्त्रीत्व का नियम नही । तमिस्र नभ (तमोमय आकाश) ऐसा भी प्रयोग होता है । शृङ्गं अस्य स्त इति शृङ्गिण । इनच् प्रत्यय निपातित किया है । ऊर्ज शब्द असन्त है उसे असुक् (अस्) आगम, विनि और ग्लच् प्रत्यय निपातन किए हैं—ऊर्जस्वी । ऊर्जस्वल । गो से मिनि प्रत्यय निपातन किया है—गाव सन्त्यस्येति गोमी । यह पूज्यावचन भी है जैसे चन्द्रगोमी यहां । मल' मे इनच् ईमसच् प्रत्यय निपातन किए हैं—मलिन । मलीमस । दोनो समानार्थक हैं ।

प्राणिस्थ अङ्गवाची आकारान्त शब्द से मत्वर्थ मे लच् (ल) विकल्प से होता है[3]—चूडाल । चूडावान् । जङ्घाल । जङ्घावान् । कर्णिकाल । कर्णिकावान् । पर शिखावान् प्रदीप । यहा शिखा प्राणिस्थ अङ्ग नहीं, अत लच् नही हुआ ।

सिध्म आदि गणपठित प्रातिपदिकों मे मत्वर्थ मे लच् विकल्प से आता है ।[4] सिध्मादियो के आकारान्त न होने से प्राप्ति नही थी—सिध्मम् अस्यास्ति=सिध्मल । सिध्मवान् (फिलासी, झाई वाला) । गडुल । गडुमान् (कुब्ज) । हनुल । हनुमान् । मासल । मासवान् । पासुल । सक्तुल । सक्थिल । पर्शुल । ग्रन्थिल । सक्थि नपु०=ऊरु=रान)—पासु, सक्तु न तो आकारान्त हैं और न प्राणिस्थ अङ्ग हैं । शीतल । श्यामल । पिङ्गल । पित्तल । पृथुल । मृदुल । मञ्जुल । वटुल । कपिल —इनमे शीत आदि शब्द भावप्रधान हैं—शीत वीर्यम् अस्यास्तीति शीतल । कपि कपिवर्णोऽस्यास्ति=कपिल ।

---

१ द्युद्रुभ्या म (५।२।१०८) ।
२ ज्योत्स्ना तमिस्रा-शृङ्गिणोर्जस्विन्नूर्जस्वल-गोमिन्-मलिन-मलीमसा (५।२।११४) ।
३ प्राणिस्थादातो लजन्यतरस्याम् (५।२।९६) ।
४ सिध्मादिभ्यश्च (५।२।९७) ।

कण्डूल (कण्डू खर्जू अस्यास्ति) । यूकाल । मक्षिकाल । यूका, मक्षिका आकारान्त तो हैं पर प्राण्यस्थ अङ्ग नहीं । विचर्चिकाल (=पामन, गीली खुजली वाला) । विपादिकाल (विपादिका=बिवाई) । पार्ष्णि (एड़ी), धमनि (नाडी)—इनके अन्त्य 'इ' को दीर्घ भी होता है—पार्ष्णील । धमनील (निर्मांस, जिसकी नाडियाँ दीख रही हैं) । जटा, घटा, काल से लच् होता है जब निन्दा की प्रतीति हो—जटाल । जटालोऽयमजनो मिथ्यातापस ।

वत्स, अंस से लच् प्रत्यय आता है जब समुदाय का क्रम से 'कामवान्' (इच्छावान्, स्नेहवान् प्यार वाला), तथा 'बलवान्' अर्थ हो[1]—वत्सल पिता । वत्सला माता । वत्सल स्वामी । अंसल =बलवान् । वत्स, अंस—ये वृत्ति विषय (तद्धित विषय) में स्वभाव से स्नेह और बल के वाचक हैं । लच् प्रत्ययान्त वत्सल, अंसल क्रम से स्नेहवान् और बलवान् को कहते हैं । इनमे वत्स (बच्चा) अंस (कन्धा) का अर्थ कुछ भी नहीं । अत महावीरचरित (४।११) म 'हा महत्मल वत्स रावण' यह मातामह माल्यवान् की उक्ति सगत होती है ।

फेन शब्द से लच् तथा इलच् दोनो होते हैं[2]—फेनिल मूत्रम् । फेनल मूत्रम् । मतुप् तो निर्बाध होता है—फेनवन्मूत्रम् ।

लोमादि शब्दो से मत्वर्थ मे 'श', पामन् आदि शब्दो मे 'न' और पिच्छ आदि शब्दो से इलच् प्रत्यय होता है[3]—लोमश (लोमानि सन्त्यस्य) । कपि कपिवर्णोऽस्यास्ति कपिश । पामन (पाम अस्यास्ति) गीली खुजली वाला । नलोप प्रातिपदिकान्तस्य (८।२।७) मे न लोप । हेमन (हेम=स्वर्णम् अस्यास्ति) । श्लेष्मण (श्लेष्मा अस्यास्ति) । वलिन (वलय सन्त्यस्य) । लक्ष्मीर् अस्यास्ति= लक्ष्मण । यहाँ लक्ष्मी के ईकार को अकार भी हो जाता है । कल्याणमङ्गम् अस्या अस्तीति अङ्गना । पिच्छिल (पिच्छमस्यास्ति) । उरसिल (उरोऽस्यास्ति) चौड़ी छाती वाला । पङ्किल (पङ्कोऽस्यास्ति) ।

प्रज्ञा, श्रद्धा, अर्चा, वृत्ति—इनसे मत्वर्थ मे 'ण' प्रत्यय आता है—प्राज्ञ (प्रज्ञावान्) । श्राद्ध (श्रद्धावान्) । श्रद्धावत् कर्म=श्राद्धम् । (श्रद्धाऽस्मिन्न-

---

१ वत्सांसाभ्या कामबले (५।२।९८) ।

२ फेनादिलच्च (५।२।९९) ।

३ लोमादि पामादि पिच्छादिभ्य शनेलच (५।२।१००) । अङ्गात् कल्याणे (ग० सू०) । लक्ष्म्या अच्च (ग० सू०) ।

४ प्रज्ञा श्रद्धार्चाभ्यो ण (५।२।१०१) । वृत्तेश्चेति वक्तव्यम् (वा०) ।

स्तीति)। प्राचं (प्रर्चावान्)। वार्तं (वृत्तिरस्यास्ति)=स्वस्थ। विच्छिन्नस्य प्रतिविधान वृत्ति तत्त्वबोधिनी)। वार्तम्=तुच्छ। इन सब मे प्रत्यय के णित् होने से आदि वृद्धि हुई है।

तपस्, सहस्र—इनसे मत्वर्थ में क्रम से विनि, इनि प्रत्यय होते हैं[1]—तपस्वी। तपस्वी चाप्रमादी च तत पापात्प्रमुच्यते (बौ० ध० १।५।१०।३४)। तपस्वी=कृच्छ्र आदि व्रतो को करने वाला। सहस्री (सहस्र मुद्रादय) सन्त्यस्येति। 'सहस्र' से ठन् भी नहीं होता। शतीच्छति (शती इच्छति) सहस्री स्यामिति। जिसके पास सौ (मुद्रा आदि) हैं वह चाहता है मेरे पास हजार हों।

इनसे मत्वर्थ में अण् भी होता है[2]—तापस। साहस्र। उभयत्र आदि वृद्धि हुई है। स्त्रीत्वविवक्षा मे ङीप् होगा।

अण् प्रकरण मे ज्योत्स्ना आदि शब्दो से भी अण् होता है ऐसा वार्तिककार कहते हैं[3]—ज्यौत्स्न पक्ष (ज्योत्स्नाऽस्मिन्नस्ति)। तामिस्र। कौतप। दिन के अष्टम भाग को जब सूर्य मन्द होता है कुतप कहते हैं। कुतप कालोऽस्यास्तीति कौतप। सुधालेपोऽस्यास्तीति सौधम्, राजाओं के योग्य निवासस्थान। सूतिमासो वैजमन (प्रमर)। विजनन गर्भविमोचन तद् प्रस्मिन्नस्तीति वैजमन।

सिकता, शर्करा (माधुर्य)—इनसे मत्वर्थ मे अण् प्रत्यय होता है[4]—सैकतो घट (सिकता अस्मिन्सन्ति)। शार्कर मधु। (शर्करा=माधुर्यम् अस्मिन्नस्ति)।

सिकता, शर्करा (=कंकड, पथरीली मिट्टी)—इनसे अण् आदि प्रत्यय का लुप्, इलच्, अण् तथा मतुप् होते हैं जब देश अभिधेय (विशेष्य) हो[5]—सिकता अस्मिन् देशे विद्यन्त इति सिकता देश। सिकतिल। सैकत। सिकतावान्। शर्करा अस्मिन्सन्तीति शर्करा देश। शार्करिल। शार्कर।

---

१ तप सहस्राभ्या विनीनी (५।२।१०२)।
२ अण् च (५।२।१०३)।
३ अण् प्रकरणे ज्योत्स्नादिभ्य उपसंख्यानम् (वा०)।
४ सिकता-शर्कराभ्या च (५।२।१०४)।
५ देशे लुबिलचौ च (५।२।१०५)।

शर्करावान् । लुप् होने पर लुप्तप्रत्यय के अर्थ में प्रकृति के लिङ्ग वचन होते हैं सो यहाँ सिकता देश में सिकता (स्त्री० बहु०) के ही लिङ्ग वचन हुए हैं। शर्करा स्त्रीलिङ्ग है। शर्करा देश यहाँ भी शर्करा स्त्री० बहु० में प्रयुक्त हुआ है।

दन्त शब्द से 'उन्नत दन्त वाला' इस अर्थ को कहने के लिए उरच् (उर) प्रत्यय आता है।[1] अजादि प्रत्यय परे होने से पूर्व 'दन्त' की 'भ' संज्ञा होने से 'अ' का लोप हो जाता है—उन्नता दन्ता अस्येति दन्तुर।

ऊष (क्षारमृत्तिका), सुषि (पोल), मुष्क (अण्डकोष), मधु—इनसे मत्वर्थ में 'र' प्रत्यय होता है[2]—ऊषर क्षेत्रम् (रेह वाला खेत)। सुषिरो वंश (पोला बाँस)। मुष्करो बलीवर्द। मधुरो गुड। ऊषोऽस्मिन्नस्ति विद्यते इत्यादि में प्रत्यय नहीं होता। मत्वर्थ प्रकरण के आदिम सूत्र में 'इति' शब्द अगले सब सूत्रों में अभिधेय का नियम करने के लिए अनुवृत्त होता है। 'मधु' से यहाँ रसना ग्राह्य मधुर रस (माधुर्य) का ग्रहण है, न कि मधु (माक्षिक) का।

रप्रकरण में ख, मुख, कुञ्ज—इनसे भी 'र' प्रत्यय आता है ऐसा वार्तिककार कहते हैं[3]—खम् महत् कण्ठविवरम् अस्यास्ति इति खर (गधा)। मुखमस्यास्ति सर्वस्मिन् वक्तव्ये इति मुखर (जो बात-बात में बोलता रहता है)। कुञ्ज=हाथी का हनु=जबड़ा। कुञ्जाव अस्य स्त इति कुञ्जर (हाथी)।

नग (वृक्ष), पांसु (धूलि), पाण्डु से भी 'र' प्रत्यय होता है[4]—नगरम् (नगा वृक्षा सन्त्यस्मिन्)। पांसुरम् (धूलियुक्त)। पाण्डुरम् (पाण्डु वर्ण वाला)। कच्छू (स्त्री०) से भी 'र' प्रत्यय आता है और साथ ही इसे ह्रस्व हो जाता है—कच्छुर पुरुष (पामन)। 'कच्छू' गीली खुजली का नाम है।

तुन्द (जठर, तोंद) आदि शब्दों से मत्वर्थ में इलच् प्रत्यय होता है। इनि, ठन् और मतुप् भी होते हैं[5]—तुन्दिल (बढ़े हुए पेट वाला)। तुन्दी।

१ दन्त उन्नत उरच् (५।२।१०६)।
२ ऊष-सुषि मुष्क मधो र (५।२।१०७)।
३ रप्रकरणे ख मुख-कुञ्जेभ्य उपसंख्यानम् (वा०)।
४ नग-पांसु-पाण्डुभ्यश्चेति वक्तव्यम् (वा०)। कच्छ्वा ह्रस्वत्वं च (वा०)।
५ तुन्दादिभ्य इलच्च (५।२।११७)।

तुन्दिक. । तुन्दवान् । उदरिल । उदरी । उदरिक । उदरवान् । पिचण्डिल । (पिचण्ड=कुक्षि) । पिचण्डी । पिचण्डिक । पिचण्डवान् । स्वाङ्ग की वृद्धि मे भी इलच् आदि प्रत्यय होते हैं—विवृद्धौ पादावस्य पादिल । पादी । पादिक । पादवान् । विवृद्धौ महान्तौ कर्णावस्य कर्णिल । कर्णी । कर्णिक । कर्णवान् ।

एकशब्दपूर्वक तथा गोशब्दपूर्वक प्रातिपदिक से नित्य ठञ् (=इक) प्रत्यय आता है[1]—एकशतमस्यास्ति ऐकशतिक । (एक सौ एक जिसके पास है) । एकसहस्रमस्यास्ति ऐकसहस्रिक (एक हजार एक जिसके पास है) । गोशतमस्यास्ति गौशतिक (सौ गौएं जिसके पास हैं) । गौसहस्रिक । यहाँ सर्वत्र ठञ के ञित् होने से आदि वृद्धि हुई है । अदन्त प्रातिपदिक से ही यह विधि है । एकविंशतिरस्यास्ति । यहाँ ठञ् प्रत्यय नही होता । नित्यग्रहण से एकशत गोशत आदि से मतुप् नही होता । किन्हीं का एकद्रव्यवत्त्वात् (एकद्रव्य-वाला होने से) यह प्रयोग असाधु ही जानना चाहिए । अथवा एकेन द्रव्य-वत्त्वात् ऐसा विग्रह करके समाधान करना चाहिए ।

रूप शब्द से जब वह आहत रूप (आहत=आहनन से निष्पन्न) अथवा प्रशस्त रूप हो, मत्वर्थ मे यप् (य) प्रत्यय आता है ।[2] प्रत्यय आद्युदात्त होता है, पर यहाँ अनुदात्त इष्ट है, इसलिए पित् पढा है । आहतं रूपमस्य रूप्यो दीनार । रूप्य कार्षापणम् । प्रशस्तं रूपमस्य रूप्य पुरुष । निघातिकाताड-नादिना दीनारादिषु यद्रूपमुत्पद्यते तदाहतमुच्यते (काशिका) ।

यप् प्रकरण मे अन्य प्रातिपदिकों से भी यप आता है ऐसा वार्तिककार कहते हैं[3]—हिम्या पर्वता (हिम्या=बहुहिमा) । गुण्या ब्राह्मणा (उत्तम-गुणयुक्त ब्राह्मण) । हिम से मतुप् भी होता है—हिमवन्त पर्वता । गुण से इनि भी होता है—गुणिन सत्पुरुषा ।

अस्-अन्त, माया, मेधा, स्रज्—इनसे मत्वर्थ मे विनि (विन्) प्रत्यय आता है[4]—यशस्वी । पयस्वी । तेजस्वी । वर्चस्वी । आगस्वी (अपराधी) ।

---

१. एक-गोपूर्वाट् ठञ् नित्यम् (५।२।११८) ।
२ रूपादाहत प्रशसयोर्यप् (५।२।१२०) ।
३ यप्प्रकरणेऽन्येभ्योऽपि दृश्यत इति वक्तव्यम् (वा०) ।
४ अस्माया-मेधा-स्रजो विनि (५।२।१२१) ।

नक्षन्ति यश्च अवसा नमस्विनम् (=प्रणसम्) (ऋ० १।६६।२)। नक्षन्ति= व्याप्नुवन्ति=पहुँचते हैं। मायावी। मेधावी (मेधा=धारणावती बुद्धि)। स्रग्विन्—प्रथमा एक० स्रग्वी। पुष्पमाला पहने हुए। यहां सर्वत्र मतुप् का समुच्चय होने से यशस्वान्, पयस्वान् इत्यादि रूप भी होंगे। परन्तु सरस्वान् (समुद्र), सरस्वती—यहां विनि नहीं होता। माया शब्द व्रीह्यादियों में पढ़ा है, अतः इससे इनि और ठन् भी होंगे—मायी। मायिक।

आमय (=रोग) से वेद में और लोक में विनि प्रत्यय होता है और आमय' के 'अ' को दीर्घ हो जाता है[1]—आमयावी (रोगी)।

शृङ्ग, वृन्द—इनसे आरकन् (आरक) प्रत्यय होता है[2]—शृङ्गमस्यास्ति—शृङ्गारक (शृङ्गी, सींग वाला)। वृन्दमस्यास्ति=वृन्दारक (देवता,श्रेष्ठ)।

फल, बर्ह (=मयूरपिच्छ=मोर का पंख)—इनसे मत्वर्थ में इनच् (इन) प्रत्यय होता है[3]—फलिनो वृक्षः। मतुप् और इनि भी होते हैं—फलवान् वृक्षः। फली वृक्षः। बर्हं पिच्छमस्यास्ति=बर्हिणः (मोर)। बर्हिणौ। बर्हिणाः। इनि भी होता है—बर्ही (मोर)। बर्हिणौ। बर्हिणः।

हृदय शब्द से मत्वर्थ में चालु (आलु) प्रत्यय विकल्प से आता है[4]—हृदयालुः। पक्ष में इनि ठन् होकर हृदयी, हृदयिक भी होंगे। मतुप् तो सर्वत्र समुच्चित रहता है—अतः हृदयवान् रूप भी होगा।

शीत, उष्ण, तृप्र से चालु (आलु) प्रत्यय आता है 'शीत आदि को नहीं सहता है' इस अर्थ में[5]—शीतं न सहते—शीतालुः (सर्दी से तंग आया हुआ)। उष्णं न सहते=उष्णालुः (गरमी से घबराया हुआ)। उष्णालुः शिशिरे निषीदति तरोर्मूलालवाले शिखी (विक्रमोर्वशी), गरमी से घबराया हुआ मोर वृक्ष के मूल की क्यारी में बैठता है। तृप्रं पुरोडाशं तं न सहते (तृप्रं दुःखं तन्न सहते इति माधव)=तृप्रालुः। तन्न सहते इसका सोऽस्योढोऽस्यास्ति—इस प्रकार व्याख्यान करना चाहिए, अन्यथा मत्वर्थता की प्रतीति न होने से इस विधि को मतुप्प्रकरण में रखना संगत न होगा।

---

१ सर्वत्रामयस्योपसंख्यानम् (वा०)।

२ शृङ्गवृन्दाभ्यामारकन् वक्तव्यः (वा०)।

३ फलबर्हाभ्यामिनज् वक्तव्यः (वा०)।

४ हृदयाच्चालुरन्यतरस्याम् (वा०)।

५ शीतोष्ण-तृप्रेभ्यस्तन्न सहत इत्यालुज् वक्तव्यः (वा०)।

'हिम' से चेलु (एलु) प्रत्यय आता है[1]—हिम को नहीं सहता हिमेलु ।

बल शब्द से भी उपर्युक्त अर्थ में 'ऊल' प्रत्यय आता है[2]—बलं न सहते =बलूल (शक्ति के सामने झुक जाने वाला)।

'वात' से इसी अर्थ में तथा समूह अर्थ में 'ऊल' प्रत्यय आता है[3]—वातं न सहते=वातूल (वातविकाराधीन, बाउला) । वातानां समूह = वातूल ।

पर्वन्, मरुत् से मत्वर्थ में तप् (त) प्रत्यय होता है।[4] कोई इसे तन् (नित्) पढ़ते हैं। स्वर में भेद होगा। पर्ववान् पर्वत (पहाड़)। पर्वत को पर्वत इसलिए कहते हैं कि इसमें पर्व तहें होती हैं, पर्वाणि सन्त्यस्य । मरुतो देवा सत्यस्य मरुत इन्द्र । मरुत परिवेष्टारो मरुत्तस्यावसन् गृहे (ऐ० ब्रा० ८।२१।१४)।

ऊर्णा शब्द से मत्वर्थ में 'युस्' प्रत्यय होता है।[5] ऊर्णाऽस्य विद्यत ऊर्णायु, मेषकम्बल, मेष=भेड़ के लोमों से बना हुआ कम्बल । युस् में स् (इत्) इसलिए पढ़ा है ताकि पूर्व की पद-संज्ञा हो, यकारादि प्रत्यय परे होने से 'भ' संज्ञा न हो। 'भ' संज्ञा होने पर ऊर्णा के 'आ' का लोप हो जाता। आपस्तम्ब धर्मसूत्र (१।२।३६) में 'ऊर्णायु' भेड़ के अर्थ में पढ़ा है।

वाच् शब्द से मत्वर्थ में ग्मिनि (ग्मिन्) प्रत्यय होता है।[6] यहाँ प्रत्यय के आदि 'ग्' की इत्संज्ञा नहीं होती कारण कि ग्मिन् तद्धित प्रत्यय है।[7] अत वाच् के 'च्' को कुत्व होकर वाग्ग्मिन् (प्र० एक० वाग्ग्मी) रूप सिद्ध होगा जिसमें दो गकार सुनेंगे। प्रशस्ता वागस्यास्ति=वाग्ग्मी । ललित मधुर तथाल्पाक्षरों से बहुत से अर्थ का बोध कराना यही वाणी का प्राशस्त्य (प्रशंसा, प्रकर्ष) है। मितं मनोहारि वचो हि वाग्मिता ।

पर 'बहुत कुत्सित बोलने वाला' इस अर्थ में 'वाच्' से आलच् (आल)

---

१ तन्न सहत इति हिमाच्चेलु (वा०)।

२ बलाच्चोलच् (वा०)।

३ वातात्समूहे च (वा०)।

४ तप् पर्व मरुद्भ्यां वक्तव्य (वा०)।

५ ऊर्णाया युस् (५।२।१२३)।

६ वाचो ग्मिनि (५।२।१२४)।

७ लशक्वतद्धिते (१।३।८)।

और आटच (आट) प्रत्यय आते हैं[1]—वाचाल । वाचाट । स्याज्जल्पाकस्तु वाचालो वाचाटो बहुगर्ह्यवाक्—अमर ।

स्वामिन शब्द ईश्वर, मालिक प्रभु, बली अर्थ में आमिन् प्रत्ययान्त निपातन किया है[2]—स्वमस्यास्ति=ऐश्वर्यमस्यास्ति=स्वामी । धन अथवा ज्ञाति-वाचक 'स्व' शब्द से तो मतुप् होगा—स्ववान्=धनवान् ।

अर्शस (बवासीर के मस्से) आदि शब्दों से मत्वर्थ में अच् (अ) प्रत्यय आता है[3]—अर्शांसि सन्त्यस्य अर्शस (बवासीर का रोगी) । पलितानि सन्त्यस्य पलित शिर (जरा के कारण सफेद बालों वाला सिर) । न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलित शिर (मनु० २।१५६) । उरोऽस्यास्ति उरस (=उरस्वान्, महोरस्क, चौड़ी छाती वाला) । पापम् अस्यास्ति पाप । पाप पापा कथयथ कथ शौर्यराशे पितुर्मे (वेणी० ३।६) । पापेन मृत्युना गृहीतोऽस्मि (मालविका) । पद्मम् अस्या अस्तीति पद्मा (लक्ष्मी) । कमलमस्या अस्तीति कमला (लक्ष्मी) । न्युब्ज पृष्ठवक्रत्वकारी रोगोऽस्यास्ति न्युब्ज = जो रोग से कुबड़ा हो गया है । भुजन्युब्जौ पाण्युपतापयो (७।३।६१) से 'न्युब्ज' रोग अर्थ में निपातन किया है । मृगाणा तृष्णा मृगतृष्णा । मृग तृष्णास्त्यस्या मृगतृष्णा=मरुमरीचिका । तत्पुरुष समानाधिकरण कर्मधारय (१।२।४२) । यहाँ समानाधिकरणे (पद) स्तोऽस्यति समानाधिकरण । अच् प्रत्यय हुआ है । बभूवुस्तिमिरा निशा (भा० ६।२३७६) । तिमिरा = तिमिरवत्य । तिमिरमस्त्यासा तिमिरा । बलमस्यास्ति बलो राजा । पृषद् = बिन्दु । तद्वान् पृषत = मृग । आलस्यम् अस्यास्ति आलस्य । आलस्य शीतकोऽलसोऽनुष्ण—अमर । हीन स्वाङ्ग से भी—काण चक्षुरस्यास्ति काण । खञ्ज पादोऽस्यास्ति खञ्ज, लगड़ा । क्षेमोऽस्त्यस्येति क्षेम । कृता क्षेमाश्च दण्डका (रा० ३।२७।१३) । कृत क्षेम पुन पन्था (भा० ३।४८८)। जहाँ कहीं भी अभिन्नरूप शब्द में उस अर्थ वाले को कहा जाता है वहाँ सबत्र अर्श आदि होने से अच् हुआ है ऐसा समझना चाहिए ।

कम् (अव्यय, जल), शम् (सुख)—इनसे मत्वर्थ में ब, भ, युस्, ति, तु,

---

१ आलजाटचौ बहुभाषिणि (५।२।१२५) । कुत्सित इति वक्तव्यम् (वा०) ।

२ स्वामिन्नैश्वर्ये (५।२।१२६) ।

३ अर्श आदिभ्योऽच् (५।२।१२७)

ब यस् प्रत्यय होते हैं[1]—कम्ब । शम्ब । कम्भ । शम्भ । कयु । शयु । पद-संज्ञा होने से अनुस्वार हुआ । कन्ति । शन्ति । पद संज्ञा होने पर सवर्ण हुआ । कन्तु । शन्तु । कन्त शन्त । कम्य । शम्य ।

तुन्दि (बढ़ी हुई नाभि), वलि (स्त्री०), वटि—इनसे मत्वर्थ में 'भ' प्रत्यय आता है[2]—तुन्दिर्वृद्धा नाभि साऽस्यास्ति तुन्दिभ । वलिभ । वलिमान् । झुरियों वाला । वटिभ । वलि शब्द पामादिगण में भी पढा है अतः 'न' प्रत्यय से 'वलिन' रूप भी होगा ।

अहम् (शुभन्तप्रतिरूपक निपात), तथा शुभम् (अव्यय) से मत्वर्थ में युस् (यु) प्रत्यय होता है[3]— अहंयु =अहंकारवान् । शुभंयु =शुभान्वित ।

आसन्दीवत, अष्ठीवत, चक्रीवत, कक्षीवत, रुमण्वत, चर्मण्वती—ये मतुबन्त संज्ञा विषय में निपातन किए हैं ।[4] आसन्दीवान्नाम ग्राम । संज्ञा न हो तो आसनवान् कहना होगा । इस आसनवत्स उपाध्यायः, इसे चाण्डवहितायां भूमौ स्थिता शिष्या । अष्ठीवान्=जानु घुटना । जानूरुपर्वाष्ठीवदस्त्रियाम् (अमर) । अन्यत्र अस्थिमान् (हड्डी वाला) । अष्ठीवान् ऋषि-विशेष का नाम भी है । चक्रीवान्नाम राजा । चक्रीवान् गर्दभ को भी कहते हैं । चक्रीवन्तस्तु बालेया रासभा गर्दभा खराः—अमर । अन्यत्र चक्रवान् शकट, पहियों वाला छकडा । कक्षीवान् नाम ऋषि । जिसके अपत्य को 'काक्षीवत' कहते हैं । कक्ष्यावान् बलीवर्द, बैल जो कक्ष्या (छाती के नीचे चर्म का पट्टा) वाला है । रुमण्वान्नाम पर्वत । उदयन के सेनापति का भी नाम । अन्यत्र लवणवान् आकर, नमक की खान । चर्मण्वती नाम नदी । अन्यत्र चर्मवती । चर्मवती चर्मकारस्य शाला ।

'उदन्वत्' यह समुद्र अर्थ में निपातन किया है[5]—उदन्वान्=समुद्र । उपर्येव ज्ञानोदन्वत प्लवध्वे, तुम ज्ञानरूपी समुद्र के ऊपर ही तैर रहे हो । अन्यत्र उदकवान् घट =जल पूर्ण घड़ा ।

---

१ कंशम्भ्यां ब भ युस्-ति-तु-त यस (५।२।१३८) ।
२ तुन्दि वलि वटेर्भः (५।२।१३६) ।
३ अहं-शुभमोर्युस् (५।२।१४०) ।
४ आसन्दीवदष्ठीवच्चक्रीवत्कक्षीवद्-रुमण्वच्-चर्मण्वती (८।२।१२) ।
५ उदन्वानुदधौ (८।२।१३) ।

'राजन्वत्'—यह 'अच्छे राज वाला' इस अर्थ में निपातन किया है।, राजन्वान् देश =सुराजा (बहुव्रीहि)। राजन्वती भू =सुराज्ञी। राजन्वतीमाहुरनेन भूमिम् (रघु० ६।२२)। न चेदर्थयमानाना वचन तु करिष्यति। प्रेक्ष द्रक्ष्यति सभ्राता देशाद्राजन्वत प्रजा (वृ० श्लो० स० २।६)।

यहाँ मत्वर्थीय प्रत्यय समाप्त हुए।

प्रयोगमाला

१ *नैशिकोऽय ब्रह्मचारी वर्चोभूयस्तया प्रजागरकृशोऽपि न तथा लक्ष्यते।*

रात भर पढने वाला यह ब्रह्मचारी वर्चस्वी होने से जागने से कृश नहीं दीखता।

२ *पङ्किल पन्था इति यतामायता चपोव पुनिकानि भवन्ति स्खलनानि।*

रास्ता कीचडवाला है, इसलिये आने जाने वाले बार बार गिरते पडते हैं।

३ सायम्प्रातिको विहार परम भेषज भेषजानाम्।

प्रात साय सैर दवाइयो की दवा है।

४ अय वातकी, अय चातिसारकी। एक स्थूल, अपरश्च कृश।

इसे वात का प्रकोप है, इसे दस्त आ रहे हैं। अत एक मोटा है, दूसरा दुबला।

५ धनिकस्यापि देवदत्तस्य धनक । अहो गर्ध।

देवदत्त धनी है, तो भी इसे धन की इच्छा है। कितना लालच है।

६ पथिक एव पथको न भवति।

यह यात्री मार्ग कुशल नही है।

७ *हरिद्वारे कुम्भमहोत्सवे महज्जनानुष्यकमालोक्य एकाभिसम्पन्न सहता हिन्दव इति भ्रमस्त्यागन्तव।*

हरिद्वार में कुम्भमहोत्सव पर महान् जनसमूह को देखकर हिन्दू एकमत तथा सघटित हैं एसी बाहिर से आने वालो को भ्रान्ति होती है।

८ *इद धनुकम्। इद धाधेनवम्। उभयस्य कृते साधारणीय गवादनी।*

यह दूध देने वाली गौओ का समूह है, और यह उनका जो दूध नही दे रहीं। दोनो के लिए यह साँझी चरागाह है।

---

१ राजन्वान्सौराज्ये (८।२।१४)।

९ याहीति जन्यामवदत् कुमारी (रघु०)।
कुमारी ने माता की सखी को कहा—चलिये।
१० इद चक्षुष्यमञ्जन कुत कियताऽर्घेणापि ?
यह आँखो को लाभप्रद सुरमा तूने कहाँ से कितने मूल्य से लिया ?
११. इम ऋषभा इमे च ऋषभतरा।
ये छकडा खीचने वाले बैल हैं और ये खीचने मे मन्द शक्ति वाले है।
१२ इयमिव कन्यका कस्य धन्यस्य दुहिता ?
यह होनहार लडकी किसकी पुत्री है ?
१३ अय कर्क । अय च कार्कीक ।
यह सफेद घोडा है, यह उस जैसा है।
१४ पश्य, अय लोहितक कोपेन। एन मोपक्रमी ।
देखो, यह क्रोध से लाल हो रहा है। इसके पास मत जाओ।
१५ सस्यक एष मणिर्बृहत्को लक्ष्यते।
यह बहुगुणयुक्त रत्न प्रभा से बडा मालूम हो रहा है।
१६ बहुजानन्नपि देवदत्तो बहु जल्पतकि।
देवदत्त बहुत न जानता हुआ भी बहुत बोलता है।
१७. इहैव विरमतु सखी, परस्तादवगम्यत एव।
मेरी सखी आप यही ठहर जायें। अगला वृत्तान्त समझ मे आ रहा है।
१८. अयमाम्नातो वेदे इति महानस्य समादरो लोके।
इसने वेदाभ्यास किया है इस कारण इसका लोक मे बहुत आदर है।
१९ इमेऽत्र पूर्विण, सम्प्रति पर्यायो नो भोजनस्य।
ये पहले भोजन कर चुके हैं। अब हमारे भोजन की बारी है।
२० उत्कण्ठुत्कूजन्ति कोकिला ।
कोयलें उत्सुकता से कूजती हैं।
२१ शीतकोऽयमञ्जन कदा नु गन्ता कर्मणोऽन्तम् ?
यह सुस्त मनुष्य कब काम को समाप्त करेगा।
२२ कर्मण्य शरीरमिति प्राय प्रस्मरन्ति वयस्था ।
व्यायाम से शरीर की शोभा होती है इसे युवक प्राय भूल जाते हैं।
२३ षण्मास्य षाण्मास्य षाण्मासिकोवाऽय शिशु । शब्दभेद, नार्थभेद:।

यह बच्चा छ महीने का है इसे तीन शब्दों—षण्मास्य, षाण्मास्य षाण्मासिक में कह सकते हैं।

२४ देवदत्तो मे प्रातिवेश्यो न भवति यद्याप्यारातीय ।

देवदत्त मेरा अनन्तर गृहवासी नहीं, यद्यपि पड़ोसी है।

२५ पुरा स्त्रीणामभूवन्युद्धानीति काप्यनुदात्तता मनुष्यशीलस्य ।

पहले स्त्री के लिए युद्ध हुए—यह मनुष्य स्वभाव की बहुत बड़ी नीचता है।

२६ प्रापुष्यायणा स्वस्य कुलस्य मर्यादा रक्षतीति प्रिय न ।

उसके पौत्रादि अपने कुल की मर्यादा की रक्षा कर रहे हैं, इससे हमें खुशी है।

२७ इमे कौरवा । इमे कौरव्या । इमे कुरव । इमे च कौरवका । को विशेष ।

ये कौरव हैं, ये कौरव्य हैं, ये 'कुरव' हैं, ये कौरवक हैं। अर्थ में क्या भेद है?

२८ काषायौ गर्दभस्य कर्णौ, हारिद्रौ कुक्कुटस्य पादौ (काशिका)

गधे के कान मानो गेरू से रंगे हुए हैं, कुक्कुड के चरण मानो हल्दी से रंग हुए हैं।

२९. सूतस तन्त्रक पट क्रेय, क्रय्यस्तु नास्ति । यदच क्रय्य न सूतस ।

(हमें) अच्छी बुनतका नया वस्त्र खरीदना है, पर क्रय के लिए प्रसारित नहीं। जो प्रसारित है वह अच्छा बुना नहीं।

३० अय प्रथमवैयाकरण, साहाय्यमस्य लाविष्यामस्मामि ।

इसने अभी अभी व्याकरण पढ़ना शुरू किया है हम इसकी सहायता करनी चाहिए।

३१ अय न केवल पौराणिक ऐतिहासिकोपि ।

यह न केवल पुराण जानता है, इतिहास को भी जानता है।

३२ अय मीमांसको मवत्यय च मीमांसन । को विशेष ?

यह मीमांसक है और यह मीमांसन[1] (=विचारशील)। क्या भेद है?

---

१ यहाँ अनुदात्तेतश्च हलादे (३।२।१४६) से ताच्छील्य अर्थ में युच् प्रत्यय युच हुआ है। मीमांसक में मीमांसामधीते वेद वा इस अर्थ में वुन् (अक) प्रत्यय हुआ है।

३३ नाव्या गभीरा इमा आपो न सुप्रतरा ।
यह गहरा जल नौ से पार किया जा सकता है, तैर कर नहीं ।

३ पथ्याशी व्यायामी स्त्रीषु जितात्मा नरो न रोगी स्यात् (आयुर्वेद) ।
पथ्य भोजन करने वाला व्यायाम करने वाला स्त्रियों के विषय में जितेन्द्रिय पुरुष रोगी नहीं होता ।

३५ प्रातिजनीनो विश्वमित्रः कस्य न नमस्यः ।
प्रत्येक का हित करने वाला विश्वमित्र किस से वन्दनीय नहीं ।

३६ एतद्युगीनाः केचनाचारा परम्परीणा नेत्येव न प्रत्याख्यानमर्हन्ति ।
इस युग के योग्य कई एक आचार परम्परा प्राप्त नहीं हैं इतने से ही इनका प्रत्याख्यान युक्त नहीं ।

३७ कालिकमेतयोर्वैरं नाद्यापि शमं याति ।
इन दोनों का पुराना वैर अब भी शान्त नहीं होता ।

३८ निसर्गशालीनः स्त्रीजनः (मालविका) ।
स्त्रियाँ स्वभाव से लज्जाशील (अधृष्ट) होती हैं ।

३९ पार्श्वेनानृजुनोपायेन येऽर्थान् अन्विच्छन्ति ते पार्श्वका इत्युच्यन्ते ।
जो कुटिल उपाय से अपने इष्ट पदार्थों को प्राप्त करना चाहते हैं वे 'पार्श्वक' कहलाते हैं ।

४० वासन्त्योऽतिमुक्तलताः, ग्रैष्म्यश्च पाटलाः ।
अतिमुक्त वसन्त में खिलती है और पाटल (=गुलाब) ग्रीष्म ऋतु में ।

४१ य॑न्मर्कटा अर्कमुपतिष्ठन्ति तदेषां कापेयं केवलम् ।
बन्दर जो सूर्योपस्थान करते हैं वह इनका केवल बन्दरपना है ।

४२ यदीदानीं वर्षति, सामयिकीयं वृष्टिर्बहूपकरिष्यति कृष्यै ।
यदि अब वृष्टि हो जाए तो समय पर होने वाली यह वृष्टि खेती के लिए बहुत अच्छी होगी ।

४३ अयं केशकः, अयं च केशिकः । को विशेषः ।
केशक और केशिक में क्या भेद है ?

४४ अयं नागरः, अयं नागरकः, अयं च नागरेयकः । को विशेषः ।
नागर, नागरक, नागरेयक—इनमें क्या भेद है ?

४५ श्वौवस्तिकं प्रस्थानमुद्दिश्य ससंरम्भं सम्भाराः क्रियन्ताम् ।
कल होने वाले प्रस्थान के लिए पूरे जोश से तैयारी की जाए ।

४६ देवदत्तो यावद्वस्य इति यावद्रूक । सोऽयमस्य पित्र्यो गुण ।

देवदत्त यावद्रूक का पुत्र है प्रत (स्वयम् भी) बहुत बोलना है । यह गुण उसमे उसके पिता से आया है ।

स्वार्थिक तद्धित

प्राग्दिशीय अव्यय तद्धित

दिक्‌शब्देभ्य सप्तमीपञ्चमीप्रथमाभ्य (५।३।२७) इस सूत्र से पूर्व जो प्रत्यय विधान किए गए हैं वे प्राग्दिशीय कहलाते हैं । इनकी विभक्ति सज्ञा की गई है ।[1] ये प्रत्यय किम्, द्वि आदि वर्जित सर्वनाम तथा सख्याशब्द बहु से होते हैं ।[2] सर्वादिगण मे किम् शब्द के द्वयादि के अन्तर्गत होने से पर्युदास हो जाता, अत इसे पृथक् पढ दिया है । तसिल् आदि ये सौ प्रत्यय हैं । ये प्रत्यय स्वार्थिक है । कारण कि इनका अर्थ निर्देश नही किया और जो अनिर्दिष्टार्थ प्रत्यय होते हैं वे स्वार्थ में होते हैं । महाविभाषा से ये विकल्प से होते हैं । पञ्चम अध्याय तृतीयपाद के प्रारम्भ से पञ्चम अध्याय चतुर्थ पाद की परिसमाप्ति तक विहित तद्धित प्रत्यय सभी स्वार्थिक हैं ।

तसिल्—पञ्चम्यन्त किम्, सर्वनाम, बहु से तसिल् (तस्) प्रत्यय होता है[3]—कुत (कहाँ से) । किम् ङस्—तस इस तद्धितान्त शब्दरूप की प्रातिपदिक सज्ञा होने से सुपो धातु० (२।४।७१) से अन्तर्वर्तिनी विभक्ति (ङस्) का लुक होने पर विभक्तिसज्ञक तस परे रहते किम क (७।२।१०३) से किम् को 'क' आदेश प्राप्त था, पर कु तिहो (७।२।१०४) से 'कु' आदेश हुआ । और 'कुत' यह रूप निष्पन्न हुआ । पक्ष मे 'कस्मात्' भी रहेगा । यद्—यत । यहाँ तस् की विभक्तिसज्ञा होने से त्यदादीनाम (७।२।१०२) से द् को 'अ' हुआ । यत =यस्मात् । तद्—तत । तत =तस्मात् । एतद्—तस् = अत । एतद् के स्थान मे अन आदेश होता है प्राग्दिशीय प्रत्यय परे होने पर ।[4] अन के न् का नलोप प्रातिपदिकान्तस्य (८।२।७) से लोप हो

१ प्राग्दिशो विभक्ति (५।३।१) ।

२ किसर्वनामबहुभ्योऽद्व्यादिभ्य (५।३।२) ।

३ पञ्चम्यास्तसिल् (५।३।७) ।

४ एतदोऽन् (५।३।५) ।

जाता है। इदम्—तस्=इत। इदम् के स्थान मे इश् (इ) सर्वादेश होता है प्राग्दिशीय प्रत्यय परे होने पर।[1] इत=अस्मात्। अदस्—अमुत। विभक्ति सञ्ज्ञक प्रत्यय तस परे होने पर अकार अन्तादेश हो जाने से 'अद' के द् को म् और 'अ' को 'उ'। अदसोऽसेर्दादु दो म (८।२।८०)। बहु—बहुत=बहो।

प्रति के योग मे पञ्चम्यन्त से जो तसि विधान किया है और जो अपादान अर्थ मे, वह यदि किम्, सर्वनाम, तथा बहु से हो तो उसे भी तसिल् आदेश होता है[2]। यह आदेश केवल स्वरार्थ है। तसिल् लित् है, अत प्रत्यय से पूर्व अच् उदात्त होगा।

परि, अभि—परित। अभित[3]। वार्तिककार के अनुसार इनसे तसिल् तभी होता है जब इनका अर्थ क्रम से सर्व और उभय (दोनो) हो[4]—परित =सर्वत। अभित=उभयत। इस अर्थ-नियमन से बहुत से शिष्ट प्रयोगो के साथ विरोध पड़ता है। ततो राजाऽब्रवीद् वाक्य सुमन्त्रमभित स्थितम् (रा० १।११।४)। पम्पा नामाभितो वापी (रा० ३।७५।४७)। तस्यास्तु खल्विमानि लिङ्गानि प्रसूतिकालमभितो भवन्ति (चरक शरीर० ८।३६)। श्मशानमभितो गत्वा आससाद कुरूनथ (भा० विराट० ३८।५)। यहाँ सर्वत्र अभित समीप अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है।

त्रल्—सप्तम्यन्त किम्, सर्वनाम, बहु से[5]—कुत्र (=कस्मिन्)। 'कु ति० हो' से किम् को 'कु'। यत्र। तत्र। अत्र। (=एतस्मिन्)। एतद् को अन्। अन्य—अन्यत्र। बहुत्र (=बहुषु)। अदस्—त्र=अमुत्र (=अमुष्मिन्)।

ह—सप्तम्यन्त इदम् से ह[6]। इदम् को इश् (इ) इह=अस्मिन्।

अत्—सप्तम्यन्त किम् से विकल्प से अत् होता है।[7] अत् (अ) परे होने पर किम् को 'क्व' आदेश होता है[8]। क्व अ=क्व। 'अतो गुणे' से पररूप एकादेश हुआ।

---

१ इदम इश् (५।३।३)।
२ तसेश्च (५।३।८)।
३ पर्यभिभ्या च (५।३।९)।
४. सर्वोभयार्थाभ्यामेव (वा०)।
५ सप्तम्यास्त्रल् (५।३।१०)।
६ इदमो ह (५।३।११)।
७ किमोऽत् (५।३।१२)।
८. क्वाति (७।२।१०५)।

दा—सप्तम्यन्त सर्व, एक, अन्य, किम्, यद्, तद् से कालवाची होने पर[1]—**सर्वदा** (सर्वस्मिन् काले)। दा परे होने पर 'सर्व' को विकल्प से 'स' आदेश होता है[2]—सदा। एकदा (एकस्मिन् काले)। अन्यदा (अन्यस्मिन् काले)। कदा (कस्मिन् काले)। यदा (यस्मिन् काले)। तदा (तस्मिन् काले)। 'दा' त्रल् का अपवाद है। देश वाच्य होने पर त्रल् ही होगा—सर्वत्र (सर्वस्मिन् देशे) इत्यादि।

र्हिल्—सप्तम्यन्त इदम् से कालवाची होने पर[3]—एतर्हि (अस्मिन् काले)। यहाँ रकारादि प्रत्यय परे होने पर 'इदम्' को 'एत' आदेश होता है। कालवाची इदम् से 'अधुना' शब्द भी निपातन किया है।[4]

दानीम्—सप्तम्यन्त इदम् से[5]—इदानीम्। विभक्तिसंज्ञक प्राग्दिशीय दानीम् परे होने पर इदम् को इश् (इ)।

र्हिल्—सप्तम्यन्त अनद्यतन कालवाची किम्, सर्वनाम से विकल्प से र्हिल् होता है पक्ष में दा[6]—कर्हि। कदा। यर्हि। यदा। तदा। कर्हि गन्तासि। कदा गन्तासि। रेफादि थकारादि प्रत्यय परे होने पर एतद् को भी क्रम से एत, इत आदेश होते हैं[7]—एतर्हि (एतस्मिन्काले)।

थाल्—प्रकारार्थक यद्, तद्, सर्व से[8]—येन प्रकारेण=यथा। तथा। सर्वथा।

थमु—प्रकारार्थक इदम्, तथा किम् से[9]—अनेन प्रकारेण इत्थम्। थकारादि प्रत्यय परे होने पर इदम् को इत् आदेश होता है। केन

१　सर्वैकान्यकिंयत्तदः काले दा (५।३।१५)।
२　सर्वस्य सोऽन्यतरस्यां दि (५।३।६)।
३　इदमो र्हिल् (५।३।१६)।
४　अधुना (५।३।१७)।
५　दानीं च (५।३।१८)।
६　अनद्यतने र्हिलन्यतरस्याम् (५।३।२१)।
७　एतदोऽश् (५।३।५)। यहाँ एतद । अन् । ऐसा योगविभाग करके पूर्वसूत्र 'रथो' की अनुवृत्ति लाकर 'एतद एतेतौ रथो' ऐसा सूत्र बनाया जाता है।
८　प्रकारवचने थाल् (५।३।२३)।
९　इदमस्थमुः (५।३।२४)। किमश्च (५।३।२५)।

प्रकारेण कथम्। प्राग्दिशीय विभक्ति संज्ञक थम् प्रत्यय परे होने पर किम् को 'क'।

तसिल्-त्रल्—पञ्चम्यन्त तथा सप्तम्यन्त से अन्यत्र भी तसिल् त्रल् देखे जाते हैं[1]। ये भवत्, दीर्घायुस्, आयुष्मत्, देवाना प्रिय आदि के योग मे ही होते हैं—ततो भवान्। ततो दीर्घायु। तत आयुष्मान्। ततो देवानां प्रिय —यहाँ प्रथमान्त से तसिल् हुआ है। ततो भवान्=स भवान्। ऐसे ही द्वितीयान्तादि से भी होता है—ततो भवन्तम् (=त भवन्तम्)। ततो भवता। ततो भवते। ततो भवत। (=तस्माद् भवत)। ततो भवत (=तस्य भवत)। ततो भवति। तत्र भवान् (स भवान्)। तत्र भवन्तम् (=त भवन्तम्)। तत्र भवता। तत्र भवते। तत्र भवत। (=तस्माद् भवत)। तत्र भवत (=तस्य भवत)। तत्र भवति। ऐसे ही दीर्घायुस् आदि के योग मे उदाहरण होगे। अत्र भवान् ऐसा प्रयोग भी एप भवान् के स्थान मे नाटकादि मे देखा जाता है।

वृत्तिकार के अनुसार पञ्चमी और सप्तमी से भिन्न विभक्ति से तसिल्, त्रल् तभी होते हैं जब भवत् आदि (जो यहाँ परिगणित हैं) के साथ योग हो। पर जहाँ इनके साथ योग नही है वहाँ भी देखे जाते हैं—अन्यत्रापि पुत्राद् बहुमतोऽर्हनिष्कर्मणः (गौ० ध० २।१।२५)। यहाँ त्रल् पञ्चम्यन्त से हुआ है। अन्यत्र=अन्यस्मात्। प्राय मित्तलमम्लमन्यत्र दाडिमामलकात् (चरक सूत्र० २७।४)। यहाँ त्रल् प्रथमान्त से हुआ है। अन्यत्र=अन्यद्।

सद्यस्, परुत्, परारि, ऐषमस्, परेद्यवि, अद्य, पूर्वेद्युस्, अन्येद्युस्, अन्यतरेद्युस्, अपरेद्युस्, अधरेद्युस्, उभयेद्युस्, उत्तरेद्यु—ये निपातन किए हैं[2]। समानेऽहनि सद्य, एक ही दिन मे, युगपत्। पूर्वस्मिन् सवत्सरे परुत् (गत वर्ष म)। पूर्वतरे सवत्सरे परारि, गत वर्ष से पहले वर्ष मे। ऐषमस्—अस्मिन्सवत्सरे ऐषम, इस वर्ष। परस्मिन्नहनि परेद्यवि। अस्मिन्नहनि अद्य। पूर्वस्मिन्नहनि पूर्वेद्यु। अन्यस्मिन्नहनि अन्येद्यु, दूसरे दिन। अन्यतरस्मिन्नहनि अन्यतरेद्यु, दो मे से किसी एक दिन। अपरस्मिन्नहनि अधरेद्यु, परसो। उभयोरह्नोर् उभयेद्यु, दोनो दिन। उत्तरस्मिन्नहनि उत्तरेद्यु, अगले दिन।

---

1 इतराभ्योऽपि दृश्यन्ते (५।३।१४)'

2 सद्य-परुत्-परार्यैषम-परेद्यव्यद्य-पूर्वेद्युर् अन्येद्युर् अन्यतरेद्युर् इतरेद्युर्-अपरेद्युर् अधरेद्युर् उभयेद्युर् उत्तरेद्यु (५।३।२२)।

प्राग्दिशीय प्रत्ययान्त सभी अव्यय हैं। इनके अव्ययत्व का विधायक शास्त्र है तद्धितश्चासर्वविभक्तिः (१।१।३८)। जिसका अर्थ यह है कि जिस प्रातिपदिक से सारी विभक्ति (तीनों वचन) नहीं उत्पन्न होतीं वह अव्यय है। पञ्चम्यन्तादि से विहित तसिल् आदि स्वार्थ में विहित किये गये हैं। पञ्चमी विभक्ति का जो अर्थ है वही उनका अर्थ है। तद्धितान्त होने से वह शब्दरूप प्रातिपदिक बन जाता है। ऐसे प्रातिपदिक के अर्थ को कहने के लिए प्रथमा विभक्ति का एकवचन ही आ सकता है और वह भी औत्सर्गिक (संख्या को न कहता हुआ)। पद बनाए बिना प्रयोग नहीं हो सकता, यद्यपि अव्यय संज्ञा होने से सुप् का लुक् हो जाता है।

प्राग्दिशीय-व्यतिरिक्त स्वार्थिक अव्यय तद्धित

अस्ताति—दिशार्थ में रूढ दिशा, देश, काल अर्थ में वर्तमान सप्तम्यन्त, पञ्चम्यन्त तथा प्रथमान्त पूर्व आदि से स्वार्थ में अस्ताति (अस्तात्) प्रत्यय होता है। पूर्व, अधर, अवर—इनको अस्ताति प्रत्यय तथा असि (अस्) प्रत्यय परे होने पर पुर्, अध्, अव् आदेश होते हैं[1]—पूर्वस्यां दिशि पूर्वस्मिन्देशे पूर्वस्मिन्काले वसति पुरस्ताद् वसति। पूर्वस्या दिशः, पूर्वस्माद् देशात् पूर्वस्मात् कालाद् आगतः पुरस्ताद् आगतः। उद् पुरस्तात् सूर्य एति(ऋ० १।१९१।८)। पूर्वस्यां रमणीयं पुरस्ताद् रमणीयम्। अस्य गेहस्य पुरस्ताद् रमणीयानि राजसद्मानि, इस घर से परे के पूर्व में रमणीय राजमहल हैं। पुरस्तादागता इमे समुदाचारा न सहसाऽवहेलनीयाः, पूर्व काल से आए हुए(=परम्पराप्राप्त) ये आचार अवहेलना के योग्य नहीं। पुरस्ताद् भागोऽस्या क्यायाः न तथा रम्यो यथा पर्यन्तः। अधस्ताद् भूमितलाय्यवहितेऽगारेऽयं वसति। अधस्तादस्य निकाम्यस्यागतो नोपरिष्टात्, इस घर के नीचे से आया है, ऊपर से नहीं। नाभेरधस्तादमेध्यमिति ह विज्ञायते, नाभि का निचला भाग अपवित्र होता है ऐसा माना जाता है। स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात् (ऋ० १०। १२९।५)। यहाँ सप्तम्यन्त अवर से अस्ताति हुआ है। आनूपोऽयं प्रदेशः, तस्मादवस्तात् कुट्टिमस्याप्युद्गच्छन्त्युदबिन्दवः, यह जलप्राय प्रदेश है, अतः पक्के फर्श के नीचे से भी जल की बूँदें निकल आती हैं। कामं सुभगमिदं हर्म्यम्,

---

१ दिक्शब्देभ्यः सप्तमी-पञ्चमी-प्रथमाभ्यो दिग्देश-कालेष्वस्ताति (५।३।२७)।

अवस्तात्त्वस्य स्वल्पाकारताम्, यह ठीक है कि यह भवन सुन्दर है, पर इसका निचला हिस्सा थोड़ा खुला है। पर शब्द से भी दिक् शब्द होने से अस्ताति होता है—कान्तासम्मिश्रदेहोऽप्यविषयमनसां यः परस्ताद् यतीनाम् (मालविका)। यहाँ सप्तम्यन्त पर शब्द से प्रत्यय हुआ है। परस्तादवगम्यत एव (शकुन्तला)। यहाँ प्रथमान्त पर शब्द से प्रत्यय हुआ है। परस्तात्=परवृत्तान्तः। न खलु साधुसेवितोऽयं पन्था येनासि प्रवृत्तः। निहन्त्येव परस्तात् (हर्ष० प्र० उ०)। यहाँ परस्तात् परलोकम् ऐसा अर्थ नहीं कर सकते। द्वितीयान्त से अस्ताति होता ही नहीं। अतः सप्तम्यन्त से ही मानकर परस्तात् परस्मिँल्लोके निहन्ति पातयति ऐसा अर्थ करना होगा।

अतसुच्—दक्षिण, उत्तर शब्दों से अस्ताति के अर्थ में अतसुच् (अतस्) होता है, अस्ताति नहीं[1]—दक्षिणतो वसति (दक्षिणस्यां वसति)। 'दक्षिण' के भसंज्ञा होने से 'अ' का लोप। दक्षिणत आगतः (दक्षिणस्या आगतः)। दक्षिणतो रमणीयम्। इसी प्रकार उत्तरतो वसति इत्यादि। सर्वेषामेव वर्णानां मेरुरुत्तरतः स्थितः।

पर, अवर से विकल्प से अस्ताति अर्थ में[2]—परतो रमणीयम्=पर रमणीयम्। परतो वसति=परस्यां दिशि वसति। परत आगतः=परस्या दिशः। अवरतः। पक्ष में अस्ताति होने पर परस्तात् अवस्तात् रूप होंगे।

प्रत्यय-लुक्—क्विन्प्रत्ययान्त अञ्च् जो दिक् शब्द से अस्ताति प्रत्यय का लुक् हो जाता है[3]—प्राग् वसति=प्राच्यां दिशि वसति। प्राची से तद्धित प्रत्यय के लुक् होने पर स्त्रीप्रत्यय ङीप् का भी लुक् हो जाता है। प्राग्रमणीयम्। प्राचीदिक् प्राङ् देशः कालो वा रमणीय ऐसा अर्थ है।

उपरि, उपरिष्टात्—ये अस्ताति अर्थ में निपातित किए हैं।[4]

पश्चात्—यह भी अस्ताति के अर्थ में निपातित किया है।[5] 'अपर' को 'पश्च' आदेश, तथा आति प्रत्यय।

---

१ दक्षिणोत्तराभ्यामतसुच् (५।३।२८)।
२ विभाषा परावराभ्याम् (५।३।२९)।
३ अञ्चेर्लुक् (५।३।३०)।
४ उपर्युपरिष्टात् (५।३।३१)।
५. पश्चात् (५।३।३२)।

अपर को तब भी 'पश्च' आदेश होता है और आति प्रत्यय होता है जब उस का पूर्वपद दिग्वाची हो[1] दक्षिणपश्चात् । उत्तरपश्चात् ।

जब दिग्वाची पूर्वपद हो और 'अर्ध' उत्तरपद हो तब भी अपर को पश्च-भाव होता है[2] —दक्षिणपश्चार्द्धं । उत्तरपश्चार्द्धं ।

पूर्वपद के बिना भी अर्द्ध उत्तरपद होने पर यही कार्य होता है[3] —पश्चार्द्धं ।

आति—उत्तर, अधर, दक्षिण से अस्ताति अर्थ में[4] उत्तराद् वसति । उत्तराद् आगतः । उत्तराद् रमणीयम् । इसी प्रकार अधराद् वसति इत्यादि जानो ।

एनप्—उत्तर, अधर, दक्षिण—इन दिग्वाची शब्दों से विकल्प से 'एन' प्रत्यय होता है जब अवधि से अवधिमान् अदूर (समीप) हो । पक्ष में आति । पञ्चम्यन्त से यह प्रत्यय नहीं होता ।[5] उत्तरेण वसति । उत्तराद् वसति । तन्तुवायगृहानुत्तरेण तुन्नवायगृहाः, जुलाहों के घरों के समीप उत्तर दिशा में दर्जियों के घर हैं । उत्तरेणेमं ग्रामं न तथा रमणीयं यथा दक्षिणेन, इस ग्राम के समीप उत्तरवर्ती प्रदेश इतना रमणीय नहीं जितना दक्षिणवर्ती । अधरेण । अधरात् ।

कुछ वृत्तिकार यहाँ उत्तरादि की अनुवृत्ति नहीं करते । दिक् शब्दमात्र से एनप् मानते हैं —पूर्वेण ग्रामम् । अपरेण ग्रामम् । ग्राम के निकट पश्चिम की ओर । अपरेणाहवनीयं यजमानो प्रपद्यते । जघनेनाहवनीयमित्येके (बौ० ध० १।७।१५।२१–२२) ।

आच्—दक्षिण—इस अपञ्चम्यन्त दिग्वाची शब्द से अस्ताति के अर्थ में[6]—दक्षिणा वसति (दक्षिणस्यां वसति) । दक्षिण की ओर निकट ही रहता है । नगराद् दक्षिणा वहति वाहिनी, नगर के दक्षिण की ओर समीप में नदी बहती है ।

---

१ दिक्पूर्वपदस्यापरस्य पश्चभावो वक्तव्य (वा०) ।
२ अर्धोत्तरपदस्य दिक्पूर्वपदस्य पश्चभावो वक्तव्य (वा०) ।
३ विनापि पूर्वपदेन पश्चभावो वक्तव्य (वा०) ।
४ उत्तराधर-दक्षिणादाति (५।३।३४) ।
५ एनबन्यतरस्यामदूरेऽपञ्चम्याः (५।३।३५) ।
६ दक्षिणादाच् (५।३।३६) ।

आहि-आच्—दक्षिण से, जब यह पञ्चम्यन्त न हो 'आहि' प्रत्यय होता है और आच् भी, जब अवधि से अवधिमान् दूर हो[1]—**काश्मीरेभ्यो दक्षिणाहि दक्षिणा वा वसस्त्वं कथं तत्रत्यान्वृत्तान्तानशेषानञ्जसा वेत्थ**, तुम कश्मीर से दूर दक्षिण दिशा मे रहते हुए वहां के सभी वृत्तान्तो को ठीक-ठीक कैसे जानते हो ? पूर्वसूत्र से आच् अवधि से अवधिमान् के अदूर होने पर विधान किया था, अब 'दूर' होने पर भी इसकी अभ्यनुज्ञा की है।

उत्तर से आहि, आच्—ये दोनो अस्ताति के अर्थ मे अवधि से अवधिमान् के दूर होने पर आते है, पञ्चम्यन्त से नही[2]—**समुद्राद् उत्तराहि (उत्तरा वा) वसन्तो वयं नाद्यापि वेलावृद्धि दृष्टवन्त** ।

असि—पूर्व, अधर, अवर—सप्तम्यन्त, पञ्चम्यन्त, प्रथमान्त दिग्वाची शब्दों से असि (अस्) अस्ताति अर्थ मे होता है और इन्हे क्रम से पुर्, अध्, अव् आदेश होते हैं[3]—**पुरः । अधः । अवः** ।

अस्ताति—पूर्व, अधर, अवर से अस्ताति प्रत्यय भी होता है और अस्ताति परे होने पर इन्हे क्रम से पुर्, अध्, अव् आदेश होते हैं[4]—**पुरस्तात् । अधस्तात् । अवस्तात् । आदित्य पुरस्तादुदेति पश्चादस्तमेति**, सूर्य पूर्व दिशा मे उदय होता है और पश्चिम मे अस्त होता है। पर अस्ताति परे होने पर अवर को अव् आदेश विकल्प से होता है—**अवस्ताद् वसति । अवरस्ताद् वसति** । सामान्य-विहित अस्ताति प्रत्यय का विशेष विहित असि प्रत्यय से बाध नहीं होता।

धा—प्रकार अर्थ मे वर्तमान सख्यावाची शब्दो से स्वार्थ मे।[5] सूत्र मे विधा का अर्थ प्रकार है। क्रिया के प्रकार मे वर्तमान सख्यावाची शब्द से यह प्रत्यय आता है। **एकधा भुङ्क्ते । द्विधा याति प्राञ्जलं च कुटिलं च** ।

द्रव्य के विचाल (=सख्यान्तरापादन, एक का अनेक करना, अनेक का एक करना) गम्यमान होने पर सख्यावाची से स्वार्थ में[6]—**पदानि पञ्चधा**

---

१ आहि च दूरे (५।३।३७)।
२ उत्तराच्च (५।३।३८)।
३ पूर्वाधरावराणामसि पुरधवश्चैषाम् (५।३।३९)।
४ अस्ताति च (५।३।४०)।
५ सख्याया विधार्थे धा (५।३।४२)।
६ अधिकरण-विचाले च (५।३।४३)।

विभजन्ति वैयाकरणाः । एकविंशतिधा बाह्वृच्यं विभज्यते । नवधाऽऽथर्वणो वेदः । एक राशि पञ्चधा कुरु, एक राशि को पाँच राशियाँ बना दो । अनेकम् एकं कुरु एकधा कुरु ।

ध्यमुञ्—एक शब्द से परे आए हुए 'धा' को विकल्प से ध्यमुञ् (ध्यम्) आदेश होता है[1]—पञ्चेमांस् तण्डुलराशीनैकध्यं कुरु । एकधा कुरु । ऐकध्यं भुङ्क्ते । एकधा भुङ्क्ते । विधार्थ में विहित धा को भी यह आदेश होता है ।

धमुञ्—द्वि, त्रि से विहित धा को विकल्प से धमुञ् (धम्) आदेश होता है ।[2] यह आदेश ऊपर कहे दोनों अर्थों में होता है—द्विधा । द्वैधम् । त्रिधा । त्रैधम् । प्रत्यय के ञित् होने से आदि वृद्धि हुई ।

ड—धमुञन्त से स्वार्थ में 'ड' देखा जाता है[3]—पथि द्वैधानि सभ्यन्ते, दो विभागों में विभक्त हो जाते हैं । पथि त्रैधानि सभ्यन्ते । भेद, विरोध अर्थ में भी द्वैध का प्रयोग होता है—श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात् तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ (मनु० २।१४।१६) । अर्थानां च पुनर्द्वैधे नित्यं भवति संशयः (भा० विराट० ४७।७) । द्विप्रकारता में, अर्थात् कोटिद्वय के बराबर उपस्थित होने पर । द्वैधीभावः स्वबलस्य द्विधा करणम्—यह याज्ञ० (१।३४७) पर मिताक्षरा का वचन है । यहाँ द्विधाऽथक द्वैध से च्वि हुआ है । डित् (ड) परे होने पर अ-भमनक के भी 'टि' का लोप हो जाता है । डप्रत्ययान्त अव्यय नहीं होता ।

द्वि त्रि-सम्बन्धी धा प्रत्यय को विकल्प से एधाच् (एधा) आदेश होता है[4]—द्वेधा । द्वैधम् । द्विधा । त्रेधा । त्रैधम् । त्रिधा ।

आम्—किम्, एकारान्त प्रातिपदिक, तिङन्त तथा अव्यय से परे विहित जो घ प्रत्यय (=तरप्, तमप्) तदन्त प्रातिपदिक से स्वार्थ में आम् प्रत्यय होता है, यदि द्रव्य का प्रकर्ष गम्यमान न हो अर्थात् जब गुण, क्रिया के प्रकर्ष की प्रतीति हो[5]—किंतराम् । किंतमाम् । अयं किं जानाति । अयं किंतराम्, अयं च किंतमाम् । पूर्वाह्णेतराम् । पूर्वाह्णेतमाम् । एष पूर्वाह्णे स्नाति, एष पूर्वाह्णेतराम्, एष च पूर्वाह्णेतमाम्, यह पूर्वाह्ण में स्नान करता है, यह पूर्वाह्ण

१ एकाद्धो ध्यमुञन्यतरस्याम् (५।३।४४) ।
२ द्वित्र्योश्च धमुञ् (५।३।४५) ।
३ धमुञन्तात्स्वार्थे डदर्शनम् (वा०) ।
४ एधाच्च (५।३।४६) ।
५ किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे (५।४।११) ।

मे स्नान करता है। यह पूर्वाह्न मे बहुत जल्दी स्नान करता है। पचति। पचतितराम्, अच्छा पकाता है। पचतितमाम् बहुत अच्छा पकाता है। अय प्रातर्जागर्ति। अय प्रातस्तराम्। अय च प्रातस्तमाम्। यह सवेरे जागता है। यह बहुत सवेरे जागता है। यह बहुत ही सवेरे जागता है। अयमुच्चैरा-क्रोशति। अयमुच्चैस्तरामाक्रोशति। अय चोच्चैस्तमाम्। यह ऊँचे चिल्लाता है। यह बहुत ऊँचे चिल्लाता है। यह बहुत ही ऊँचे चिल्लाता है।

कृत्वसुच्—क्रियाऽभ्यावृत्ति गणन (क्रिया की आवृत्ति की गिनती) मे वर्तमान सख्यावाची शब्दो से स्वार्थ मे कृत्वसुच् (कृत्वस्)[1]—देवदत्तो दिनस्य पञ्चकृत्वो भुड्क्ते तथापि न तृप्यति। अहो अस्यौदरिकत्वम्, देवदत्त दिन मे पाँच बार खाता है, तो भी तृप्त नही होता। कितना पेटू है। पञ्चकृत्व = पञ्चवारान्। क्रियामात्र की गिनती मे प्रत्यय नही होता—पञ्च पाका। दश पाका।

सुच (स्)—द्वि, त्रि, चतुर् से क्रियाभ्यावृत्तिगणन मे सुच् (स्) होता है[2]—द्विर्भुड्क्ते। त्रि स्नाति। चतुष्पिबति। सुच् कृत्वसुच् का अपवाद है।

एक को क्रिया-गणन अर्थ मे सकृत् आदेश होता है और सुच् प्रत्यय होता है।[3] सकृद् भुड्क्ते। सुच् (स्) का सयोगान्त होने से लोप हो जाता है।

धा—'बहु' से धा प्रत्यय विकल्प से आता है यदि क्रिया की आवृत्तियो मे थोडा-थोडा अन्तर हो[4]—बहुधा दिवसस्य भुड्क्ते, दिन मे बहुत बार थोडा थोडा समय छोडकर खाता है। पक्ष मे यथाप्राप्त कृत्वसुच् होता है—बहुकृत्वो दिवसस्य भुड्क्ते। बहुकृत्वो मासस्य भुड्क्ते, यहाँ भोजन क्रिया की आवृत्तियो के विप्रकृष्ट होने से धा नही हुआ।

शस्—कर्मादिकारकाभिधायी बहु, अल्प तथा इनके पर्यायो से स्वार्थ मे विकल्प से[5]—बहूनि ददाति। बहुशो ददाति। अल्प ददाति। अल्पशो ददाति। बहुभिर्ददाति। बहुशो ददाति। अल्पेन ददाति। अल्पशो ददाति। बहुभ्यो

---

१ सख्याया क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच् (५।४।१७)।
२ द्वि-त्रि चतुर्भ्य सुच् (५।४।१८)।
३ एकस्य सकृच्च (५।४।१९)।
४ विभाषा बहोर्धाऽविप्रकृष्टकाले (५।४।२०)।
५ बह्वल्पार्थाच्छस् कारकादन्यतरस्याम् (५।४।४२)।

ददाति। बहुशो ददाति। अल्पाय ददाति। अल्पशो ददाति। एव अवशिष्ट कारको के अभिधायक बहु० अल्प आदि से भी शस् होता है। बहूना स्वामी। यहाँ कारक न होने से शस् नहीं होता। पर्यायो से भी शस् होता है—भूरिशो ददाति। स्तोकशो ददाति। बहु, अल्पादि से यह शस् मङ्गल अमङ्गल विषय में ही होता है। बहुशो ददातीत्याभ्युदयिकेषु कर्मसु। अल्पशो ददातीत्यनिष्टेषु।

अपेतापोढमुक्तपतितापत्रस्तैरल्पशः (२।१।३८) मे शस् की प्राप्ति नहीं थी। समसन क्रिया के प्रति कर्म होने पर भी अमङ्गल विषय न होने से 'अल्प' से 'शस्' प्रत्यय प्राप्त नहीं था। सो यह यहाँ सूत्र मे निपातित किया है।

शस्—सख्यावाची प्रातिपदिको मे तथा कार्षापण आदि परिमाणविशेष-वाची शब्दों से (जो तद्धितवृत्ति मे एकत्व को कहते हैं) वीप्सा द्योत्य होने पर विकल्प से शस् आता है[1]—द्वौ द्वौ मोदकौ ददाति द्विशो ददाति। त्रिशो ददाति। कार्षापण ददाति, कार्षापणशः, एक एक कार्षापण देता है। माषशो ददाति, एक एक मासा देता है। घट घट ददाति—यह प्रत्यय नहीं होगा। कारण कि वीप्सा होने पर भी घट न तो सख्यावाची है और न एकार्थक परिमाणवाची। द्वयोद्वयो स्वामी। यहाँ कारक न होने से शस् नहीं होता।

तसि—प्रति (कर्मप्रवचनीय) के योग मे जो पञ्चमी उसके से स्वार्थ मे विकल्प से[2]—प्रद्युम्नो वासुदेवत प्रति। प्रद्युम्नो वासुदेवात् प्रति। प्रद्युम्न वासुदेव का प्रतिनिधि है। अभिमन्युरर्जुनत प्रति। अभिमन्युरर्जुनात् प्रति।

तसिप्रकरण म आदि' आदि शब्दो से भी तसि होता है ऐसा वार्तिक-कार उपसख्यान करत है[3]। यह तसि सार्वविभक्तिक है, सभी विभक्तियों के अर्थ में आता है। आदौ। आदित। तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम् (१।२।३२)। यहाँ सूत्र म आदित म सप्तम्यर्थ मे तसि हुआ है। ऐसे ही स्त्रीपुयोगेऽभिवादतोऽनियमम् (गो० ध० १।६।६)। म अभिवादत = अभिवादे। न च नो दृष्टोऽभाग पुरुषत क्वचित् (भा० सभा० १५।२१)। पुरुषत = पुरुषेषु। सप्तम्यर्थ मे तसि। उपायतो महाशूरो महामायाविशारद (रा०

[1] सख्यैकवचनाच्च वीप्सायाम् (५।४।४३)।
[2] प्रतियोगे पञ्चम्यास्तसि (५।४।४४)।
[3] तसिप्रकरण आद्यादिभ्य उपसख्यानम् (वा०)।

३।३६।१२) । यहाँ भी उपायत = उपायेषु । सप्तम्यर्थ में तसि । यत् प्रौढत्वमुदारता च वचसा यच्चार्थतो गौरवम् (मालती १) । अर्थत = अर्थे । सप्तम्यन्त में तसि । वृत्तमिदमादित आन्त श्रोतुमिच्छामि । यहाँ आदित (= आङ् आदित) में पञ्चम्यर्थ में तसि हुआ है । मध्यत । पार्श्वत । यस्य येनास्ति सम्बन्धो दूरस्थस्यापि तेन स । अर्थतो ह्यसमर्थानामानन्तर्यमकारणम् ॥ (मी० श्लो० वा०) । अर्थत = अर्थे । यन्न पदार्थविशेषसमुत्थं प्रत्ययत प्रकृतेश्च तदूह्यम् (भाष्य) । यहाँ प्रत्ययत में पञ्चमी अर्थ में तसि हुआ है । यदि तावदस्य शिरोमन्तर नामत पृच्छामि (शाकुन्तल) । नामत = नाम्ना । तृतीयार्थ मे तसि । क्रियावाचित्वमाख्यातुमेकैकोर्थ प्रदर्शित । प्रयोगतोऽनुगन्तव्या अनेकार्था हि धातव ॥ प्रयोगत = प्रयोगै । तृतीयार्थ मे तसि । वित्तेन क्षीणो न क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हत ( ) । यहाँ भी तृतीयार्थ मे तसि हुआ है । अध्ययनतोऽविप्रकृष्टाख्यानाम् (२।४।५) । इस पाणिनि सूत्र मे अध्ययनत यहाँ निमित्त तृतीयान्त से तसि हुआ है । विप्राणा ज्ञानतो ज्यैष्ठ्य क्षत्रियाणा तु वीर्यत । वैश्यानां धान्यधनत शूद्राणामेव जन्मत (मनु० २।१५५) ॥ ऐसे ही यहाँ । शिखितोऽसि सारथ्ये तीर्थत पुरुषर्षभ (भा० विराट० ४५।१८) । तीर्थत = तीर्थेन = गुरुणा । कर्तृ-तृतीयान्त से तसि हुआ है । रात्रौ वृक्षमूलानि दूरत परिवर्जयेत् (मनु० ४।७३) । यहाँ 'दूर' से द्वितीया, तृतीया, पञ्चमी, सप्तमी विभक्तियों मे से किसी एक विभक्ति के स्थान मे 'तसि' समझा जा सकता है । वृषास्तूभयत स्मृता (मनु० १।४७) । उभयत = उभयस्या । प्रथमान्त से तसि । कुलधर्मो दक्षिणतश्चूडा वासिष्ठानाम् ( ) । दक्षिणत = दक्षिणस्मिन्भागे । सप्तम्यन्त से तसि । स्वार्थिका प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यतिवर्तन्तेऽपि—यहाँ प्रकृतित = प्रकृते । षष्ठ्यन्त मे तसि हुआ । अर्थ है—स्वार्थिक प्रत्यय प्रकृति के लिङ्ग व वचन को छोड भी देते हैं । इसी प्रकार गुणवचनाना शब्दानामाश्रयतो लिङ्गवचनानि भवन्ति—यहाँ 'आश्रयत' मे षष्ठ्यर्थ मे 'तसि' हुआ है । तद्दण आन्नुयात्सर्व दद्याच्च च सर्वत (मनु० ८।१०७) । सर्वत = सर्वस्य (ऋणस्य) ।

अपादान मे जो पञ्चमी उससे तसि, जब उस का हा (त्यागना) और रुह् (उगना) के साथ सम्बन्ध न हो[1]—ग्रामाद् आगच्छति । ग्रामत

---

१ अपादाने चाहीय-रुहो (५।४।४५) ।

प्रागच्छद्वा । दुर्जनाद् बिभेति सुजन । दुर्जनतो बिभेति सुजन । अध्ययनाद् पराजयते (पढ़ने से उकता जाता है)। अध्ययनत पराजयते । गोमयाद वृश्चिको जायते । गोमयतो वृश्चिको जायते । अटव्या अटवीमटति । अटवीतो-ऽटवीमटति । एक जगल से दूसरे जगल को घूम आता है । पर सार्थाद् हीयते, काफिले से जुदा हो जाता है । यहाँ 'हा' के साथ सम्बन्ध होने से पञ्चमी 'से' तसि नहीं हुआ । पर्वताद् अवरोहति—यहाँ रुह् के साथ सम्बन्ध होने से तसि नहीं हुआ ।

प्रतिग्रह-अध्ययन क्षेप-विषयक जो तृतीया तदन्त से विकल्प से तसि होता है, जब वह तृतीया कर्ता में नहीं हुई है ।[1] प्रतिग्रह=औरों को छोड़कर किसी एक को चुनना । अध्ययन=न हिलना । न विचलित होना । क्षेप=निन्दा । वृत्तेन (वृत्तत) प्रतिगृह्यते जनोऽविज्ञोऽपि । न बहुत जानता हुआ भी सुवृत्त के कारण चुना जाता है । चरित्रेण चरित्रतो ऽतिगृह्यतेऽधनोऽपि । कष्टमापन्नोऽपि वृत्तेन वृत्ततो न व्यथते सुधीर । चरित्रेण चरित्रत क्षिप्त कि जीवति किंपचान, कजूस चरित के निमित्त निन्दित हुआ बुरी तरह जीता है ।

तसि—हा धातु के साथ तथा पाप' के साथ जिस का योग है तद्वाची शब्द से कर्तृ भिन्न कारक में जो तृतीया तदन्त से विकल्प से तसि प्रत्यय होता है[2] —वृत्तेन हीयते । वृत्ततो हीयते । हेतु अथवा करण में तृतीया । वृत्तेन वृत्ततो वा पाप । मन्त्रो हीन स्वरतो वर्णतो वा । यहाँ स्वरत ,वर्णत में करणतृतीयान्त से तसि हुआ है ।

व्याश्रय (=नानापक्षसमाश्रय) गम्यमान होने पर षष्ठ्यन्त से विकल्प से[3]—देवा अर्जुनतोऽभवन् । देवा अर्जुनस्य पक्षेऽभवन् । तसि प्रत्यय होने पर उसी से पक्ष का अर्थ अवगत होने से वाक्य मे पक्ष शब्द का प्रयोग नहीं होता। आदित्या कर्णतोऽभवन् ।

रोगवाची शब्द से जो षष्ठी तदन्त से विकल्प से तसि होता है अपनयन=प्रतीकार अर्थ की प्रतीति होने पर[4]—प्रवाहिकात कुरु, संग्रहणी का इलाज कर । पक्षे प्रवाहिकाया कुरु ऐसा भी कहेंगे । विचर्चिकात कुरु।

---

१ प्रतिग्रहाऽव्ययन-क्षेपेष्वकर्तरि तृतीयाया (५।४।४६) ।
२ हीयमान-पापयोगाच्च (५।४।४७) ।
३ षष्ठ्या व्याश्रये (५।४।४८)।
४ रोगाच्चापनयने (५।४।४९) ।

यों का प्रतीकार कर। कृ धातु का यहाँ चिकित्सा अर्थ है। (करोतिना सर्वधात्वर्थानुवादः क्रियते' इस शीर्षक के निबन्ध को हमारी कृति प्रस्तावतरङ्गिणी में पढ़ें)।

च्वि—कारण का, जो अभी विकाररूप में अपरिणत है अपने विकाररूप से जन्म अभूततद्भाव होना है। स्वल न होकर होने को अभूततद्भाव नहीं कहते। इसी लिये तो तद् शब्द का ग्रहण किया है। अभूतस्य तदात्मना भाव =अभूततद्भाव। कार्य कारण का अभेद विवक्षित है। अभूततद्भाव के गम्यमान होने पर सम्पद्यते (बनता है, होता है) का कर्ता जो प्रातिपदिक उससे च्वि प्रत्यय होता है, कृ,भू,अस् के साथ योग होने पर[1]। 'सम्पद्यते के कर्ता' से प्रत्यय होता है' इसका तात्पर्य यह है कि विकार वाचक प्रातिपदिक से च्वि आता है, प्रकृतिवाचक से नहीं—अशुक्लः शुक्लः सम्पद्यते तं करोति शुक्ली करोति। मलिनं शुक्ली करोति। शुक्ली भवति। शुक्ली स्यात्। घटी करोति मृदम्। घटी भवति मृद्। घटी स्यान्मृत्। यहां सर्वत्र विकार= अवस्थान्तर को प्राप्त हो रही प्रकृति के वाचक विकार शब्द से स्वार्थ में च्वि हुआ है। 'च्वि' का सर्वापहारी लोप हो जाता है। अस्य च्वौ (७।४।३२) से प्रातिपदिकान्त 'अ' को 'ई' होता है। ऊर्यादि-च्वि डाचश्च (१।४।६१)से 'च्वि' निपात संज्ञक है। अव्यय होने से इससे परे सुप् का लुक् हो जाता है। अशुचि शुचि सम्पद्यते। तं करोति मनुष्य आत्मानं स्नानेन। शुची करोति। शुची भवति। शुची स्यात्। यहाँ च्वौ च(७।४।२६)से 'इ' को दीर्घ। एवं अगुरु गुरुः सम्पद्यते। तं करोति गुरू करोति। माणवकं उपनेतारं गुरू करोति। यहाँ उ को दीर्घ। अपिता सन्नपिता सम्पद्यते। तं पित्री करोत्यनाथ। पित्री भवति। यहाँ ऋ को रीङ् आदेश होता है च्वि परे रहते। शुक्ली करोति इत्यादि में शुक्ली आदि च्व्यन्त पृथक् पद हैं, लोक में तिङन्त के साथ समास न होने से। पर शुक्लीकृतः। शुक्लीकृत्य। शुक्लीकर्तुम् इत्यादि समस्त पद हैं। 'च्वि' की गति संज्ञा भी है। अतः ये गति तत्पुरुष समास हैं। अत एव 'शुक्लीकृत्य' में क्त्वा को ल्यप् आदेश हुआ है।

'सम्पद्यते' का कर्ता जो विकृति वाचक प्रातिपदिक उस से च्वि विधान किया है। इस लिये अदेवगृहं देवगृहे सम्पद्यते-यहाँ देवगृह से 'च्वि' नहीं होता,

---

१ कृभ्वस्तियोगे सम्पद्य-कर्तरि च्विः (५।४।५०)। अभूततद्भाव इति वक्तव्यम् (वा०)।

कारण कि देवगृह 'सम्पत्ति' का अधिकरण है, कर्ता नहीं। कर्ता तो वृक्षादि (अनुक्त) पदार्थ है। आजकल सूत्रार्थ को ठीक ठीक न जानते हुए कुछ लोग (पण्डित तथा अपण्डित) अनेकत्र स्थितो लोक एकत्र सम्पद्यते इस अर्थ में एकत्रीकृत, एकत्रीभूत पदों का प्रयोग करते देखे जाते हैं। व्याकरण के अध्येता को इनका विषवत् परिहार करना चाहिये। एकत्रीकृत आदि में च्वि का प्रसङ्ग नहीं। अप्रसक्त च्वि लाकर 'अस्य च्वौ' की प्रवृत्ति करके 'अ' को 'ई' करना भी प्रामादिक है। च्व्यन्त अव्यय होता है और 'ई' अनव्यय को होता है। अतः ऐसा प्रयोग सुतराम् हेय है।

च्वि के अन्य उदाहरण—

अगार्ग्यो गार्ग्यः सम्पद्यते। गार्गी भवति। यस्येति च (६।४।१४८) से च्वि परे रहते अपत्य (अपत्यवाचक) यकार का लोप होजाता है। अस्वं स्वं सम्पद्यमानं करोति स्वी करोति, जो अपना नहीं उसे अपना बनालेता है। इदममुष्य स्वी करिष्यामि(म०भा० २।३३)=परमात्मसात्करिष्यामि, मैं इसके धन को अपने अधिकार में ले लूंगा। दुग्धं दधी भवति। मृद् घटी भवति। अपटः पटः सम्पद्यते। पटी भवन्ति तन्तवः। अस्वः स्वः सम्पद्यते इति स्वद्भवति। अमहद् महत् सम्पद्यते इति महद् भवति। अमहान् महान्भूतश्चन्द्रमा महद्भूतश्चन्द्रमाः। अनपत्ये सस्थिते राजनि तद्दायादं राजीकुर्वन्ति प्रकृतयः। राजा के निःसन्तान मरने पर प्रजाएं उसके वंशज को राजा बनाती हैं। च्वि प्रत्यय परे रहते पूर्व की स्वादिष्वसर्वनामस्थाने (१।४।१७) से पद संज्ञा होने से 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' से न् का लोप होता है। नलोपः सुप्स्वरसंज्ञातुग्विधिषु कृति (८।२।२) इस सूत्र के नियमार्थ होने से अस्य च्वौ (७।४।३२) की दृष्टि में नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य (८।२।७) यह शास्त्र सिद्ध हो है। अतः 'राज' के 'अ' को 'ई' हो गया। अनुन्मुखम् उन्मुखं सम्पद्यते। तं करोति उन्मुखी करोति। उन्मुखी भवति। उन्मुखी स्यात्। उन्नतं मुखमस्य= उन्मुख। इस मूलार्थ में मेघदूत का प्रयोग है—अद्रेः शृङ्गं हरति पवनः किं स्विदित्युन्मुखीभिः। सज्ज (तैयार), उत्सुक आदि अर्थ भी हैं।

अरुस्, मनस्, चक्षुस्, चेतस्, रहस्, रजस् से पूर्वसूत्र से विहित अभूत

तद्भाव मे च्वि प्रत्यय होने पर अन्त्य स् का लोप हो जाता है[1]—अरुस् (नपु०) घाव का नाम है। अनरुर् अरु सम्पद्यते। तत् करोति अरूकरोति, घाव बनाता है। 'स्' का लोप होने पर 'अर' के 'उ' को दीर्घ। अनुन्मना उन्मना सम्पद्यते। त करोति उन्मनी करोति। प्रियेण विप्रयोगो जन-मुन्मनी करोति। प्यारे से वियोग पुरुष को व्याकुल कर देता है। उत्सव इति गन्तुमुन्मनी भवाम। यहाँ उन्मनस्=उत्सुक। अस्मद्विना मा भूगमुन्मनी भू (किरात ३।३६)। उन्मनस्=अशान्त, अधीर, व्याकुल। उद्गते चक्षुषी यस्य स उच्चक्षु। नभोमध्यगत सूर्य द्रष्टुमुच्चक्षू भवति। शुचा परीत सचेता अपि विचेती भवति। विगत रहो विविक्तमस्या विरहा। अविरहा विरहा सम्पद्यते। ता करोति विरही करोति। सैन्यचक्र विरही करोत्यरण्यानीम्, सेनादल जगल को एकान्तरहित बना देता है, अर्थात् जनाकीर्ण कर देता है। विगत रजोऽस्य विरजा। अपा प्रोक्षणेन विरजी करोति पन्थानम्। ध्यानेन विरजी भवन्ति मुनय, मुनि लोग ध्यान मे रजो गुण रहित हो जाते हैं।

साति, च्वि—अभूततद्भाव मे कृ, भू अस्ति के योग मे 'सम्पत्ति' के कर्ता से विकल्प से साति (सात्) प्रत्यय आता है और च्वि भी कृत्स्नता की प्रतीति होने पर, अर्थात् जब सम्पूर्ण का परिणाम अभिप्रेत हो[2]—अग्निसात् भवति गृहमग्निशमकाना कालेऽसन्निधे, घर सारा जल जाता है आग बुझाने वालो के समय पर न पहुँचने से। पक्ष मे अग्नी भवति इत्यादि। वर्षासु लवणपिण्ड-मुदकसाद्भवति। उदकी भवति। बरसात मे सारा लवण-पिण्ड पानी बन जाता है।

सम्पद् धातु के योग मे भी अभिविधि (अनेक व्यक्तियो का एकदेश मे विकार) गम्यमान होने पर[3]—अस्या सेनायां सर्वं शस्त्रमग्निसात् सम्पद्यते (भवति)। अग्नी भवति। इस सेना मे सभी शस्त्रो को आग लग रही है। सर्वाणि सवसथसदनानि नक्तमग्निसात्कुर्वन्त्याततायिन, रात के समय अत्याचारी लोग ग्राम के सभी घरो को जला देते है। यहाँ हरेक घर के कुछ अवयवो को जलाना अभिप्रेत है।

---

१ अरुर्मनश्चक्षुश्चेतोरहोरजसा लोपश्च (५।४।५१)।
२ विभाषा साति कार्त्स्न्ये (५।४।५२)।
३. अभिविधौ सम्पदा च (५।४।५३)।

साति—स्वामि विशेष वाची प्रातिपदिकों से 'स्वामी के आयत्त, इस अर्थ को कहने के लिए कृ, भू, अस के तथा सम्पद् के योग में साति प्रत्यय होता है[1]—अनपत्ये उपरते नृपतौ तद्विषय ज्ञातिसाद् भवति। ज्ञातिसात्सम्पद्यते। अनपत्ये मृते वणिजे तद्विषय राजसात्सम्पद्यते। राजसाद् भवति। कुतश्चिल्लब्ध निधि राजसात्कुर्वन्त्यमात्या। भस्मसात्कृतवत पितृद्विष पात्रसाच्च वसुधां ससागराम् (रघु० ११।८६)।

त्रा, साति—जब देय पदार्थ को स्वामी के अधीन करना, उसके अधीन होना विवक्षित हो तो कृ, भू, अस तथा सम्पद् के योग मे तद्वाचक शब्द से 'त्रा' प्रत्यय होता है और साति भी[2]—ब्राह्मणेभ्यो देय गवादिक तेभ्य सम्यं तदधीन करोति—ब्राह्मणत्रा करोति गवादिकम्। ब्राह्मणसात्करोति गवादिकम्। ब्राह्मणत्रा सम्पद्यते। ब्राह्मणसात्सम्पद्यते। त्रान्त का स्वर् आदि गण मे पाठ होना चाहिए जिससे इससे उत्पन्न हुए 'सु' का लुक् हो जाए।

त्रा—द्वितीयान्त तथा सप्तम्यन्त देव, मनुष्य, पुरुष, पुरु, मर्त्य से स्वार्थ मे बहुलतया त्रा प्रत्यय होता है[3]—देवान् गच्छति। देवत्रा गच्छति। देवत्रा गच्छन्ति देवयज। देवेषु वसति। देवत्रा वसति। देवत्रा वसति स्वर्गति सुकृती। ऐसे ही मनुष्य आदि के त्रा प्रत्ययान्त रूप जानो। बहुल ग्रहण से देव आदि से अन्यत्र भी त्रा होता है—बहुत्रा जीवतो मन (ऋ० १०।१६४।२), जीते हुए का बहुत चीजो मे मन जाता है।

डाच—जिस ध्वनि मे अकारादि वर्ण व्यक्त (=विशेषेण स्पष्ट) नही होते वह अव्यक्त होती है। अव्यक्त ध्वनि के अनुकरण से डाच् प्रत्यय होता है जब वह अनुकरण द्व्यजवरार्ध हो, अर्थात् जब डाच् की विवक्षा होते ही उस द्विवचन करने पर उसका आधा कम से कम द्व्यच (द्व्यक्षर) रहे और जब उसमे परे 'इति' न हो। यह डाच् कृ, भू अस् के योग मे होता है[4]—पटत् पटत् डाच् करोति। पटपटा करोति। यहाँ डाच् की विवक्षा होते ही पटत् को द्वित्व हो गया। डाचि बहुल द्वे भवत। द्वित्व होने पर इसका आधा द्व्यच् है। द्व्यच् अवरम् अर्ध यस्य तदनुकरण द्व्यजवरार्धम्। अवर=

---

१ तदधीनवचने (५।४।५४)।

२ देये त्रा च (५।४।५५)।

३ देव मनुष्य पुरुष-पुरु मर्त्येभ्यो द्वितीयासप्तम्योर्बहुलम् (५।४।५६)।

४ अव्यक्तानुकरणाद् द्व्यजवरार्धादनितौ डाच् (५।४।५७)।

अपकृष्ट, सुष्ठु न्यून, कम से कम। पटत्-पटत् डाच् इस अवस्था में 'नित्यमाम्रेडिते डाचि' इस वार्तिक से पटत् आम्रेडित परे होने पर पूर्व पटत् के त् और आम्रेडित के प् के स्थान में पररूप एकादेश पकार हो जाता है। डाच् परे रहते पूर्व की 'भ' संज्ञा होने से टि (अत्) का लोप हो जाता है, जिस से पटपटा करोति रूप सिद्ध हो जाता है। डाच् की गति संज्ञा है अतः डाजन्त से क्त्वा को ल्यप् होकर पटपटाकृत्य रूप होगा। पटपटा भवति। पटपटा स्यात्। अत् करोति—यहां डाच् करने पर द्विवचन होने पर आधा द्व्यक्षर नहीं बनता, अतः डाच् होता ही नहीं। कम से कम द्व्यच्क कहने से व्यञ्जक से भी डाच् निर्बाध होगा —खरटत्—खरटत्—डाच् करोति=खरटखरटा करोति। इति परे होने पर डाच् नहीं होगा—पटत् इति करोति पटिति करोति। अव्यक्तानुकरणस्यात इतौ (६।१।६८) से यहां अत् और इ—दोनों के स्थान में पररूप 'इ' होता है।

द्वितीय, तृतीय, शम्ब, बीज—इन से कृ के योग में डाच् प्रत्यय होता है कर्षण अभिधेय होने पर[1]। कृ यहां कर्षण का वाचक है—द्वितीया करोति क्षेत्रम्। तृतीया करोति क्षेत्रम्। दूसरी बार तीसरी बार खेत में हल चलाता है। शम्बा करोति क्षेत्रम्। अनुलोम कृष्ट क्षेत्र पुनः प्रतिलोम कृषति, पहले सीधे ठीक दिशा में हल चलाकर फिर उलटा हल चलाता है। बीजा करोति क्षेत्रम्, बीज बोते-बोते हल चलाता है। सूत्र में केवल कृ का ग्रहण होने से भू अस् के योग में यह डाच् नहीं होता।

गुणान्त संख्यावाची शब्द से कर्षण अभिधेय होने पर कृ के योग में[2]—द्विगुण विलेखन (कर्षण) करोति क्षेत्रस्य=द्विगुणा करोति क्षेत्रम्। खेत में दो बार हल चलाता है। त्रिगुणा करोति क्षेत्रम्।

कर्तव्य कर्म के अवसर का आ जाना 'समय' कहलाता है। उसकी यापना=अतिक्रमण। समय शब्द से यापना अर्थ की प्रतीति होने पर डाच् होता है कृ के योग में[3]—समया करोति=समयं यापयति=कालक्षेपं करोति =अद्यानवसर इत्युक्त्वा कालं गमयति, टाल मटोल करता है। ऋणं विगणय्येत्युक्त समया करोति धनिक।

१ कृञो द्वितीय-तृतीय-शम्ब-बीजात्कृषौ (५।४।५८)।
२ संख्यायाश्च गुणान्तायाः (५।४।५९)।
३ समयाच्च यापनायाम् (५।४।६०)।

सपत्र, निष्पत्र शब्दों से कृ के योग में अतिव्यथन (अति पीडन) की प्रतीति होने पर[1]—सपत्रा करोति मृगं व्याधः, शिकारी पक्ष सहित बाण को मृग के शरीर में प्रविष्ट करता है। शरपुङ्ख में लगे हुए पक्ष को पत्र कहा है। निष्पत्रा करोति मृगं व्याधः, शिकारी पक्ष सहित बाण को मृग के शरीर से पार कर देता है। ऐसा अर्थ न होने पर सपत्रं वृक्षं करोति जलसेचकः। निष्पत्रं भूमितलं करोति भूमिशोधकः—यहाँ डाच् नहीं होता।

निष्कोषण अर्थ में वर्तमान निष्कुल शब्द से डाच् होता है कृ के योग में[2]—निष्कुला करोति पशून् वधकः, कसाव पशुओं की अन्तड़ियों को बाहिर निकालता है=पशून् निष्कुष्णाति। निर्गतं कुलं समूहोऽवयवानां यस्मात् स निष्कुलः। ऐसा अर्थ न होने पर निष्कुलान् करोति शत्रून्, शत्रुओं को वंशहीन कर देता है—यहाँ डाच् नहीं होता।

सुख प्रिय से, जब ये आनुलोम्य अर्थ में प्रयुक्त हों, कृ के योग में।[3] आराध्य=सेव्य स्वामी आदि के अनुकूल व्यवहार को 'आनुलोम्य' कहा है सुखा करोति स्वामिनं सेवकः, सेवक अनुकूल व्यवहार से स्वामी को सुख देता है। प्रिया करोति मातरं वत्सः बच्चा माता को अनुकूल व्यवहार से प्रसन्न करता है।

दुःख शब्द से प्रातिलोम्य (प्रतिकूलता स्वामी आदि के चित्त को पीडित करना) गम्यमान होने पर कृ के योग में[4]—दुःखा करोति स्वामिनं भृत्यः, नौकर प्रतिकूल व्यवहार से स्वामी को पीडित करता है। पूर्व सूत्र में और इसमें आनुलोम्य और प्रातिलोम्य प्राणी का धर्म है। अतः सुखं प्रियं वा करोत्यौषधपानम्। दुःखं करोति कदन्नं भुक्तम् (निकम्मा अन्न खाया हुआ) पीडा देता है—यहाँ डाच् नहीं होता। सुख दुःख देना तो उभयत्र समान है।

शूल शब्द से पाक विषय में कृ के योग में[5]—शूला करोति मांसम् शूले पचति। पाक विषय न होने पर शूलं करोति दग्धमन्नमशितम्, जला हुआ अन्न खाया हुआ पीडा करता है—यहाँ डाच् नहीं होता।

---

१ सपत्र निष्पत्रादतिव्यथने (५।४।६१)।
२ निष्कुलान्निष्कोषणे (५।४।६२)।
३ सुख प्रियादानुलोम्ये (५।४।६३)।
४ दुःखात्प्रातिलोम्ये (५।४।६४)।
५ शूलात्पाके (५।४।६५)।

अशपथवाची सत्य शब्द से कृ के योग में[1]—सत्या करोति भाण्ड वणिक्, बनिया मैंने इस रत्नादि द्रव्य का खरीदना है यह पक्का करता है, देय मूल्य का कुछ अंश देकर रत्नादि द्रव्य को अपनी ओर कर लेता है।

मद्र तथा भद्र शब्दों से मङ्गलविषयक मुण्डन अर्थ में[2]—मङ्गल मुण्डन करोति मद्रा करोति। मद्रा करोति नापित कुमारम्।

यहां अव्यय तद्धित समाप्त हुए।

प्रागिवीय अनव्यय तद्धित—

इवे प्रतिकृतौ (५।३।९६) इससे पूर्व विहित तद्धितों को 'प्रागिवीय' कहा है।

पाशप्—याप्य (=कुत्सित) अर्थ में वर्तमान प्रातिपदिक से स्वार्थ में पाशप् (पाश) प्रत्यय होता है।[3] स्वार्थिक प्रत्यय प्रकृतिगत विशेष के द्योतक होते हैं। कुत्सितो वैयाकरण=वैयाकरणपाश। कुत्सितो याज्ञिक=याज्ञिकपाश। कुत्सितो भिषक्=भिषक्पाश। त्यजेद् दूराद् भिषक्पाशान् पाशान् वैवस्वतानिव (अष्टाङ्ग० ३।४०।७६)। याप्य शब्द का मूलार्थ गमयितव्य, प्रस्थापयितव्य, बहिष्कार्य है। मिथ्यावचने याप्यो दण्डुपश्च साक्षी (गौ० ध० २।४।२३)। यहां स्पष्ट ही 'बहिष्कार्य' अर्थ है जिसे टीकाकार हरदत्त मिश्र स्वीकार करता है। इसका कुत्सित, निन्दित अर्थ कैसे हुआ इसके लिए हमारी कृति प्रस्तावतरङ्गिणी में 'पदार्थविकास' नाम का निबन्ध पढ़ें।

अन्—पूरणार्थक जो तीय प्रत्यय तदन्त, भाग में वर्तमान प्रातिपदिक से स्वार्थ में[4]—द्वितीयो भाग। द्वितीय। तृतीयो भाग। तृतीय। अन् विधान स्वर के लिए है। अन् नित् है। अत प्रत्ययान्त शब्द आद्युदात्त होगा। वेद की तरह लोक में भी सस्वर उच्चारण होता था।

अन्—एकादश से पूर्व की संख्याओं के वाचक, भाग अर्थ में प्रयुक्त पूरणप्रत्ययान्त प्रातिपदिकों से स्वार्थ में[5]—पञ्चम। सप्तम। नवम। यह अन् विधि भी स्वर के लिए है। वेद में यह विधि नहीं होती। लोक में भी सस्वर उच्चारण होता था—यह विधान इसका ज्ञापक है।

---

१ सत्यादशपथे (५।४।६६)।
२ मद्रात्परिवापणे (५।४।६७)। भद्राच्चेति वक्तव्यम् (वा०)।
३ याप्ये पाशप् (५।३।४७)।
४ पूरणाद् भागे तीयादन् (५।३।४८)।
५ प्रागेकादशभ्योऽच्छन्दसि (५।३।४९)।

ञ, अन्—षष्ठ, अष्टम से पूर्व निर्दिष्ट अर्थ में ञ होता है और अन् भी[1]—षाष्ठो भागः (ञ)। षष्ठो भागः (अन्)। आष्टमो भागः (ञ)। अष्टमो भागः (अन्)।

कन्, प्रत्यय-लुक्—यदि भाग मान (माप) हो तो षष्ठ से कन् और यदि भाग पशु का अंग हो तो अष्टम से ञ् अथवा अन् का लुक्।[2] सूत्र में चकार पढ़ने से यथाप्राप्त ञ तथा अन् भी रहते हैं—षष्ठको भागो मानम्। अष्टमो भागः पश्वङ्गम्। षाष्ठ। षष्ठ। आष्टम। अष्टम। ञ और अन् भी होंगे।

आकिनिच् कन्—असहाय (अकेला)। एकवाची एक शब्द से स्वार्थ में आकिनिच् (आकिन्) और कन् प्रत्यय होते हैं[3]। इनका पाक्षिक लोप भी होता है—एकाकी (प्र० एक०)। एकक। एक।

चरट्—पूर्वं भूत = भूतपूर्व। यह शब्द अतिक्रान्त को कहता है। जो पहले था अब नहीं। भूतपूर्वत्व विशिष्ट अर्थ में वर्तमान प्रातिपदिक से स्वार्थ में चरट्[4]। ट स्त्रीत्व विवक्षा में ङीप् के लिए है—आढ्यो भूतपूर्व = आढ्यचर, जो पहले धनी था। आढ्यचरा अनाढ्या भृशं दुःखं वेदयन्ते, दरिद्र जो पहले धनी थे बहुत दुःख अनुभव करते हैं। पङ्गुः पर्वतमारूढः इति न दृष्टचरं श्रुतचरं वा। लंगड़ा पर्वत पर चढ़ गया यह न तो पहले देखा था और न सुना था। नेयं श्रुतचरी वार्ता यह बात पहले कभी सुनी न थी।

रूप्य चरट्—षष्ठ्यन्त से भूतपूर्व अर्थ में रूप्य प्रत्यय होता है और चरट् (चर) भी[5]—देवदत्तस्य भूतपूर्वं गृहम् = देवदत्तरूप्यम्। देवदत्तचरम्। यत्सम्प्रति यज्ञदत्तस्य स्वं भवति तद् देवदत्तरूप्यं (देवदत्तचरम्) आसीदित्येतद्, जो घर इस समय यज्ञदत्त का धन है वह पहले देवदत्त का था। अथ गौर्देवदत्तेन यज्ञदत्ताय विक्रीत इदानीं तस्य न भवति। कामं देवदत्तरूप्यो देवदत्तचरो वाऽभूत्। यह बैल देवदत्त ने यज्ञदत्त के पास बेच दिया है, अतः अब यह इसका नहीं। हाँ पहले देवदत्त का था।

---

१ षष्ठाष्टमाभ्यां ञ च (५।३।५०)।
२ मान-पश्वङ्गयोः कन्लुकौ च (५।३।५१)।
३ एकादाकिनिच्चासहाये (५।३।५२)।
४ भूतपूर्वे चरट् (५।३।५३)।
५ षष्ठ्या रूप्य च (५।३।५४)।

रूपप्—प्रशंसा विशिष्ट अर्थ में वर्तमान प्रातिपदिक तथा तिङन्त से रूपप् (रूप) प्रत्यय होता है स्वार्थ में[1]। प्रशंसा से यहाँ प्रकृत्यर्थ की परिपूर्णता अभिप्रेत है, स्तुति नहीं। प्रशस्त पटु =पटुरूप। पटुरूपोऽयं छात्रः सकृच्छ्रुतं गृह्णाति चिरं च धारयति, यह छात्र पूर्णरूप से चतुर है, एक बार (गुरुमुख से) सुने हुए को ग्रहण कर लेता है और चिर तक स्मरण रखता है। प्रशस्तो वैयाकरणः = वैयाकरणरूप। अयं वैयाकरणरूपो यः साधु व्याकरोति शब्दान् साधीयश्च तान्प्रयुङ्क्ते, यह बहुत बढ़िया वैयाकरण है जो शब्दों को ठीक ठीक प्रकृत्यादि विभाग द्वारा विश्लेषण करता है और बहुत अच्छी तरह इन्हें प्रयुक्त करता है। वृषलरूपोऽयं यः पलाण्डुना सुरां पिबति, यह बढ़िया (पूरा-पूरा) शूद्र है जो प्याज के साथ सुरा पीता है। चोररूपोऽयं यो ऽक्ष्णोरप्यञ्जनं हरति। यह बहुत ही चालाक चोर है जो आखों के अञ्जन को भी चुरा लेता है। तिङन्त से भी—यथा कि पचति, इय च पचतिरूपम्। विनीता हीयं पाकक्रियायाम्। यह कुछ नहीं पकाती, यह तो अच्छा पकाती है, क्योंकि यह पाक क्रिया में शिक्षित है। पचतिरूपम्। पचतोरूपम्। पचन्तिरूपम्। यहाँ तद्धित प्रत्ययान्त से द्विवचन, बहुवचन नहीं होते, एकवचन ही होता है, कारण कि आख्यात क्रिया प्रधान होता है और क्रिया (पाक आदि) एक ही होती है करने वाले चाहे अनेक हों। एकवचन तो औत्सर्गिक है। नपुंसक लिङ्गता लोक में ऐसा प्रयोग होने से है।

कल्पप, देश्य, देशीयर्—पदार्थों की परिपूर्णता समाप्ति है, उसमें कुछ कमी हो तो उसे ईषदसमाप्ति कहेंगे। ईषदसमाप्तिविशिष्ट अर्थ में वर्तमान प्रातिपदिक तथा तिङन्त से कल्पप् (कल्प), देश्य, देशीयर् (देशीय) प्रत्यय स्वार्थ में होते हैं[2]—ईषदसमाप्त पटु =पटुकल्प, जो पूरा चतुर नहीं। पटुदेश्य। पटुदेशीय। पटुना वटुना यथेदं सुकरं न तथा पटुकल्पेन। सुकुमारकल्पोऽयं वैतसः, न तु सुकुमारः, यह बेंत कुछ मुलायम है, पूरी तरह से मुलायम नहीं। अयं सम्प्रति पञ्चवर्षदेश्य (पञ्चवर्षदेशीय), न तु पञ्चवर्षः। पञ्च वर्षाणि भूत पञ्चवर्ष। चित्तवति नित्यम् (५।१।८९) से तमधीष्टो भृतो भूतो भावी (५।१।८०) से 'भूत' अर्थ में आए हुए ठञ् का लुक्

१ प्रशंसायां रूपप् (५।३।६६)।

२ ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः (५।३।६७)।

हो जाता है । ईषदसमाप्त पञ्चवर्ष =पञ्चवर्षदेश्य । पञ्चवर्षदेशीय । पञ्चवर्षकल्प । गुडकल्पा द्राक्षा । तैलकल्पा प्रसन्ना (=सुरा)—यहाँ अभिधेय का जो लिङ्ग(स्त्रीलिङ्ग है वही कल्पप् प्रत्ययान्त का होता है । ऐसा ही देश्य, देशीयर् के विषय में जानो ।

बहुच्—ईषदसमाप्ति (किञ्चिन्न्यूनता) विशिष्ट अर्थ में वर्तमान सुबन्त से बहुच् (बहु) प्रत्यय स्वार्थ में होता है और वह सुबन्त से पूर्व होता है ।[1] प्रत्यय परे हुआ करता है, यह उसका अपवाद है । सूत्र में विभाषा ग्रहण से पक्ष में कल्पप् आदि भी होते हैं । ईषदसमाप्त पटु =बहुपटु, कुछ कम चतुर । बहुगुडो द्राक्षा । द्राक्षा गुड से कुछ कम होती है । ईषदसमाप्तो गुड =बहुगुड । जो बहुच् प्रत्यय की प्रकृति है उसका जो लिङ्ग और वचन प्रत्यय आने से पूर्व होता है वही प्रत्यय आने के पीछे भी । याचको नाम लघु र्बहुतृण नर । ईषदसमाप्त तृण=बहुतृणम् । माँगने वाला हलका तिनके से कुछ कम होता है ।

जातीयर्—'प्रकार' सामान्य को भिन्न करने वाले विशेष का नाम है । प्रकारविशिष्ट अर्थ में वर्तमान प्रातिपदिक से स्वार्थ में जातीयर् (जातीय) प्रत्यय होता है ।[2] थाल प्रत्यय केवल प्रकार अर्थ में होता है और जातीयर् प्रकारवान् अर्थ में यह इन दोनों का विषय भेद है । पटुप्रकार'=पटुजातीय । मृदुप्रकार =मृदुजातीय । पटुत्वविशिष्ट, मृदुत्वविशिष्ट इत्यर्थ । बालिश-जातीयो ह्येष जेतुकाम पराजय न सहते (कौट० अर्थ० ३।२०।७५) ।

आतिशायनिक अनव्यय तद्धित—

तमप्, इष्ठन्—अतिशायन =प्रकर्ष, अभिभव । अतिशय-विशिष्ट अर्थ वाले सुबन्त (तथा तिङन्त) से स्वार्थ में तमप् (तम) तथा इष्ठन् (इष्ठ) प्रत्यय होते हैं ।[3] दो में से एक का अतिशय द्योतन करने के लिए आगे तरप्, तथा ईयसुन् प्रत्यय कहेंगे, सो तमप् तथा इष्ठन् बहुतों में से एक के अतिशय द्योतन में आते हैं । सूत्र में 'अतिशायन' प्रकृत्यर्थ का विशेषण है अर्थात् जिस सुबन्त (तथा तिङन्त) से प्रत्यय करना है उसका विशेषण है । प्रकृष्ट शुक्ल आदि

---

१ विभाषा सुपो बहुच् पुरस्तात्तु (५।३।६८) ।
२ प्रकारवचने जातीयर् (५।३।६९) ।
३ अतिशायने तमबिष्ठनौ (५।३।५५) ।

शब्दों के अर्थ में प्रवृत्त हुए शुक्लादि शब्दों से प्रत्यय विधान किया जा रहा है। **सर्वे इमे आढ्या, अयमेषाम् अतिशयेनाढ्य आढ्यतम** । दर्शनीयतम । सुकुमारतम । कृष्णा गवा सम्पन्नक्षीरतमा । सर्वे इमे पटव, अयमेषामतिशयेन पटु, पटिष्ठ । लघु —लघिष्ठ । गुरु —गरिष्ठ । आशु —आशिष्ठ । **सर्वे इमे पचन्ति, अयमेषामतिशयेन पचति पचतितमाम्** । जल्पतितमाम् । तरबन्त से क्रियाप्रकर्ष में स्वार्थ में आम् प्रत्यय भी होता है। इष्ठन् का यहाँ उदाहरण नहीं दिया गया, कारण कि इष्ठन् गुणवाचक प्रातिपदिक से ही आता है।

द्वित्व के वाचक शब्द के उपपद (उपोच्चारित) होने पर, तथा विभज्य, विभक्तव्य अर्थ के उपपद होने पर अतिशय विशिष्ट स्वार्थवाची शब्द से तथा भेद प्रयोजक-धर्मवाचक शब्द से तरप् (तर) तथा ईयसुन् (ईयस) स्वार्थिक प्रत्यय होते हैं।[1] **द्वाविमौ पटू । अयमनयो पटुतर । पटीयान्** । यहाँ 'अनयो' यह दो को कहने वाला उपपद है, पास में उच्चारित पद है एक की अपेक्षा दूसरे के पटुत्व के अतिशय का द्योतक 'पटु' शब्द है, इससे तरप ईयसुन् हुए हैं। इसी तरह **द्वाविमावाढ्यौ, अयमनयोरतिशयेनाढ्य आढ्यतर** । दर्शनीयतर । सुकुमारतर । **द्वाविमावल्पाख्यौ । अयमनयोर अल्पाख्तर** । **अस्माक देवदत्तस्य च देवदत्तोऽभिरूपतर**, मुझमें और देवदत्त में देवदत्त अधिक रूपवान् है। अस्माकम् में अस्मदो द्वयोश्च (१।२।५६) से एकत्व में बहुवचन है। अत द्विवचन ही उपपद है। निर्धारण में षष्ठी है। **देवदत्तयज्ञदत्तौ जल्पत । देवदत्तस्तु जल्पतितराम्** ।

विभज्य (विभक्तव्य) उपपद होने पर भी—**माथुरा पाटलिपुत्रकेभ्य आढ्यतरा** । **उदीच्या प्राच्येभ्य पटुतरा** (पटीयास) । यहाँ पाटलिपुत्रक (पाटलिपुत्र के लोग) —यह विभज्य उपपद है। इन लोगों को माथुर (मथुरा-निवासी) लोगों से भिन्न करना है। 'आढ्य' भेद-प्रयोजक-धर्मवाची शब्द है। इस से प्रत्यय हुआ। इसी तरह दूसरे उदाहरण में जानें। **स्वार्थात् सतां गुरुतरा प्रणयिक्रियैव** (विक्रमोर्व० ४।१२) । यहाँ 'स्वार्थ' विभक्तव्य उपपद है। भेदप्रयोजक धर्मवाचक 'गुरु' है, इससे प्रत्यय हुआ।

दन्तोष्ठस्य दन्ता स्निग्धतरा । पाणिपादस्य पाणी सुकुमारतरौ ।

---

१ द्विवचन-विभज्योपपदे तरबीयसुनौ (५।३।५७) ।

यहां समाहार द्वन्द्व दन्तोष्ठ में दन्त और ओष्ठ अभेदैकत्व संख्या के बोधक हैं। वृत्ति का स्वभाव ही ऐसा है कि उस में वर्तिपदार्थ अपनी-अपनी संख्या को छोड़कर अभेदरूप एकत्व के बोधक होते हैं। दांत चाहे बत्तीस हैं और ओष्ठ दो हैं तो भी 'दन्तोष्ठ' से दांत एक पदार्थ, ओष्ठ एक पदार्थ इन दोनों का समाहार ऐसा बोध होता है। अत 'दन्तोष्ठ' दो का वाचक ही रहा। अत प्रत्यय निर्बाध हुआ। ऐसे ही 'पाणिपादस्य' के विषय में जानें। 'दन्तोष्ठस्य' तथा 'पाणिपादस्य' में निर्धारण में षष्ठी हुई है। पटुः भवान्पटुरासीद् ऐष मस्तु पटुतर, गत वर्ष आप पटु थे, इस वर्ष उससे अधिक पटु हैं। यहाँ एक ही धर्मी (द्रव्य) में तत्कालस्थत्व (उस काल का होना) रूप धर्म भेद द्वारा भेद का अध्यारोप करके दो देवदत्तादि कल्पित करके प्रतियोगी की अपेक्षा में तरप् न्याय्य ही है।

प्रकर्ष प्रत्ययान्त से दूसरा प्रकर्ष-प्रत्यय नहीं होता—युधिष्ठिर श्रेष्ठतम कुरूणाम् ऐसा नहीं कह सकते।

सूत्र में 'विभज्य' यह निपातन किया है। 'विभाज्य' होना चाहिये था। बाधकान्येव निपातनानि भवन्ति—इस परिभाषा के अनुसार लोक में 'विभज्य' का ही प्रयोग होना चाहिये।

अजादि (अच आदि) प्रत्यय ईयस इष्ठन् गुणवाचक सुबन्त से आते हैं, किसी और से नहीं[1]। ऐसा ही उदाहरणों में स्पष्ट है। पाचकतर। पाचकतमः। यहाँ ईयसुन्, इष्ठन् नहीं आ सकते। पाचक क्रियाशब्द है गुणशब्द नहीं। गौरयं शकटं वहति। गोतरोऽयं य शकटं वहति सीरं च। गौरियं या समां समां विजायते। गोतरैव या समां समां विजायते स्त्रीवत्सा च। यह गोपदार्थ द्रव्य है। अत यहाँ भी ईयसुन् नहीं हो सकता।

तृ लोप[2]—इष्ठन्, ईयसुन् तथा इमनिच् परे रहते तृ (तृच, तृन्) का लोप हो जाता है—कर्तृ इष्ठन्=करिष्ठ। आसुति करिष्ठ। आसुति सुरासन्धानमतिशयेन कर्ता (सर्वापेक्षया)। इयं दोग्ध्री गौ। इयं दोहीयसी। टि-लोप[3]—इष्ठन्, ईयसुन् तथा इमनिच् परे होने पर भ-संज्ञक के टि भाग

१ अजादी गुणवचनादेव (५।३।५८)।
२ तुरिष्ठेमेयःसु (६।४।१५४)।
३ टे (६।४।१५५)

का लोप होता है—पटिष्ठ। पटीयस्। पटिमन् (=पटुता)। 'पटु' में 'उ' 'टि' है। महत्—महीयस। महिष्ठ। टि=अत् का लोप। दोह्रीयसी रूप की सिद्धि इस प्रकार समझनी चाहिए—भस्याडे तद्धिते (वा०) से प्रत्यय की विवक्षा में ही पुंवद्भाव हो जाने से ङीप् की निवृत्ति हो जाने पर दोग्धृ के 'तृ' का लोप हो जाता है। तब निमित्त न रहने से घत्व (ह को घ), जश्त्व (घ को ग) भी निवृत्त हो जाते हैं। दोह् तृ ङीप् ईयसुन्—इस अलौकिक विग्रह में तो घत्व-जश्त्व के निमित्त तृ का विनाश होने वाला है यह देखकर पहले से ही घत्व जश्त्व नहीं किया जाता—अकृतव्यूहा पाणिनीयाः।

प्रशस्य के स्थान में अजादि (ईयसुन्, इष्ठन्) प्रत्यय परे रहते 'श्र' आदेश हो जाता है[1]।

अजादि प्रत्यय परे रहते एकाच् (एक अच वाली) प्रकृति (=अङ्ग) प्रकृत्या (प्रकृति भाव से) रहती है[2]—श्रेयस्। श्रेयान् (प्र० ए०)। स्त्री०—श्रेयसी। श्रेष्ठ। श्रेष्ठा।

प्रशस्य को 'ज्य' आदेश भी होता है अजादि प्रत्यय परे रहते[3]। एकाच् होने से 'ज्य' प्रकृति-भाव में रहता है—ज्येष्ठ। 'प्रशस्य' यद्यपि गुणवाचक नहीं, तो भी आदेश विधान सामर्थ्य से इससे ईयस् और इष्ठ आते हैं।

ज्य से परे ईयसुन् के 'ई' के स्थान में 'आ' आदेश होता है[4]—ज्य ईयस् =ज्य आयस्। प्रकृतिभाव होने से 'ज्य' के 'अ' का लोप नहीं होता—ज्यायस्। ज्यायान्। ज्यायांसौ। ज्यायांसः।

'वृद्ध' के स्थान में भी 'ज्य' आदेश होता है अजादि प्रत्यय परे होने पर[5]—ज्य—ईयस्=ज्य आयस्=ज्यायस्। ज्येष्ठ। उभाविमौ वृद्धौ। अयमनयो-रतिशयेन वृद्धः, ज्यायान्। सर्वं इमे वृद्धाः। अयमेषामतिशयेन वृद्धः। ज्येष्ठः। 'वृद्ध' को वर्ष आदेश भी कहेंगे, वह भी वचनसामर्थ्य से पक्ष में होगा—वर्षीयस्। वर्षिष्ठ।

अन्तिक (=समीप) तथा बाढ (=बहुत) को क्रम से नेद और साध

१ प्रशस्यस्य श्रः (५।३।६०)।
२ प्रकृत्यैकाच् (६।४।१६३)।
३ ज्य च (५।३।६१)।
४ ज्यादादीयसः (६।४।१६०)।
५ वृद्धस्य च (५।३।६२)।

आदेश होते हैं अजादि प्रत्यय परे होने पर[१]—सर्वाणीमान्यतिकानि । इद-मेषामतिशयेनान्तिकम्, नेदिष्ठम् । उभे इमे अन्तिके । इदमनयोरतिशयेनान्ति-कम्, नेदीय । सर्वे इमे बाढमधीयते । अयमेषामतिशयेन=साधिष्ठमधीते । अयमनयो साधीयोऽधीते । इन दोनो मे से अधिक अच्छा पढता है । साधु शब्द से भी ईयस्, इष्ठ करने पर टिलोप होने पर साधीयस् साधिष्ठ रूप होते हैं ।

युवन् अल्प को ईयस्, इष्ठ परे रहते विकल्प से कन् आदेश होता है[२]—युवन्—कनीयस् । अल्प—अल्पीयस । कनीयस् । कन् के अभाव मे युवन् से यवीयस रूप होगा । इस मे आगे कहे जा रहे सूत्र से यण से लेकर परले भाग का लोप (अर्थात् वन् का लोप) और 'यण' से पूर्व 'उ' को गुण । यो ईयस् =यवीयस । 'यो' मे एकाच् होने से प्रकृतिभाव हुआ, टिलोप नही हुआ ।

स्थूल, दूर, युवन्, ह्रस्व, क्षिप्र, क्षुद्र—इन के यण् से लेकर परले भाग का (प्रकृत मे ल, र, वन, व, र का) लोप होजाता है और यण से पूर्व को गुण अजादि प्रत्यय परे रहते[३]—स्थूल—ईयस=स्थो ईयस्=स्थवीयस । स्थविष्ठ । दूर—ईयस=दो ईयस्=दवीयस । दविष्ठ । युवन्—ईयस्=यो ईयस=यवीयस । यविष्ठ । ह्रस्व—ईयस=ह्रस् ईयस्=ह्रसीयस् । ह्रसिष्ठ । क्षिप्र—ईयस=क्षेप ईयस्=क्षेपीयस । क्षेपिष्ठ (=शीघ्रतम) । क्षुद्र—ईयस् =क्षुद्र ईयस्=क्षोदीयस् । क्षोदिष्ठ ।

प्रिय, स्थिर, स्फिर, उरु, बहुल, गुरु, वृद्ध, तृप्र, दीर्घ, वृन्दारक—इनको क्रम मे प्र, स्थ, स्फ वर् बहि, गर, वर्षि, त्रप, द्राघि, वृन्द—मे आदेश होते हैं अजादि प्रत्यय परे रहते[४]—प्रेयस । प्रेष्ठ । स्थेयस् । स्थेष्ठ । स्फेयस । स्फेष्ठ (अधिकतम) । वरीयस् । वरिष्ठ । (सबसे अधिक विस्तार वाला, सबसे अधिक चौडा) । बहीयस । बहिष्ठ । यहाँ टि 'इ' का लोप होता है । गरीयस् । गरिष्ठ । वर्षीयस । वर्षिष्ठ । त्रपीयस् । त्रपिष्ठ (शीघ्रतम ?) ।

---

१ अन्तिकबाढयो र्नेदसाधौ (५।३।६३) ।

२ युवाल्पयो कनन्यतरस्याम् (५।३ ६४) ।

३ स्थूल दूर युव ह्रस्व क्षिप्र-क्षुद्राणा यणादिपर पूर्वस्य च गुण (६।४।१५६) ।

४ प्रिय-स्थिर स्फिरोरु बहुल गुरु-वृद्ध-तृप्र दीर्घ वृन्दारकाणा प्र-स्थ स्फ वर्बंहि गर्वर्षि त्रब द्राघि वृन्दा (६।४।१५७) ।

दीर्घ—**द्राघीयस्** । **द्राघिष्ठ** । **वृन्दीयस** । **वृन्दिष्ठ** (श्रेष्ट) । वृन्दारक सुरे पुंसि मनोज्ञश्रेष्ठयोस्त्रिषु (मेदिनी) ।

'बहु' से परे आए हुए ईयस् के 'ई' का लोप और बहु को भू आदेश होता है[1]—**भूयस्** ।

इष्ठ परे रहते बहु को भू आदेश और इष्ठ को यिट् (य् जो टित् होने से आदि मे) होता है[2]—**भूयिष्ठ** । अभिरूपभूयिष्ठा परिषद्, सभा जो विद्वानो से भरपूर है ।

हलादि लघु ऋ को र् आदेश होता है अजादि प्रत्यय परे होने पर[3]—पृथु—**प्रथीयस्** । **प्रथिष्ठ** । मृदु—**म्रदीयस्** । **म्रदिष्ठ** । दृढ—**द्रढीयस्** । **द्रढिष्ठ** । कृश—**क्रशीयस्** । **क्रशिष्ठ** । पर 'ऋजु' से **ऋजीयस्** । **ऋजिष्ठ** । हलादि न होने से ऋ को र् नही हुआ ।

ईयस्, इष्ठ परे होने पर विनि (विन्) तथा मतुप् का लुक् हो जाता है[4]—स्रगस्यास्ति स्रग्वी (पुष्पमाला धारण किए हुए) । **अयमनयोर् अतिशयेन स्रग्वी स्रजीयान्** । **अयमेषामतिशयेन स्रग्वी स्रजिष्ठ** । सर्व इमे त्वग्वन्त । **अयमेषामतिशयेन त्वचिष्ठ** । **अयमनयोस्त्वचीयान्** । **अयमनयोरतिशयेन धनवान् धनीयान्** । **अयमेषामतिशयेन धनवान् धनिष्ठ** । जववत् (=वेगवान्)—**जवीयस्** । **जविष्ठ** । अजादि न होने से तरप्, तमप् परे रहते लुक् नही होगा–धनवत्–धनवत्तर । धनवत्तम । स्रग्विन्—स्रग्वितर । स्रग्वितम । प्रत्यय से पूर्व प्रकृति भाग की पद संज्ञा होने से नलोप प्रातिपदिकान्तस्य (८।२।७) से 'न्' का लोप हुआ है । स्रजीयान् त्वचीयान् आदि में विनि और मतुप् का लुक् होने पर पदत्व का भङ्ग हो जाने से कुत्व चला जाता है ।

प्रयोगमाला

१ वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता (ऐ० ब्रा०) ।
वायु सबसे अधिक वेगवाला देवता है ।

---

१ बहोर्लोपो भू च बहो (६।४।१५८) ।
२ इष्ठस्य यिट् च (६।४।१५९) ।
३ र ऋतो हलादेर्लघो (६।४।१६१) ।
४ विन्मतोर्लुक् (५।३।६५) ।

२ दवीयान्नो गन्तव्यो ग्राम, अल्पशेषमह । ऋजीयास मार्गमादिश ।
वह ग्राम जहाँ हमने पहुँचना है बहुत दूर है, दिन थोडा सा बाकी रह गया है, अत सीधा मार्ग बताइए ।

३ देवदत्तो यज्ञदत्ताद् वयसा कनीयान् विद्यया तु ज्यायान् ।
देवदत्त वय मे यज्ञदत्त से छोटा है, पर विद्या में बडा है ।

४ कनीयसा मूल्येन क्रीणीते, महीयसा च विक्रीणीते ।
थोडे दामो से खरीदता है और बडे दामो पर बेचता है ।

५ निवक्त वा एन कनीयो भवति । (श० ब्रा० १।५।२।२०)
निश्चय ही स्पष्ट रूप से कहा हुआ (अर्थात् स्वीकार किया हुआ) पाप छोटा हो जाता है ।

६ अणोरणीयान् महतो महीयानात्माऽस्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् (क० उ०)
परमाणु से भी सूक्ष्म और बडे से बडा आत्मा इस प्राणी की हृदय रूपी गुफा मे छिपा हुआ है ।

७ अनेजदेक मनसो जवीय (ईश उ० ४) ।
वह ब्रह्मतत्त्व एक है, नि स्पन्द है और मन से भी अधिक वेग वाला है ।

८ नेदीयसी ते वार्षिकी परीक्षाऽऽब्दिकी, त्व चाद्याप्यध्ययने उदास्से । तन्नेष्टम् ।
तेरी वार्षिक परीक्षा समीपतर आ गई है, और तू अब भी पढने मे चित्त नही लगा रहा, वह अच्छा नही ।

९ ग्रीष्म इति द्राघीयासो वासरा, ह्रसीयस्यश्च क्षपा ।
गरमी की रुत है, इसलिए दिन पहले से अधिक लम्बे हो गये हैं और रातें छोटी हो गई हैं ।

१० स्वार्थात् सता गुरुतरा प्रणयिक्रियैव (विक्रमोव० ४।१५) ।
सत्पुरुषो की अपने प्रयोजन की अपेक्षा मित्रो के प्रयोजन की सिद्धि अधिक महत्त्ववाली है ।

११ स कनीयान् सवृत्त, मन्ये विप्रोषितस्य सुतस्य चिन्ता तमाचामतीव ।
वह (पहले से) अधिक कृश हो गया है, ऐसा लगता है कि विदेश मे गए हुए पुत्र की चिन्ता उसे खाए जा रही है ।

१२ समानधर्मेणोऽनां सतीर्थ्यानां स्थविष्ठो देवदत्तो मृदुतमश्च ।

एक श्रेणी के, एक-गुरु से पढ़ने वाले छात्रों में देवदत्त सबसे मोटा है और सबसे अधिक मूर्ख भी।

१३ अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः। (कठोप०)
श्रेय और है प्रेय और है। इनका जुदा जुदा प्रयोजन है। ये पुरुष को बाँधते हैं।

१४ वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पञ्चमी।
एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद् यदुत्तरम्॥ (मनु० २।१३६)।
धन, बन्धु, वय, कर्म तथा पाँचवीं विद्या—इनमें जो-जो आगे-आगे पढ़ा है वह वह अधिक महत्त्व वाला है।

१५ स प्रातस्तरां जागर्ति प्राह्णेतरां च भुङ्क्ते।
वह बहुत सवेरे उठता है और पूर्वाह्ण में जल्दी खा लेता है।

१६ वरीयोऽस्मत्सदनाङ्गनम्, शक्यं नामेह सुखं खेलितुम्।
हमारे घर का आँगन बहुत चौड़ा है, यहाँ हम सुखपूर्वक खेल सकते हैं।

१७ मृदुः परिभूयते। मृदुतरश्च परिभूयतेतराम्।
जो नरम होता है उसका तिरस्कार होता है और जो ज्यादा नरम होता है उसका ज्यादा तिरस्कार होता है।

१८ अश्वः पशूनामाशिष्ठः (श० ब्रा० १३।१।२।७)।
घोड़ा पशुओं में सबसे अधिक शीघ्रगामी है।

१९ मित्रं हि बन्धुतमं नराणाम्।
मित्र मनुष्यों का सबसे बढ़िया बन्धु है।

२० द्वे अपि भगिन्यौ विदुष्यौ। इयं विदुषितरा।
दोनों बहिनें विदुषी हैं पर यह अधिक विदुषी है।

२१ अध्वर्युर्वै श्रेयान् पापीयान् प्रतिप्रस्थाता भवति (का० स० २७।५)।
अध्वर्यु-नामक ऋत्विक् उत्कृष्ट होता है और प्रतिप्रस्थातृ-नामक उससे अपकृष्ट होता है।

२२ श्रेयसः श्रेयसोऽलाभे पापीयान् ऋक्थमर्हति (मनु० ९।१८४)।
बढ़िया के अभाव में घटिया जायदाद का अधिकारी होता है।

२३ न चैतद् विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः (गीता)।

हम नहीं जानते कि हमारे लिए कौन सी बात बडी होगी, हम उन्हें जीतें या वे हमें जीतें ।

२४ शाल्मलिर्वनस्पतीनां वर्षिष्ठो वर्धते (श० ब्रा० १३।२।७।४) ।
शाल्मलि (सेंबल) सब वृक्षों से अधिक बढता है ।

यहां आतिशायिक तद्धित समाप्त हुए ।

आतिशायिक व्यतिरिक्त प्रागिवीय अनव्यय तद्धित

इवे प्रतिकृतौ (५।३।९६) सूत्र से पहले पहले 'क' प्रत्यय अधिकृत जानें ।[1] 'क' तिङन्तों से नहीं होता, अकच् (अक्) प्रत्यय होता है । प्रागिवीय प्रत्यय भी स्वार्थ में होते हैं ।

अकच्—अव्ययों तथा सर्वनामों से प्रागिवीय अर्थों में अकच् (अक्) प्रत्यय होता है और यह प्रकृति के टि-भाग से पूर्व होता है ।[2] 'क' का अपवाद है—सर्वके=सर्वे । विश्वके=विश्वे । स्वार्थ में प्रत्यय है । सर्वनाम संज्ञा बनी रहती है । सर्वकः । सर्वकौ । सर्वके । सर्वकस्मै । विश्वकस्मै । सर्वकेषाम् । विश्वकेषाम् । उच्चकैः=उच्चैः । नीचकैः=नीचैः । यहां अव्यय से स्वार्थिक अकच् हुआ । टि-भाग (ऐस्) से पूर्व अक् हुआ । तिङन्त से—पचतकि । कुत्सित ढंग से पकाता है । जल्पतकि । कुत्सित ढंग से बोलता है । पचत् अक् इ=पचतकि । जल्पत् अक् इ=जल्पतकि । अकच् कहीं प्रातिपदिक की टि से पूर्व होता है कहीं सुबन्त की टि से । युष्मकाभिः । अस्मकाभिः । युष्मकासु । अस्मकासु । युवकयोः । आवकयोः—इनमें प्रातिपदिक की टि से पूर्व ।

काम्—अकच्प्रकरण में तूष्णीम् से काम् प्रत्यय हो ऐसा वार्तिक है ।[3] यह काम् मित् होने से अन्त्य अच् से परे होता है । तूष्णीमेव तूष्णीकाम् । जैसे तूष्णीम् अव्यय है वैसे ही तूष्णीकाम् भी । किमिति तूष्णीकामास्से, कथय यत्ते कथयितव्यम् । चुप चुप क्यों बैठे हो ? कहो जो तुमने कहना है ।

---

१ प्रागिवात्कः (५।३।७०) ।
२ अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः (५।३।७१) ।
३ अकच्प्रकरणे तूष्णीमः काम् वक्तव्यः (वा०) ।

क—शील द्योत्य होने पर तूष्णीम् से 'क' प्रत्यय होता है और साथ ही तूष्णीम् के 'म्' का लोप हो जाता है[1]—तूष्णींशील तूष्णीक।

अज्ञातत्व विशिष्ट अर्थ में वर्तमान प्रातिपदिक से और तिङन्त से भी स्वार्थ में 'क' प्रत्यय होता है।[2] स्वरूप से ज्ञात होने पर जब कोई पदार्थ विशेष रूप से अज्ञात होता है तब यह प्रत्यय विधि जाननी चाहिए—यह घोड़ा किसका है इस प्रकार स्व स्वामि सम्बन्ध के अज्ञात होने पर 'अश्व' से प्रत्यय होता है—अश्वकः। गर्दभकः। उष्ट्रकः।

क—'कुत्सित' निन्दित को कहते हैं।[3] कुत्सितत्व द्योत्य होने पर प्रातिपदिक से यथाविहित क प्रत्यय होता है—कुत्सितोऽश्व =अश्वकः। गर्दभकः। उष्ट्रकः।

कुत्साथ में संज्ञा होने पर कन्[4]—शूद्रको नाम कश्चित्। धारको नाम कश्चित्। यह 'क' का अपवाद है। स्वर भेद के लिये प्रत्यय भेद किया है।

दयाभाव से दूसरे को अनुगृहीत करना 'अनुकम्पा' होती है। अनुकम्पा द्योत्य होने पर प्रातिपदिक से यथाविहित 'क' होता है[5]—पुत्रकः। वत्सकः। दुर्बलकः। बुभुक्षितकः। अनुकम्पित पुत्र =पुत्रकः। तिङन्त में—स्वपितकि। बेचारा सो रहा है। तिङन्त से सकन् अकच् होता है।

साम दान आदि उपायों को नीति कहा है। नीति की प्रतीति होने पर अनुकम्पादिविशिष्ट अर्थ में वर्तमान प्रातिपदिक से यथाविहित 'क' प्रत्यय होता है[6]—हन्त ते धानकाः। हन्त ते तिलकाः। ये धाने=भूने हुए जौ लीजिये। ये तिल लीजिये। अनुकम्पा करता हुआ दान से प्रसन्न करता है। यद्यपि पुत्र आदि ही साक्षात् अनुकम्पायुक्त हैं तो भी उनके द्वारा धानादि का भी अनुकम्पा से सम्बन्ध है, अतः उनसे प्रत्यय हुआ। एहकि। अद्धकि। आइये, खाइये ऐसा अनुकम्पा से कहता है।

---

१ शीले को मलोपश्च (वा०)।
२ अज्ञाते (५।३।७३)।
३ कुत्सिते (५।३।७४)।
४ संज्ञायां कन् (५।३।७५)।
५ अनुकम्पायाम् (५।३।७६)।
६ नीतौ च तद्युक्तात् (५।३।७७)।

ठच् क—अनुकम्पा तथा नीति के गम्यमान होने पर बह्वच प्रातिपदिक जो मनुष्य का नाम, से ठच् विकल्प से होता है, पक्ष में यथाप्राप्त 'क'[1]—अनुकम्पितो देवदत्त =देविक । यहां ठच परे होन पर (और अजादि प्रत्यय परे होने पर भी) प्रकृति के द्वितीय अच् से परले भाग का लोप हो जाता है[2]। सो यहां 'दत्त' भाग का लोप हुआ है । पक्ष में क' होकर 'देवदत्तक' रूप होगा। अनुकम्पितो यज्ञदत्त =यज्ञिक । पक्ष म यज्ञदत्तक रूप होगा । अनुकम्पितो वायुदत्तो वायुक । यहाँ द्वितीय अच (वायु का उ) से परले भाग का ठ अवस्था म ही लोप हो जाता है । तब उगन्त होने से ठ को क हो जाता है। इसी तरह पितृदत्त । पितृक ।

घन्,इलच्—बह्वच् मनुष्यनाम से घन् (इय) तथा इलच् (इल) प्रत्यय भी पूर्वोक्त विषय में होते हैं[3] । अजादि प्रत्यय होने से इन से पूर्व प्रकृति के द्वितीय अच् से परले भाग का लोप हो जाता है । अनुकम्पितो देवदत्त = देविय (घन्) । देविल (इलच्) । देविक (ठच) । देवदत्तक (क) । इसी विषय में चतुर्थ अच् से परले भाग का लोप होता है[4]—अनुकम्पितो बृहस्पति-दत्त =बृहस्पतिक । बृहस्पतिय । बृहस्पतिल ।

अनजादि (जो अजादि नहीं) प्रत्यय परे रहते विकल्प से लोप होता है[5]—देवदत्तक । देवक (क प्रत्यय) । यज्ञदत्तक । यज्ञक ।

पूर्वपद का लोप होता है ठ, अजादि अथवा अनजादि प्रत्यय परे रहते—देवदत्तक । दत्तिक (ठच्) । दत्तिल (इलच्) । दत्तिय । दत्तक । प्रत्यय के बिना भी पूर्वपद अथवा उत्तरपद का लोप विकल्प से होता है[6]—देवदत्तो दत्त, देव इति वा । सत्यभामा । भामा सत्या इति वा । उवर्णान्त से इल के स्थान में ल भी[7]—भानुदत्तो भानुल । वसुदत्तो वसुल ।

---

१ बह्वचो मनुष्यनाम्नष्ठज्वा (५।३।७८) ।
२ ठाजादावूर्ध्वं द्वितीयादचः (५।३।८३) ।
३ घनिलचौ च (५।३।७९) ।
४ चतुर्थादच ऊर्ध्वस्य लोपो वाच्य (वा०) ।
५ अनजादौ च विभाषा (वा०) ।
६ विनापि प्रत्ययं पूर्वोत्तरपदयोर्वा लोपो वाच्य (वा) ।
७ उवर्णाल्ल इलस्य च (वा०) ।

यदि बह्वच् मनुष्यनाम में द्वितीय अच् सन्ध्यक्षर हो तो उसका तथा उससे परले भाग का लोप होता है[1]—कहोड । कहिक ।

यदि पूर्वपद एकाक्षर (एकाच्) हो तो उत्तरपद का लोप होता है[2]—वागाशी । वाचि आशीर्यस्य । वाचिक (ठच्) । वागाशीर्दत्त । वाचिक । षडङ्गुलिदत्त । षडिक । यहां सूत्र के अनुसार द्वितीय अच् (अङ्गुलि का 'अ') से परे 'ङ्गुलिदत्त' भाग का लोप होता है, उपसंख्यान (=वार्तिक) के अनुसार एकाक्षर पूर्वपद से परे उत्तरपद का नहीं । सो इस रूप में कुछ भी अनुपपन्न नहीं ।

जाति शब्द जो मनुष्य का नाम (बह्वच् हो अथवा न हो) हो उससे पूर्वोक्त विषय में कन् प्रत्यय होता है[3]—व्याघ्रक । सिंहक । शरभक ।

क—अल्प शब्द परिमाण के अपचय को कहता है । अल्प=थोड़ा । अल्प महत् का प्रतियोगी है । अल्पत्व-विशिष्ट अर्थ में वर्तमान प्रातिपदिक से स्वार्थ में यथाविहित क आदि प्रत्यय होते हैं[4]—अल्प तैल तैलकम् । नीचकै, थोड़ा नीचे । अकच् । उच्चकै, थोड़ा ऊँचा । अकच् । पचतकि, अल्प पचति, थोड़ा पकाता है । जल्पतकि, अल्प जल्पति, थोड़ा बोलता है ।

ह्रस्व शब्द दीर्घ का प्रतियोगी है । ह्रस्वत्व-विशिष्ट अर्थ में वर्तमान प्रातिपदिक से यथाविहित क प्रत्यय होता है[5]—ह्रस्वो वृक्षः=वृक्षक । ह्रस्व स्तम्भः=स्तम्भक, छोटा खम्भा ।

कन्—ह्रस्वत्व के हेतु जो संज्ञा, उसकी प्रतीति होने पर प्रातिपदिक से कन्[6]—वंशक । दण्डक । वेणुक ।

र—ह्रस्वत्व के योग्य होने पर कुटी, शमी, शुण्डा से 'र' प्रत्यय होता है[7]—ह्रस्वा कुटी कुटीर । ह्रस्वा शमी शमीर । ह्रस्वा शुण्डा शुण्डार ।

१ द्वितीय सन्ध्यक्षर चेत्तदादेर्लोपो वक्तव्य (वा०) ।
२ एकाक्षरपूर्वपदानामुत्तरपदलोपो वक्तव्य (वा०) ।
३ जातिनाम्न कन् (५।३।८१) ।
४ अल्पे (५।३।८५) ।
५ ह्रस्वे (५।३।८६) ।
६ संज्ञायां कन् (५।३।८७) ।
७ कुटी शमी शुण्डाभ्यो रः (५।३।८८) ।

स्वार्थिक प्रत्यय होने हुए भी कुटीर आदि पुंल्लिंग होते हैं। लिङ्ग के लोकाश्रित होने से।

डुपच् (प)[1]—ह्रस्वा कुतूः कुतुपः। कुतूः कृत्तेः (=चर्मणः) स्नेहपात्र संवाल्पा कुतुप पुमान् (भ्रमर)। कुतुप चर्ममय स्नेहभाजनमुच्यते ऐसा काशिका वृत्ति मे मुद्रित पाठ है। इसमे कुतुप नपुं० लिंग म पढा है। कुतू=कुप्पा। कुतुप=कुप्पी।

ष्टरच् (तर)—ह्रस्वत्व द्योत्य होने पर कासू (छोटा भाला), गोणी (=आवपन) से[2]—ह्रस्वा कासू=कासूतरी। टित् होने से ङीप्। ह्रस्वा गोणी=गोणीतरी।

वत्स, उक्षन् (बैल), अश्व, ऋषभ (बैल)—इनसे 'तनुत्व' के द्योत्य होने पर। जिस गुण के होने से द्रव्य को विशेष नाम से कहा जाता है, उस गुण के तनुत्व के द्योतन मे प्रत्यय विधान किया है।[3] वत्स आदि की अपनी-अपनी तनुता (तनुत्व) है। वत्सतर। उक्षतर। अश्वतर। ऋषभतर। वत्स प्रथमवय होता है, अर्थात् वत्स बच्चे को कहते हैं, उस का तनुत्व द्वितीय वय प्राप्ति है, अर्थात् वत्सतर=जवान का नाम है। महोक्षतां वत्सतरः स्पृशन्निव (रघु० ३।३२)। जवान बैल को उक्षा कहते हैं उसका तनुत्व (कम होना) तृतीय वय की प्राप्ति है, अर्थात् उक्षतर बूढे बैल को कहते हैं। अश्व अश्व द्वारा अश्वा (घोडी) से उत्पन्न हुए को कहते हैं। उस का तनुत्व अन्य पितृकता (अश्व से भिन्न गदभ द्वारा जन्म) है। इस प्रकार उत्पन्न हुए को अश्वतर कहेंगे। ऋषभ, अनड्वान् छकडा खीचने वाले, बोझा ढोने वाले बैल का नाम है। उसका तनुत्व बोझा ढोने म मन्द शक्ति (असामर्थ्य) का होना है। अत भारवहन मे असमर्थ बैल को ऋषभतर कहते है।

डतरच् (तर)—किम्, यद्, तद्—इन प्रातिपदिकों से दो में से एक के निर्धारण अर्थ के द्योत्य होने पर[4]। यह प्रत्यय निर्धार्यमाण-वाची प्रातिपदिक से स्वार्थ म होता है। जाति, क्रिया, गुण, सज्ञा के निमित्त से समुदाय में से एकदेश (अवयव, अश) का पृथक् करना ही निर्धारण है। कतरो

१ कुत्वा डुपच् (५।३।८९)।
२ कासू गोणीभ्यां ष्टरच् (५।३।९०)।
३ वत्सोक्षाश्वर्षभेभ्यश्च तनुत्वे (५।३।९१)।
४ किंयत्तदो निर्धारणे द्वयोरेकस्य डतरच् (५।३।९२)।

भवतो कठ, आप दोनों में से कौन कठ है। कठ चरणवाची शब्द है, और चरण (शाखाध्येता) की इस शास्त्र में जाति संज्ञा की है। कतरो भवतो कारक (क्रिया करने वाला)। कतरो भवतो पटु। पटुत्व गुण के कारण एक को दो में से जुदा किया जा रहा है। कतरो भवतोर्देवदत्त। इसी प्रकार यतरो भवतो कारक। यतरो भवतो पटु। यतरो भवतोर्देवदत्त, ततर आगच्छतु इत्यादि। महाविभाषा से यहाँ निर्धारण विषय में प्रत्यय नहीं भी होता—को भवतोर्देवदत्त स आगच्छतु।

डतमच्—बहुतों में से एक के निर्धारण के द्योत्य होने पर जाति परिप्रश्न के विषय में वर्तमान किम्, यद्, तद् से विकल्प से डतमच् (तम)[1]—कतमो भवता कठ।

यहाँ जातिप्रश्न द्वारा निर्धारण किया जा रहा है। यतमो भवता कठ ततम आगच्छतु। सूत्र में वा ग्रहण अकच् के लिए है, ताकि किम् (सर्वनाम) से अकच् भी हो सके—यको भवता कठ, तक आगच्छतु। प्रत्यय विकल्प के लिए महाविभाषा की अनुवृत्ति आ रही है। को भवता कठ। यो भवतां कठ स आगच्छतु। सूत्र में 'जाति-परिप्रश्न' किम् का ही विशेषण है, यद्, तद् का नहीं, ऐसा होना संभव ही नहीं। जातिपरिप्रश्ने—यह समाहार द्वन्द्व है—जातिश्च परिप्रश्नश्च जातिपरिप्रश्नम्, तस्मिन्। षष्ठीसमास नहीं।

डतर-डतम—पूर्वदेश-वर्ती आचार्यों के मत में एक शब्द से भी डतरच्, डतमच् अपने विषय में होते हैं।[2] जातिपरिप्रश्न की अनुवृत्ति इस सूत्र में नहीं। यह सामान्यत विधान है। एकतरो भवतो देवदत्त। एकतमो भवता देवदत्त। अन्यतर, अन्यतम अव्युत्पन्न प्रातिपदिक हैं, डतरच्, डतमच् का शास्त्र द्वारा विधान न होने से।

कन्—अवक्षेपण=जिससे निन्दा की जाती है। अवक्षेपण अर्थ में वर्तमान प्रातिपदिक से[3]—व्याकरणकेन नाम गर्वितोऽसि, कुत्सित(तुच्छ)व्याकरण

१　वा बहूना जातिपरिप्रश्ने डतमच् (५।३।९३)।
२　एकाच्च प्राचाम् (५।३।९४)।
३　अवक्षेपणे कन् (५।३।९५)।

से तू गर्वित हो गया है। याजक्येन नाम गर्वितोऽसि, कुत्सित (=तुच्छ) याजकता से तू गर्वित हो गया है।

यहाँ प्रागिवीय प्रत्यय समाप्त हुए।

इवार्थीय स्वार्थिक तद्धित

कन्—इवार्थ=सादृश्य। इवार्थ में वर्तमान प्रातिपदिक से स्वार्थ में कन् होता है यदि इवार्थ (सादृश्य) प्रतिकृति (चित्र रूप) हो[१]—अश्व इव प्रतिकृति=अश्वकः। उष्ट्रकः। गर्दभकः। केवल सादृश्य में प्रत्यय नहीं होगा—गौरिव गवयः। गवय गो की प्रतिकृति नहीं। तृण, चर्म, काष्ठादि से निर्मित मूर्ति को प्रतिकृति कहते हैं।

इवार्थ की प्रतीति होने पर प्रतिकृति न भी हो तो भी कन् प्रत्यय हो जाता है यदि प्रकृति-प्रत्यय समुदाय संज्ञा हो[२]—अश्व इवायम् अश्वकः। अश्व सदृश होने से जिसका यह नाम है। कूपकास्तु विदारकाः (अमर)। नदी के सूख जाने पर जो जल के निमित्त गढे बनाये जाते हैं उन्हें कूपक कहते हैं। कूपा इव कूपकाः। यहाँ सादृश्य मात्र है। वह सादृश्य प्रतिकृति (प्रतिमा) नहीं। ऊर्मिरिव ऊर्मिका, अङ्गुलीयक, अंगूठी। अलकाश्चूर्णकुन्तलाः। ते ललाटे भ्रमरकाः (अमर)। भ्रमरा इव भ्रमरकाः। 'भ्रमरक' उन बालों का नाम है जो मस्तक पर भौंरों के सदृश प्रतीत होते हैं। उष्ट्रिका। उष्ट्र इव। स्वभाव से स्त्रीलिङ्ग। ऊँट के आकार वाला मिट्टी का पात्र। मरीचिरिव मरीचिका। मरुमरीचिका=मृग तृष्णा। पादूरिव पादुका, खड़ाऊँ। यहाँ के ऽण (७।४।१३) से ह्रस्व। टाप्। चक्रमिव परिवर्तमानं चक्रकम्। अभ्रमिव अभ्रकम्, अबरक। विहङ्ग इव विहङ्गिका, भारयष्टि। बहंगी। फलमिव फलकम्। षट्पदश्चारिफनम् (अमर)। यहाँ स्वार्थिक कन् नहीं किया।

प्रत्यय-लुप्—संज्ञा में विहित कन् का लुप् हो जाता है यदि लुबन्त का अभिधेय मनुष्य हो[३]—चञ्चा=तृणपुरुष, तिनकों से बनाया हुआ पुरुष। चञ्चेव मनुष्य=चञ्चा। लुप् होने पर प्रकृति के लिङ्ग वचन होते हैं, अतः स्त्रीलिङ्ग एकवचन हुआ। वध्रिकेव मनुष्य=वध्रिका।

---

१ इवे प्रतिकृतौ (५।३।९६)।
२ संज्ञायां च (५।३।९७)।
३ लुम्मनुष्ये (५।३।९८)।

जीविका के लिए जिन मूर्तियों को देवलकादि लोगों के दर्शन के लिए लिए फिरते हैं और जो बेची नहीं जाती उनके वाचक प्रातिपदिक से प्राप्त प्रत्यय का लुप् हो जाता है।[1] वासुदेव इव प्रतिकृति =वासुदेव। शिव। स्कन्द। विष्णु। यदि मूर्तियाँ पण्य (बिकाऊ) होंगी तो प्रत्यय का लुप् नहीं होगा—हस्तिकान् विक्रीणीते। केवल यही नहीं। जीविका के लिए शिल्पी लोग जिन देवमूर्तियों को बेचते हैं वहाँ भी प्रत्यय का लुप् नहीं होता—वासुदेवक। रामक। सीतिका। लक्ष्मणक। इस विषय में एक प्रसिद्ध पद्य पढ़ा जाता है, उसे देते हैं—राम सीतां लक्ष्मणं जीविकार्थे विक्रीणीते यो नरस्तं च धिग्धिक्। अस्मिन्पद्ये योऽपशब्दं न वेत्ति व्यर्थप्रज्ञं पण्डितं तं च धिग्धिक्॥

देवपथ आदि प्रातिपदिकों से प्रत्यय का लुप्[2]—देवपथ इव प्रतिकृति = देवपथ। देवपथ तीर्थविशेष का नाम है। हंसपथ इव प्रतिकृति =हंसपथ। शतपथ। राजपथ। वारिपथ। जलपथ। देवपथादि आकृतिगण है। सूत्र में आदि शब्द प्रकार अर्थ में है। उक्तार्थ को निम्नस्थ सङ्ग्रहश्लोक में सङ्गृहीत किया है—

अर्चासु पूजनार्हासु चित्रकर्मध्वजेषु च।
इवे प्रतिकृतौ लोपः कनो देवपथादिषु॥

चित्रकर्मध्वजेषु—यहाँ चित्रकर्म=आलेख्य। आलेख्यगत तथा ध्वजगत प्रतिकृतियों का ग्रहण अभिप्रेत है। अर्जुन। दुर्योधन। कपि। गरुड। जैसे कपिध्वजोऽर्जुन। गरुडध्वज कृष्ण। यह सब देवपथादि के आकृतिगण होने से सिद्ध है।

ढञ्—वस्ति (इतिविकार) से इवार्थ द्योत्य होने पर, प्रतिकृति हो चाहे न हो[3]—वस्तिरिव वास्तेय। स्त्रीत्व विवक्षा में वास्तेयी।

यहाँ से आगे इवार्थमात्र में प्रत्यय विधान किए जाएँगे, प्रतिकृति हो अथवा न हो।

ढ—शिला शब्द से इवार्थ द्योत्य होने पर[4]—शिलेव शिलेयम् (शिलाजतु, सिलाजीत)। पूर्वसूत्र से विहित ढञ् भी इष्ट है—शैलेयम्।

---

१. जीविकार्थे चापण्ये (५।३।९९)।
२. देवपथादिभ्यश्च (५।३।१००)।
३. वस्तेर्ढञ् (५।३।१०१)।
४. शिलाया ढ (५।३।१०२)।

यत्—शाखा आदि शब्दों से इवार्थ में[1]—शाखेव शाख्य । मुखमिव मुख्य । जघनमिव जघन्य । शृङ्गमिव शृङ्ग्य । शरणमिव शरण्य । शरीरायासजीवी व्याधादिर् व्रात, स इव व्रात्य । सोम इव सोम्य । व्रात और सोम गण पठित नहीं, पर प्रकारान्तर से व्रात्य तथा सोम्य की सिद्धि दुर्लभ है ।

द्रु शब्द से इवार्थ योत्य होने पर भव्य (होनहार) वाच्य होने पर यत् प्रत्यय निपातन किया है[2]—द्रुरिव द्रव्यम् । द्रव्य भव्यार्थ में नपुं० ही होना है जैसे वैशेषिकों के पृथिव्यादि द्रव्य के अर्थ में—तत्तस्य किमपि द्रव्य यो हि यस्य प्रियो जन (उ० रा० च०) । द्रव्यमिव ब्राह्मणी (=अभिप्रेतानामर्थाना पात्रभूता इत्यर्थ) । क्रिया हि द्रव्य विनयति नाद्रव्यम् (कौ० अ०) । द्रव्य भव्य गुणाश्रये (अमर) ।

छ—कुशाग्र प्रातिपदिक से इवार्थ योत्य होने पर[3]—कुशाग्रमिव सूक्ष्मत्वात् कुशाग्रीया बुद्धि ।

इवार्थ-विषयक समास से दूसरे (समास से बहिर्भूत) इवार्थ में छ प्रत्यय होता है ।[4]काकतालीयम् । अर्थ है—आकस्मिक, विस्मयावह वृत्त आदि । यह अर्थ इस प्रकार प्राप्त होता है—दैवयोग से अचानक कौए का आना हुआ और ताल गिरा । अन्यत्र देवदत्त का आना और डाकुओं का उसमे समागम (मेल) होना । यह समागम काकताल समागम सदृश है । यह एक समासगत इवार्थ है । जिस प्रकार सहसा ताल के गिरने से कौए का वध हो जाता है ठीक उसी प्रकार डाकुओं के उपनिपात (समागम) से देवदत्त का वध हो जाता है, सो यह वध ताल पात से कौए के वध के सदृश है । सो यह दूसरा इवार्थ है । इसमे छ प्रत्यय हुआ है । शस्त्रीश्यामा आदि में अवयव अर्थ में इवार्थक होने पर समास को इवार्थविषयक मानने पर भी इवार्थ के एक ही होने से और उसके भी समास से उक्त होने से अपर इवार्थ में विधीयमान छ प्रत्यय का प्रसङ्ग ही नहीं । काकतालीयो देवदत्तस्य वध (दीक्षित) । दूसरे उदाहरण —अजाकृपाणीय । अन्धकवर्तकीय हैं । चलती हुई बकरी के ऊपर सहसा

---

१ शाखादिभ्यो यत् (५।३।१०३) ।
२ द्रव्य च भव्ये (५।३।१०४) ।
३ कुशाग्राच्छ (५।३।१०५) ।
४ समासाच्च तद्विषयात् (५।३।१०६) ।

कृपाण के गिरने से जैसे उसका वध हो जाता है, वैसे ही अकस्मात् घटित, विस्मयकारी। जैसे अन्धे के हाथ में बटेर आ जाए जिसका उसे स्वप्न भी नहीं, वैसे अतर्कितोपनत (अचिन्तितोपस्थित) अर्थ अन्धकवर्तकीय कहा जाता है। अहो नु खलु भोः, तदेतत् काकतालीय नाम (मालती०)।

> अहारण चरित स्वप्नोऽनिमित्तोत्पातिक तथा।
> फलन्ति काकतालीयं तेभ्यः प्राज्ञा न बिभ्यति ॥ (वेणी० २।१४)

इस उदाहरण में 'काकतालीय' का क्रियाविशेषण के रूप में प्रयोग हुआ है।

यहाँ जो समास काकताल, अजाकृपाण, अन्धकवर्तक हुए हैं इनका वाक्य में स्वतन्त्रतया (बिना छ प्रत्यय के) प्रयोग नहीं होता। ये सब सुप्सुपा समास हैं।

अण्—शर्करा आदि से इवार्थ में[1]—शर्करेव शार्करम्। कपालिकेव कापालिकम्। सिक्तेव सैक्तम्। स्वार्थिक प्रत्यय अपनी प्रकृति के लिङ्ग को छोड़ भी देते हैं, अत यहाँ नपुंसक हुआ, जो लोक में देखा जाता है। पुण्डरीकमिव पौण्डरीकम्। शतपत्रमिव शातपत्रम्।

ठक्—अङ्गुलि आदि से इवार्थ में[2]—अङ्गुलिरिव आङ्गुलिक। कपिरिव कापिक। उदश्वित् (नपुं०) इव औदश्वित्कम्। कुलिशमिव कौलिशिकम्।

ठच्—'एकशाला' से इवार्थ में विकल्प से[3]—एकशालेव एकशालिक। ठञ्। ऐकशालिक। ठक्।

ईकक् (ईक)—कर्क (सफेद घोड़ा), लोहित से इवार्थ में[4]—कर्क शुक्लो ऽश्व, तेन सदृश कार्कीक। प्रत्यय के कित् होने से आदि वृद्धि। लोहितीक स्फटिक, काच जो स्वयम् तो लोहित (लाल) नहीं है पर उपाश्रय के लोहित होने से वैसा प्रतीत हो रहा है, जैसे जपापुष्प के ऊपर रखा हुआ काच।

यहाँ इवार्थीय स्वार्थिक तद्धित समाप्त हुए।

अन्य अनव्यय स्वार्थिक तद्धित

नाना जातियावाले तथा अनियत जीविकावाले अर्थकामप्रधान सङ्घों

---

१ शर्करादिभ्योऽण् (५।३।१०७)।
२ अङ्गुल्यादिभ्यष्ठक् (५।३।१०८)।
३ एकशालायाष्ठजन्यतरस्याम् (५।३।१०९)।
४ कर्क-लोहितादीकक् (५।३।११०)।

को 'पूग' कहते हैं। पूग-वाची प्रातिपदिक जिसका पूर्वपद 'ग्रामणी' न हो, से स्वार्थ में ञ्य प्रत्यय होता है[1]—लोहध्वज—लौहध्वज्य। शिबि—शैब्य। चातक—चातक्य। बहुवचन में ञ्यादयस्तद्राजा (५।३।११६) से ञ्य' की 'तद्राज' संज्ञा होने से तद्राजस्य—' (२।४।६२) से प्रत्यय का लुक् हो जाता है—लौहध्वज्य। लौहध्वज्यौ। लोहध्वजा। शैब्य। शैब्यौ। शिबय। चातक्य। चातक्यौ। चातका।

वुन्—सङ्ख्यादि पादशब्दान्त तथा शतशब्दान्त प्रातिपदिक से वीप्सा के द्योत्य होने पर वुन् (अक) प्रत्यय आता है और साथ ही प्रातिपदिक के अन्त्य (अ) का लोप हो जाता है।[2] वीप्सा के तद्धित द्वारा द्योत्य होने से वीप्सा में द्विवचन नहीं होता यद्यपि 'वीप्सा' प्रकृति (पादान्त शतान्त प्रातिपदिक) की उपाधि है तो भी वुन् (तद्धित) से द्योतित होने से तद्धितार्थ ही है। द्वौ द्वौ पादौ ददाति=द्विपदिका ददाति, दो दो भाग देता है। वुन्-संनियोग से विहित अन्त्य लोप (प्रकृत में 'अ' का लोप) अनैमित्तिक है। तद्धितार्थ में समास होने पर 'द्विपाद्' इस स्थिति में पाद पत् (६।४।१३०) से पाद् को पद् आदेश हो जाता है। इस विधि की कर्तव्यता में 'अ' लोप के अनैमित्तिक होने से अच परस्मिन् पूर्वविधौ (१।१।५७) से स्थानिवद्भाव नहीं होता। द्वे द्वे शते ददाति=द्विशतिका ददाति। वुन्प्रत्ययान्त स्वभाव से ही स्त्रीलिङ्ग होता है।

सूत्र में जो पाद और शत का ग्रहण है वह निष्प्रयोजन है, अन्यत्र भी प्रत्यय देखा जाता है—द्वौ द्वौ मोदकौ ददाति=द्विमोदकिकां ददाति। पर द्वौ द्वौ माषौ ददाति, यहाँ प्रत्यय नहीं होता, व्यवहार न होने से (अनभिधानात्)।

दण्ड (जुर्माना), तथा व्यवसर्ग (दान, समर्पण) के गम्यमान होने पर सङ्ख्यादि पादशतान्त प्रातिपदिक से वीप्सा के अभाव में[3]—द्वौ पादौ दण्डित =द्विपदिकां दण्डित। द्वौ पादौ व्यवसृजति=द्विपदिकां व्यवसृजति (= ददाति)। द्वे शते दण्डित =द्विशतिकां दण्डित। द्वे शते व्यवसृजति=द्विशतिकां व्यवसृजति।

---

१ पूगाञ्ञ्योऽग्रामणीपूर्वात् (५।३।११२)।
२ पादशतस्य सङ्ख्यादेर्वीप्सायां वुन् लोपश्च (५।४।१)।
३ दण्ड व्यवसर्गयोश्च (५।४।२)।

कन्—प्रकार नाम भेद का है और सादृश्य का भी। स्थूल आदि शब्दों से प्रकार के द्योतन के लिये।[1] स्थूल आदि प्रकारवान् प्रकारवाची शब्द हैं। स्थूलप्रकारः स्थूलक, स्थूलसदृश अथवा एक प्रकार का स्थूल, स्थूल-भेद। अणुप्रकार = अणुक। माषप्रकारो माषक।

चञ्चत् और बृहत् से भी प्रकार द्योत्य होने पर[2] —चञ्चत्प्रकार चञ्चत्क। चञ्च् कम्पनार्थक धातु है। चञ्चत्को मणि, जो मणि न हिलता हुआ अथवा न उछलता हुआ भी निकलती हुई किरणों के कारण हिलता हुआ अथवा उछलता हुआ प्रतीत होता है उसे 'चञ्चत्क' कहते हैं। बृहत्को मणि, जो मणि वैसे तो बड़ा नहीं है पर प्रभूत प्रभा के कारण बड़ा लगता है उसे 'बृहत्क' कहते हैं।

कृष्णप्रकारास्तिला कृष्णका।[3] एक प्रकार के काले तिल। यवसदृशा व्रीहय = यवका[4]। पाद्य, काल, अवदात (शुद्ध) से सुरा वाच्य होने पर[5]—पादिका। कालिका। अवदातिका। ये सब सुरा के भेद हैं। गोमूत्रप्रकार गोमूत्रवर्णमाच्छादन गोमूत्रकम्[6]। सुरावर्णोऽहि = सुरक[7], सुरा के रंग वाला साँप। केऽणः (७।४।१३) से ह्रस्व। जीर्णप्रकारा जीर्णकल्पा शालय = जीर्णका[8]। कुमारीपुत्रप्रकार = कुमारीपुत्रक। कुमारप्रकार = कुमारक। श्वशुरप्रकार = श्वशुरक।

अत्यन्तगति = पूरी पूरी व्याप्ति। अनत्यन्तगति, जो पूरी पूरी व्याप्ति नहीं। अनत्यन्त गति की प्रतीति होने पर क्तान्त से कन्[9]—भिन्नकम्। छिन्नकम्। अर्थात् जिस भेद्य, छेद्य पदार्थ की भेदन छेदन क्रिया से पूरी पूरी

---

१ स्थूलादिभ्य प्रकारवचने कन् (५।४।३)।
२ चञ्चद्-बृहतोरुपसङ्ख्यानम् (वा०)।
३ कृष्ण तिलेषु (ग० सू०)।
४ यव व्रीहिषु (ग० सू०)।
५ पाद्य-कालावदाता सुरायाम् (ग० सू०)।
६ गोमूत्र आच्छादने (ग० सू०)।
७ सुराया अहौ (ग० सू०)।
८ जीर्ण शालिषु (ग० सू०)।
९ अनत्यन्तगतौ क्तात् (५।४।४)।

व्याप्ति नहीं हुई, अर्थात् जो थोड़ा सा फाड़ा गया है अथवा काटा गया है उसे, भिन्नक, छिन्नक कहेंगे।

प्रत्ययनिषेध—सामि अर्ध अर्थ में अव्यय है। सामि अथवा सामि के पर्यायवाची उपपद होने पर क्तान्त से कन् प्रत्यय नहीं होता[1]—सामिकृतम्। अर्धकृतम्। नेमकृतम् (आधा किया हुआ)। सामिवाची के उपपद होने पर उसी से प्रत्ययान्तगति कह दी गई है जो उस अवस्था में कन् की प्राप्ति न होने से प्रतिषेध व्यर्थ है, तो प्रतिषेध क्यों किया? ऐसा समझिए कि यह निषेध पूर्वसूत्र से प्राप्त कन् का नहीं, किन्तु प्रत्ययन्त स्वार्थिक कन् का है। पर प्रत्ययन्त स्वार्थिक कन् किस शास्त्र से विहित हुआ? यही निषेध ज्ञापक है कि प्रत्यन्त स्वार्थिक कन् भी होता है। इसी से भगवान् भाष्यकार के एव हि सूत्रमभिन्नतरकं भवति। एतेहि बहुतरकं व्याप्यते इत्यादि वाक्यों में अभिन्नतरकम् और बहुतरकम् प्रयोग उपपन्न होते हैं। मक्षा एव मक्षिका। मुखोहि मक्षा घमरिवना मधु (ऋ० १०।४०।६)। यहाँ भी स्वार्थिक कन् हुआ। स्वार्थिक कन् का साहित्य में भूरि प्रयोग है।

बृहती शब्द जब आच्छादन को कहे तब उससे स्वार्थ में[2]—बृहतिका। केऽण से ह्रस्व। टाप्। बृहतिका=चादर। द्वौ प्रावारोत्तरासङ्गौ समौ बृहतिका तथा (अमर)।

ख—अषडक्ष, आशितगु, अलंकर्मन्, अलंपुरुष - इनसे तथा अध्युत्तरपद वाले प्रातिपदिक से स्वार्थ में[3]—अविद्यमानानि षडक्षीण्यस्य इति बहुव्रीहि। बहुव्रीही सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात्षच् (५।४।११३) से षच् (अ) समासान्त होता है। अषडक्ष—ख। अषडक्षीणो मन्त्र, ऐसी मन्त्रणा जिसका तीसरा साक्षी नहीं, अर्थात् जो दो के बीच में ही हुई। या द्वाभ्यामेव क्रियते न बहुभि। आशिता गावोऽस्मिन्नरण्ये आशितगवीनमरण्यम्, जिस जंगल में गौओं ने चारा खाया अथवा खाकर तृप्त हुईं उसे 'आशितगवीन' कहते हैं। यहाँ निपातन से पूर्वपद को मुम् (म्) आगम भी होता है। गोर्गुण (६।४।१४६) से गुण हुआ। त्रिष्वाशितगवीनं तद् गावो यत्राशिता पुरा (अमर)।

---

१ न सामिवचने (५।४।५)।

२ बृहत्या आच्छादने (५।४।६)।

३ अषडक्षाशितग्वलंकर्मालंपुरुषाध्युत्तरपदात्खः (५।४।७)।

मलपुरुष, मलकर्मन्—ये तत्पुरुष समास हैं। मल पुरुषाय मलपुरुषीण। मल कर्मणे इत्यलकर्मीण। अधि उत्तरपदवाले सप्तमीसमास से भी—राजाधीनम्। दैवाधीनम्। राजि अधि। दैवेऽधि। ख प्रत्यय स्वार्थिक होने पर भी नित्य है। इसके बिना केवल अषडक्ष, मलपुरुष, मलकर्मन्, राजाधि, दैवाधि आदि का प्रयोग नहीं होगा। उत्तरसूत्र में विभाषा ग्रहण करने से हम जानते हैं कि यह ख-प्रत्यय विधि नित्य है।

तद्धित प्रत्ययों के अधिकारसूत्र समर्थानां प्रथमाद् वा में 'वा' शब्द विकल्प से तद्धित प्रत्यय विधि होती है इसलिए पढ़ा है जैसा कि हमने इस प्रकरण के प्रारम्भ में दिखाया है। इस विकल्प को महाविभाषा कहते हैं। स्वार्थिक प्रत्यय सभी विभाषा प्रवृत्त नहीं होते, जहाँ प्रत्यय के बिना प्रकृति-मात्र से प्रत्ययान्त का अर्थ प्रतीत नहीं होता वहाँ नित्य भी। बृहती कहने से बृहतिका (चादर) का अर्थ प्रतीत नहीं होता। अतः स्वार्थिक कन् यहाँ नित्य होता है। पर कतरो भवतोर्देवदत्त का जो अर्थ है वह 'को भवतोर्देवदत्त' कहने से भी बुद्धिस्थ हो जाता है। अतः स्वार्थिक डतर (और डतम भी) प्रत्यय स्वार्थिक होने से वैभाषिक है। स्वार्थिक प्रत्यय जो नित्य माने गए हैं वे ऐसे परिगणित किए गए हैं—

तमप्, इष्ठन्, तरप्, ईयसुन्, रूपप, कल्पप्, देश्य, देशीयर्, बहुच्, जातीयर्, प्रकष्, क, र, तुरच्, ष्टरच्, डतरच्।

पूग-तथा आयुधजीविसङ्घ विषयक—ञ्य, ञ्युट्, टेण्यण्, छ, अण्, अञ्, यञ्।

मायु (माय), ठक्, अञ्, अण्, कृत्वसुच्, सुच्, धा।

कन्, ष, छ, समासान्त प्रत्यय।

पाशप् आदि प्रत्यय जो इस परिगणन से बहिर्भूत रह गए हैं वे भी नित्य ही मानने होंगे कारण कि वैयाकरणपाशः (निन्दित वैयाकरण, जो अपने विषय को बहुत कम जानता है) कहने से जिस अर्थ की प्रतीति होती है उसकी केवल वैयाकरण (प्रकृतिमात्र) में नहीं होती।

ऊपर परिगणित प्रत्ययों में तरप्, तमप्, ईयस् और इष्ठन् भी हैं। परन्तु वैदिक एवं लौकिक व्यवहार में यह अनित्य माने गए हैं और हमारे विचार में इनकी अनित्यता न्याय्य ही है, कारण कि इनके बिना भी वैसे ही परापेक्षया प्रकर्ष व अतिशय की प्रतीति होती है जैसे इनके होने पर—

इन्द्राणीमासु नारिषु सुभगामहमश्रवम् (ऋ० १०।८६।११)। मैंने सुना है कि इन्द्राणी (इन्द्र-पत्नी) इन स्त्रियों में अतिशय सुन्दरी है। भगवतो मघवतोपि भाग्यवत्तमात्मानमजीगणत् (दशकु० पृ० १८२), उसने अपने को भगवान् इन्द्र से भी अधिक भाग्यवान् समझा। वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि। लोकोत्तराणां चेतांसि को नु विज्ञातुमर्हति (उ० रा० चरित २।७)। यहाँ कठोराणि=कठोरतराणि और मृदूनि=मृदुतराणि। अर्थशास्त्रात्तु बलवद् धर्मशास्त्रमिति स्थितिः (याज्ञ० २।२१)। यहाँ स्पष्ट ही बलवद् 'बलीय' के अर्थ का बोधक है। अतः ईयसुन् नहीं किया। भाष्य तथा वृत्ति में इन्हें क्योंकर नित्य माना गया है यह चिन्तनीय है।

समासान्त प्रत्यय जिन्हें यहाँ नित्य कहा गया है वे भी अनित्य हैं यह ष्पूर्व-हन धृतराज्ञामणि इत्यादि सूत्रों से ज्ञापित होता है।

अञ्च्यन्त प्रातिपदिक से विकल्प से स्वार्थ में 'ख' प्रत्यय होता है जब अञ्च्यन्त स्त्रीलिङ्ग दिग्वाची न हो[1]। प्राच्, प्रत्यच्, उदच् आदि दिग् शब्द क्विन्-प्रत्ययान्त अञ्च्यन्त प्रातिपदिक हैं। इस से 'दिक् शब्देभ्य —(५।३।२७) से आए हुए स्वार्थिक अस्ताति प्रत्यय का अञ्चेर्लुक् (५।३।३०) से लुक् हो जाता है। तद्धित प्रत्यय के लुक् होजाने पर भी प्रत्ययलक्षण से तद्धितान्त होने से तद्धितश्चासर्वविभक्तिः (१।१।३८) से अव्यय सञ्ज्ञा होने पर कुत्व होने पर प्राक्, प्रत्यक्, उदक् आदि रूप होते हैं इस विषय में हम पहले अञ्चेर्लुक् सूत्र की व्याख्या में कह चुके हैं। अब सूत्रकार का यह कहना है कि जब अञ्च्यन्त स्त्रीलिङ्ग होकर दिशा का वाचक न हो तो इस से स्वार्थ में 'ख' प्रत्यय विकल्प से होता है—प्राचीन। प्रतीचीन। उदीचीन आदि। ख (ईन) प्रत्यय परे पूर्व की भसञ्ज्ञा होने से अकार का लोप, पूर्व को दीर्घ आदि कार्य होते हैं। स्त्रीलिङ्ग दिग्वाची से 'ख' नहीं होगा—प्राची दिक्। उदीची दिक्। स्त्रीलिङ्ग होने पर भी यदि दिग्वाची न होगा तो 'ख' प्रत्यय निर्बाध होगा—प्राचीना ब्राह्मणी। अर्वाचीना शिक्षा। प्राच यहाँ देश निमित्त से अथवा काल निमित्त से स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त हुआ ब्राह्मणी को कह रहा रहा है, दिग्वाची नहीं है, अतः प्रतिषेध का प्रसङ्ग नहीं। अञ्च्यन्त से कहा 'ख' प्रातिपदिक का लुक् लिङ्गविशिष्ट परिभाषा (प्रातिपदिक के ग्रहण में लिङ्गविशिष्ट प्रातिपदिक

१. विभाषाञ्चेरदिक्स्त्रियाम् (५।४।८)।

का भी ग्रहण होता है) ये प्राची आदि से भी होगा। लुक् होने पर लुक् तद्धितलुकि' (१।२।४९) से स्त्री प्रत्यय का लुक् हो जाता है। तब तद्धितश्चासर्व० से अव्यय होने से स्त्रीत्वाभाव में ख प्रत्यय हो जाता है। ख प्रत्यय के हो जाने पर प्राचीन आदि प्रातिपदिक स्वभाव से नपुंसकलिङ्ग होते हैं—प्राचीन दिग्रमणीयम्। स्त्रीप्रत्ययान्त से अस्ताति का लुक् होकर जो ख-प्रत्ययान्त प्राचीन आदि शब्द हैं वे दिग्वाची न होते हुए भी नपुंसक लिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं—प्राचीन ग्राम' कालो वा (प्रक्रियासर्वस्व)। जहाँ महाविभाषा से'अस्ताति' आया ही नहीं (प्राङ, प्राञ्चौ, प्राञ्च इत्यादि में) वहाँ इस सूत्र से अस्त्रीलिङ्ग दिग्वाची प्राच् आदि से स्वार्थिक ख प्रत्यय होगा। एवम्युत्पन्न प्राचीन आदि शब्द तीनों लिंगों में प्रयुक्त होंगे—प्राचीनो ग्राम। प्राचीन नगरम्। प्राचीना ग्रामटिका।

छ—जातिशब्दान्त प्रातिपदिक जो द्रव्यवाची हो, से स्वार्थ में[1]—ब्राह्मणजातीय। क्षत्रियजातीय। वैश्यजातीय। प्रत्ययान्त से भी ब्राह्मणादि का ही बोध होता है। सूत्र में 'बन्धु' शब्द द्रव्यवाची है। बध्यते ऽस्मिन्जातिरिति बन्धु द्रव्यम्। 'ब्राह्मणजातीय' आदि में ब्राह्मणादि भावप्रधान निर्देश हैं—ब्राह्मणत्व जातिरस्येत्यादि विग्रह होगा। द्रव्य वाच्य न होगा तो प्रत्यय नहीं होगा—ब्राह्मणजाति शोभना।

स्थानान्त प्रातिपदिक से विभाषा छ प्रत्यय होता है यदि स्थान शब्द का अर्थ सस्थान=तुल्य हो[2]—पित्रा तुल्य पितृस्थानीय। पितृस्थान'। मातृस्थानीय। मातृस्थान। राजस्थानीय। राजस्थान।

ठक्—'अनुगादिन्' से स्वार्थ नित्य ठक् होता है।[3] अनुगादिन् (इसी सूत्र में निपातन से णिनि) का स्वतन्त्र प्रयोग नहीं होता। आनुगादिक'।

अञ्—कर्मव्यतिहारे णच् स्त्रियाम् (३।३।४३) से धातुमात्र से कर्मव्यतिहार (परस्परकरण) अर्थ में जो णच् प्रत्यय विधान किया गया है तदन्त से स्वार्थ में अञ् प्रत्यय स्त्रीलिङ्ग में होता है।[4] यद्यपि णच् प्रत्यय स्त्री-

---

१ जात्यन्ताच्छ बन्धुनि (५।४।९)।
२ स्थानान्ताद् विभाषा सस्थानेनेति चेत् (५।४।१०)।
३ अनुगादिनष्ठक् (५।४।१३)।
४ णच' स्त्रियामञ् (५।४।१४)।

लिङ्ग मे ही विधान किया गया है, तो भी यहाँ फिर प्रत्ययविधान मे 'स्त्रियाम्' ऐसा कहा गया है। ऐसा क्यों किया गया है? इसलिए कि स्वार्थिक प्रत्यय कभी-कभी अपनी प्रकृति के लिङ्ग और वचन को छोड भी देते हैं। अञ् तो स्त्रीलिङ्ग से अन्यत्र होगा नही—व्यावक्रोशी। व्यावहासी।

अण्—अभिविधौ भावे इनुण् (३।३।४४) से धातुमात्र से व्याप्ति-विशिष्ट भाव वाच्य होने पर इनुण् प्रत्यय का विधान किया है। इनुण् प्रत्ययान्त से स्वार्थ मे अण्[1]—साराविणम् (व्यापक शोर)। साङ्कूटिनम्।

विसरतीति विसारी। विसारिन् शब्द से स्वार्थ मे अण् होता है जब प्रत्ययान्त का अभिधेय (अर्थ) मत्स्य हो[2]—वैसारिणो मत्स्य। इनण्यनपत्ये (६।४।१६४) से प्रकृतिभाव। विसारिन् का इस अर्थ मे स्वतन्त्र प्रयोग नहीं होता। मत्स्य अर्थ मे अन्यत्र विसारी देवदत्त।

मयट्—प्राचुर्येण प्रस्तुत प्रकृतम्, जो बहुत सा तैयार किया गया है। प्रकृतोपाधिक अर्थ मे वर्तमान प्रथमान्त प्रातिपदिक से स्वार्थ मे[3]—अन्न प्रकृतम् अन्नमयम्। अपूपमयम्। दूसरे वृत्तिकार इस प्रकार सूत्रार्थ कहते हैं—प्रकृतमित्युच्यतेऽस्मिन्निति प्रकृतवचनम्, जिसके विषय मे कहा जाता है कि उसमे अमुक पदार्थ बहुत साधा गया है। उस उस पदार्थ के वाचक प्रथमान्त शब्द से प्रकृतवचन (यज्ञादि) के अभिधेय होने पर मयट् प्रत्यय स्वार्थ मे होता है—अन्न प्रकृतमस्मिन्नन्नमयो यज्ञ। अपूप प्रकृतम् अस्मिन्पर्वणि महोत्सवे अपूपमय पर्व। वटक प्रकृतोऽस्यां यात्रायाम् इति वटकमयी यात्रा। प्रत्यय के टित् होने से स्त्रीत्व विवक्षा मे ङीप्।

यदि प्रकृत बहुत हो तो तद्वाची शब्दो से समूह अर्थ मे विहित प्रत्यय आते हैं और अव्यवहितपूर्व मयट् भी[4]—मोदका प्रकृता प्राचुर्येण प्रस्तुता = मौदकिकम्। मोदकमयम्। शाष्कुलिकम्। शष्कुलिमयम्। मोदका प्रकृता प्राचुर्येण प्रस्तुता अस्मिन् यज्ञे मौदकिक। मोदकमय। शष्कुल्य प्रकृता प्राचुर्येण प्रस्तुता अस्मिन् यज्ञे शाष्कुलिको यज्ञ। शष्कुलिमय। समूह अर्थ मे अचित्तहस्तिधेनोष्ठक् (४।२।४७) से अचेतन पदार्थों के समूह को कहने मे

1. अणिनुण (५।४।१५)।
2. विसारिणो मत्स्ये (५।४।१६)।
3. तत्प्रकृतवचने मयट् (५।४।२१)।
4. समूहवच्च बहुषु (५।४।२२)।

लिए ठञ् प्रत्यय विधान किया है। उसका यहाँ अतिदेश किया है।

ञ्य—अनन्त, आवसथ, इतिह, भेषज—इनसे स्वार्थ में[1]—अनन्त एव आनन्त्यम्। आवसथ एव आवसथ्यम्। एत्य वसत्यत्रावसथ, अतिथि गृह, यात्रियों का निवासस्थान। इतिह—यह निपात समुदाय 'उपदेशपरम्परा' अर्थ मे रूढ है। इतिह एव ऐतिह्यम्। भेषजमेव भैषज्यम्। महाभाष्य से प्रत्यय का विकल्प है। अनन्त आदि भी स्वतन्त्रतया प्रयुक्त होते हैं।

यत्—देवताशब्दान्त चतुर्थ्यन्त प्रातिपदिक से तादर्थ्य मे यत् प्रत्यय होता है।[2] सूत्र मे तादर्थ्य=तदर्थ। स्वार्थ मे ष्यञ्। इसमें तच्छब्द प्रकृत्यर्थ का परामर्शक है। अग्निदेवतायै इदम् अग्निदेवत्य हवि। पितृदेवत्यम्। वायुदेवत्यम्। अग्निश्चासौ देवता च=अग्निदेवता (कर्मधारय)।

चतुर्थ्यन्त पाद व अर्घ शब्द से तादर्थ्य मे[3]—पादार्थमुदक पाद्यम्। पाद्य पादाय वारिणि (अमर)। अर्घ पूजाविधि। अर्घाय इदम् अर्घ्यम्। तदर्थं द्रव्यमित्यर्थ। पूजाविधि के ये अङ्ग हैं—आप क्षीर कुशाग्र च दधि सर्पि सतण्डुलम्। यव सिद्धार्थकश्चैव अष्टाङ्गोऽर्घ प्रकीर्तित॥

सूत्र मे 'च' शब्द अधिक विधान करने के लिए है। इससे नव एव नव्य। यहाँ भी यत् होता है। यद्यपि यह यत् प्राय छन्दस् (वेद) मे ही देखा जाता है पर लोक मे भी इसका प्रचुर प्रयोग है।

स्नप्, तनप्, ख—'नव' को नू आदेश होता है और साथ ही इससे स्नप्, तनप् तथा ख प्रत्यय होते हैं[4]—नूत्न। नूतन। नवीन। वेद मे तो 'नू' नये अर्थ में स्वतन्त्रा प्रकृति देखी जाती है—नू च पुरा च सदन रयीणाम् (ऋ० १।९६।७)। अद्याचिन्नू चित् तदपो नदीनाम् (   )।

पुराण अर्थ मे वर्तमान 'प्र' शब्द से 'न' प्रत्यय होता है, पूर्व कहे हुए स्नप्, तनप्, ख भी होते हैं[5]—प्रण (पुराना,प्राचीन)। प्रत्न। प्रतन। प्रीण।

---

१ अनन्तावसथेतिह-भेषजाञ् ञ्य (५।४।२३)।
२ देवतान्तात्तादर्थ्ये यत् (५।४।२४)।
३ पादार्घाभ्यां च (५।४।२५)।
४ नवस्य नू आदेशस्त्नप्तनप्खाश्च प्रत्यया (वा०)।
५ नश्च पुराणे प्रात् (वा०)।

धेय—भाग, रूप, नामन्—इनसे स्वार्थ में[1]—भागधेय । भाग एव भागधेय । भागधेय करो बलि । दैवं दिष्टं भागधेयम् (अमर) । दैव अर्थ में स्वार्थिक प्रत्यय ने प्रकृति के लिङ्ग को नहीं लिया । रूपमेव रूपधेयम् । नाम एव नामधेयम् ।

अञ्—आग्नीध्र तथा साधारण से[2] । आग्नीध्रम् । आग्नीध्री । साधारणम् । साधारणी । अजन्त होने से स्त्रीत्व में ङीप् । ये प्रत्यय विकल्प से होते हैं । अत अञ् के अभाव में स्त्रीलिङ्ग में आग्नीध्रा शाला । साधारणा भू, साँझी भूमि ।

ष्य—अतिथये इदम् आतिथ्यम्[3] ।

तल्—'देव' से स्वार्थ में[4]—देव एव देवता । तलन्त स्त्रीलिङ्ग होता है । अत टाप् हुआ । वेद में देवता देवत्व के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है—ता नो देवा देवतया युवं मधुमतस्कृतम् (ऋ० १०।२४।६) येन देवा देवतामग्र आयन् (अथर्व० ३।२२ ३) । बृहस्पते प्रति मे देवतामिहि (ऋ० १०।९८।१) ।

क—अविरेव आविक ।[5]

कन्—याव आदि शब्दों से स्वार्थ में[6]—याव एव यावक । जौं का भोजन । लाख । मणिरेव मणिक । उष्णक, उष्ण ऋतु, ग्रीष्म । शीतक[7] शीत ऋतु, हेमन्त । लूनक[8] पशु । वियातक[9] पशु । अन्यत्र लूनो देवदत्त । वियातो देवदत्त । वियात=धृष्ट । अणुक[10]=निपुण । अणु = सूक्ष्म । पुत्रक =कृत्रिम पुत्र, दूसरे का पुत्र जो गोद ले लिया गया । स्नातक[11]

---

१ भाग रूप नामभ्यो धेय (वा०) ।
२ आग्नीध्र साधारणादञ् (वा०) ।
३ अतिथेर्ञ्य (५।४।२६) ।
४ देवात्तल् (५।४।२७) ।
५ अवे क (५।४।२८) ।
६ यावादिभ्य कन् (५।४।२९) ।
७ ऋतावुष्णशीते (ग० सू०) ।
८ पशौ लून वियाते (ग० सू०) ।
९ अणु निपुणे (ग० सू०) ।
१० पुत्र कृत्रिम (ग० सू०) ।
११ स्नात वेदसमाप्तौ (ग० सू०) ।

वेदसमाप्ति पर जिसने स्नान किया है, जो वेद समाप्त करके गुरुकुल से समावृत्त (लौटा) हुआ है। शून्यक[1] रिक्त। तुच्छ। अन्यत्र शून्य। शून्य नभ। शून्य प्रत्यय। तनुकम्[2] सूत्रम्, सूक्ष्मतन्तु। श्रेय एव श्रेयस्कम्। कुमारियों के खिलौनों के नामों से भी स्वार्थ में—क दुकम्।[3]

लोहित शब्द से जब प्रत्ययान्त मणि का नाम हो[4]—लोहितको मणिः। शोणरत्नं लोहितकः पद्मरागः (अमर)।

लोहित शब्द जब अनित्य (अचिरस्थायी) वर्ण को कहे तब उस से स्वार्थ में[5]—लोहितकः कोपेन, क्रोध के मारे लाल। लोहितकः पीडनेन, पीडा दिया जाने से जो लाल हो गया है। यह लौहित्य तब तक ही है जब तक क्रोध शान्त नहीं होता और जब तक पीडन विरत नहीं होता। रंग के नित्य होने पर कन् नहीं होगा—लोहितो गौः। लोहितं रुधिरम्। जब तक गुणाश्रय द्रव्य गौ तथा रुधिर अवस्थित हैं तब तक लौहित्य रहेगा, यही यहाँ वर्ण की नित्यता है।

कन् प्रत्ययान्त लोहित (लोहितक) का स्त्रीलिङ्ग में क्या रूप होगा इस विषय में वार्तिककार वार्तिक पढ़ते हैं—लोहितात्लिङ्गबाधनं वा वक्तव्यम् अर्थात् लोहित शब्द से लिङ्ग निमित्त प्रत्यय को बाध करके पहले स्वार्थिक कन् हो जाए यह भी एक पक्ष है। पक्षान्तर में लिङ्ग के अन्तरङ्ग होने से प्रथम लिंग के द्योतन के लिए स्त्रीप्रत्यय हो जाने पर पश्चात् स्वार्थिक कन् होगा—लोहितिका कोपेन। यहाँ पहले कन् हुआ, पश्चात् टाप्। लोहिनिका कोपेन। यहां पहले स्त्रीप्रत्यय हुआ। लोहित वर्णवाची अनुदात्तान्त है। इससे वर्णादनुदात्तात्तोपधात्तो नः (४।१।३६) से स्त्रीप्रत्यय ङीप् और साथ ही लोहित के 'त' को न। पीछे कन् आने पर लोहिनी—क इस अवस्था में केऽणः (७।४।१३) से ह्रस्व, और कन्नन्त से टाप्। लोहिनिका।

वस्तुतः इस वार्तिक की कुछ भी अपेक्षा नहीं। तद्धित प्रत्यय विधि में दो पक्ष हैं। एक तो प्रातिपदिक से तद्धितोत्पत्ति होती है (प्रतिपद विधान-

---

१ शून्य रिक्ते (ग० सू०)।
२ तनु सूत्रे (ग० सू०)।
३ कुमारीक्रीडनकानि च (ग० सू०)।
४ लोहितान्मणौ (५।४।३०)।
५ वर्णे चानित्ये (५।४।३१)।

मात्र से आकांक्षा बन जाती है—यह भी)। इस पक्ष के अनुसार प्रथम तद्धित कन् हो जाएगा, जिससे लोहितिका रूप सिद्ध हो जाएगा। दूसरा पक्ष—सुबन्त से तद्धित होते हैं (निरवकाश होने से कोई विधि अपवाद बनती है अन्यथा नहीं—यह भी)। सुप् आने से पहले स्त्रीप्रत्यय ङीप् होगा। स्वार्थिक कन् तो पुल्लिङ्ग में सावकाश है, इससे यह अपवाद नहीं।

जो लाख आदि से रंगा हुआ होने से लाल वर्ण को कहता है उससे भी कन् प्रत्यय स्वार्थ में होता है[1]—लोहितक। लोहितकः कम्बलः। सर्वे चैव रथो द्वारा सर्वे लोहितकध्वजाः (भा० उ० १७१।१४)। स्त्रीलिङ्ग में यहाँ भी लोहितिका शाटी। लोहिनिका शाटी—दो रूप होंगे।

काल शब्द से जब कालापन अनित्य हो अथवा रंगने से बना हो[2]—कालकं मुखं वैलक्ष्येण, लज्जा वश काला मुँह। कालकः पटः। कालिका शाटी। काली साडी।

ठक्—विनय आदि शब्दों से स्वार्थ में[3]—विनय एव वैनयिकः। अमात्ये दण्ड आयत्तो दण्डे वैनयिकी क्रिया (मनु० ७।६५)। समय एव सामयिकः। उपाय एव औपयिकः। उपाय के 'आ' को ह्रस्व भी होता है। औपयिक का प्रयोग 'युक्त' अर्थ में बहुत देखा जाता है। अमर कोष में भी इसे युक्त का पर्याय पढ़ा है—युक्तमौपयिकम् इति। मित्रमौपयिकं कर्तुं रामः स्थानं परीप्सता। त्वया (रा० ५।२१।१९)। अहमौपयिकी भार्या तस्यैव च धरापतेः (रा० ५।२१।१७)। एकवेणी धरा शय्या ध्यानं मलिनमम्बरम्। अस्थानेऽप्युपवासश्च नैतान्यौपयिकानि ते (रा० ५।२०।८)॥ समयाचार एव सामयाचारिकः। सामयाचारिकेष्वभिविनीतः। (गौ० ध० सू० १।८।११)। अकस्मादेव आकस्मिकम्। अकस्मात् (दकारान्त) से ठक् हुआ, अतः 'ठ' को 'इक' हुआ है, 'क' नहीं। अव्यय होने से टि-लोप। अत्यय एव आत्ययिकः। साम्प्रतमेव साम्प्रतिकम्, न्यास के अनुसार आकृतिगण होने से। ऐसा होने से विवाह एव वैवाहिक, उत्पात एव औत्पातिक—यहाँ भी ठक् होता है। पितृकार्यं च भद्रं ते ततो वैवाहिकं कुरु (रा० १।७१।२४)। तानौत्पातिकान् राम सह भ्राता

---

१ रक्ते (५।४।३२)।
२ कालाच्च (५।४।३३)।
३ विनयादिभ्यष्ठक् (५।४।३४)।

ददर्श ह (रा० ३।२४।१)। परमार्थ एव पारमार्थिक । पारमार्थिकविनयदुर्विभाव्यो निपुणबुद्धिग्राह्यो महानहङ्कारग्रन्थि (महा० च० २)।

सन्दिष्टार्थक वाणी के अर्थ मे वर्तमान वाच् शब्द से स्वार्थ मे[1]—वाचिकम्=व्याहृतार्था=सन्दिष्टार्था वाक्, वह वाक् जिसका अर्थ सन्देशहर के प्रति कह दिया गया है। निर्धारितेर्थे लेखेन खलूक्त्वा खलु वाचिकम् (माघ २।७०)। अविद नृपतेर्वाचिक तच्छ्द्रदये भद्रेयो हि स ।

अण्—सन्देश वाक् मे युक्त जो कर्म तद्वाचक कर्मन् प्रातिपदिक से[2]—कर्मैव कार्मणम् । अन् (६।४।१६७) से प्रकृतिभाव । वाचिक को सुन करके तदनुसार जो कर्म किया जाता है वह 'कार्मण' होता है। कोपकार तो इसे मूलकर्म (मन्त्र तन्त्रादियोजन) के अर्थ मे पढते है—मूलकर्म तु कार्मणम् (अमर)। प्रक्रियासर्वस्वकार इसे इस प्रकार सगत करते हैं—तच्च (=वाचिकेन युक्त कर्म) वशीकरणमूल भवतीति लक्षणया वशीकरणमूल कर्म कार्मणमुच्यते ।

ओषधि शब्द से जब यह जातिवाचक न हो, स्वार्थ मे अण्[3]—औषध पिबति । नाना ओषधियो के सम्मिश्रण से जो भेषज तैयार की जाती है उसे औषध कहते हैं। सकर होने से जाति नही।

प्रज्ञ आदि शब्दो से स्वार्थ मे[4]—प्रज्ञ एव प्राज्ञ । प्राज्ञी स्त्री। पर प्रज्ञाऽस्त्यस्या इति प्राज्ञा। मत्वर्थीय ण। उससे टाप्। वणिगेव वाणिज । चोर एव चौर । मन एव मानसम्। वय एव वायस । वयस् नपु० है। वायस पु० है। स्वार्थिक प्रत्यय प्रकृति के लिंग को छोड भी देते हैं। देवता एव दैवत.। दैवतम्। मरुद् एव मारुत । शत्रुरेव शात्रव । पिशाच एव पैशाच । रक्ष एव राक्षस । रक्षस् नपु० है। क्रुङ् एव क्रौञ्च । कृष्ण एव कार्ष्ण (कृष्णमृग)। विदत्, विद्वस्—ये दोनो गणपठित हैं। विदन्नेव वैदत । विद्वानेव वैदुष । भसज्ञा होने से सम्प्रसारण। बन्धुरेव बान्धव । श्रोत्रमेव श्रौत्रम् (=कर्ण)। मित्रमेव मैत्र । प्रज्ञादि आकृतिगण है। इससे गणपठितो से अन्यत्र भी स्वार्थिक अण् देखा जाता है—विकृतमेव वैकृतम्। द्विता

1 वाचो व्याहृतार्थायाम् (५।४।३५)।
2 तद्युक्तात्कर्मणोऽण् (५।४।३६)।
3 ओषधेरजातौ (५।४।३७)।
4 प्रज्ञादिभ्यश्च (५।४।३८)।

एव द्वैतम् । प्रतिमा एव प्रातिमम् । अनुष्टुब् एव आनुष्टुभम् । अनुष्टुप् स्त्री० है । गायत्र्येव गायत्रम् । चरित्रमेव चारित्रम् । चेलमेव चैलम् । कुतुकमेव कौतुकम् । कुतूहलमेव कौतूहलम् । सम्प्रत्येव साम्प्रतम् । सम्प्रति अव्यय न्याय्य अर्थ का वाचक है । इसमें अनाप्त (=अपर्याप्त, न्यून) चतूरात्रोऽतिरिक्त षड्रात्रोऽथवा एव सम्प्रति यज्ञो यत्पञ्चरात्र यह ब्राह्मण वचन प्रमाण है । कैवर्त एव कैवर्त, धीवर, मत्स्यग्राही । के जले वर्तो वर्तनमस्य इति केवर्त । वाजसनेयी संहिता (३०।१६) में केवर्त मत्स्यग्राही के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । क्षीरस्वामी आदि अमर के टीकाकार मत्स्य अर्थ में केवर्त शब्द की कल्पना करते हैं और उससे तस्येदम् अर्थ में अण् करते हैं । व्युत्पत्तिमात्र का आश्रय एक दुर्बल आश्रय है । कर एव कार, वणिक्, पशुपाल, तथा कृषकों से राजग्राह्य भागवाची 'कार' का प्रयोग सूत्रकार स्वयम् करते हैं—कारनाम्नि च प्राचां हलादौ (६।३।१०) । अपस्यमेव औपस्यम् । औपस्यमिच्छामि तवोपभोक्तुम् (रघु० २।६६) । प्रतिवेश्य एव प्रातिवेश्य (पड़ोसी) । वेशो वेश्म । प्रतिवेश इति स्ववेश्माभिमुख स्ववेश्मपार्श्वस्य चोच्यते—मिताक्षरा (२।२६३) । प्रविश्य लङ्कां कौशल्य ब्रूहि मैथिलीम् (रा० ६।११२।२३) । कुशलमेव कौशलम् । स्त्रीरज पुष्पमार्तवम् (अमर) । ऋतुरेव आर्तवम् । विधेय एव वैधेय (मूर्ख) । विधेय अधीन आयत्त को कहते हैं । स्वार्थिक अण् के मूढ़ में लक्षणा हो गई । चर एव चार । राजानश्चारचक्षुष ।

तिकन्—मृद् शब्द से स्वार्थ में[1]—मृद् एव मृत्तिका ।

स, स्न—प्रशंसा विशिष्ट अर्थ में वर्तमान मृद् से स, स्न प्रत्यय होते हैं ।[2] रूपप् प्रत्यय का अपवाद । प्रशस्ता मृद् मृत्सा । मृत्स्ना । ये प्रत्यय नित्य हैं ।

कृद्वृत्तेस्तद्धितवृत्ति र्बलीयसी

जहाँ कृत् प्रत्यय का आश्रयण करने से भी व्युत्पत्ति हो सकती है और तद्धितप्रत्यय का आश्रयण करने से भी, वहाँ तद्धित प्रत्यय का आश्रयण करना चाहिए, कारण कि तद्धितवृत्ति कृद्वृत्ति से बलवती है ऐसा भाष्य है । महानुभावा हि नितान्तमर्थिन (माघ० १।१७) । यहाँ अर्थनमर्थोऽभिलाप, तद्वन्त ऐसा अभीष्ट अर्थ मत्वर्थीय इनि मानकर होता है । कृत्प्रत्यय णिनि मानने पर तो अवश्यम् अभ्यर्थयितार, याचितार ऐसा अनिष्ट अर्थ होगा ।

---

१ मृदस्तिकन् (५।४।३९) ।

२ स-स्नौ प्रशंसायाम् (५।४।४०) ।

अव्यविकन्यायः

तद्धित प्रत्यय विषयक यह न्याय वाचनिक है। अवेर्मांसम्, भेड का मास। अवि=भेड। स्वार्थ मे 'क' प्रत्यय होकर अविक (=भेड) शब्द भी निष्पन्न होता है। यहाँ प्रत्यय (अण्) तो अविक शब्द से हुआ है, पर विग्रह मे 'अवि' शब्द ही आता है। अन्यत्र भी जहाँ कहीं ऐसा हो वहाँ अव्यविक न्याय प्रवृत्त हुआ है ऐसा समझना चाहिए। ऐसा क्यो होता है उसका शब्द स्वाभाव्य ही एक मात्र उत्तर है। मृदङ्गवादन शिल्पमस्य मार्दङ्गिक। यहाँ प्रत्यय 'मृदङ्ग' से होता है। विग्रह 'मृदङ्गवादन' से। विश्रवसोऽपत्यं वैश्रवण। यहाँ विश्रवस शब्द विग्रह मे आता है और विश्रवण शब्द से प्रत्यय आता है। गिरौ भव गैरिकम्। यहाँ प्रत्यय गिरिक शब्द से होता है और विग्रह गिरि शब्द से। 'गिरिक' मे 'कन्' स्वार्थ मे है।

अचामादेरचो वृद्धया उपधा लक्षणा वृद्धिर्बाध्यते

जहाँ ञित्, णित्, कित् प्रत्यय के कारण अङ्ग के अचों मे से आदि अच् को वृद्धि प्राप्त होती हो और साथ ही उपधा भूत 'अ' को भी, वहाँ उपधा-लक्षणा वृद्धि का बाध हो जाता है अर्थात् अचों मे से आदि अच् की वृद्धि उसे रोक देती है—जगत इद जागतम्।

भावप्रधानो निर्देश

कुछ स्थलो मे भाव वाचक प्रत्यय के न होते हुए भी भाव का बोध होता है ऐसे प्रयोगो को भावप्रधान निर्देश कहते हैं। सूत्रकार का अपना प्रयोग है—द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने (१।४।२२)। यहाँ द्वित्व और एकत्व अर्थ मे 'द्वि' तथा 'एक' का प्रयोग हुआ है। ऐसा ही रामायण के सहाय चकमास मारीच नाम राक्षसम् (१।१।५०) इस पद्य मे 'सहाय' शब्द भावप्रधान निर्देश है। सहाय=साहाय्य, सहायक।

जात्यन्ताच्छ बन्धुनि (५।४।९)। ब्राह्मणत्व जातिर् अस्येति ब्राह्मण-जाति। स एव ब्राह्मणजातीय। यहाँ विग्रह मे वृत्तिकार ने 'ब्राह्मणत्व' भावप्रत्ययान्त का प्रयोग किया है और तद्धित वृत्ति मे 'ब्राह्मण' शब्द। इससे स्पष्ट है कि यह भावप्रधान निर्देश है।

कौमारापूर्ववचने (४।२।१३) सूत्र मे 'अपूर्ववचने' मे 'अपूर्व' अपूर्वत्व अर्थ

मे भावप्रधान निर्देश है। कौमार शब्द स्त्री के अपूर्वत्व की विवक्षा मे निपातन किया है।

प्रमाणभूत आचार्य। यहाँ प्रमाण प्रामाण्य भूत प्राप्त ऐसा अर्थ है। सो प्रमाण भावप्रधान निर्देश है। भू प्राप्तावात्मनेपदी का क्तान्तरूप—भूत।

दृष्टोऽपरावर (रा० २।६।२२)। यहाँ पर=परत्व। अवर=अवरत्व। परत्व=प्रागस्त्य। अवरत्व=अप्रागस्त्य। सो यहाँ पर तथा अवर भावप्रधान निर्देश हैं।

सखा ह जाया कृपण ह दुहिता ज्योतिर्ह पुत्र (शाङ्खायनश्रौत १५।१७।२२)। यहाँ कृपण=कार्पण्य=शोक। अत यह भी भावप्रधान निर्देश है। दुहिता कृपण परम् (मनु० ४।१८५)। यहाँ भी पर कृपणम् का अर्थ पर कार्पण्यम् है।

दिश चरित्वा निपुणेन वानरा (रा० ४।४०।७१)। यहाँ निपुणेन=नैपुण्येन। इसी प्रकार 'न यस्य कश्चिन्निपुणेन धातुर् अवैति जन्तु कुमनीष ऊती।' (भाग० पु० १।३।३७) यहाँ भी।

न हि दुर्योधनो राजन् मधुरेण प्रदास्यति (भा० उद्योग० ४।१)। यहाँ मधुरेण=माधुर्येण। सो यह भी भावप्रधान निर्देश है।

स्वार्थिका प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यतिवर्तन्तेऽपि

यह शब्द-स्वाभाव्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं। चाहिए तो यह था कि स्वार्थिक प्रत्यय जो प्रकृति के अर्थ का द्योतन मात्र करते हैं वे प्रकृति के लिङ्ग वचन को ही लें, परन्तु भाषा मे युक्तायुक्तत्व विचार सर्वत्र प्रयोगो की निष्पत्ति मे कारण नही बनता। अत हम देखते हैं कि देव पुंल्लिङ्ग है पर देवता (स्वार्थ मे तल्) स्त्री० और दैवत (स्वार्थ मे अण्) पुंल्लिङ्ग और नपु० भी। रक्षस् नपु० है पर राक्षस (स्वार्थ मे अण्) पु० है। वयस् (पक्षी) नपुंसक है पर वायस (स्वार्थ मे अण्) पु० है। वाच स्त्री० है पर वाचिक (=सन्देश वाक्) नपु०। प्रतिमा स्त्री० है, पर प्रातिभ स्वार्थ-अण्णन्त नपु० है। गायत्री (छन्दोविशेष) स्त्री० है, पर स्वार्थिक अण् प्रत्ययान्त गायत्र नपु० है। ऐसे ही अनुष्टुभ् स्त्री० है, पर आनुष्टुभ नपु० है। मित्र नपु० है पर स्वार्थ मे अण् आने पर मैत्र विशेष्यलिङ्गानुसारी है—मैत्र पुरुष, सर्वस्य मित्रभूत। कुटी स्त्री० है, पर कुटीर (छोटी कुटिया) पु० है। मुण्डा (मूंड)

स्त्री० है पर शुण्डार (छोटी सूंड) पुं० है। कहीं कहीं स्वार्थिक प्रत्यय प्रकृति के लिङ्ग को छोड़कर विशेष्य के लिङ्ग को लेते हैं—गुडकल्पा द्राक्षा। गुड (प्रकृति) पु० है, पर स्वार्थिक प्रत्यय कल्पप् आने पर गुडकल्पा द्राक्षा (विशेष्य) के लिङ्ग को लेता है। शर्कराकल्पो गुडः, यहाँ अभिधेय गुड के लिङ्ग का उपादान हुआ है। बहुच् प्रत्यय जो ईषद् असमाप्ति का द्योतक है और जो प्रकृति से पूर्व आता है उसके होने पर तो न्यायप्राप्त प्रकृति का ही लिङ्ग होता है—बहुगुडो द्राक्षा। बहुतैलं प्रसन्ना (=सुरा)। बहुपयो यवागू। लघुर्बहुतृणं नरः। काशिका में 'बहुगुडा द्राक्षा' ऐसा पाठ है वह भाष्य विरुद्ध है।

प्रयोगमाला

१ इदमुदश्वित्। इदं घोदश्वित्कम्। अम्बुपत्वात्।

यह छाछ है, यह छाछ सी है, जल-प्रचुर होने से।

२ नाक्रमे निहिता काचित् क्रिया फलवती भवेत्।

अयोग्य को दी हुई कोई शिक्षा फलवाली नहीं होती।

३ केचिच्छय्यात उज्जिहाना एव क्वाथं पिबन्ति।

कोई लोग शय्या से उठते ही चाय पीते हैं।

४ पाद्यमस्मै दीयतां मातुलाय पथिकाय (पादौ निर्णेजयतीति)।

इस रेणुरूषित यात्री को पाँओ धोने के लिए जल दिया जाय।

५ व्यावहासी कलहाय भवति व्यावक्रोशी च विग्रहाय।

परस्पर हँसी से झगड़ा हो जाता है, परस्पर निन्दा से लड़ाई हो जाती है।

६ अलोहितोऽप्ययं स्फटिक उपाश्रयवशाल्लोहित इति प्रतीयत इति लौहितीक इत्युच्यते।

यह बिलौर लाल नहीं है पर आधार के लाल होने से लाल प्रतीत हो रहा है, अतः इसे 'लौहितीक' कहते हैं।

७ इयं कुतूः। अयं च कुतुपः। को विशेषः।

८ अयं बुभुक्षितकः पिपासितकश्च। देयं अस्मै पानभोजने।

यह बेचारा भूखा और प्यासा है। इसे भोजन और पानी दीजिए।

९ इमे वर्णवन्तः। इमे वर्णिनः। इमे च विवर्णाः। गुणकर्मको विभागः।

ये ब्राह्मण आदि वर्ण वाले हैं। ये ब्रह्मचारी हैं। ये वर्णहीन चण्डाल आदि हैं। गुण कर्मों से विभाग (किया गया) है।

१० द्वौ हि मासस्य पक्षौ ज्यौत्स्नश्च तामिस्रश्च।

महीने के दो पक्ष हैं, एक शुक्ल, दूसरा कृष्ण।

११ सर्वो निःस्वः स्ववान् भवितुमीहते। स्वायत्ता हि लोकयात्रा।

हर कोई निधन धनवान् होना चाहता है, कारण कि लोकयात्रा धन के अधीन है।

१२ कण्डूलमस्य शिरः। लिक्षाक्रान्ता अस्य कचाः स्युः।

इसके सिर में खुजली हो रही है,हो सकता है इसके बाल लीखों से भरे हों।

१३ उदक्याऽमेध्या भवतीत्यस्याः पृथक् पानभोजने कल्प्येते अस्पर्शश्च।

रजस्वला अपवित्र होती है अतः इसका पान और भोजन जुदा किया जाता है और इसे छूना भी नहीं होता।

१४ नाम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः (श्रीमद्भागवत)।

तीर्थ जल का विकार मात्र नहीं हैं, देवता मिट्टी व पत्थर के बने हुए नहीं हैं।

१५ निरुक्ते नैघण्टुक-नैगम-दैवतानीति त्रीणि काण्डानि भवन्ति।

१६ व्याकरणचन्द्रोदये नामाख्यातिकं विशेषतो द्रष्टव्यम्।

व्याकरणचन्द्रोदय में नामों और आख्यातों का व्याख्यानग्रन्थ विशेष द्रष्टव्य है।

१७ सामुद्रका मनुष्या उच्यन्ते न तु सामुद्राः। तत्कस्मात्।

समुद्र समीपवासी लोगों को सामुद्रक कहते हैं, सामुद्र नहीं। ऐसा क्यों।

१८ देवदत्तो दैव्यः। यज्ञदत्तो दैवकः। कोऽत्र विशेषः।

१९ सांवत्सरो याग इत्यत्र किं दुष्यति।

संवत्सर (=वर्ष) में होने वाले यज्ञ को 'सांवत्सर' कहने में क्या दोष है।

२० कालशेयं तक्रमुदश्विन्मथितं चेति त्रेधा विपरिणमते।

मटकी में मन्थन के लिये डाला हुआ दही तक्र, छाछ, मठा इन तीन रूपों में परिणत हो जाता है।

२१ अभोज्यान्नो हि वार्धुषिकः स्मृतः।

ब्याज पर रुपया देने वाले (सूदखोर) का अन्न ग्रहण करने योग्य नहीं होता ऐसी स्मृति है।

२२ प्रथमधार्मिक । अथ धार्मिक । को विशेष ।
यह प्रधार्मिक है और यह धार्मिक । अर्थ मे क्या भेद है ।

२३ प्रतीहारो हि दण्डिको भवति न दाण्डिक ।
द्वारपाल को दण्डिक कह सकते हैं दाण्डिक नही ।

२४ उभावपि भ्रातरौ कथकौ । ज्यायास्तु काथिक ।
दोनो भाई कथक है, पर बडा भाई कथा मे चतुर है ।

२५ चोरचौरयो को विशेष । चोरिकाचौरिकयोश्च क ।

२६ प्रवश्यम्भाविनोऽपि सान्तापिका भवन्तीष्टै विप्रयोगा ।
अपने प्यारो से वियोग यद्यपि अवश्य होना है, तो भी दु ख देता है ।

२७ वस्त्रयुगिक शरीरमिति न प्रतियन्ति नेपथ्यप्रिया साम्प्रतिका लोका ।

वस्त्र-युगल से शरीर की शोभा होती है इसमे आज कल के वेष प्रिय लोग विश्वास नही करते ।

२८ द्विवर्षीणो व्याधि । द्विवार्षिक । द्विवर्ष इति श्रेया व्यपदेश । स उपपाद्य ।

२९ केचित्त्रैशतिका आचार्या के चिच्च यौजनशतिका ।
कई एक आचार्य सौ कोस से अभिगमनीय होते हैं और कोई चार सौ कोस से ।

३०. कालो निशेति पिच्छिले पथ्यसकृदस्खलाम ।
रात अन्धेरी थी अत हम कीचड वाले मार्ग मे अनेक बार लड खडाये ।

३१ अथ चिर शीतकेन ज्वरेण बाधितोऽभूदिति शीतक सवृत्त ।
यह देरतक मलेरिया से पीडित रहा, अत कार्य करने मे मन्द हो गया है ।

३२ आङ्गलेषु सर्वे पुत्रा पितुरशका न भवन्ति ।
अग्रेजो मे सभी पुत्र पिता की जायदाद के भागी नही होते ।

३३ येऽन्तरशुचयो लोकवञ्चनार्थं शौचादि सेवन्ते ते दाम्भाजिनिका ।
जो अन्दर से अपवित्र लोग दूसरो को ठगने के लिये शौच आदि का सेवन करते हैं वे दम्भी होते हैं ।

३४ यस्य परिशुद्ध आगम स सर्वधनो धन्यो नर ।
जिस को निर्दोष शास्त्र ज्ञान प्राप्त है, उसके पास सब धन है, वह भाग्यवान् पुरुष है ।

३५ हरिदीक्षितनागेशयो शैष्योपाध्यायिकात एव बह्वेतयोर्विषये शक्य-मध्यवसातुम् ।

हरिदीक्षित और नागेश के गुरुशिष्य सम्बन्ध से ही इन के विषय मे बहुत कुछ जाना जा सकता है ।

३६ शाकलकमाम्नायमाश्रित्य प्रवृत्ता कात्यायनकृता सर्वानुक्रमणी बहु वेद्य वेदयति ।

शाकलशाखा के ऋग्वेद का आश्रय करके प्रवृत्त हुई कात्यायनमुनि की कृति सर्वानुक्रमणी बहुत कुछ जानने योग्य बताती है ।

३७ प्रायेणापूपिका वैश्या पायसिकाश्च विप्रा ।

प्राय वैश्य पूआ के प्यारे होते हैं और ब्राह्मण क्षीर (खीर) के ।

३८ यस्मै देवा प्रयच्छन्ति पुरुषाय पराभवम् ।

बुद्धि तस्यापकर्षन्ति सोऽर्वाचीनानि पश्यति ॥

देवता जिस का विनाश चाहते हैं, उसकी बुद्धि को हर लेते हैं, तब वह निचली बातो को देखने लगता है ।

३९ अय श्वाशुरि । अय च श्वशुर्य । को विशेष ?

यह श्वशुर नामक पुरुष का पुत्र है । यह ससुर का पुत्र है । यही भेद है ।

४० पाराशर्यो भगवान् व्यास इत्युच्यते । न चासौ पराशरस्य गोत्रा-पत्यम् । तत्कस्मात् ।

भगवान् व्यास को पाराशर्य (पराशर का गोत्रापत्य=पौत्र) कहते हैं । पर वे तो पराशर का अनन्तरापत्य (पुत्र हैं) । ऐसा व्यवहार क्यो है ?

४१ क्रोडी करोति प्रथम यदा जातमनित्यता ।

धात्रीव जननी पश्चात्तदा शोकस्य क क्रम ॥ (नागानन्द)

जब अनित्यता धाया की तरह नवजात बच्चे को प्रथम गोद मे लेती है और माता पीछे, तो शोक का क्या अवसर है ।

४२ इय दात्रित्रकल्पा । शक्यमनयाऽपि शाक कर्तितुम् ।

यह छुरी कुछ अच्छी है । इसमे भी शाक काटा जा सकता है ।

४३ पच्छो गायत्रीं शसति ।

गायत्री को एक एक पाद करके उच्चारण करता है ।

४४ स्वय रचित उपाध्यायस्य पदिक । अहो गर्ह्यमेतत् ।

आप (शिष्य) रथ से जाता है और गुरु जी पैदल जा रहे हैं। यह कितना गर्हणीय (=निन्द्य) है।

४५ भीष्मे त्रैशब्द्यं श्रूयते—गाङ्गो गाङ्गेयो गाङ्गायनिरिति। तत् कस्मात्।

भीष्म जो गङ्गा का पुत्र है, उसे तीन शब्दों से कहा जाता है—गाङ्ग, गाङ्गेय, गाङ्गायनि। यह क्योंकर।

४६ विमातुरपत्यं वैमात्रो भवति वैमात्रेयो वेति वैयाकरणवद् ब्रूहि।

सौतेली माता के पुत्र को 'वैमात्र' कहना चाहिये अथवा 'वैमात्रेय'। इस का उत्तर ऐसा दो जैसा व्याकरण जानने वाला दे।

४७ ये भगवति श्रद्धा प्रणताश्च ते पूतपापाः स्वर्गाय राध्यन्ति।

जो भगवान् में श्रद्धा रखते हैं और उसके भक्त हैं वे निष्पाप होकर स्वर्ग प्राप्ति के योग्य हो जाते हैं।

४८ 'दार्भं मुञ्चत्युटजपटलं वीतनिद्रो मयूर' (शाकुन्तल ४.८५) इति श्लोकचरणे किं दुष्यति।

दर्भ की बनी हुई कुटिया की छत को सोकर जागा हुआ मोर छोड़ रहा है। इस अर्थ वाले श्लोक-चरण में व्याकरण-सम्बन्धी क्या स्खलन है।

४९ यो हि कौलटिनेय इति वक्तव्ये कौलटेर इति ब्रूयात्स पापभाक् स्यात्।

कौलटिनेय=कुलटा (भिक्षुकी) का पुत्र। कौलटेर=कुलटा=घर-घर घूमने वाली व्यभिचारिणी स्त्री का पुत्र।

५० धर्मे स्मृतयः प्रमाणं वेदास्तु प्रमाणतराः।

इति तद्धितप्रकरणं समाप्तम्।

इति श्रीचारुदेवशास्त्रिणः कृतिषु व्याकरणचन्द्रोदये कृत्तद्धित-निरूपणो द्वितीयः खण्डः पूर्तिमगात्।

शुभं भूयादध्यायकानामध्यापकानां च।